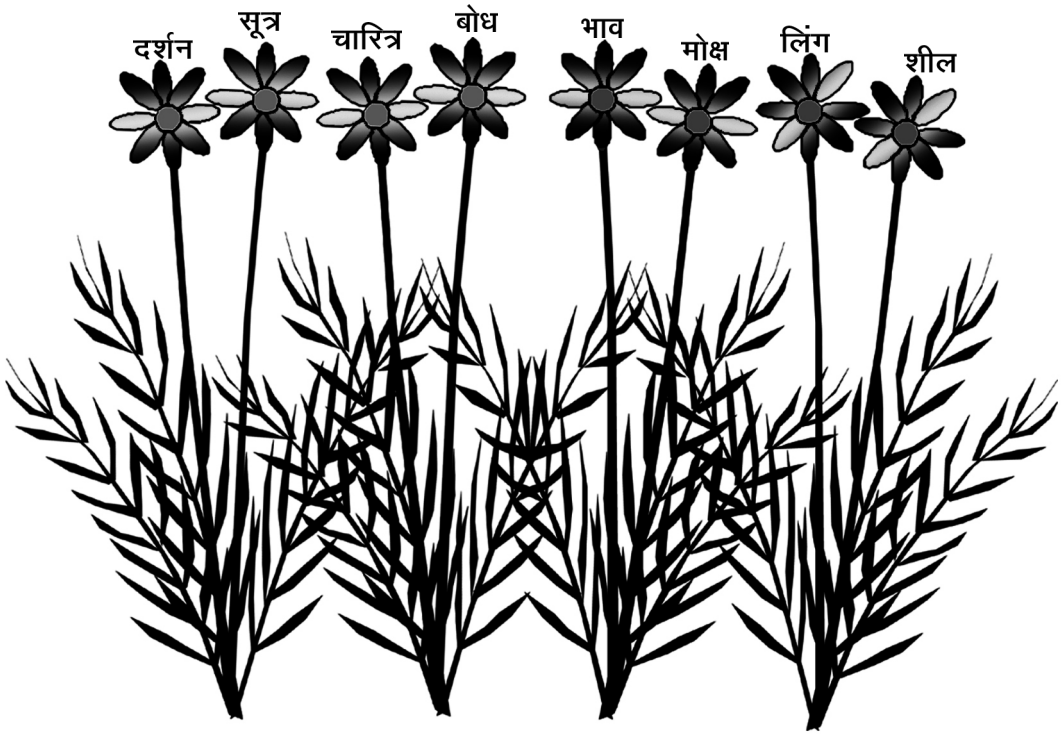
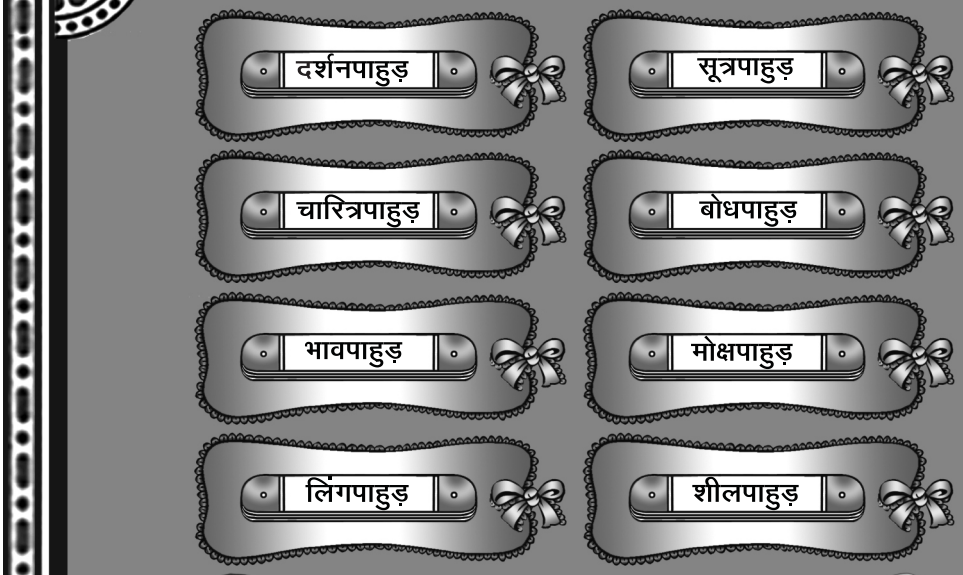
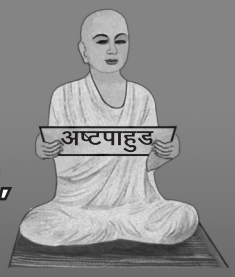
अष्टपाहुड़







इस 'अष्टपाहुड़' ग्रंथ को
जो जीव भक्तिभाव से पढ़ते हैं,
सुनते हैं









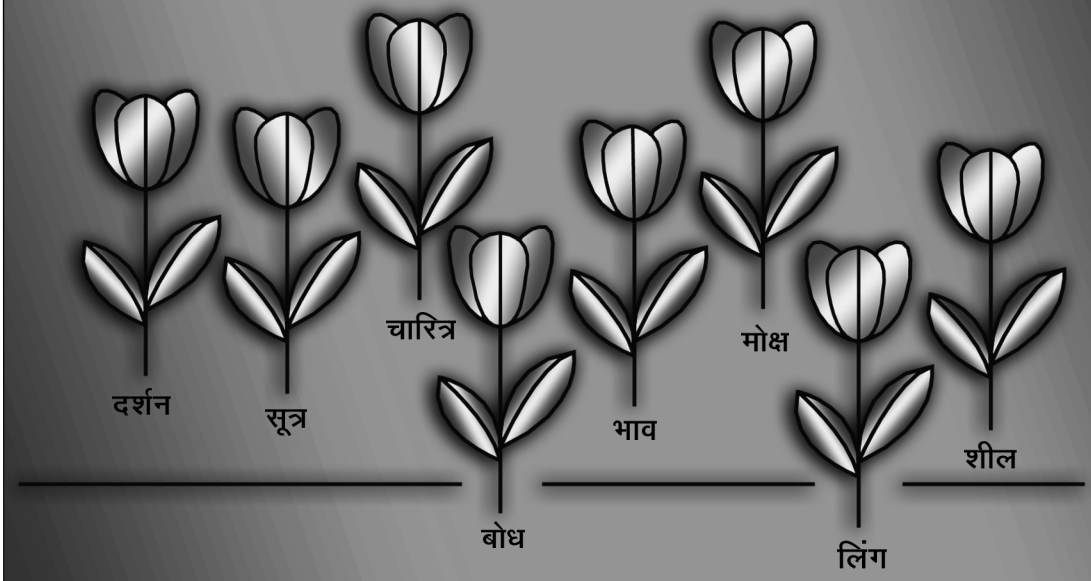
और
इसका बार-बार चिंतवन
एवं भावना करते हैं
वे जीव शाश्वत सुख जो नित्य, अतीन्द्रिय और ज्ञानानन्दमय सुख
उसको पाते हैं
सो इसको निरन्तर पढ़ना, सुनना व इसकी भावना रखनी।

अष्टपाहुड़

रचयिता

आचार्य कुन्दकुन्द

देशभाषामय वचनिका–पं० जयचन्द जी छाबड़ा



हिन्दी अनुवाद एवं पद्यानुवाद–कु० कुन्दलता एवं आभा जैन

प्रथम आवृत्ति-११०० प्रतियाँ

संपादिका द्वय

बाल ब्र० कु० कुन्दलता जैन (एम० ए० एल० एल० बी०)
एवं
बाल ब्र० कु० आभा जैन (एम० एस० सी० बी० एड०)

प्रकाशक

शैलेन्द्र पीयूषी जैन

ग्रंथ सज्जा एवं चित्रांकन

अनिल यादव
एवं
कु० कुन्दलता जैन

प्राप्ति स्थान-

शैलेन्द्र जैन
२३०,सै०-११ए
चंडीगढ-१६००११
दूरभाष : 09814010369

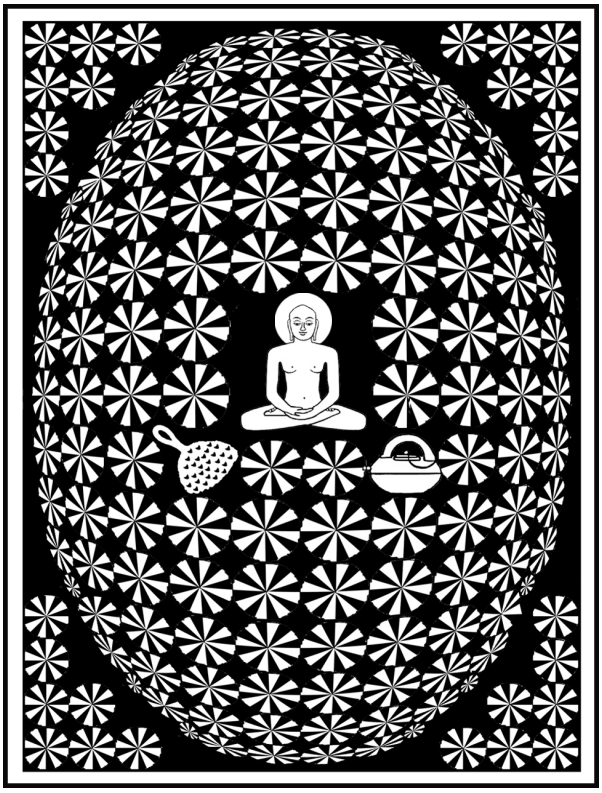
पूनम जैन
११ नं० दरियागंज मित्रा भवन,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : 011-23273510, 9268336159

अलका जैन
७/२३ दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : 9899239474

न्यौछावर राशि २५१/-
(पुनः प्रकाशन हेतु)

लागत राशि ११००/-

श्रेष्ठ श्रावकविधान



जो
चाहे
वह

हो
जाए-जाए
फलित

आभार

श्रीमान् एवं श्रीमती महताब सिंह जी जैन जौहरी के सुपौत्र भाई शैलेन्द्र जिन्हें अपनी आ० बुआजी बाल ब्र० कु० कुन्दलता जैन की वात्सल्यमयी धार्मिक शिक्षाओं एवं प्रेरणा से बचपन से ही धर्म की रुचि बनी और उसी रुचि के कारण एवं ग्रंथ की साज-सज्जा तथा सौन्दर्य से अतिशय भाव विभोर होकर उन्होंने अपनी जीवन संगिनी सौ० पीयूषी जैन की सहमति से अपने नाना-नानी श्रीमान उग्रसेन एवं सुलोचना देवी जी की स्मृति में इस ग्रंथ को प्रकाशित करवाया । उन्हें शुभाशीष देते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि ये दोनों ही भव्य आत्माऐं शीघ्र ही मोक्ष की भाजन बनें।

कु० कुन्दलता एवं आभा जैन

दर्शन पाहुड
सूत्र पाहुड
चारित्र पाहुड
बोध पाहुड
भाव पाहुड
मोक्ष पाहुड
शील पाहुड
अंग पाहुड, आचार पाहुड, आराधना पाहुड,
आलाप पाहुड, उद्धार पाहुड, उत्पाद पाहुड
नियम पाहुड, कर्म विपाक पाहुड, क्रम
पाहुड, क्रियासार पाहुड,
क्षपण पाहुड, चरण पाहुड,
चारित्र पाहुड, चूर्णी पाहुड, चूलो पा;
जीव पाहुड, जीवोसार पाहुड, तत्वसार पाहुड, त्रिय
पाहुड, दृष्टि पाहुड, दर्शन पाहुड, द्रव्य पाहुड, नय पाहुड, निस
पाहुड, नियमसार पाहुड, नित्य पाहुड, नोकर्म पाहुड, पंचास्तिकाय
पाहुड, पद्म पाहुड, पर्याय पाहुड, प्रमाण पाहुड, पुण्य पाहुड, प्रकृति पाहुड,
प्रवचनसार पाहुड, बन्ध पाहुड, बासस अणुवेक्खा, बुद्धि पाहुड, बोध पाहुड,
भव पाहुड, भावसार पाहुड, मोक्ष पाहुड, रत्नसार पाहुड, लब्धि पाहुड, लौकिक
पाहुड, लिंग पाहुड, वस्तु पाहुड, विद्या पाहुड, विहिया पाहुड, शील पाहुड
शिक्षा पाहुड, षट्दर्शन पाहुड, समयसार पाहुड, समवाय पाहुड
संस्थान पाहुड, सालमी पाहुड, सूत्र पाहुड, सिद्धान्त पाहुड
तथा स्थान पाहुड। कलिकाल सर्वज्ञ प्रातः स्मरणीय
आचार्य कुन्द कुन्द देव के ८४ पाहुडों में से
मात्र उपरोक्त पूर्ण नाम उपलब्ध
हो सके हैं। शेष २६ पाहुडों के
नाम अतीत के गर्भ में विलीन हो गये।

अनुक्रम

क्रमांक	विषय	पष्ठ
1	अष्ट पाहुड प्रारम्भिक सूक्ति	२
2	अष्टपाहुड वचनिका प्रारम्भ	०३-०५
3	दर्शन पाहुड	१-१-८६
4	सूत्र पाहुड	२-१-२५१
5	चारित्र पाहुड	३-१-३-६४
6	बोध पाहुड	४-१-४-८३
7	भाव पाहुड	५-१-५-२३०
8	मोक्ष पाहुड	६-१-६-१२२
9	लिंग पाहुड	७-१-७-३५
10	शील पाहुड	८-१-८-५८
11	संसार समुद्र	८-५६





दर्शन पाहुड़



हे भव्य जीवों !
गुणों में
और



दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में
सार

और



मोक्ष मन्दिर पर
चढ़ने को प्रथम सीढ़ी

जिनेश्वर देव के कहे दर्शन रत्न को

इस 

द्वारा

तुम अन्तरंग भाव से धारण करो ।

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१.	मंगलाचरणपूर्वक ग्रंथ को रचने की प्रतिज्ञा	१–६
२.	धर्म दर्शनमूलक है सो दर्शनहीन की वंदना नहीं करना	१–७
३.	दर्शन से भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट ह	१–२०
४.	ज्ञान से भी दर्शन अधिक ह	१–२१
५.	दर्शन रहित उग्र तप से भी बोधि का लाभ नहीं होता	१–२२
६.	सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, बल एवं वीर्य से वर्द्धमान शीघ्र ही केवलज्ञानी होते हैं	१–२३
७.	सम्यक्त्व रूपी जलप्रवाह से कर्म रज का नाश होता है	१–२४
८.	दर्शनादि तीनों से भ्रष्ट भ्रष्टों में विशेष भ्रष्ट हैं व अन्य जन को भी नाशकारक हैं	१–२५
९.	धर्मशील पुरुषों को भ्रष्टपना देने वाले पुरुषों की भ्रष्टता	१–२६
१०.	दर्शनभ्रष्ट सो मूलविनष्ट हैं, वे सीझते नहीं	१–२७
११.	जिनदर्शन ही मोक्षमार्ग का मूल है	१–२७
१२.	दर्शन से भ्रष्ट व अन्य दर्शनधारियों से विनय के इच्छुक लूले-गूंगे होते हैं	१–२८
१३.	दर्शनभ्रष्ट जीवों की पाद वन्दना करने वालों को बोधि की प्राप्ति नहीं होती	१–२९
१४.	परिग्रह त्यागी व संयमी ही जिनदर्शन की मूर्ति होता है	१–३०
१५-१६.	सम्यग्दर्शन से ही श्रेय व अश्रेय का ज्ञान और उस ज्ञान से निर्वाण की प्राप्ति	१–३१-३२
१७.	ऐसे सम्यक्त्व की जिनवचन से ही प्राप्ति होती है अतः जिनवचन सर्व दुःखों के क्षयकारी हैं	१–३३
१८.	दर्शन (जिनमत) में तीन ही लिंग होते हैं, चौथा नहीं	१–३४
१९.	ऐसे बाह्य लिंग वाले सम्यग्द ष्टि का अन्तरंग श्रद्धान ऐसा होता है	१–३४

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२०.	निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप	१–३५
२१.	सर्व गुणों में सार दर्शन रत्न को भावपूर्वक धारण करने की प्रेरणा	१–३६
२२.	केवल श्रद्धानवान के सम्यक्त्व होता है	१–३७
२३.	दर्शनादि में प्रसक्त और गणधरों के गुणवादी वंदनीय हैं	१–३७
२४.	यथाजात रूप को मत्सरभाव से नहीं मानने वाला संयमयुक्त भी मिथ्याद ष्टि है	१–३८
२५.	अमरवंदित शील सहित रूप को देखकर गारव करने वाले सम्यक्त्व विवर्जित हैं	१–३९
२६.	भावसंयम रहित वस्त्रविहीन की भी ग हस्थ असंयमी के समान अवन्द्यता	१–३९
२७.	देहादि वंदनीय नहीं, गुण ही वंदनीय हैं	१–४१
२८.	तप, शील व ब्रह्मचर्यधारी की सम्यक्त्वयुक्त शुद्ध भाव से वंदना करने पर ही सिद्धिगमन होता है	१–४१
२९.	तीर्थंकर परमदेव भी वंदनीय होते हैं	१–४२
३०.	संयम सहित ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप गुणों से जिनशासन में मोक्ष है	१–४३
३१.	ज्ञान व सम्यक्त्व से चारित्र और चारित्र से निर्वाण होता है	१–४३
३२.	ज्ञान, दर्शन व सम्यक्त्व सहित चारित्र, तप से ही जीव निःसन्देह सिद्ध होता है	१–४४
३३-३४.	सम्यक्त्व रत्न से कल्याण परम्परापूर्वक अक्षय सुख सहित मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः यह पूज्य है	१–४५-४६
३५.	सम्यक्त्व से केवलज्ञान हुए पीछे विहार काल तक जिनेन्द्र की स्थावर प्रतिमा है	१–४६
३६.	बारह प्रकार के तप से कर्म, नोकर्म का नाश कर अनुत्तर निर्वाण की प्राप्ति होती है	१–५०

2. विषय वस्तु १–५२ **5. गाथा चित्रावली** १–५७-६७

3. गाथा चयन १–५३-५५ **6. अंतिम सूक्ति चित्र**

4. सूक्ति प्रकाश १–५६ **दर्शन पा० समाप्त** ६८



दोहा

वंदौं श्री अरहंत कूं, मन-वच-तन इकतान।
मिथ्या भाव निवारि कै, करै सुदर्शन ज्ञान।।१।।

अर्थ

मन-वचन-काय को एकत्रित करके उन श्री अरहंत की वंदना करता हूँ जो मिथ्याभावों का निवारण करके दर्शन और ज्ञान को सम्यक् कर देते हैं।।१।।

उत्थानिका

अब ग्रंथकर्ता श्री कुन्दकुन्द आचार्य ग्रंथ के प्रारम्भ में ग्रंथ की उत्पत्ति और उसके ज्ञान के कारण परापर गुरु के प्रवाह को मंगल के लिए नमस्कार करते हैं:–

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण।।१।।

जिनवर व षभ और वर्द्धमान, जिनेन्द्र की कर वंदना।
दर्शन जो मत के मार्ग का, संक्षेप से वर्णन करूं।।१।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'मैं 'जिनवरव षभ' ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा 'वर्द्धमान' ऐसे जो वर्द्धमान नामक अंतिम तीर्थंकर, उन्हें नमस्कार करके 'दर्शन' अर्थात् मत के मार्ग को यथानुक्रम संक्षेप से कहूँगा।'

भावार्थ

(१) यहाँ 'जिनवरव षभ' ऐसा विशेषण है उसका ऐसा अर्थ है–'जिन' ऐसे शब्द का तो अर्थ यह है कि 'जो कर्म शत्रु को जीते सो जिन', सो अविरत सम्यग्द ष्टि से लगाकर कर्म की गुणश्रेणी रूप निर्जरा करने वाले सब ही 'जिन' हैं; उनमें 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ सो 'जिनवर' गणधर आदि मुनियों को कहते हैं; उनमें 'व षभ' अर्थात् प्रधान ऐसे 'तीर्थंकर परमदेव' हैं, उनमें आदि तीर्थंकर तो श्री ऋषभदेव हुए और इस पंचम काल के प्रारम्भ और चतुर्थ काल के अन्त में अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी हुए उनका 'जिनवरव षभ' विशेषण हुआ तथा (२) 'जिनवरव षभ' ऐसे सारे ही तीर्थंकर हुए उनको नमस्कार हुआ, वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सब ही का जानना क्योंकि सब ही अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं। **अथवा** (३)'जिनवरव षभ' शब्द से तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को लेना और 'वर्द्धमान' शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को लेना एवं इस प्रकार आदि व अंत के तीर्थंकरों को नमस्कार करने से

मध्य के तीर्थंकरों को नमस्कार सामर्थ्य से जानना।[1]

तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग को तो 'परगुरु' कहते हैं और उनकी परिपाटी में जो अन्य गौतमादि मुनि हुए जिनके नाम का 'जिनवरव षभ' इस विशेषण से बोध कराया उनको 'अपरगुरु' कहते हैं-इस प्रकार परापर गुरु का प्रवाह जानना। वे शास्त्र की उत्पत्ति तथा ज्ञान में कारण हैं सो उनको ग्रंथ की आदि में नमस्कार करना युक्त है।

उत्थानिका

आगे धर्म का मूल दर्शन है इसलिए जो दर्शन से रहित हो उसकी वंदना नहीं करना-ऐसा कहते हैं :–

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

दर्शन ही मूल है धर्म का, शिष्यों को जिनवर ने कहा।
सुनकर उसे निज कर्ण से, द ग्हीन को नहीं वंदना।।२।।

अर्थ

जिनवर सर्वज्ञदेव ने गणधर आदि शिष्यों को धर्म का उपदेश दिया है। सो कैसे धर्म का उपदेश दिया है कि 'दर्शन है मूल जिसका' ऐसे धर्म का उपदेश दिया है। सो मूल किसे कहते हैं–जैसे मन्दिर के नींव अथवा व क्ष के जड़ होती है वैसे धर्म का मूल दर्शन है इसलिए आचार्य उपदेश करते हैं कि 'हे सकर्णा अर्थात् पंडित सत्पुरूषों ! उन सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए दर्शन मूल रूप धर्म को तुम अपने कानों से सुनकर दर्शनहीन की वंदना मत करो क्योंकि जो दर्शन से रहित है वह तुम्हारे

टि०– 1. **अहो सम्यक्त्व की महिमा कि अविरत सम्यग्द ष्टि जीव भी 'जिन' संज्ञा को प्राप्त है।** 'जो जीते सो जिन' सो इसने किसको जीता ? अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए अत्यन्त प्रबल वैरी मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय को जीता।

वंदन के योग्य नहीं है। जिसके दर्शन नहीं है उसके धर्म भी नहीं है क्योंकि मूल के बिना व क्ष के स्कंध, शाखा, पुष्प व फलादि कहाँ से होंगे इसलिए ऐसा उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है उससे धर्म की प्राप्ति नहीं है तो फिर उसकी धर्म के लिए क्यों वंदना की जाए-ऐसा जानना।'

भावार्थ

अब यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए सो स्वरूप तो संक्षेप से ग्रंथकार ही आगे कहेंगे तथापि कुछ अन्य ग्रंथों के अनुसार यहाँ भी लिखते हैं :–

धर्म और दर्शन शब्द का अर्थ एवं उनकी व्याख्या–इनमें **'धर्म'** इस शब्द का अर्थ है कि 'जो आत्मा का संसार से उद्धार करके उसे सुख स्थान में स्थापित करे उसे धर्म कहते हैं' तथा **'दर्शन'** नाम देखने का है सो ऐसे धर्म की मूर्ति देखने में आवे वह दर्शन है पर प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो ऐसे मत को दर्शन नाम से कहते हैं। सो लोक में धर्म की तथा दर्शन की सामान्य रूप से मान्यता तो सबके है परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का तो जानना होता नहीं और छद्मस्थ (ज्ञानावरण कर्म के छद्म यानि पर्दे में स्थित अर्थात् अल्पज्ञ) प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके, उनका अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उसकी प्रव त्ति करते हैं पर जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है सो इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।

धर्म का प्ररूपण–धर्म निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार से साधा है और उसकी चार प्रकार से प्ररूपणा है–(१) वस्तुस्वभाव, (२) उत्तम क्षमादि रूप दस प्रकार, (३) सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप एवं (४) जीवों की रक्षा रूप–ऐसे चार प्रकार हैं।[1]

निश्चयनय से धर्म की प्ररूपणा–इनमें निश्चयनय से साधिये तब तो सबमें निम्न रूप से एक ही प्रकार है :–

टि०–1. इस सम्बन्धित गाथा - **धम्मो वत्थुसहावो, उत्तमखम्मादि दसविहो धम्मो।**
रयणत्तयं च धम्मो, जीवादीरक्खणं धम्मो।।

(१) **वस्तुस्वभाव कहने से** तो जीव नामक वस्तु का परमार्थ रूप दर्शन ज्ञान परिणाममयी चेतना है सो यह चेतना सब विकारों से रहितृशुद्ध स्वभाव रूप परिणमित हो वह ही इसका धर्म है।

(२) **उत्तम क्षमादि दस प्रकार कहने से** क्रोधादि कषाय रूप आत्मा न हो और वह अपने स्वभाव में ही स्थिर रहे वह ही धर्म है सो यह भी शुद्ध चेतना रूप ही हुआ।

(३) **दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने से** तीनों एक ज्ञान चेतना ही के परिणाम हैं सो ही ज्ञानस्वभाव रूप धर्म है।

(४) **जीवों की रक्षा कहने से** जीव के अपने तथा पर के क्रोधादि कषायों के वश से पर्याय का विनाश रूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करना-ऐसा अपना भाव वह ही धर्म है।

इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक रूप निश्चयनय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

व्यवहारनय से धर्म की प्ररूपणा–व्यवहार की ये दो परिभाषाएँ हैं–**१.** प्रयोजन के वश से एकदेश को सर्वदेश कहना सो व्यवहार है तथा **२.** अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण निमित्त तथा प्रयोजन के वश से करना भी व्यवहार है। व्यवहारनय है सो पर्यायाश्रित है इसलिए भेद रूप है सो इससे विचार करें तो जीव के पर्याय रूप परिणाम क्योंकि अनेक प्रकार के हैं इसलिए धर्म का भी निम्न रूप से अनेक प्रकार से वर्णन किया है :–

(१) **वस्तुस्वभाव कहने में** तो जो निर्विकार चेतना के शुद्ध परिणाम के साधक रूप मंदकषाय रूप शुभ परिणाम हैं तथा बाह्य क्रियाएँ हैं वे सब ही व्यवहार धर्म नाम से कही जाती हैं।

(२)**उत्तम क्षमादि कहने में** जो उत्तम क्षमादि रूप मंद कषाय हैं तथा उनकी साधक बाह्य क्रियादि हैं वे सब ही व्यवहार धर्म नाम से कही जाती हैं।

(३) **रत्नत्रय कहने में** स्वरूप के भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादि–वे सब ही व्यवहार धर्म हैं।

(४) **जीवों की दया कहने में** क्रोधादि कषाय मंद होने से अपने वा दूसरे के मरण एवं दुःख–क्लेश आदि न करना तथा उसके साधक ब्राह्य क्रियादि–वे सब ही धर्म हैं।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहारनय से साधा हुआ जिनमत में धर्म कहा जाता है सो एकस्वरूप तथा अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथंचित् विवक्षा से सब प्रमाणसिद्ध है।

दर्शन का प्ररूपण—इस प्रकार धर्म का मूल दर्शन कहा सो ऐसे धर्म का श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि सहित आचरण करना ही दर्शन है—यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत कहते हैं सो यह ही धर्म का मूल है तथा जैसे व क्ष के मूल बिना स्कंधादि नहीं होते वैसे ही ऐसे धर्म की पहले श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता सो दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है।

ऐसे दर्शन का सिद्धान्त में जैसा वर्णन है उसमें से कुछ लिखते हैं :—

दर्शन का अन्तरंग स्वरूप—अन्तरंग सम्यग्दर्शन है सो तो जीव का भाव है, वह निश्चय से उपाधि से रहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना—ऐसे एक प्रकार का है सो ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है।

दर्शन की घातक कर्म प्रकृतियाँ—इस मिथ्यात्व की सादि मिथ्याद ष्टि जीव के ये तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं—१. मिथ्यात्व, २. सम्यग्मिथ्यात्व एवं ३. सम्यक् प्रकृति और इनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं-ऐसी ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन का घात करने वाली हैं सो इन सातों का उपशम होने पर पहले तो इस जीव के उपशम सम्यक्त्व होता है।

कर्म प्रकृतियों के उपशम होने के बाह्य कारण—इन कर्म प्रकृतियों के उपशम होने के बाह्य कारण ये हैं :—

सामान्य कारण—सामान्य से तो १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल एवं ४. भाव हैं। उनमें प्रधान **१. द्रव्य में** तो साक्षात् तीर्थंकरादि का देखना आदि है, **२. क्षेत्र में** प्रधान समवशरणादि हैं, **३. काल में** अर्द्ध पुद्गल परावर्तन संसार का भ्रमण शेष रह जाए सो है तथा **४. भाव में** अधःप्रव त्तकरण आदि हैं।

विशेष कारण—वे बाह्य कारण विशेष से अनेक हैं। उनमें से **१. कुछ के तो** अरहंत के बिम्ब का देखना है, **२. कुछ के** जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा

का देखना है, ३. **कुछ के** जातिस्मरण है, ४. **कुछ के** वेदना का अनुभव है, ५. **कुछ के** धर्म का श्रवण है एवं ६. **कुछ के** देवों की ऋद्धि का देखना है इत्यादि।

कर्म के उपशमादि की अपेक्षा सम्यक्त्व के निम्न प्रकार हैं :–

१. उपशम सम्यक्त्व–उक्त बाह्य कारणों से मिथ्यात्व कर्म का उपशम होने पर उपशम सम्यक्त्व होता है।

२. क्षयोपशम सम्यक्त्व–उपरोक्त सात प्रकृतियों में से छह का तो उपशम और क्षय हो एवं एक सम्यक्प्रकृति का उदय हो तब क्षयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रकृति के उदय से कुछ अतिचार मल लगता है।

३. **क्षायिक सम्यक्त्व**–उक्त सात प्रकृतियों का सत्ता में से नाश हो तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

सम्यग्दर्शन के निश्चय का प्रकार–उक्त प्रकार से उपशमादि होने पर जीव के परिणाम भेद से जो तीन प्रकार के होते हैं वे अति सूक्ष्म एवं केवलज्ञानगम्य होते हैं। **यद्यपि** (१) इन प्रकृतियों का द्रव्य जो पुद्गल परमाणुओं के स्कंध हैं वे अति सूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्ति रूप अनुभाग भी अति सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है, उनका उपशमादि केवलज्ञानगम्य ही है और (२)उनका उपशमादि होने पर जीव के जो परिणाम सम्यक्त्व रूप होते हैं वे भी सूक्ष्म एवं केवलज्ञानगम्य हैं **तथापि** छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य कुछ जीव के परिणाम होते हैं जो उसका बोध कराने के बाह्य चिन्ह हैं और उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है। यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं हो तब आस्तिक्य का अभाव ठहरे और व्यवहार का लोप हो-यह बड़ा दोष आवे इसलिए बाह्य चिन्हों की आगम, अनुमान एवं स्वानुभव से परीक्षा करके सम्यक्त्व का निश्चय करना।

सम्यग्दर्शन का निश्चय करने के बाह्य चिन्ह–वे चिन्ह कौन से हैं सो ही लिखते हैं :–

(१)**मुख्य चिन्ह आत्मानुभूति**–उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति का होना ही मुख्य चिन्ह है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है तथापि सम्यक्त्व के होने पर ही यह होती है इसलिए इसको बाह्य चिन्ह कहते हैं। ज्ञान है सो अपना आपके स्वसंवेदन रूप है उस रागादि विकार रहित शुद्ध ज्ञानमात्र का अपने को आस्वादन होता है कि 'जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और

ज्ञान में जो रागादि विकार हैं वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, वे मेरा रूप नहीं है'-इस प्रकार भेदज्ञान से ज्ञान मात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, यह ही आत्मा की अनुभूति है, शुद्ध नय का यह ही विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्ध नय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि 'सर्व कर्मजनित रागादि भावों से रहित अनंतचतुष्टय मेरा रूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं'-ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिन्ह है। यह मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी के अभाव से जो सम्यक्त्व होता है उसका चिन्ह है सो चिन्ह को ही सम्यक्त्व कहना यह व्यवहार है।

इस चिन्ह की परीक्षा–इसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम से तथा अनुमान से तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से-इन प्रमाणों से की जाती है तथा इसी को निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धान भी कहते हैं सो आपके तो अपनी परीक्षा स्वसंवेदन को प्रधान करके होती है और पर के पर की परीक्षा पर के वचन एवं काय की क्रिया की परीक्षा से अंतरंग में हुए की परीक्षा होती है-यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार ही की शरण का उपदेश दिया है।

प्रश्न–कुछ लोग कहते हैं कि सम्यक्त्व तो केवलीगम्य ही है इसलिए अपने को सम्यक्त्व हुए का निश्चय नहीं हो सकता अतः स्वयं को सम्यग्द ष्टि नहीं मानना ?

उत्तर–ऐसा सर्वथा एकान्त से कहना तो झूठी द ष्टि है, सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होता है तथा मुनि-श्रावक की सारी प्रव त्ति मिथ्यात्व सहित ठहरती है और यदि सब ही स्वयं को मिथ्याद ष्टि मानें तब व्यवहार क्या रहा इसलिए परीक्षा होने के बाद ऐसा श्रद्धान नहीं रखना कि 'मैं मिथ्याद ष्टि ही हूँ।' मिथ्याद ष्टि तो अन्यमती को कहते हैं तब उसके समान आप भी ठहरे इसलिए सर्वथा एकान्त पक्ष ग्रहण नहीं करना।

(२) **बाह्य चिन्ह तत्त्वार्थ श्रद्धान**–तत्त्वार्थ का श्रद्धान है सो बाह्य चिन्ह है। वहाँ तत्त्वार्थ तो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष-ऐसे सात हैं तथा इनमें पुण्य-पाप का विशेष करें तब नौ पदार्थ होते हैं सो इनकी **१.** श्रद्धा अर्थात् इनके सन्मुख बुद्धि, **२.** रुचि अर्थात् इन रूप अपना भाव करना, **३.** प्रतीति अर्थात् 'जैसे ये सर्वज्ञ ने भाषे हैं वैसे ही हैं' ऐसा अंगीकार करना तथा **४.** इनका आचरण

रूप क्रिया-ऐसे श्रद्धानादि होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिन्ह है।

(३) **अन्य बाह्य चिन्ह प्रशमादि चार**–प्रशम, संवेग, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य-ये निम्नलिखित भी सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह हैं :–

१. प्रशम–अनंतानुबंधी क्रोधादि कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिन्ह इस प्रकार हैं–**१.** सर्वथा एकांत तत्त्वार्थ के कहने वाले अन्य मतों का श्रद्धान करना,बाह्य वेष में सत्यार्थपने का अभिमान करना तथा पर्यायों में एकान्त से आत्मबुद्धि करके[1] अभिमान तथा प्रीति करनी-ये अनतानुबंधी के कार्य हैं सो ये जिसके न हों, **२.** अपना किसी ने बुरा किया उसका घात करना आदि मिथ्याद ष्टि के समान विकार रूप बुद्धि अपने उत्पन्न न हो, **ऐसे विचार की बुद्धि अपने को उत्पन्न हो कि 'मेरा बुरा करने वाला तो अपने परिणाम से जो मैंने कर्म बांधा था वह है, अन्य तो निमित मात्र हैं'**-ऐसी मंद कषाय हो और **३.** अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्र मोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादि क्रिया में जो हिंसादि होती है उसको भी भला नहीं जानता इसलिए उससे प्रशम का अभाव नहीं कहा जाता।

२. संवेग–धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो वह संवेग है तथा साधर्मियों में अनुराग और परमेष्ठियों में प्रीति वह भी संवेग ही है। **इस धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग को अभिलाष न कहना क्योंकि अभिलाष तो जो इन्द्रियों के विषयों में चाह हो उसको कहते हैं, अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाष नहीं कहते।**[2] इस संवेग ही में निर्वेद भी हुआ जानना क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ तब अन्य सब ही अभिलाषाओं का त्याग हुआ और सारे परद्रव्यों से वैराग्य हुआ वह भी निर्वेद है।

टि०- 1. 'पर्यायों में एकांत से आत्मबुद्धि करि' का अर्थ है 'पर्यायमूढ़ता' अर्थात् द्रव्यस्वभाव को न जानकर पर्यायमात्र अपने को मानना जबकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। पर्याय में एकान्त से आत्मबुद्धि तब होती है जब द्रव्यद ष्टि के विषय का श्रद्धान नहीं होता और वह श्रद्धान हो जाने पर पर्यायमूढ़ता मिटकर द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का श्रद्धान हो जाता है।

2. यह बिन्दु अपनी द ष्टि में हमें रखना चाहिए कि **'इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा ही अभिलाष कहलाती है, धर्मानुराग नहीं। धर्मानुराग तो समकिती का संवेग गुण है, दोष नहीं।'**

३. अनुकंपा—सब प्राणियों में उपकार की बुद्धि तथा मैत्रीभाव सो अनुकंपा है तथा उसके माध्यस्थ्य भाव होता है क्योंकि सम्यग्द ष्टि के शल्य नहीं है, उसे किसी से वैरभाव नहीं होता, सुख-दुःख और मरण-जीवन का होना वह अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा श्रद्धान नहीं करता तथा जो यह पर में अनुकंपा है सो अपने में ही अनुकंपा है क्योंकि यदि पर का बुरा करना विचारे तो अपने कषाय भाव से अपना ही बुरा हुआ और पर का बुरा न विचारे तो अपने कषाय भाव नहीं हुए तब अपनी अनुकंपा हुई।

४. आस्तिक्य—जीव आदि पदार्थों में अस्तित्व भाव वह आस्तिक्य है सो जीव आदि का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि 'ये जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही हैं अन्यथा नहीं हैं'-ऐसा आस्तिक्य भाव होता है।

सम्यक्त्व के आठ गुण—सम्यक्त्व के ये आठ गुण भी कहे हैं-१.संवेग, २.निर्वेद, ३.निन्दा, ४.गर्हा, ५.उपशम, ६.भक्ति, ७.वात्सल्य और ८.अनुकंपा। ये आठ प्रशमादि चार ही में आ आ जाते हैं। संवेग में तो निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति तथा प्रशम में निन्दा एवं गर्हा आ जाती है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग—सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गए हैं जिन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी कहते हैं। **उनके नाम ये हैं-१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़द ष्टि, ५. उपबं हण, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य एवं ८. प्रभावना।** इनका विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) निःशंकित अंग—शंका नाम संशय का भी है और भय का भी है सो **१.**'धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणु द्रव्य एवं पुद्गल परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्म वस्तु हैं, **२.** द्वीप समुद्र एवं मेरु पर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं तथा **३.** तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि अंतरित पदार्थ हैं-ये सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं वैसे हैं कि नहीं हैं अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है कि असत्य है'-इस प्रकार संदेह करना सो शंका कहलाती है और यह न हो तो उसको निःशंकित अंग कहते हैं। यह जो शंका होती है वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है जिसका पर में आत्मबुद्धि होना कार्य है सो यह जो पर में आत्मबुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है जो भय भी उत्पन्न करती है।

शंका नाम भय का भी है जिसके ये सात भेद हैं—१. इसलोक का भय,

२. परलोक का भय, ३. मरण का भय ,४. वेदना का भय, ५. अनरक्षा का भय, ६. अगुप्ति भय एवं ७. अकस्मात् भय। किसी के ये भय हों तो जानना कि इसके मिथ्यात्व कर्म का उदय है क्योंकि सम्यग्द ष्टि होने पर ये भय नहीं होते।

शंका—भय प्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है और उसके निमित्त से सम्यग्द ष्टि के भय होता ही है फिर भय का अभाव कैसे कहा ?

समाधान—यद्यपि सम्यग्द ष्टि के चारित्रमोह के भेद रूप भय प्रकृति के उदय से भय होता है तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है। परद्रव्य से वह अपने द्रव्यत्वभाव का नाश नहीं मानता और पर्याय का स्वभाव विनाशीक ही मानता है इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर जो उसका इलाज भागना इत्यादि वह करता है सो वर्तमान की पीड़ा नहीं सही जाती इसलिए करता है सो यह निर्बलता का दोष है। इस प्रकार संदेह और भय रहित सम्यग्द ष्टि होता है अतः उसके निःशंकित अंग होता है।

(२) **निःकांक्षित अंग**—कांक्षा नाम भोगों की अभिलाष का है सो १. पूर्व में किए भोगों की वांछा, २. उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा, ३. कर्म और कर्म के फल में वांछा ४. मिथ्याद ष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा ५. जो इन्द्रियों को न रुचें ऐसे विषयों में उद्वेग होना-ये भोगाभिलाष के चिन्ह हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है और यह जिसके न हो वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्द ष्टि होता है। यह सम्यग्द ष्टि यद्यपि शुभ क्रिया व व्रतादि का आचरण करता है परन्तु उसका फल जो शुभ कर्म का बंध है उसकी यह वांछा नहीं करता, व्रतादि को स्वरूप के साधक जानकर तो उनका वह आचरण करता है परन्तु कर्म के फल की उसे वांछा नहीं होती-इस प्रकार वह निःकांक्षित अंगयुक्त होता है।

(३) **निर्विचिकित्सा अंग**—अपने में अपने गुण की महानता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो उसे विचिकित्सा कहते हैं, यह जिसके नहीं होती वह निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्द ष्टि होता है। **इसके चिन्ह ऐसे हैं**—यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर वाला हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि न करे। ऐसी बुद्धि न करे कि 'मैं संपदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन रंक मेरे बराबर नहीं है-उल्टा ऐसा विचारे कि प्राणियों के

कर्म के उदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं, यदि मेरे ऐसा कर्म का उदय आ जाएगा तो मैं भी ऐसा ही हो जाऊँगा'-ऐसे विचार से उसके निर्विचिकित्सा अंग होता है।

(४) **अमूढ़द ष्टि अंग**—अतत्त्व में तत्त्व का श्रद्धान सो मूढ़द ष्टि है-ऐसी मूढ़द ष्टि जिसके न हो वह अमूढ़द ष्टि युक्त सम्यग्द ष्टि होता है। मिथ्याद ष्टियों के द्वारा जो खोटे हेतु और द ष्टान्त से साधा हुआ पदार्थ है वह सम्यग्द ष्टि को प्रीति नहीं उत्पन्न करता।

सम्यग्द ष्टि के निम्न ये मूढ़ताएँ नहीं होतीं :—

लोकमूढ़ता—लौकिक रूढ़ि अनेक प्रकार की है सो यह निःसार है, निःसार पुरुषों के द्वारा ही आचरण की जाती है, अनिष्ट फल की देने वाली है, निष्फल है तथा खोटा उसका फल है तथा उसका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है, जो कुछ लोकरूढ़ि चल पड़ती है उसका लोग आदर कर लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है इत्यादि लोकमूढ़ता है।

देवादिमूढ़ता—अदेव में तो देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादि मूढ़ता है सो यह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को तो देव मानना, उनके निमित्त हिंसादि करके अधर्म को धर्म मानना तथा मिथ्या आचारवान, शल्यवान, परिग्रहवान एवं सम्यक्त्व तथा व्रतरहित को गुरु मानना इत्यादि मूढ़द ष्टि के चिन्ह हैं।

अब यहाँ देव, गुरु और धर्म का स्वरूप जानना चाहिए सो ही कहते हैं :—

देव का स्वरूप—रागादि दोष और ज्ञानावरणादि कर्म सो ही आवरण हैं—ये दोनों जिनके नहीं हैं वे देव हैं। उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य—यह अनन्त चतुष्टय होता है सो **१. सामान्य रूप से** तो देव ऐसे एक हैं, **२. विशेष से** अरहंत और सिद्ध—ऐसे दो भेद हैं, **३. नामभेद से** भेद करें तो इनके हजारों नाम हैं तथा **४. गुणभेद से** भेद करें तब अनंत गुण हैं। उनमें परम औदारिक देह में स्थित, घातिया कर्मों से रहित, अनंत चतुष्टय सहित तथा धर्म का उपदेश करने वाले—ऐसे तो **अरहंत देव** हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित, लोक के शिखर पर तिष्ठे हुए, सम्यक्त्वादि अष्टगुण मंडित और अष्टकर्म रहित—ऐसे **सिद्ध देव** हैं। इनके अर्हन, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध,

सर्वज्ञ और वीतराग इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं। **इस प्रकार तो देव जानना।**

गुरु का स्वरूप—गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो वे अरिहंत देव ही हैं क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करने वाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं। अरिहंत के पश्चात् उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करने वाले छद्मस्थ ज्ञान के धारक जो मुनि हैं वे गुरु हैं क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके भी पाई जाती है और वह ही संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की कारण है इसलिए अर्हन्त के समान एकदेश रूप से जो निर्दोष हैं वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश करने वाले हैं। ऐसा मुनिपना सामान्य से तो एक प्रकार का है और विशेष से वह ही आचार्य, उपाध्याय और साधु–ऐसे तीन प्रकार का है सो यह पदवी का विशेष है। **आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं में निम्न रूप से समानता एवं विशेषता होती है :-**

आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में समानता—इनके मुनिपने की क्रिया एक ही है, बाह्य लिंग भी समान है, पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति–ऐसे चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति के अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण–उत्तरगुण भी समान हैं, परिषह–उपसर्गों का सहना भी समान है, आहार आदि की विधि भी समान है,सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्षमार्ग का साधन भी समान है, ध्याता–ध्यान–ध्येयपना, ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेयपना, चार आराधनाओं का आराधना एवं क्रोधादि कषायों को जीतना इत्यादि मुनियों की प्रव त्ति है सो सब समान है।

आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं में विशेषता—वह विशेष यह है–

आचार्य—जो १. अन्य को प चाचार अंगीकार कराते हैं, २. उन्हें दोष लगे तो उसके प्रायश्चित की विधि बताते हैं तथा ३. धर्मोपदेश एवं दीक्षा–शिक्षा देते हैं वे तो आचार्य होते हैं सो ऐसे गुरु वन्दना करने योग्य हैं।

उपाध्याय—जो उपाध्याय हैं वे १. वादित्व, २. वाग्मित्व (वक्तापना) ३. कवित्व एवं ४. गमकत्व (टीका करने की कला)– इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं। उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। वे स्वयं शास्त्र पढ़ते हैं और दूसरों को पढ़ाते हैं–ऐसे उपाध्याय गुरु वंदन करने योग्य हैं। इनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण एवं

उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है।

साधु—साधु हैं सो रत्नत्रयात्मक मोक्ष का जो मार्ग है उसको साधते हैं। उनके दीक्षा, शिक्षा एवं उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, अपने स्वरूप के साधने में ही तत्परता होती है-निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि की जैसी प्रव त्ति का जिनागम में वर्णन है वैसी सब ही उनके होती है, ऐसे साधु गुरु वंदन के योग्य हैं। अन्य लिंगी-वेषी, व्रतादि से रहित, परिग्रहवान और विषय-कषायों में आसक्त जो गुरु नाम रखवाते हैं वे वंदन के योग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में वेषी जैनमत में भी हुए हैं वे श्वेताम्बर हैं, यापनीय संघ हुआ है, गोपुच्छपिच्छ संघ हुआ है, निःपिच्छ संघ हुआ है एवं द्राविड़ संघ है[1] सो ये सब

टि०- 1. 'श्रु० टी०' में इन **पांच संघों** को जैनाभास कहते हुए इनकी इस प्रकार विवेचना की है :-

१. **श्वेताम्बर**-ये सब जगह प्रासुक भोजन ग्रहण करते हैं। 'मांसभक्षियों के घर में भी भोजन करने में दोष नहीं है'-ऐसा कहकर इन्होंने वर्ण व्यवस्था का लोप किया है। इनके आचार-विचार की शुद्धि नहीं है। इन्हीं में श्वेताम्बराभास उत्पन्न हुए हैं जो देवपूजा आदि को पापकर्म कहने के कारण अत्यन्त पापिष्ठ हैं। श्वेताम्बरों के सम्यगी, मन्दिरमार्गी, बाईसटोला, तेरहपंथी आदि भेद हैं।

२. **यापनीय संघ**-ये खच्चरों के समान दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों को मानते हैं, रत्नत्रय को पूजते हैं, कल्पश्रुत को पढ़ते हैं, स्त्रियों को उसी भव से मोक्ष एवं केवलिजिनों को कवलाहार मानते हैं एवं अन्य मत में परिग्रही को भी मोक्ष होता है-ऐसा कहते हैं।

३. **गोपुच्छपिच्छ संघ**-विनयसेन के द्वारा दीक्षित कुमारसेन मुनिराज ने मयूर पिच्छिका का त्याग कर चमरी गाय के पूंछ के बालों की पीछी को ग्रहण कर सारे बागड़ प्रान्त में उन्मार्ग का प्रचार-प्रसार किया था। ये स्त्रियों को पुनर्दीक्षा एवं क्षुल्लक के लिए वीरचर्या का विधान करते हैं और शरीर के अधोभाग के केशों का लुंचन करने को छठा गुणव्रत मानते हैं।

४. **निःपिच्छ संघ**-इस संघ के संचालक प्रधान गुरु रामसेन थे। उन्होंने मयूरपंख की पिच्छिका का निषेध करके निःपिच्छ रहने का उपदेश दिया था। उन्होंने स्व एवं पर प्रतिष्ठित जिनबिम्बों की ममत्व बुद्धि के द्वारा न्यून अधिक भावों से पूजा वन्दना करने का; 'यही मेरा गुरु है, दूसरा नहीं'-ऐसे भाव रखने का एवं अपने गुरुकुल का अभिमान और दूसरे गुरुकुल का मानभंग करना आदि का आदेश देकर विपरीत धर्म की स्थापना की थी।

५. **द्राविड़ संघ**-ये कहते हैं-'बीजों में जीव नहीं हैं, खड़े होकर भोजन करना योग्य नहीं है, कोई भी वस्तु प्रासुक नहीं है, सावद्य अर्थात् पापपूर्ण क्रिया के त्याग में धर्म नहीं है, ग हकार्य में जो आर्तध्यान होता है वह गिना नहीं जाता अर्थात् उसका निराकरण हो जाता है आदि-आदि।' द्राविड़ संघ के अनुयायी साधु व्यापार-वाणिज्य आदि कराके जीवन निर्वाह करते हैं और शीतल जल में स्नान करके प्रचुर पाप का उपार्जन करते हैं।

ही वंदन के योग्य नहीं हैं। मूलसंघ नग्न दिगम्बर अट्ठाईस मूलगुणों के धारक मयूरपिच्छ व कमंडलु-इन दया के एवं शौच के उपकरणों को धारण किए हुए तथा यथोक्त विधि से आहार करने वाले गुरु वंदन के योग्य हैं क्योंकि तीर्थंकर देव जब दीक्षा धारण करते हैं तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य वेष नहीं धारण करते-इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म का स्वरूप—धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दुःख रूप नीचे पद से मोक्ष के सुख रुप ऊँचे पद में धारे। ऐसा धर्म मुनि और श्रावक के भेद से, दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक और एकदेश-सर्वदेश रूप निश्चय-व्यवहार से दो प्रकार का कहा है। उसका मूल सम्यग्दर्शन है जिसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार देव, गुरु, धर्म और लोक में यथार्थ द ष्टि हो और मूढ़ता न हो सो अमूढ़द ष्टि अंग होता है।

(५) **उपबंहण अंग**—अपनी आत्मा की शक्ति को बढ़ाना सो उपबंहण अंग है सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपने पौरुष से बढ़ाना सो ही उपबंहण है, इसको उपगूहन भी कहते हैं।[1]

(६) **स्थितिकरण अंग**—धर्म से जो च्युत होता हो उसे उसमें द ढ़ करना सो स्थितिकरण अंग है सो यदि स्वयं कर्म के उदय के वश से कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया आचार से च्युत होता हो तो अपने को फिर पुरुषार्थ से श्रद्धा एवं चारित्र में द ढ़ करना तथा वैसे ही अन्य कोई धर्मात्मा यदि धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादि के द्वारा धर्म में स्थापित करना-ऐसे स्थितिकरण अंग होता है।

(७) **वात्सल्य अंग**—अरहंत, सिद्ध तथा उनके बिम्ब एवं चैत्यालय तथा चतुर्विध संघ तथा शास्त्र-इनमें जैसे स्वामी का नौकर दास होता है वैसे दासत्व हो सो वात्सल्य अंग है। धर्म के स्थानों पर यदि उपसर्गादि आएं तो उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को छिपाए नहीं सो ऐसा वात्सल्य धर्म से अति प्रीति होने पर होता है।

टि०-1. पं० जयचंद जी की 'मूल प्रति' में नहीं है परन्तु 'मु० प्रति' में इस स्थल पर यह पंक्ति और मिलती है-'तहां ऐसा अर्थ जाननां-जो स्वयंसिद्ध जिनमार्ग है ताकै बालकके तथा असमर्थ जनके आश्रयतैं जो न्यूनता होय, ताकूं अपनी बुद्धितैं गोप्य करि (छिपाकर) दूरि ही करै सो उपगूहन अंग है।'

(८) **प्रभावना अंग**—धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना अंग है सो रत्नत्रय से अपनी आत्मा का उद्योत करना और दान, तप, जिनपूजा, विद्या, अतिशय एवं चमत्कार आदि के द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना-ऐसे प्रभावना अंग होता है।

इस प्रकार ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं। जिसके ये प्रकट हों उसके जानना कि सम्यक्त्व है।

शंका—जो ये सम्यक्त्व के चिन्ह कहे सो वैसे ही यदि मिथ्याद ष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक-मिथ्या का विभाग कैसे हो ?

समाधान—जैसे ये चिन्ह सम्यग्द ष्टि के होते हैं वैसे तो मिथ्याद ष्टि के नहीं होते फिर भी यदि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करने पर भेद जाना जाता है तथा परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान होता है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है वैसा स्वयं को हो तब उसके होने पर अपनी वचन-काय की प्रव त्ति भी तदनुसार होती है तब उस प्रव त्ति के अनुसार अन्य की भी वचन-काय की प्रव त्ति पहचानी जाती है-इस प्रकार परीक्षा करने से विभाग होता है तथा यह व्यवहार मार्ग है सो व्यवहारी छद्मस्थ जीवों की अपने ज्ञान के अनुसार प्रव त्ति है, यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं। व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार ही का आश्रय बताया है।

यह जो अन्तरंग सम्यक्त्वभाव रूप सम्यक्त्व है सो ही सम्यग्दर्शन है तथा बाह्य दर्शन व्रत, समिति एवं गुप्ति रूप चारित्र और तप सहित अट्ठाईस मूलगुण युक्त नग्न दिगम्बर मुद्रा इसकी मूर्ति है उसको जिनदर्शन कहते हैं-यह सम्यक्त्व सहित दर्शन जिनमत है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल जानकर जो सम्यग्दर्शन रहित हैं उनके वदंन-पूजन का निषेध किया है सो भव्य जीवों को यह उपदेश अंगीकार करने योग्य है।।२।।

उत्थानिका

आगे अन्तरंग सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य चारित्र से निर्वाण नहीं होता—ऐसा कहते हैं :—

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठाण णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। ३।।

जो जीव दर्शन भ्रष्ट है, उसका कभी निर्वाण नहीं।
चारित्र भ्रष्ट तो सीझता, पर वह कभी सीझे नहीं।। ३।।

अर्थ

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं, जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनके निर्वाण नहीं होता क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ

जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं उन्हें भ्रष्ट कहते हैं और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्र से भ्रष्ट हुए हैं उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं पर जिनकी श्रद्धा द ढ़ रहती है उनका तो शीघ्र ही पुनः चारित्र का ग्रहण होकर मोक्ष हो जाता है परन्तु जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान से भ्रष्ट होते हैं उनके फिर चारित्र का ग्रहण कठिन हो जाता है इसलिए निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती हैं। जैसे व क्ष का स्कंधादि कट जाए पर मूल बना रहे तो स्कंध आदि शीघ्र ही फिर होकर फल लग जाते हैं और यदि जड़ उखड़ जाए तो स्कंध आदि कैसे हों वैसे ही धर्म का मूल दर्शन जानना।।३।।

उत्थानिका

आगे जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और शास्त्रों को बहुत प्रकार से जानते हैं तो भी संसार में भ्रमण करते हैं–इस प्रकार ज्ञान से भी दर्शन को अधिक कहते हैं :–

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।। ४।।

दर्शन रतन से भ्रष्ट बहुविध, शास्त्र को गर जानता।
आराधना से रहित हो, संसार में ही घूमता।।४।।

अर्थ

जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं और अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तो भी वे आराधना से रहित होते हुए इस संसार में ही भ्रमण करते हैं। 'तत्थेव' शब्द दो बार कहने से बहुत परिभ्रमण बताया है।

भावार्थ

जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छंद एवं अलंकार आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तो भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप रूप आराधना उनके नहीं होती है इससे वे कुमरण करके चतुर्गति रूप संसार में ही भ्रमण करते हैं, मोक्ष नहीं पाते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान को आराधना नाम से नहीं कहते।।४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो तप भी करते हैं परन्तु सम्यक्त्व से रहित होते हैं उन्हें स्वरूप का लाभ नहीं होता' :–

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अविवाससहस्सकोडीहिं।।५।।

सम्यक्त्व से विरहित रहे, पर उग्र तप को आचरे।
नहिं पावे बोधि लाभ को, वर्षों हजार करोड़ में।।५।।

अर्थ

जो पुरुष सम्यक्त्व से विरहित हैं वे सुष्ठु अर्थात भली प्रकार उग्र तप का आचरण करते हैं तो भी बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी अपना जो स्वरूप है उसके लाभ को नहीं पाते हैं। यदि वे हजार करोड़ वर्ष तक तप करें तो भी उन्हें स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ गाथा में 'णं' ऐसा शब्द दो स्थान पर

है सो प्राकृत में अव्यय है जिसका अर्थ वाक्य का अलंकार है।

भावार्थ

सम्यक्त्व के बिना यदि हजार करोड़ वर्ष पर्यन्त तप करे तो भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ हजार करोड़ कहने से इतने ही वर्ष नहीं जानना, इससे काल का बहुतपना बताया है। तप मनुष्य पर्याय ही में होता है और मनुष्य पर्याय का काल भी थोड़ा है अतः इतने वर्ष तप कहने से यह भी काल बहुत ही समझना[1]।।५।।

उत्थानिका

आगे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र एवं तप निष्फल कहे, अब सम्यक्त्व सहित सारी ही प्रव त्ति सफल है–ऐसा कहते हैं :–

सम्मत्त णाण दंसण बल वीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण।। ६।।

जो व द्धि करते ज्ञान-दर्शन, वीर्य-बल सम्यक्त्वयुत।
कलि कलुष पाप रहित सभी, वे शीघ्र केवलज्ञानी हों।। ६।।

अर्थ

जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से वर्द्धमान हैं और 'कलिकलुषपाप' अर्थात् इस पंचम काल के मलिन पाप से रहित हैं वे सभी थोड़े ही काल में 'वरज्ञानी' अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।

भावार्थ

इस पंचम काल में जड़, वक्र जीवों के निमित्त से यथार्थ मार्ग स्खलित हुआ है उसकी वासना से रहित हुए जो जीव यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धान रूप

टि०-1. इस अन्तिम पंक्ति का अर्थ यह है कि तप मनुष्य पर्याय ही में होता है और मनुष्य पर्याय का काल थोड़ा है अत: इतने वर्ष तप कहने से यह भी काल बहुत ही समझना।

सम्यक्त्व सहित ज्ञान-दर्शन के अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं वे अल्प ही काल में केवलज्ञानी होकर मोक्ष को पाते हैं।।६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह आत्मा के कर्म रज नहीं लगने देता' :–

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं बालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।।७।।

सम्यक्त्व सलिल प्रवाह जिसके, हृदय में नित ही बहे।
जो कर्म रज का आवरण, पूर्वे लगा वह नष्ट हो।।७।।

अर्थ

जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवर्तता है उस पुरुष के कर्म रूपी बालू रज का आवरण नहीं लगता है तथा उसके पूर्व में लगा हुआ कर्म का बंध भी नाश को प्राप्त हो जाता है[1]।

भावार्थ

सम्यक्त्व सहित पुरुष के कर्म के उदय से हुए जो रागादि भाव उनका स्वामित्व नहीं है इसलिए कषायों की तीव्र कलुषता से रहित उसके परिणाम उज्ज्वल होते हैं जिन्हें जल की उपमा है। जैसे जहाँ जल का प्रवाह निरन्तर

टि०–1. 'श्रु० टी०' में इस गाथा की टीका इस प्रकार की है कि 'संसार रूपी संताप का निवारक और पापमल रूपी कलंक का प्रक्षालक सम्यक्त्व रूपी निर्मल, शीतल, सुगन्धित और सुस्वादु सलिल जिस मनुष्य के हृदय में जलपूर के समान सतत प्रवाहित रहता है उसका हिंसादि पाँच पापों से उत्पन्न कर्म रूपी बालू का बाँध चिरकाल से निबद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है और **जिस प्रकार** कोरे घड़े पर स्थित धूलि बंधन को प्राप्त नहीं होती **उसी प्रकार** सम्यग्द ष्टि जीव के लगा हुआ पापकर्म भी बंध को प्राप्त नहीं होता।'

बहता है वहाँ बालू रेत नहीं लगती वैसे सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी भावार्थ जानना कि जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह बहता है वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धित वासना जो कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को नमस्कारादि रूप अतिचार रूपी रज भी नहीं लगाता है और उसके मिथ्यात्व सम्बन्धित प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता है।।७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो दर्शन से भ्रष्ट हैं और ज्ञान–चारित्र से भी भ्रष्ट हैं वे विशेष रूप से भ्रष्ट हैं। वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं सो यह अनर्थ है' :–

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।।८।।

दर्शन विषैं जो भ्रष्ट है, चारित्र ज्ञान से भ्रष्ट है।
वह भ्रष्टों में भी भ्रष्ट है, पर को करे वह नष्ट है।।८।।

अर्थ

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान–चारित्र से भी भ्रष्ट हैं वे पुरुष भ्रष्टों में भी विशेष भ्रष्ट हैं। कई पुरुष तो दर्शन सहित होते हैं परन्तु ज्ञान–चारित्र जिनके नहीं होता तथा कुछ अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं तो भी ज्ञान–चारित्र का भली प्रकार पालन करते हैं और जो दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों ही से भ्रष्ट हैं वे तो अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु 'शेष' अर्थात् अपने अतिरिक्त जो अन्य जन हैं उनको भी नष्ट करते हैं, भ्रष्ट करते हैं।

भावार्थ

यहाँ सामान्य वचन हैं जिनसे ऐसा भी आशय सूचित होता है कि सत्यार्थ श्रद्धान–ज्ञान–चारित्र तो दूर ही रहो पर जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण

से भी भ्रष्ट हैं वे तो निरर्गल (बिना किसी रोक वाले) स्वेच्छाचारी हैं। वे जिस प्रकार स्वयं भ्रष्ट हैं उसी प्रकार अन्य लोगों को उपदेशादि के द्वारा भ्रष्ट करते हैं तथा उनकी प्रव त्ति देखकर लोग स्वयमेव भी भ्रष्ट होते हैं इसलिए ऐसे तीव्र कषायी निषिद्ध हैं, उनकी संगति करना भी उचित नहीं है।।८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे जो भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं वे धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाकर भ्रष्ट बताते हैं' :–

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति।। ९।।

है धर्म शील, संयम, नियम, तप, योग गुणधारी कोई।
उनको लगाए दोष वह खुद, भ्रष्ट दे भ्रष्टत्व को।।९।।

अर्थ

जो कोई पुरुष (१) धर्मशील है अर्थात् अपने स्वरूप रूप धर्म साधने का जिसका स्वभाव है, (२) संयम अर्थात् इन्द्रिय–मन का निग्रह और षट्काय के जीवों की रक्षा, (३) तप अर्थात् बाह्य–अभ्यंतर के भेद से बारह प्रकार का तप, (४) नियम अर्थात् आवश्यक आदि नित्यकर्म, (५) योग अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि त्रिकाल योग और (६) गुण अर्थात् मूलगुण एवं उत्तरगुण–इनका धारण करने वाला है उस पर कई मत से भ्रष्ट जीव दोषों का आरोपण करके कहते हैं कि यह भ्रष्ट है, दोषसहित है। वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं इसलिए अपने अभिमान की पुष्टि करने को अन्य धर्मात्मा पुरुषों को भी भ्रष्टपना देते हैं।

भावार्थ

पापियों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे स्वयं तो पापी हैं ही और धर्मात्मा में दोष बताकर उसे भी अपने समान करना चाहते हैं–ऐसे पापियों की संगति नहीं करना।।९।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो दर्शन से भ्रष्ट है वह मूल भ्रष्ट है, उसको फल की प्राप्ति नहीं होती' :–

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।। १०।।

ज्यों मूल नशते व क्ष के, परिवार की व द्धि न हो।
त्यों दर्श से जो भ्रष्ट मूल विनष्ट वह सीझे नही।१०।।

अर्थ

जैसे व क्ष का मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्ते, फूल एवं फल की व द्धि नहीं होती वैसे जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं–बाह्य में तो नग्न दिगम्बर यथाजात रूप निर्ग्रन्थ लिंग का धारना, मूलगुण का धारण करना, मोर के पंखों की पीछी तथा कमण्डलु का धारण करना और यथाविधि दोष टालकर खड़े होकर शुद्ध आहार करना इत्यादि शुद्ध वेष का धारण करना तथा वेष धारण न हो तो उसका श्रद्धान ही करना और अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, नौ पदार्थ एवं सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान तथा भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप का अनुभवन ऐसे दर्शन–मत से जो बाह्य हैं वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती। वे मोक्ष फल को नहीं पाते।।१०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिनदर्शन है सो ही मूल मोक्षमार्ग है' :–

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।। ११।।

ज्यों मूल से स्कंध, शाखा, आदि बहुगुण होय है।
त्यों मोक्षपथ का मूल जिन दर्शन ही जिनवर ने कहा।।११।।

अर्थ

जैसे व क्ष के मूल से जिसके शाखा आदि परिवार रूप बहुत गुण हैं (यहाँ गुण शब्द बहुत का वाचक है) वैसे ही गणधर देवादि ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

भावार्थ

यहाँ जिनदर्शन अर्थात् भगवान तीर्थंकर देव ने जिस दर्शन को ग्रहण किया उसका ही उपदेश दिया, वह मूलसंघ है जो अट्ठाईस मूलगुण सहित कहा गया है। **पांच महाव्रत, पांच समिति, छह आवश्यक, पांच इन्द्रियों को वश में करना, भूमि में सोना, स्नान न करना, वस्त्र का त्याग अर्थात दिगम्बर मुद्रा, केशलोंच करना, एक बार भोजन करना, खड़े होकर भोजन करना एवं दंत धावन नहीं करना-ये अट्ठाईस मूलगुण हैं** तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना सो एषणा समिति में आ गया, ईर्यापथ सोधकर चलना वह ईर्या समिति में आ गया और दया का उपकरण तो मोर के पंखों की पीछी और शौच का उपकरण कमंडलु का धारण–ऐसा तो बाह्य वेष है। तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों को यथोक्त जानकर श्रद्धान करना तथा भेदविज्ञान से अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करना–ऐसा दर्शन जो मत वह मूलसंघ का है।

ऐसा जिनदर्शन है सो मोक्षमार्ग का मूल है, इस मूल से मोक्षमार्ग की सारी प्रव त्ति सफल होती है तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं और इस पंचम काल के दोष से जैनाभास हुए हैं वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छपिच्छ और निःपिच्छ–ऐसे पांच संघ हुए हैं उन्होंने सूत्र सिद्धांत भ्रष्ट किए हैं और बाह्य बेष को पलटकर बिगाड़ा है, वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उन्हें मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति मूल संघ के श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरण ही से है–ऐसा नियम जानना।।११।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो यथार्थ दर्शन से भ्रष्ट हैं और दर्शन के धारकों से अपनी विनय कराना चाहते हैं वे दुर्गति पाते हैं' :–

जे दसंणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।। १२।।

द ग्भ्रष्ट जो निज को नमन, करवाए दर्शनधारी से।
वह लूला–गूंगा होय है, रत्नत्रय दुर्लभ उसे।।१२।।

अर्थ

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं परन्तु अन्य जो दर्शन के धारक हैं उन्हें अपने पैरों में पड़वाते हैं तथा उनसे नमस्कार करवाते हैं वे परभव में लूले एवं मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

भावार्थ

जो दर्शनभ्रष्ट हैं वे मिथ्याद ष्टि हैं और जो दर्शन के धारक हैं वे सम्यग्द ष्टि हैं सो मिथ्याद ष्टि होकर जो सम्यग्द ष्टियों से नमस्कार चाहते हैं वे मिथ्यात्व के तीव्र उदय सहित हैं, वे परभव में लूले-गूंगे होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय बनते हैं जिनके पैर नहीं और वचन नहीं सो परमार्थ से वे लूले-गूंगे हैं और ऐसे एकेन्द्रिय स्थावर होकर वे निगोद में वास करते हैं जहाँ अनन्त काल तक रहते हैं तथा उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है। मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। इस पंचम काल में जो मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगों से विनयादि-पूजा चाहते हैं उनके बारे में जाना जाता है कि इनका त्रसराशि का काल पूरा हुआ, अब ये एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे।।१२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो दर्शन से भ्रष्टों के लज्जादि से भी पैरों में पड़ते हैं वे भी उनके समान ही हैं' :–

जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोयमाणाणं।। १३।।

द ग्भ्रष्ट के द ग्धारी लज्जा, गर्व, भय से चरण पड़े।
पापानुमोदन कारणे उसके, भी बोधि अभाव हो।।१३।।

अर्थ

दर्शन सहित पुरुष यदि, जो दर्शनभ्रष्ट हैं उनको मिथ्याद ष्टि जानते हुए भी उनके पैरों में पड़ते हैं तथा उनकी लज्जा, भय और गारव से विनयादि करते हैं उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वे भी पाप जो मिथ्यात्व उसकी अनुमोदना करते हैं। करने, कराने और अनुमोदना करने को समान कहा है।

यहाँ **लज्जा तो इस प्रकार है** कि 'जो हम किसी का विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे कि ये उद्धत हैं, मानी हैं इसलिए हमको तो सब ही का साधन करना'–इस प्रकार लज्जा से दर्शनभ्रष्ट का भी विनयादि करे।

भय ऐसा है कि यह राजमान्य है तथा मंत्र, विद्यादि की सामर्थ्य से युक्त है सो इसका विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा–इस प्रकार भय से विनय करे।

गारव तीन प्रकार का ऐसे कहा है–**१.रसगारव २.ऋद्धिगारव** एवं **३.सातगारव**। **रसगारव तो ऐसा**–जो मिष्ट, इष्ट एवं पौष्टिक भोजनादि मिला करे तब उससे प्रमादी रहे। **ऋद्धि गारव ऐसा**–जो कुछ तप के प्रभाव आदि से यदि ऋद्धि की प्राप्ति हो तो उसका गौरव आ जाए तब उससे उद्धत प्रमादी रहे। **सात गारव ऐसा**–यदि शरीर निरोग हो और कुछ क्लेश का कारण न आवे तब सुखियापन आ जाए और उसमें मग्न रहे इत्यादि गारवभाव की मस्ती से कुछ भले–बुरे का विचार न करे तब दर्शनभ्रष्ट का भी विनय करने लग जाए–इत्यादि निमित्त से यदि दर्शनभ्रष्ट का विनय करे तो इसमें मिथ्यात्व की अनुमोदना आती है, उसको भला जाने तब आप भी उसके समान हुआ तब उसके बोधि कैसे कही जाए–ऐसा जानना।।१३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'दर्शन की मूर्ति ऐसी होती है' :–

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संयमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ।। १४।।

दोविध परिग्रह त्याग, थित भोजन, हो संयम योग में।
औ करण शुद्धि ज्ञान में, मूर्तिमंत दर्शन होय है।।१४।।

अर्थ

जहाँ बाह्य–अभ्यंतर के भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो और मन–वचन–काय इन तीनों योगों में संयम स्थित हो तथा कृत, कारित, अनुमोदना–ये तीन करण जिसमें शुद्ध हैं ऐसा ज्ञान हो तथा खड़े होकर हस्त रूपी पात्र में, जिसमें अपनी कृत–कारित–अनुमोदना न लगे ऐसा निर्दोष आहार करे–ऐसा मूर्तिमंत दर्शन होता है।

भावार्थ

यहाँ दर्शन नाम मत का है। वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे सो दर्शन है और वह ही उसके अंतरंग भाव का ज्ञान कराता है सो (१) बाह्य परिग्रह तो धन–धान्यादि और अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्व एवं कषाय जहाँ न हों–यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो तथा (२) इन्द्रिय–मन को वश में करना और त्रस–स्थावर जीवों की दया करनी–ऐसे संयम का मन–वचन–काय से शुद्ध पालन जहाँ हो और (३) विकार का करना, कराना और अनुमोदन–ऐसे तीन करणों से ज्ञान में विकार न हो और (४) पाणिपात्र में खड़े रहकर निर्दोष भोजन करना जिसमें हो–ऐसे दर्शन की मूर्ति है सो जिनदेव का मत है, वह ही वंदन–पूजन के योग्य है, अन्य वेष वंदन–पूजन के योग्य नहीं हैं।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस सम्यग्दर्शन से ही कल्याण–अकल्याण का निश्चय होता है':–

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।। १५।।

सम्यक्त्व से सज्ज्ञान उससे, सब पदार्थ की प्राप्ति हो।
उपलब्धि सर्व पदार्थ से फिर, श्रेय-अश्रेय का ज्ञान हो।।१५।।

अर्थ

सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है तथा सम्यग्ज्ञान से सर्व पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति तथा जानना होता हैं तथा पदार्थों की उपलब्धि होने से श्रेय अर्थात् कल्याण और अश्रेय अर्थात् अकल्याण–इन दोनों को जाना जाता है।

भावार्थ

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है अतः सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है तथा जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाए तब भला-बुरा मार्ग जाना जाता है-इस प्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है।।१५।।

उत्थानिका

आगे कल्याण–अकल्याण को जानने से क्या होता है सो कहते हैं :–

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।। १६।।

अश्रेय-श्रेय का ज्ञानी छोड़, कुशील धारे शील को।
फिर शील फल से अभ्युदय पा, मुक्ति पद को प्राप्त हो।। १६।।

अर्थ

कल्याण मार्ग और अकल्याण मार्ग का जानने वाला पुरुष है वह 'उद्धुददुस्सील' अर्थात् उड़ा दिया है मिथ्यास्वभाव को जिसने-ऐसा होता है तथा 'सीलवंतो वि' अर्थात् सम्यक् स्वभाव सहित भी होता है तथा उस सम्यक् स्वभाव के फल से अभ्युदय (उन्नति) पाता है अर्थात् तीर्थंकर आदि पद पाता है तथा अभ्युदय पाकर तत्पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ

जब भले–बुरे मार्ग को जानता है तब अनादि संसार से लगाकर जो मिथ्याभाव रूप प्रकृति है वह पलटकर सम्यक् स्वभावरूप प्रकृति हो जाती है, उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्य बाँधता है तब तीर्थंकर आदि की अभ्युदय रूप पदवी पाकर निर्वाण को पाता है।।१६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसा सम्यक्त्व जिनवचनों से प्राप्त होता है इसलिए वे ही सब दुःखों के हरने वाले हैं' :–

जिणवयण ओसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।। १७।।

अम तमयी जिनवचन औषधि, विषय सुख की रेचिका।
है जरा मरण व व्याधि हरणी, सब दुःखों की नाशिका।। १७।।

अर्थ

यह जिनवचन है सो औषधि है। **कैसी औषधि है**–विषय सुख जो इन्द्रियों के विषयों से माना हुआ सुख उसका विरेचन अर्थात् दूर करने वाली है। **और कैसी है**–अम तभूत अर्थात् अम त समान है और इसी कारण जरा–मरण रूपी रोग को हरने वाली तथा सब दुःखों का क्षय करने वाली है।

भावार्थ

इस संसार में प्राणी विषय सुख का सेवन करते हैं जिससे कर्म बंधते हैं और उससे वे जन्म–जरा–मरण रूपी रोग से पीड़ित होते हैं सो जिनवचन रूपी औषधि ऐसी है जो विषय सुख से अरुचि उत्पन्न कराके उसका विरेचन करती है। जैसे गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है तो ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि होती है वैसे ही यह औषधि है। जब विषयों से वैराग्य होता है तब कर्मबंध नहीं होता, तब जन्म–जरा–मरण रोग नहीं होते और संसार के दुःखों का अभाव होता है–इस प्रकार जिनवचनों को अम त समान जानकर अंगीकार करना।।१७।।



उत्थानिका

आगे जिनवचन में दर्शन का लिंग अर्थात् वेष कितने प्रकार का कहा है सो कहते हैं :–

एगं जिणस्स रूवं वीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंग दंसणे णत्थि।। १८।।

है एक जिन का रूप दूजा, श्रावकोत्तम का कहा।
तीजा जघन्यथित आर्या, चौथा लिंग दर्शन में नहीं।।१८।।

अर्थ

दर्शन में एक तो जिन का स्वरूप है अर्थात् जैसा जिनदेव ने लिंग धारण किया सो है तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का है तथा तीसरा 'अवरट्ठिय' अर्थात् जघन्य पद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का है तथा चौथा लिंग दर्शन में नहीं है।

भावार्थ

जिनमत में तीन ही लिंग अर्थात् वेष कहे हैं- १. एक तो जो यथाजात रूप जिनदेव ने धारण किया वह है, **२.दूसरा** ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावक का है, **३.तीसरा** स्त्री आर्यिका हो उसका है **तथा चौथा अन्य प्रकार का वेष जिनमत में नहीं है, जो मानते हैं वे मूलसंघ से बाहर हैं।।१८।।**

उत्थानिका

आगे पूर्व में जैसा कहा वैसा तो बाह्य लिंग हो और उसके अन्तरंग श्रद्धान ऐसा हो वह सम्यग्द ष्टि है –

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।। १९।।

पंचास्तिकाय पदार्थ नौ, छह द्रव्य सात जो तत्त्व हैं।
उनके स्वरूप को श्रद्धहे, सद्द ष्टि उसको जानना।।१९।।

अर्थ

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व-ये जो जिनवचन में कहे गए हैं उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्द ष्टि जानना।

भावार्थ

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये तो छह द्रव्य हैं; जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप-ये नौ पदार्थ हैं; काल बिना छह द्रव्य पंचास्तिकाय हैं तथा पुण्य-पाप बिना नौ पदार्थ सात तत्त्व हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप ऐसा है–**जीव** तो चेतनास्वरूप है सो दर्शनज्ञानमयी है, **पुद्गल** स्पर्श रस गंध वर्ण गुणमयी मूर्तिक है जिसके परमाणु और स्कंध–ऐसे दो भेद हैं, उसमें स्कंध के भेद शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत इत्यादि अनेक प्रकार हैं और **धर्म द्रव्य** जीव और पुद्गल को गमन में सहकारी है, **अधर्म द्रव्य** जीव और पुद्गल को स्थित होने में सहकारी है, **आकाश द्रव्य** अवगाहना गुणस्वरूप है तथा **काल द्रव्य** वर्तना में निमित्त है। जीव अनंत हैं, पुद्गल उनसे अनंतगुणे हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक–एक हैं तथा कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। पांच द्रव्यों के बहुप्रदेशी होने से पांच अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है इसलिए अस्तिकाय नहीं है इत्यादि–इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र से जानना।

एक तो **जीव पदार्थ** और **अजीव पदार्थ** पांच द्रव्य तथा जीव के पुद्गल कर्म बंध योग्य हों सो **आस्रव**, कर्मों का बंधना सो **बंध,** आस्रव का रूकना सो **संवर,** कर्म बंध का झड़ना सो **निर्जरा**, सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना सो **मोक्ष,** जीव को सुख का निमित्त सो **पुण्य** और दुःख का निमित्त सो **पाप**–ऐसे सात तत्त्व और नौ पदार्थ हैं इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्द ष्टि होता है।।१६।।

उत्थानिका

आगे व्यवहार, निश्चय सम्यक्त्व को कहते हैं :–

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।। २०।।

जीवादि के श्रद्धान को, व्यवहार समकित जिन कहा।
निश्चय से जो निज आत्मश्रद्धा, वही समकित होय है।।२०।।

अर्थ

जिनभगवान ने जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है तथा निश्चय से अपनी आत्मा ही का श्रद्धान सो सम्यक्त्व है।

भावार्थ

तत्त्वार्थ का श्रद्धान वह तो व्यवहार से सम्यक्त्व है तथा अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करके उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि एवं आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है। सो यह सम्यक्त्व आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा ही का परिणाम है तथा परिणाम है सो आत्मा ही है-इस प्रकार सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है ऐसा निश्चयनय का आशय जानना।।२०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह सम्यदर्शन है सो सब गुणों में सार है, इसे धारण करो' :–

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।। २१।।

जो मोक्ष की सीढ़ी प्रथम, गुण रत्नत्रय में सार है।
जिनवर कथित दर्शन रतन वह, भाव से धारो उसे।।२१।।

अर्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जिनेश्वर देव के द्वारा कहा हुआ जो दर्शन है सो गुणों में और दर्शन, ज्ञान, चारित्र-इन तीन रत्नों में सार है, उत्तम है तथा मोक्ष मंदिर में चढ़ने के लिए प्रथम सीढ़ी है सो आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों ! तुम इसको अन्तरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादि से धारण करना तो परमार्थ नहीं, अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण होता है।।२१।।



आगे कहते हैं कि 'जो श्रद्धान करता है उसी के सम्यक्त्व होता है' :–

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।। २२।।

जो कर सको उसको करो, न कर सको श्रद्धा करो।
श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व ! केवलि जिन कहा।।२२।।

अर्थ

जितना करने की सामर्थ्य हो वह तो करे तथा जो करने की सामर्थ्य न हो उसका श्रद्धान करे क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व कहा है।

भावार्थ

यहाँ आशय ऐसा है कि **यदि कोई कहे** कि सम्यक्त्व होने पर तो सब परद्रव्य संसार को हेय जाना जाता है सो जिसको हेय जाने उसको छोड़े और मुनि होकर चारित्र का आचरण करे तब सम्यक्त्व हुआ जाना जाए ?

उसके समाधान रूप यह गाथा है कि सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना और उसका श्रद्धान किया तब मिथ्या भाव तो मिटा परन्तु चारित्रमोह कर्म का यदि उदय प्रबल हो तो जब तक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य न हो तब तक जितनी सामर्थ्य हो उतना तो करे और उससे अतिरिक्त का श्रद्धान करे–इस प्रकार श्रद्धान करने वाले ही के भगवान ने सम्यक्त्व कहा है।२२।।



आगे कहते हैं कि 'ऐसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो स्थित हैं वे वंदन करने योग्य हैं' :–

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गणधराणं।। २३।।

तप-विनय-दर्शन-ज्ञान-चारित, में सदा जो तिष्ठते ।
वे वन्दना के योग्य जो, गुणवादी हैं गणधरों के।।२३।।

अर्थ

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय–इनमें जो भली प्रकार स्थित हैं वे प्रशस्त हैं–सराहने योग्य हैं अथवा भली प्रकार स्वस्थ हैं–लीन हैं तथा गणधर आचार्यों का गुणानुवाद करने वाले हैं वे वंदन के योग्य हैं। अन्य जो दर्शनादि से भ्रष्ट हैं और गुणवानों से मत्सर भाव रखकर विनय रूप नहीं प्रवर्तते हैं वे वंदन के योग्य नहीं हैं।।२३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो यथाजात रूप को देखकर मत्सरभाव से वंदना नहीं करते हैं वे मिथ्याद ष्टि हैं' :–

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठू जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिपण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। २४।।

मुनि यथाजात स्वरूप लख, नहिं मानें मत्सर भाव से।
संयम से युक्त ही हों भले, पर मिथ्याद ष्टि होय हैं।।२४।।

अर्थ

जो सहजोत्पन्न यथाजात रूप को देखकर नहीं मानते हैं, उसका विनय, सत्कार एवं प्रीति नहीं करते हैं और मत्सर भाव करते हैं वे संयम प्रतिपन्न हैं अर्थात् दीक्षा ग्रहण की हुई है तो भी प्रत्यक्ष मिथ्याद ष्टि हैं।

भावार्थ

जो यथाजात रूप को देखकर मत्सर भाव से उसका विनय नहीं करता तो ऐसा

जानो कि इसके इस रूप की श्रद्धा एवं रुचि नहीं है और ऐसी श्रद्धा रुचि के बिना तो मिथ्याद ष्टि ही है। यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादि हुए वे दिगम्बर रूप से मत्सर भाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते उनका निषेध है।।२४।।

उत्थानिका

आगे इसी को द ढ़ करते हैं :–

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जो गारवं करेंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।। २५।।

देवेन्द्रवंदित शीलयुत, मुनिरूप है जिनदेव का।
गारव करे जो देखकर, सम्यक्त्व विरहित जीव वह।।२५।।

अर्थ

देवों से वंदनीय एवं शीलसहित जो जिनेश्वर देव का यथाजात रूप उसे धारण करने वालों का रूप देखकर जो गारव करते हैं और विनयादि नहीं करते वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थ

जिस रूप को देखकर अणिमादि ऋद्धि के धारी देव भी पैरों में पड़ते हैं उसको देखकर जो मत्सरभाव से वंदना नहीं करते हैं उनके कैसा सम्यक्त्व अर्थात् वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं।।२५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'असंयमी वंदने योग्य नहीं है' :–

अस्संजदं ण वंदे वत्थविहीणोवि सो ण वंदिज्ज।
दोण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। २६।।

नहिं नमन योग्य असंयमी, नहिं वंद्य वस्त्र विहीन भी।
दोनों हैं एक समान इनमें, संयमी नहिं एक भी।।२६।।

अर्थ

असंयमी की वंदना नहीं करनी चाहिए तथा भाव संयम न हो और बाह्य में वस्त्र रहित हो वह भी वंदन के योग्य नहीं है क्योंकि ये दोनों ही संयम रहित समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है।

भावार्थ

जिसने ग हस्थ वेष धारण कर रखा है वह तो असंयमी है ही परन्तु जिसने बाह्य में नग्न रूप धारण किया है पर अन्तरंग में भावसंयम नहीं है वह भी असंयमी ही है और क्योंकि ये दोनों ही असंयमी हैं इसलिए दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं। **यहाँ आशय ऐसा है कि ऐसा मत जानना कि आचार्य यथाजात रूप को दर्शन कहते आ रहे हैं तो केवल नग्न रूप ही यथाजात रूप होगा क्योंकि आचार्य तो जो बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह से रहित हो उसको यथाजात रूप कहते हैं। अभ्यन्तर भाव संयम के बिना बाह्य में नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं है-ऐसा जानना।**

यहाँ कोई पूछता है—बाह्य वेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालता हो पर उसके अभ्यंतर भाव में कपट हो उसका निश्चय कैसे हो तथा सूक्ष्म भाव केवलीगम्य मिथ्यात्व हो उसका निश्चय कैसे हो और निश्चय के बिना वंदने की क्या रीति है?

उसका समाधान—कपट का जब तक निश्चय नहीं हो तब तक तो शुद्ध आचार देखकर वंदना करे उसमें दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाये तब वंदना नहीं करे तथा केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं है उसका बाध-निर्बाध करने का व्यवहार नहीं है, सर्वज्ञ की भी यह ही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार ही का शरण है। अतः अपने ज्ञानगोचर अन्तरंग-बाह्य की शुद्धता का निश्चय करके वंदना एवं पूजना-ऐसा जानना।।२६।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हुए कहते हैं :–

णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइसंजुत्तो।
को वंददि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होई।। २७।।

नहिं देह वंद्य, न वंद्य कुल, नहिं जातिसंयुत वंद्य है।
गुणहीन को वंदेगा कौन, वह श्रमण नहिं श्रावक नहिं।।२७।।

अर्थ

देह की वंदना नहीं की जाती तथा कुल की वंदना नहीं की जाती तथा जाति संयुक्त की भी वंदना नहीं की जाती क्योंकि गुणरहित हो उसकी कौन वंदना करे! गुण के बिना न तो मुनि ही होता है और न ही श्रावक।

भावार्थ

लोक में भी ऐसा न्याय है कि जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता, (१) देह रूपवान हो तो क्या ! (२) कुल बड़ा हुआ तो क्या और (३) जाति बड़ी हुई तो क्या क्योंकि मोक्षमार्ग में तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण हैं, इनके बिना जाति, कुल, रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि–श्रावकपना आता नहीं है। मुनि–श्रावकपना तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से होता है इसलिए वे ही वंदने योग्य हैं, जाति, कुल, रूप आदि वंदने योग्य नहीं हैं।।२७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो तप आदि से संयुक्त हैं उनकी वंदना करता हूँ' :–

वंदमि तवसामण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण।। २८।।

वंदूं श्रमण संयुक्त तप, गुण शील अरु ब्रह्मचर्य को।
सम्यक्त्वयुत शुध भाव से, जिससे कि सिद्धिगमन हो।।२८।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि–(१) जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं उनको तथा (२) उनके शील को तथा (३) उनके गुण को तथा (४) ब्रह्मचर्य को मैं सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से वंदना करता हूँ क्योंकि उनके उन गुणों से युक्त सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से जो सिद्धि अर्थात् मोक्ष उसके प्रति गमन होता है।

भावार्थ

पहिले कहा था कि देहादि वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं, अब यहाँ गुणसहित की वंदना की है। वहाँ जो तप धारण करके ग हस्थपना छोड़कर मुनि हुए हैं उनकी तथा उनके सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से युक्त जो शील, गुण एवं ब्रह्मचर्य हैं उनकी वंदना की है। यहाँ 'शील' शब्द से तो 'उत्तरगुण' लेना, 'गुण' शब्द से 'मूलगुण' लेने तथा 'ब्रह्मचर्य' शब्द से 'आत्मस्वरूप' में लीनपना' लेना।।२८।।

उत्थानिका

आगे कोई **आशंका** करता है कि 'संयमी को वंदने योग्य कहा तो समवशरणादि विभूति सहित तीर्थंकर हैं वे वंदने योग्य हैं कि नहीं?' उसके **समाधान** को गाथा कहते हैं कि 'जो तीर्थंकर परमदेव हैं वे सम्यक्त्व सहित तप के माहात्म्य से तीर्थंकर पदवी पाते हैं सो वे भी वंदने योग्य हैं' :–

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहिं अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ[1] कम्मक्खयकारणणिमित्तो।। २९।।

चौंसठ चमर से सहित जो, चौंतीस अतिशय युक्त हैं।
बहुप्राणि हितकारी निरंतर, कर्म क्षय के निमित हैं।।२९।।

टि०-1. इस पंक्ति के प्रथम चरण में 'श्रु० टी०' में 'अणुचरबहुसत्तहिओ' (सं०-अनुचरबहुसत्त्वहितः) पाठ देकर अर्थ किया है कि वे भगवान 'अनुचर' अर्थात् 'विहारकाल में पीछे चलने वाले सेवकों' तथा 'बहुसत्त्व' अर्थात् 'अन्य अनेक जीवों को', 'हितः' अर्थात् 'स्वर्ग मोक्ष के दायक' हैं एवं 'वी० प्रति' में 'अणुचरइ बहुसत्तसहिउ' पाठ देकर अर्थ किया है कि 'वे बहुत जीवों सहित विहार करते हैं।'

अर्थ

जो चौंसठ चँवरों से सहित हैं, चौंतीस अतिशयों से संयुक्त हैं, निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है तथा कर्म के क्षय के कारण हैं–ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं वे वंदने योग्य हैं।

भावार्थ

यहाँ 'चौंसठ चँवर और चौंतीस अतिशय सहित' विशेषण से तो तीर्थंकर का प्रभुत्व बताया है और 'प्राणियों के हितकारी तथा कर्म क्षय के कारण' विशेषण से दूसरे का उपकारकरनहारापना बताया है–इन दोनों ही कारणों से वे जगत में वंदने–पूजने योग्य हैं इसलिए ऐसा भ्रम न करना कि तीर्थंकर कैसे पूज्य हैं ! वे तीर्थंकर तो सर्वज्ञ वीतराग हैं, उनकी समवशरणादि विभूति रचकर इन्द्रादि भक्तजन महिमा, भक्ति करते हैं, उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं है, वे स्वयं तो जैसा दिगम्बर रूप है उसको धारण किए हुए अंतरिक्ष (अधर–आकाश) में तिष्ठते हैं।।२९।।

उत्थानिका

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते है :–

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ३०।।

जो ज्ञान-दर्शन-चरित-तप, इन चारों के ही योग पर।
संयम का गुण होवे यदि, हो मुक्ति जिनशासन विषैं।।३०।।

अर्थ

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र–इन चारों का समायोग होने पर जो संयम गुण होता है उससे जिनशासन में मोक्ष होना कहा है।।३०।।

उत्थानिका

आगे इन ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना कहते हैं :–

णाणं णरस्स सारं सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।। ३१।।

है ज्ञान नर को सार तत्पश्चात् समकित सार हो।
सम्यक्त्व से चारित्र हो, चारित्र से निर्वाण हो।।३१।।

अर्थ

(१) प्रथम तो इस पुरुष के ज्ञान सार है क्योंकि ज्ञान से सब हेय–उपादेय जाने जाते हैं फिर (२)इस पुरुष के सम्यक्त्व निश्चय से सार है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है तथा (३) सम्यक्त्व से चारित्र होता है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना चारित्र भी मिथ्या ही है तथा (४) चारित्र से निर्वाण होता है।

भावार्थ

चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है और ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है–इस प्रकार विचार करने पर सम्यक्त्व के सारपना हुआ इसलिए पहले तो सम्यक्त्व सार है और पीछे ज्ञान–चारित्र सार हैं। पहले ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं इसलिए पहले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व के बिना उसका भी सारपना नहीं है–ऐसा जानना।।३१।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हैं :–

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोक्कं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो।। ३२।।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान हो संयुक्त तप, सम्यक्त्व से।
इन चारों के ही योग से है, सिद्ध पद संदेह ना।।३२।।

अर्थ

ज्ञान और दर्शन के होने पर सम्यक्त्व सहित तप से और चारित्र से–इन चारों के समायोग होने से जीव सिद्ध हुए हैं–इससे संदेह नहीं है।

भावार्थ

पूर्व में जो सिद्ध हुए हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप–इन चारों के संयोग ही से हुए हैं–यह जिनवचन है, इसमें संदेह नहीं है।।३२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'लोक में यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्न अमोलक है सो देव–दानवों से पूज्य है' :–

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अच्चेदि सुरासुरे लोए।। ३३।।

है परम्परा कल्याण पाता, जीव शुद्ध सम्यक्त्व से।
सुर-असुर युत इस लोक में, अतएव रतन ये पूज्य है।।३३।।

अर्थ

जीव हैं वे विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा सहित पाते हैं इसलिए जो सम्यग्दर्शन रत्न है वह इस सुर–असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है।

भावार्थ

विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषों से रहित निरतिचार सम्यक्त्व से 'कल्याण की परम्परा' अर्थात् तीर्थंकर पदवी पाई जाती है इसलिए यह सम्यक्त्व रत्न सर्वलोक अर्थात् देव, दानव और मनुष्यों से पूज्य होता है।[1] तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण सोलह भावना कही गई हैं उनमें पहली दर्शनविशुद्धि है सो ही प्रधान है, यह ही विनयादि पंद्रह भावनाओं की कारण है इसलिए सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है।।३३।।

टि०–1. 'श्रु० टी०' में लिखा है कि 'सम्यक्त्व रत्न का मूल्य कोई भी करने में समर्थ नहीं है। यदि इसका कोई मूल्य (अवमूल्यन) करता है तो वह मुंह में शीघ्र ही कुष्ठी हो जाता है अर्थात् अपने उपदेश के द्वारा जो सम्यक्त्व के महत्त्व को कम करता है उसके मुख में कुष्ठ होता है।'

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपने को पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त हो जाता है—यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है' :—

दट्ठूण य मणुयत्तं[1] सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं च मोक्खं च।। ३४।।

पा करके उत्तम गोत्र युत, मनुजत्व फिर सम्यक्त्व को।
पा करके अक्षय सौख्य पाए, उस सहित मुक्ति लहे।।३४।।

अर्थ

उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष पाकर और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखस्वरूप केवलज्ञान पाते हैं तथा उस सुख सहित मोक्ष पाते हैं।

भावार्थ

यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है।।३४।।

उत्थानिका

आगे **प्रश्न** उत्पन्न होता है कि 'सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष पाते हैं तो तत्काल ही मोक्ष होता है या कुछ काल स्थित भी रहते हैं' उसके **समाधान** रूप गाथा कहते हैं :—

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।। ३५।।

टि०-1. 'श्रु० टी०' में 'दट्ठूण य मणुयत्तं' का अर्थ किया है-'मनुष्य जन्म को देखकर-जानकर अर्थात् महासमुद्र में करच्युत रत्न के समान अनेक दृष्टान्तों से दुर्लभ विचार कर।' 'म० टी०' में 'दट्ठूण य मणुयत्तं' के स्थान पर 'लद्धूण य मणुयत्तं' पाठ है एवं 'ज० व वी० प्रति' में 'दुक्खेण य मणुयत्तं' पाठ है जिसका अर्थ 'वी० प्रति' में किया है-'दुःख करि बहुरि मनुष्य होता है।'

चौंतीस अतिशय सहित आठ, सहस्र लक्षण युक्त हो।
जब तक विहार प्रभु करे, प्रतिमा स्थावर है कही।।३५।।

अर्थ

केवलज्ञान होने के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान जब तक इस लोक में आर्यखंड में विहार करते हैं तब तक उनकी वह 'प्रतिमा' अर्थात् शरीर सहित प्रतिबिम्ब उसको 'स्थावर प्रतिमा' इस नाम से कहते हैं। **कैसे हैं जिनेन्द्र**–एक हजार आठ तो लक्षणों से संयुक्त हैं। **और कैसे हैं**–चौंतीस अतिशयों से संयुक्त हैं।

वहाँ श्री व क्ष को आदि लेकर एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं[1]और तिल व मस्से को आदि लेकर नौ सौ व्यंजन होते हैं।

चौंतीस अतिशयों में वे ये दस तो जन्म से ही लिए हुए उत्पन्न होते हैं :– (१)निःस्वेदता (पसीने से रहितता), (२) निर्मलता[2] (शरीर में मल–मूत्र का अभाव),

---

टि०–1. भगवान के शरीर में हाथ और पैर आदि में शंख, कमल, स्वस्तिक, ध्वजा, कलशयुगल, विमान, हाथी, सिंह, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, कुण्डलादि षोडशाभरण, फल सहित उद्यान, लक्ष्मी, सरस्वती, गाय, बैल, महानिधि, राजमहल, अष्ट प्रातिहार्य, अष्ट मंगल द्रव्य आदि **एक सौ आठ लक्षण** होते हैं।

2. निर्मलता का अर्थ है-शरीर में मल-मूत्र का अभाव होना। न केवल तीर्थंकर के मल-मूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता-पिता के भी मल-मूत्र का अभाव होता है। सम्बन्धित गाथा है–

तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्की य अद्धचक्की य।
देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो।।

अर्थ-तीर्थंकर, तीर्थंकरों के माता-पिता, हलधर (बलभद्र), चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती (नारायण), देव और भोगभूमिया जीव-इनके आहार तो है परन्तु नीहार (मल-मूत्र) नहीं।

इसी प्रकार तीर्थंकरों के डाढ़ी-मूँछ भी नहीं होती किन्तु सिर पर मनोज्ञ केश (घुंघराले बाल) होते हैं जैसा कि कहा गया है–

देवा वि य णेरइया भोयभुय चक्की तह य तित्थयरा।
सव्वे केसव रामा कामा णिक्कुंचिया होंति।।

अर्थ-देव, नारकी, भोगभूमिज, मनुष्य, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण, बलभद्र और कामदेव डाढ़ी-मूँछ से रहित होते हैं।

(३) श्वेतरुधिरता[1] (सफेद रक्त का होना), (४) समचतुरस्रसंस्थान, (५) वज्रव षभनाराच संहनन, (६) सुरूपता, (७) सुगंधता, (८) सुलक्षणता, (९) अतुल वीर्य और (१०) हित–मित वचन–ऐसे दस हैं।

घातिया कर्मों के क्षय होने पर ये दस होते हैं :– (१) शत योजन सुभिक्षता (सौ–सौ योजन तक अकाल का अभाव), (२)आकाशगमन, (३)प्राणिवध का अभाव, (४)कवलाहार (ग्रास के आहार) का अभाव, (५)उपसर्ग का अभाव, (६)चतुर्मुखत्व (चार मुखों का दीखना), (७)सर्व विद्याप्रभुत्व, (८)छायारहितत्व[2], (९)लोचन निःस्पंदन (नेत्रों का टिमकार रहित होना) एवं (१०)केश–नख व द्धिरहितत्व–ऐसे दस हैं।

देवों द्वारा किए गए ये चौदह[3] होते हैं :– (१)सकलार्द्धमागधी भाषा,[4] (२)सब जीवों के मैत्रीभाव[5], (३)सब ऋतुओं के फल–पुष्पों का प्रादुर्भाव[6], (४)दर्पण के समान प थ्वी का होना[7], (५)मंद सुगंधित पवन का चलना, (५)सारे लोक में आनन्द का वर्तना, (७)भूमि का कंटकादि रहित होना[8], (८)देवों के द्वारा गंधोदक

टि०–1. 'श्रु० टी०' में 'क्षीरगौररुधिरमांसत्वं' पद दिया है जिसका अर्थ है कि 'उनके रक्त और माँस-दोनों ही दूध के समान सफेद होते हैं।'

2. दर्पण में तीर्थंकर के मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और न उनके शरीर की छाया पड़ती है।

3. ये अतिशय भी केवलज्ञान होने के बाद होते हैं।

4. दिव्यध्वनि में अर्द्ध भाषा मगधदेशभाषात्मक और अर्द्ध सर्वभाषामय होती है।
इस पर 'श्रु० टी०' में **प्रश्न** किया है कि 'यदि ऐसा है तो फिर इस अतिशय में देवोपनीतपना कैसे सिद्ध होता है ?' **उत्तर** वहीं दिया है-'भाषा में यह उक्त प्रकार का परिणमन मगध देवों के सन्निधान में होता है इसीलिए इसमें देवोपनीतपना बन जाता है।'

5. समस्त जनसमूह मागध देवों के अतिशय के वश मागधी भाषा में बोलते हैं और प्रीतिंकर देवों के अतिशय के वश परस्पर में मित्रता से रहते हैं।

6. प थ्वी पर ऐसे व क्ष प्रकट होते हैं जिनमें सब ऋतुओं के फलों के गुच्छे, किसलय और फूल दिखाई देते हैं।

7. भूमि दर्पणतल के समान मनोहर और रत्नमयी हो जाती है।

8. वायुकुमार देव भगवान के विहार काल में आगे-आगे की एक योजन पर्यन्त भूमि को सुगन्धित वायु के द्वारा धूलि, कंटक, त ण, कीड़े, कंकड़ और पत्थरों आदि से रहित करते जाते हैं।

की वर्षा[1], (९)विहार के समय चरणकमल के नीचे देवों के द्वारा सुवर्णमयी कमलों की रचना[2], (१०)भूमि का धान्य निष्पत्ति सहित होना[3], (११)दिशा–आकाश का निर्मल होना[4], (१२)देवों का आह्वानन ('आओ–आओ' ऐसे बुलाना) शब्द होना[5], (१३)धर्म चक्र का आगे चलना[6] एवं (१४)अष्ट मंगल द्रव्य का होना–ऐसे चौदह हैं।[7]

ये सब मिलकर चौंतीस हुए।

जो **आठ प्रतिहार्य** होते हैं उनके नाम ये हैं–(१)अशोकव क्ष, (२)पुष्पव ष्टि, (३)दिव्यध्वनि, (४)चामर, (५)सिंहासन, (६)छत्र, (७)भामंडल एवं (८)दुन्दुभि वादित्र–ऐसे आठ हैं।

इन अतिशयों से युक्त अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख एवं अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जब तक जीवों के सम्बोधन के निमित्त विहार करते हुए विराजते

टि०– 1. वायुकुमार जाति के देवों द्वारा प्रमार्जित भूमि पर मेघकुमार जाति के देव सुगन्धित जल की व ष्टि करते हैं।

2. भगवान के पाँव के नीचे एक और आगे सात व पीछे सात इस तरह बीच की एक पंक्ति में एक-एक योजन प्रमाण के पन्द्रह कमल होते हैं। इसके सिवाय बाईं ओर सात व दाईं ओर भी सात-इस प्रकार कमलों की चौदह पंक्तियाँ और होती हैं जिनमें भी पन्द्रह-पन्द्रह कमल प्रत्येक पंक्ति में होते हैं पर ये प्रत्येक अर्ध योजन प्रमाण होते हैं। इस तरह पन्द्रह पंक्तियाँ और हर पंक्ति में पन्द्रह कमल सो कुल 'दो सौ पच्चीस' कमलों की रचना भगवान के पाद तले रहती है। प्रत्येक कमल एक हजार सुवर्णमयी पत्तों व पद्मरागमणिमय केशर से सुशोभित होता है।

3. प थ्वी पर गेहूँ आदि अठारह प्रकार के अनाज उत्पन्न होते हैं।

4. शरत्काल सरोवर के सद श आकाश निर्मल हो जाता है और सारी ही दिशाएँ धूलि, धूम्र (धुंआ), धुंध, अन्धकार, दिग्दाह व टिड्डी दल आदि से रहित हो जाती हैं।

5. भवनवासी देव ज्योतिषी, व्यंतर एवं कल्पवासी देवों का आह्वान करते हैं कि 'आप लोग भगवान की महापूजा के लिए शीघ्र ही आओ।'

6. चक्रवर्ती के सुदर्शन चक्र के समान एक हजार आरों से युक्त, रत्नमयी, सूर्य के तेज को भी तिरस्क त कर देने वाला धर्मचक्र भगवान के आगे-आगे गगन में निराधार चलता है।

7. अष्ट मंगल द्रव्य के नाम–१. छत्र, २. ध्वजा, ३. दर्पण, ४. कलश, ५. चामर, ६. झारी, ७. ताल (पंखा) एवं ८. सुप्रतिष्ठक (ठौना)। ये प्रत्येक एक सौ आठ-एक सौ आठ होते हैं।

हैं तब तक स्थावर प्रतिमा कहलाती है। इस प्रकार स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर का केवलज्ञान होने के पश्चात् अवस्थान बताया है और धातु–पाषाण की जो प्रतिमा रचकर स्थापित की जाती है वह इसका व्यवहार है।३५।।

उत्थानिका

आगे कर्मों के नाश से मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं:–

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेणस्सं।
वोसट्ठचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ।। ३६।।

द्वादश तपों से युक्त हो, विधिवत् खिपाकर कर्म को।
व्युत्सर्ग से तज देह को, पावें अनुत्तर मोक्ष को।।३६।।

अर्थ

जो बारह प्रकार के तप से संयुक्त होते हुए विधि के बल से अपने कर्मों का नाश करके 'व्युत्स ष्टचत्त' अर्थात् न्यारा करके छोड़ दिया है देह जिन्होंने ऐसे होकर 'अनुत्तर' अर्थात् जिससे आगे अन्य अवस्था नहीं है ऐसी निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ

जो तप के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके जब तक विहार करते हैं तब तक स्थित रहते हैं, पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री रूप विधि के बल से कर्मों का क्षय करके व्युत्सर्ग के द्वारा शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं तब लोक के शिखर पर जाकर स्थित होते हैं वहाँ गमन में एक समय लगता है उस समय जंगम प्रतिमा कही जाती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है सो इस पाहुड़ में सम्यग्दर्शन के प्रधानपने का व्यारव्यान किया।।३६।।

सवैया तेईसा

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु, सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा।
ता मधि सम्यग्दर्शन मुख्य, भये निज बोध फलै सुचरित्रा।।
जे नर आगम जांनि सुमांनि, करै पहचानि यथावत मित्रा।
घाति क्षपाय रु केवल पाय, अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा।।१।।

अर्थ

जिनराज ने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को मोक्ष का उपाय कहा है, उनमें सम्यग्दर्शन मुख्य है जिसके होने पर निज का ज्ञान होकर सम्यक् चारित्र फलित होता है। हे मित्रों! जो नर आगम को जानकर और उसे भली प्रकार मानकर सम्यग्दर्शन की यथावत् पहचान कर लेते हैं वे घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त करके फिर अघातिया कर्मों का भी हनन कर पवित्र मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा

नमूं देव गुरु धर्म कूं, जिन आगम कूं मांनि।
जा परसाद लयो अमल, सम्यक् दर्शन जांनि।।२।।

अर्थ

जिन आगम का श्रद्धान करके देव–गुरु–धर्म को नमन करता हूँ जिनके प्रसाद से मैंने निर्मल सम्यग्दर्शन–ज्ञान को प्राप्त किया है।।२।।



विषयवस्तु

छत्तीस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड़ में कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय से अपनी आत्मा का श्रद्धान और व्यवहार से जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हुए दर्शन को धर्म का मूल कहा है। सम्यग्दर्शन की उन्होंने अनेक प्रकार से ऐसे महिमा कही है कि दर्शन से भ्रष्ट ही मूलविनष्ट है, वह सीझता नहीं; चारित्र से भ्रष्ट तो सीझ जाए पर दर्शन से भ्रष्ट नहीं। सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट बहुत प्रकार के शास्त्रों को भी जानता हो और उग्र-उग्र तप भी करता हो पर वह कर्म क्षय नहीं कर पाता जबकि सम्यक्त्व रूप जल प्रवाह जिसके हृदय में बहता है उसके कर्म रज का आवरण नहीं लगता और पूर्व में लगा कर्मबंध भी नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या ही रहते हैं और सम्यक्त्व से यह जीव श्रेय और अश्रेय का ज्ञाता होकर निर्वाण पा जाता है सो सम्यक्त्व रत्न ही सुर-असुरों से भरे हुए इस लोक में पूज्य है। सम्यक्त्व का खूब माहात्म्य वर्णन करके सारे गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों रत्नों में सार एवं मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यक्त्व को अन्तरंग भाव से धारण करने की पावन प्रेरणा आचार्य महाराज ने इस पाहुड़ में दी है।



गाथा चयन



गाथा २—'दसंणमूलो धम्मो....' **अर्थ**—जिनवर सर्वज्ञदेव ने गणधर आदि शिष्यों को 'दर्शन जिसका मूल है' ऐसे धर्म का उपदेश दिया है उसको अपने कानों से सुनकर दर्शनहीन की वंदना मत करो।।१।।

गा० ३—'दंसणभट्ठा भट्ठा....' **अर्थ**—दर्शन से भ्रष्ट ही भ्रष्ट हैं उनके निर्वाण नहीं होता। चारित्र से भ्रष्ट तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं पर दर्शनभ्रष्ट नहीं।।२।।

गा० ४—'सम्मत्तरयणभट्ठा....' **अर्थ**—जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधनाओं से रहित होने के कारण उसी संसार में भ्रमण करते रहते हैं।।३।।

गा० ५—'सम्मत्तविरहिया णं....' **अर्थ**—जो सम्यक्त्व से रहित हैं वे हजार करोड़ वर्ष तक भली प्रकार उग्र तप का आचरण करें फिर भी 'बोधि' अर्थात् अपने स्वरूप के लाभ को नहीं पाते।।४।।

गा० ७—'सम्मत्तसलिलपवहो....' **अर्थ**—जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर वर्तता है उसके कर्म रूप बालू रज का आवरण नहीं लगता और पूर्व में लगा हुआ कर्मबंध भी नाश को प्राप्त हो जाता है।।५।।

गा० १०—'जह मूलम्मि विणट्ठे....' **अर्थ**—जैसे व क्ष का मूल नष्ट होने पर उसके स्कंध, शाखा, पत्र आदि परिवार की व द्धि नहीं होती वैसे ही जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती।।६।।

गा० ११—'जह मूलाओ खंधो....' **अर्थ**—जैसे व क्ष के मूल से शाखा आदि बहुत गुण वाला स्कंध होता है वैसे ही गणधरदेवादि ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।।७।।

गा० १२—'जे दंसणेसु भट्ठा....' **अर्थ**—जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं और अन्य दर्शन के धारकों को अपने पैरों में पड़वाते हैं वे परभव में लूले, गूंगे होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है।।८।।

गा० १५, १६—'सम्मत्तादो णाणं....', 'सेयासेयविदण्हू ....' **अर्थ**—सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है और सम्यक् ज्ञान से सर्व पदार्थों की प्राप्ति तथा जानना होता है तथा पदार्थों की उपलब्धि होने पर कल्याण और अकल्याण को जाना जाता है। कल्याण और अकल्याण मार्ग को जानने वाला पुरुष 'जिसने मिथ्या स्वभाव को उड़ा दिया है' ऐसा होता है और सम्यक् स्वभाव सहित भी होता है तथा उस सम्यक् स्वभाव से तीर्थंकर आदि पद पाकर पीछे निर्वाण को प्राप्त होता है।।९।।

गा० १७—'जिणवयण ओसहमिणं....' **अर्थ**—यह जिनवचन रूपी औषधि इन्द्रिय विषयों में सुख की मान्यता का विरेचन करने वाली, अम त समान, जरा-मरण रूप रोग को हरने वाली तथा सर्व दुःखों का क्षय करने वाली है।।१०।।

गा० १8—'एगं जिणस्स रूवं....' **अर्थ**—दर्शन में एक तो जिन का रूप-जैसा लिंग जिनदेव ने धारण किया वह है, दूसरा उत्क ष्ट श्रावकों का है, तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिकाओं का है तथा चौथा लिंग दर्शन में नहीं है।।११।।

गा० २०—'जीवादी सद्दहणं....' **अर्थ**—जिनवरों ने जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है और निश्चय से अपनी आत्मा ही का श्रद्धान सम्यक्त्व है।।१२।।

गा० २१—'एवं जिणपण्णत्तं....' **अर्थ**—ऐसे गुणों में और दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन रत्नों में सार तथा मोक्ष मन्दिर में चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी इस जिनकथित दर्शन रत्न को तुम अन्तरंग भाव से धारण करो।।१३।।

गा० २२—'जं सक्कइ तं कीरइ....' **अर्थ**—जितना चारित्र धारण करना शक्य हो वह तो करे और जितने की सामर्थ्य न हो उसका श्रद्धान करे क्योंकि केवली भगवान

ने श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व कहा है।।१४।।

गा० २६—'अस्संजदं ण वंदे....' **अर्थ**—असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए, भाव संयम से रहित बाह्य नग्न रूप को धारण करने वाला भी वंदने योग्य नहीं है क्योंकि ये दोनों ही संयम रहित होने से समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है।।१५।।

गा० २७—'णवि देहो वंदिज्जइ....' **अर्थ**—न तो देह की वंदना की जाती है, न कुल की और न ही जातिसंयुक्त की। गुणहीन की कौन वंदना करे! गुण बिना न तो मुनि, न ही श्रावक।।१६।।

गा० ३१—'णाणं णरस्स सारं....' **अर्थ**—प्रथम तो मनुष्य के लिए ज्ञान सार है और ज्ञान से भी अधिक सम्यक्त्व सार है। सम्यक्त्व से चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण होता है।।१७।।

गा० ३३—'कल्लाणपरंपरया....' **अर्थ**—जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा के साथ पाते हैं। सम्यग्दर्शन रत्न इस सुर एवं असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है।।१८।।



गा० ३४—'दट्ठूण य मणुयत्तं....' **अर्थ**—उत्तम गोत्र सहित मनुष्य पर्याय पाकर और वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त कर यह जीव अविनाशी सुख और मोक्ष को पाता है।।१९।।

१. **दंसणमूलो धम्मो।।गाथा २।। अर्थ**–दर्शन ही धर्म का मूल है।

२. **दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। २।। अर्थ**–दर्शनहीन की वंदना नहीं करनी चाहिए।

३. **दंसणभट्ठा भट्ठा दसणभट्ठाण णत्थि णिव्वाणं।। ३।।**
अर्थ–दर्शन से भ्रष्ट ही भ्रष्ट है, दर्शन से भ्रष्ट का निर्वाण नहीं होता।

४. **जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।। १०।। अर्थ**–जिनदर्शन से भ्रष्ट मूल से विनष्ट हैं, वे सीझते नहीं अर्थात् उनके मोक्ष की सिद्धि नहीं होती।

५. **जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।। ११।।**
अर्थ–गणधरदेवादि ने जिनदर्शन को ही मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

६. **जिणवयण ओसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।। १७।।**
अर्थ–जिनवचन विषयों में सुख की मान्यता का विरेचन करने वाली अम तभूत औषधि है।

७. **एवं जिणपण्णत्तं दसंणरयणं धरेह भावेण।। २१।।**
अर्थ–ऐसे जिनवरकथित दर्शन रत्न को तुम भावपूर्वक धारण करो।

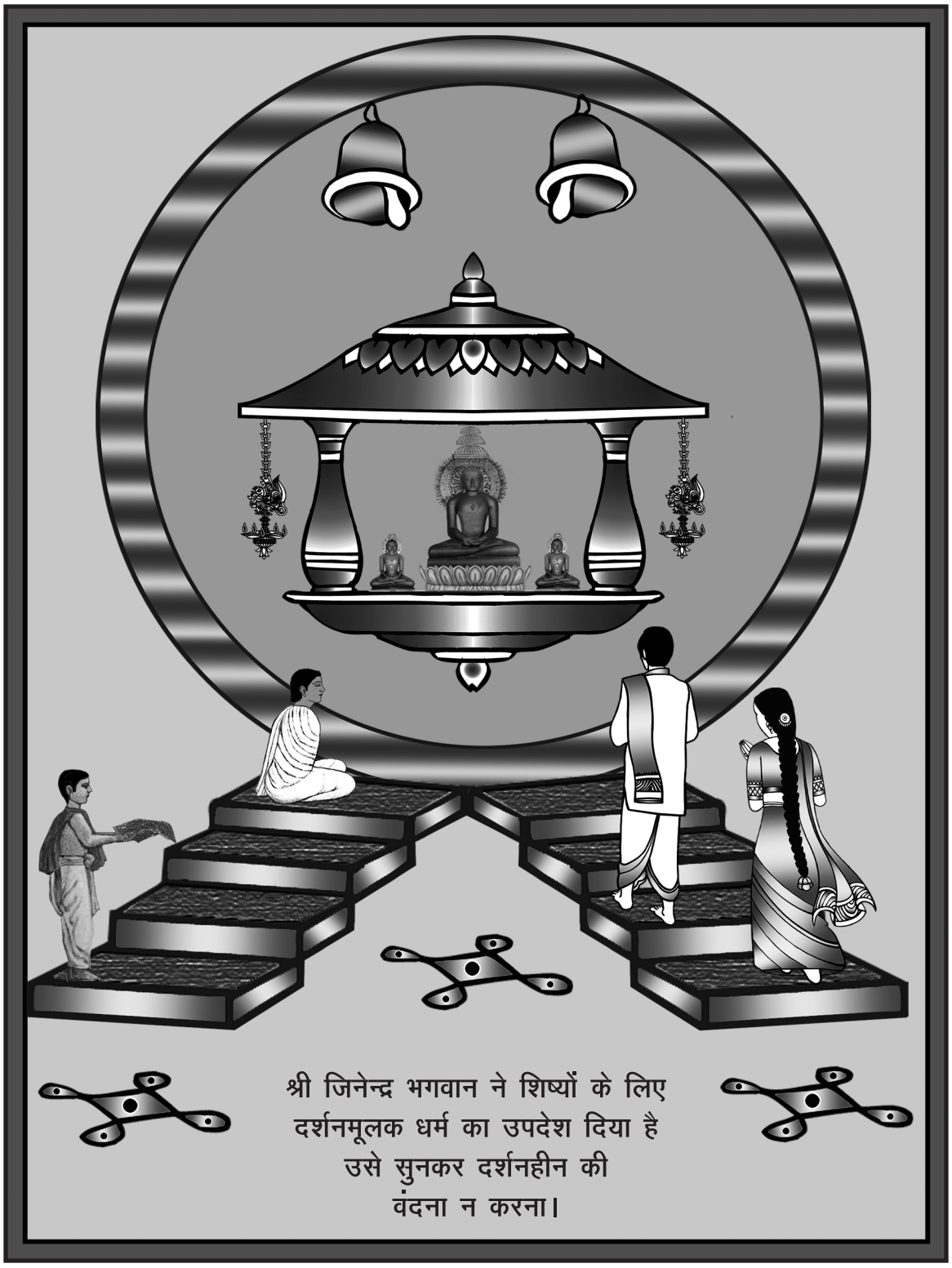
8. **दंसणं सोवाणं पढम मोक्खस्स।। २१।। अर्थ**–दर्शन मोक्ष की पहली सीढ़ी है।

9. **जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।। २२।। अर्थ**–जितना चारित्र धारण करना शक्य हो उतना तो करना और जितने की सामर्थ्य नहीं हो उसका श्रद्धान करना।

१०. **सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।। ३१।। अर्थ**–पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है।



गाथा २



श्री जिनेन्द्र भगवान ने शिष्यों के लिए
दर्शनमूलक धर्म का उपदेश दिया है
उसे सुनकर दर्शनहीन की
वंदना न करना।

गाथा चित्रावली

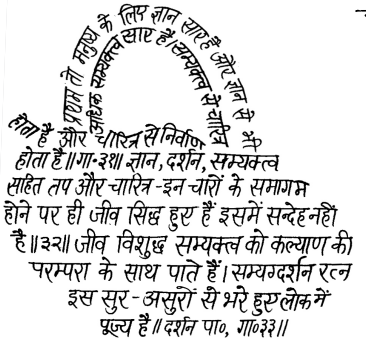
आचार्य कहते हैं कि मैं
आद्य तीर्थंकर श्री वृषभदेव और
अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी
को नमस्कार करके, सम्यग्दर्शन के मार्ग
को क्रमपूर्वक संक्षेप से कहूँगा ॥गा०१॥
जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल
और वीर्य से वर्द्धमान हैं और इस
पंचम काल के मलिन पाप से
रहित हैं, वे सब शीघ्र ही
उत्कृष्ट ज्ञानी होते हैं॥६॥

हो चुके
भ्रष्ट हैं
कोई धर्मात्मा
गुणों में दोषों
अन्य धर्मात्मा
दर्शनभ्रष्ट
जो मिथ्यात्व
॥गा०१३॥ जहाँ

जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भी भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्टों में भी विशेष तथा अपने सिवाय अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं ॥गा०८॥ जो पुरुष संयम, तप, नियम, योग और मूलगुणों व उत्तरगुणों का धारक है, उसके का आरोपण करते हुए मत से भ्रष्ट पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं तथा पुरुषों को भी भ्रष्टपना देते हैं॥गा०९॥ दर्शन को धारण करने वाले जो पुरुष पुरुषों को मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके चरणों में पड़ते हैं वे भी पाप उसकी अनुमोदना करने के कारण बोधि अर्थात् रत्नत्रय को नहीं पाते बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है, मन वचन-काय-इन तीनों योगों में संयम स्थित रहता है, ज्ञान कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध रहता है और खड़े होकर पाणिपात्र आहार किया जाता है-ऐसा मूर्तिमान दर्शन होता है॥गा०१४॥ जिनवचन में जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व निर्दिष्ट हैं, उनके स्वरूप का जो पुरुष श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना॥१६॥ जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय में सदा लीन आदि का गुणगान करते हैं वे वन्दनीय हैं, पूज्य हैं॥२३॥

रहते हैं और गुणों के धारक आचार्य

जो सहजोत्पन्न दिगम्बर रूप का देखकर ईर्ष्याभाव से उसे नहीं मानता है अर्थात् उसका विनय, सत्कार नहीं करता है वह संयम धारण करने पर भी मिथ्यादृष्टि ही है ॥गा०२४॥ शील सहित और देवों के द्वारा वन्दनीय जिनेश्वर के रूप को देखकर भी जो गर्व करते हैं, विनयादिक नहीं करते वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं॥२५॥ मैं तप से सहित श्रमणों को, उनके शील को, मूलोत्तर गुणों को, ब्रह्मचर्य को और मुक्तिगमन को सम्यक्त्व सहित शुद्ध भाव से वन्दना करता हूँ॥गा०२८॥ जो चौंसठ चमर सहित हैं, चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं, निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है और कर्मक्षय के कारण हैं, ऐसे तीर्थंकर परम देव वन्दना के योग्य हैं॥गा०२९॥ ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र-इन चारों गुणों का समायोग होने पर जो संयम गुण हो तो उससे जिनशासन में मोक्ष होना अर्थात् निर्वाण कहा गया है॥गा०३०॥

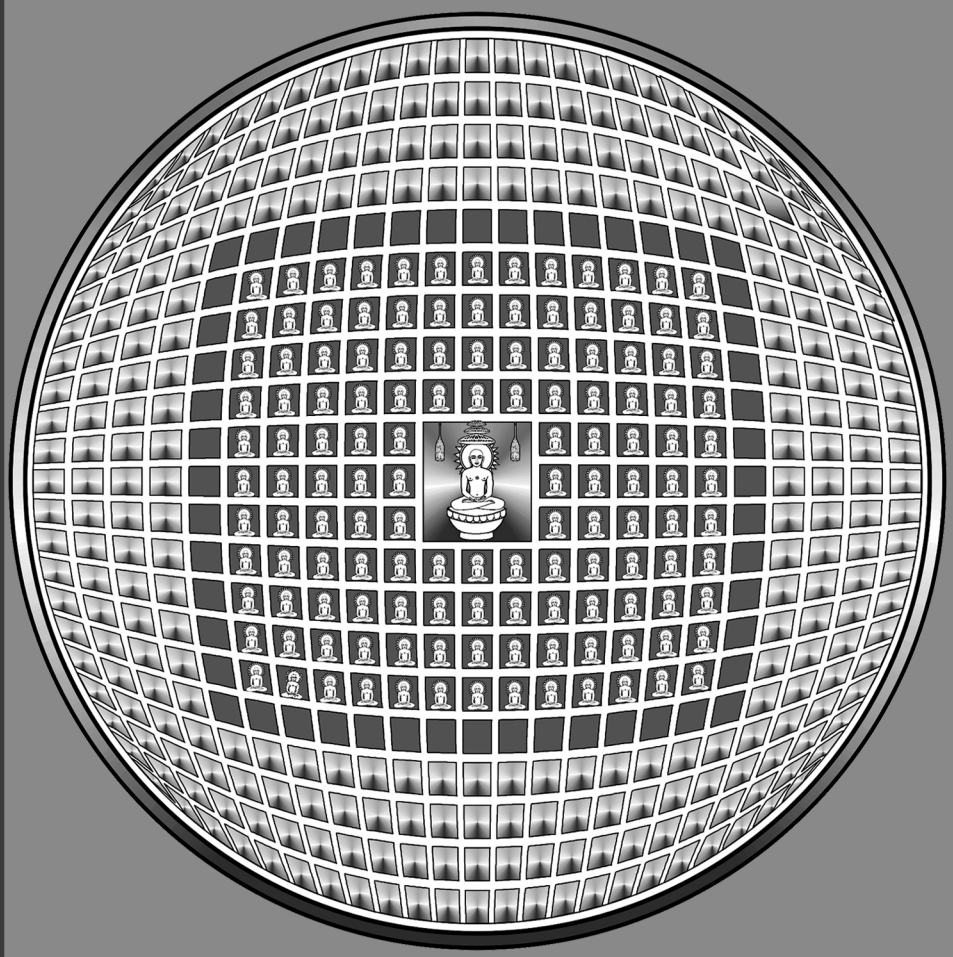


सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप-इन चारों के समागम होने पर ही जीव सिद्ध हुए हैं इसमें सन्देह नहीं है॥३२॥ जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा के साथ पाते हैं। सम्यग्दर्शन रत्न इस सुर-असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है॥दर्शन पा०, गा०३३॥

उत्तम गोत्र सहित मनुष्य पर्याय को पाकर वे वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त कर यह जीव अविनाशी सुख और मोक्ष को पाता है॥३४॥ एक हजार आठ लक्षण और चौंतीस अतिशय सहित जिनेन्द्र भगवान जब तक इस लोक में विहार करते हैं तब तक उनके शरीर सहित प्रतिबिंब को स्थापकर प्रतिमा कहते हैं॥गा०३५॥ जो बारह प्रकार के तप से युक्त हो, विधि के बल से अपने कर्मों का क्षय करके व्युत्सर्ग से शरीर छोड़ते हैं वे सर्वोत्कृष्ट निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं॥दर्शन पाहुड़॥

॥ गाथा ३६ ॥

गाथा ६



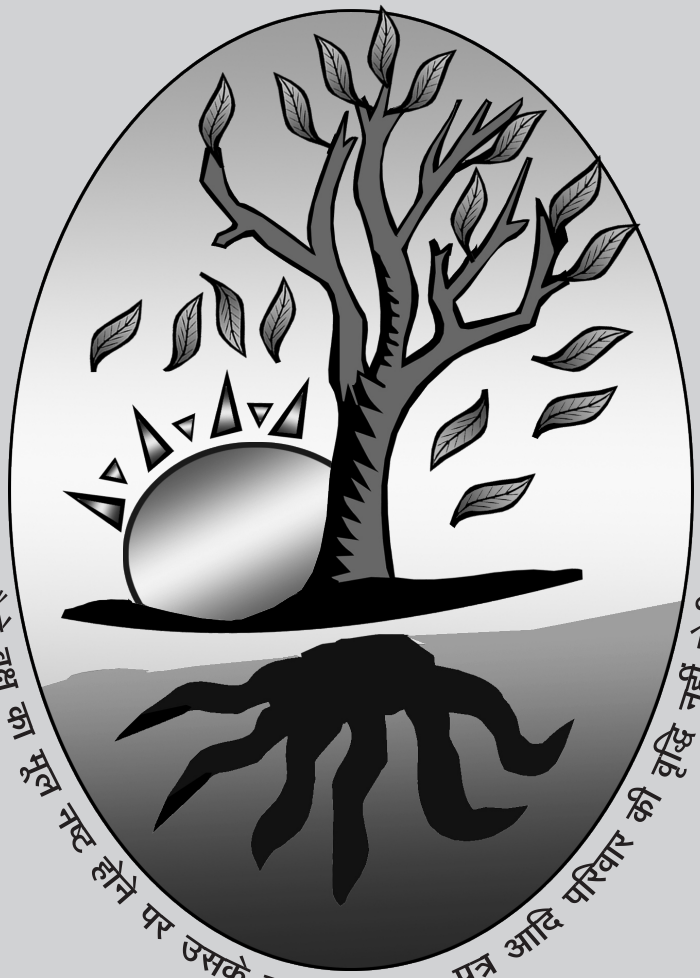
जो पुरुष सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य आदि गुणों से वर्द्धमान हैं और कलियुग के कलुषित पाप से रहित हैं वे शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी अर्थात केवलज्ञानी हो जाते हैं।

गाथा ७

जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवर्तता है
उसके कर्म रूपी रज का आवरण नहीं लगता
और
पूर्व में लगा हुआ कर्म का बंध भी नाश को प्राप्त हो जाता है।



गाथा १०



वैसे ही जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती।

अपनी आत्मा में एकत्व, ममत्व व कर्तृत्व आदि न करके
परद्रव्य में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व व सुख दुःख आदि की
जिसकी मान्यता है
वह जिनदर्शन से भ्रष्ट है।



गाथा ११



जैसे वृक्ष के मूल से शाखा आदि बहुत गुण वाला स्कन्ध होता है





वैसे ही

गणधर देवादिक ने

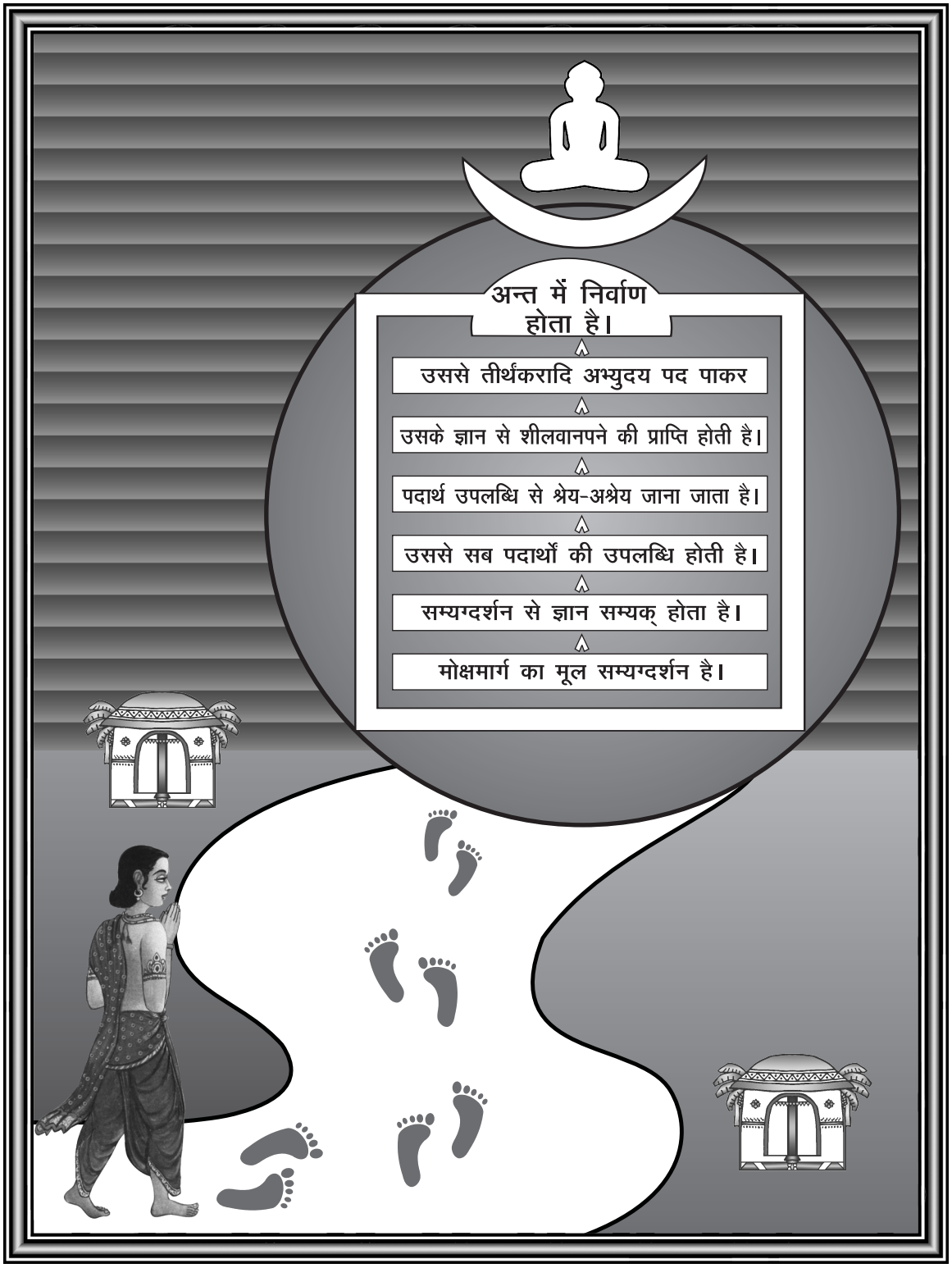
जिनदर्शन को

मोक्षमार्ग का मूल कहा है ।

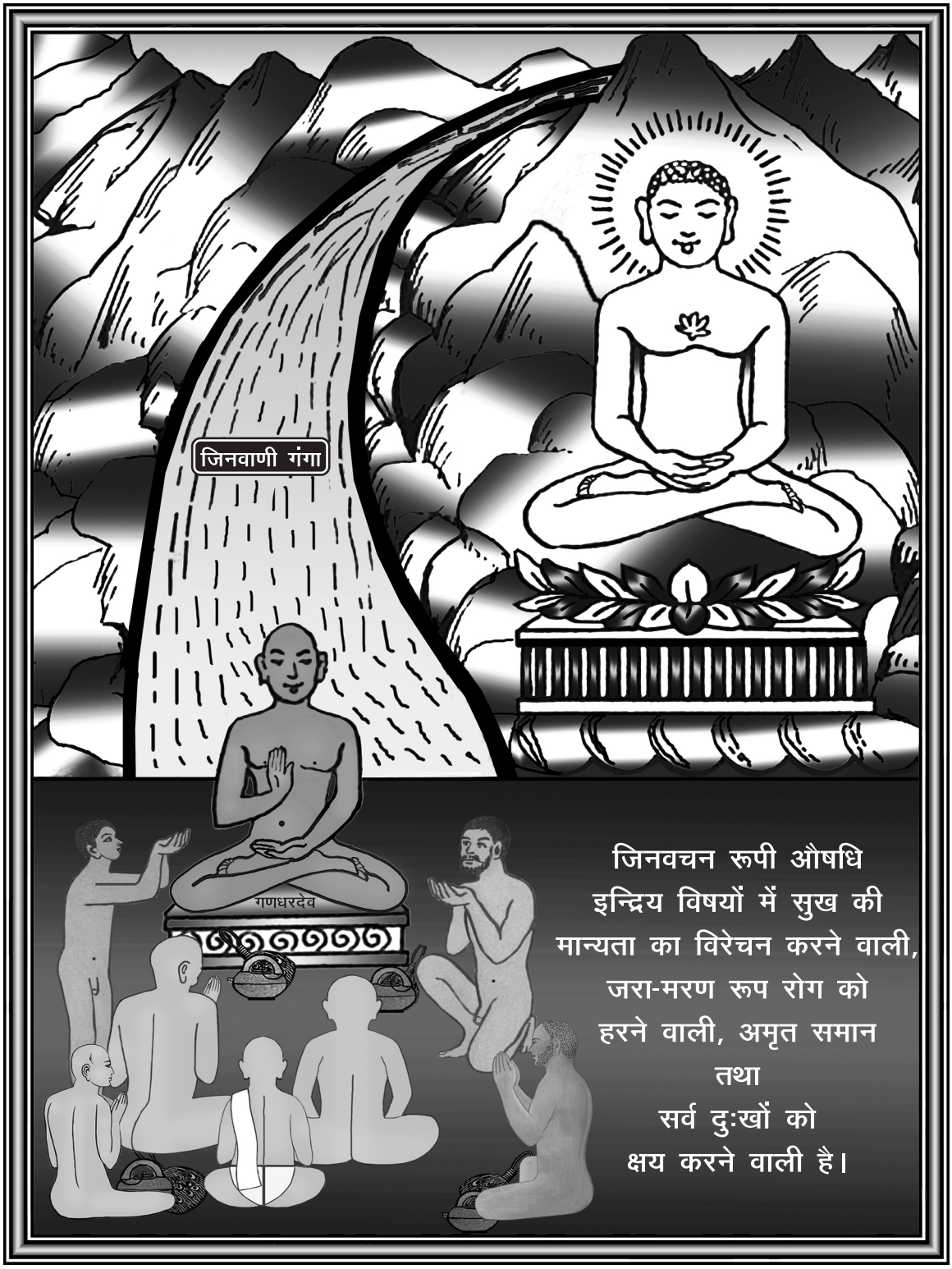




गाथा १५,१६


अन्त में निर्वाण होता है।
उससे तीर्थंकरादि अभ्युदय पद पाकर
उसके ज्ञान से शीलवानपने की प्राप्ति होती है।
पदार्थ उपलब्धि से श्रेय-अश्रेय जाना जाता है।
उससे सब पदार्थों की उपलब्धि होती है।
सम्यग्दर्शन से ज्ञान सम्यक् होता है।
मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है।

गाथा १७

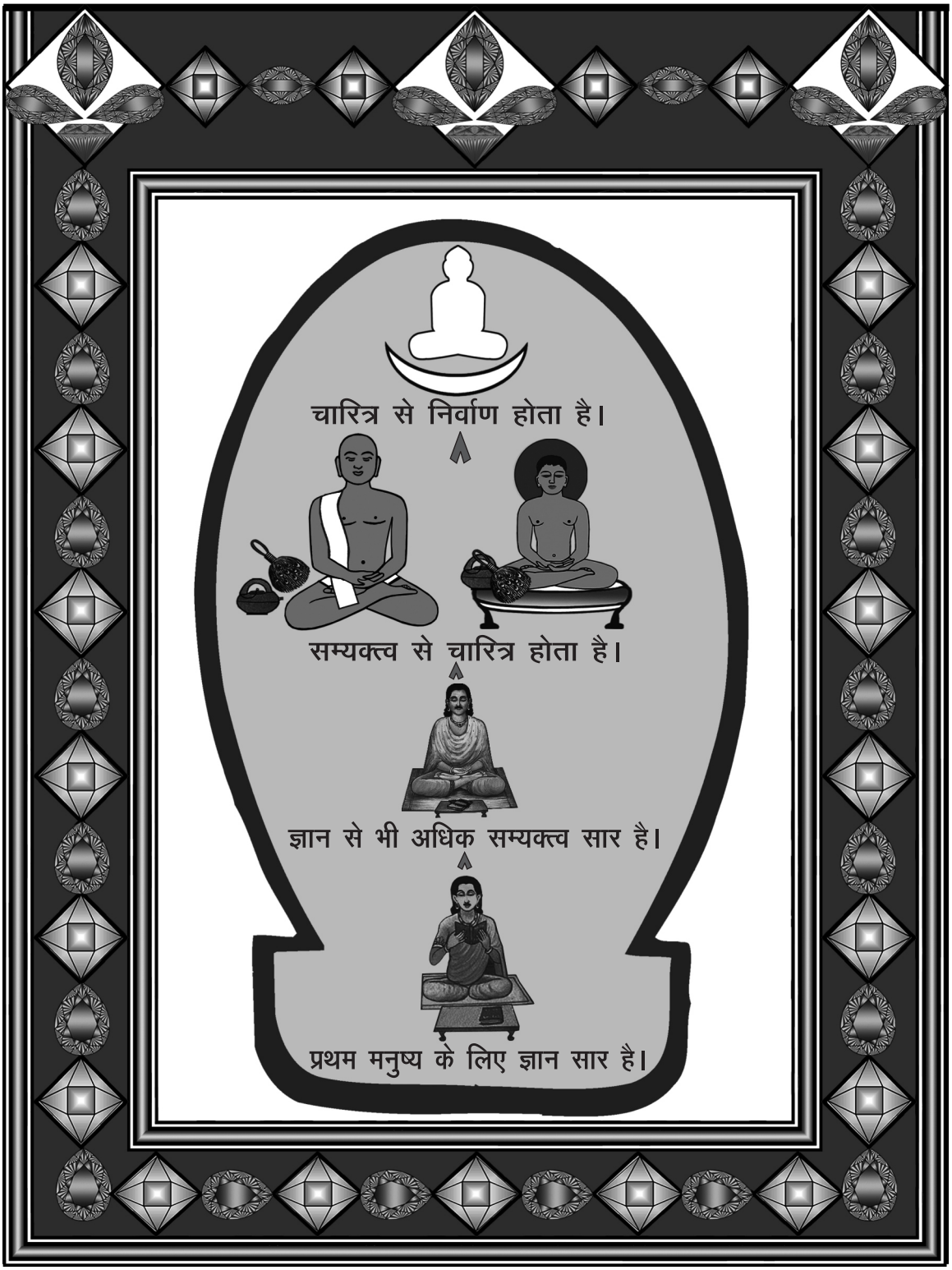

जिनवाणी गंगा
गणधरदेव
जिनवचन रूपी औषधि
इन्द्रिय विषयों में सुख की
मान्यता का विरेचन करने वाली,
जरा-मरण रूप रोग को
हरने वाली, अमृत समान
तथा
सर्व दुःखों को
क्षय करने वाली है।

गाथा २६



जो चौंसठ चमर सहित हैं, चौंतीस अतिशय सहित हैं,
सदैव बहुत प्राणियों का हित करने वाले हैं
और
कर्मक्षय के कारण हैं
ऐसे तीर्थंकर परमदेव पूजने योग्य हैं।

गाथा ३१

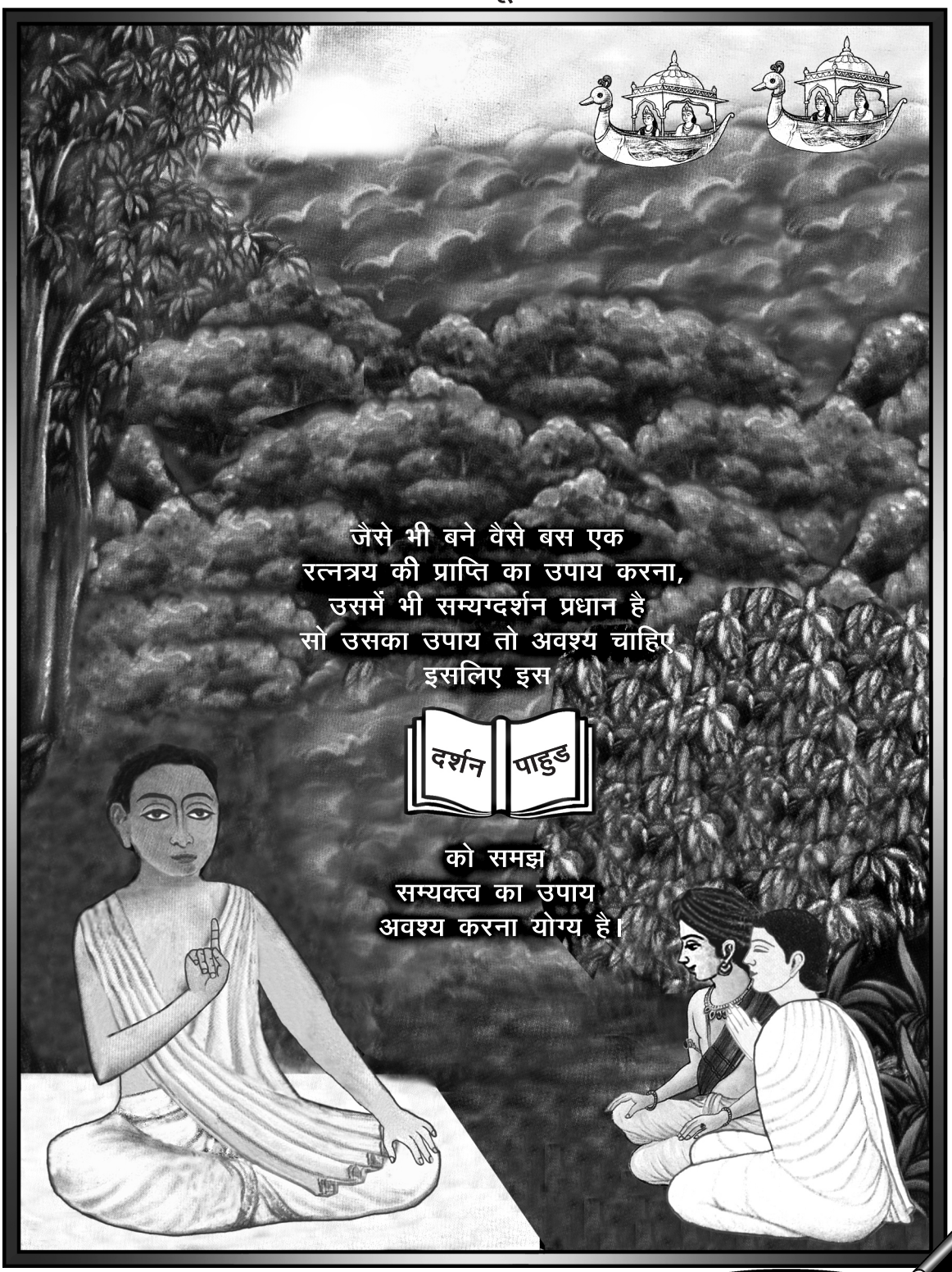

चारित्र से निर्वाण होता है।
सम्यक्त्व से चारित्र होता है।
ज्ञान से भी अधिक सम्यक्त्व सार है।
प्रथम मनुष्य के लिए ज्ञान सार है।

गाथा ३३

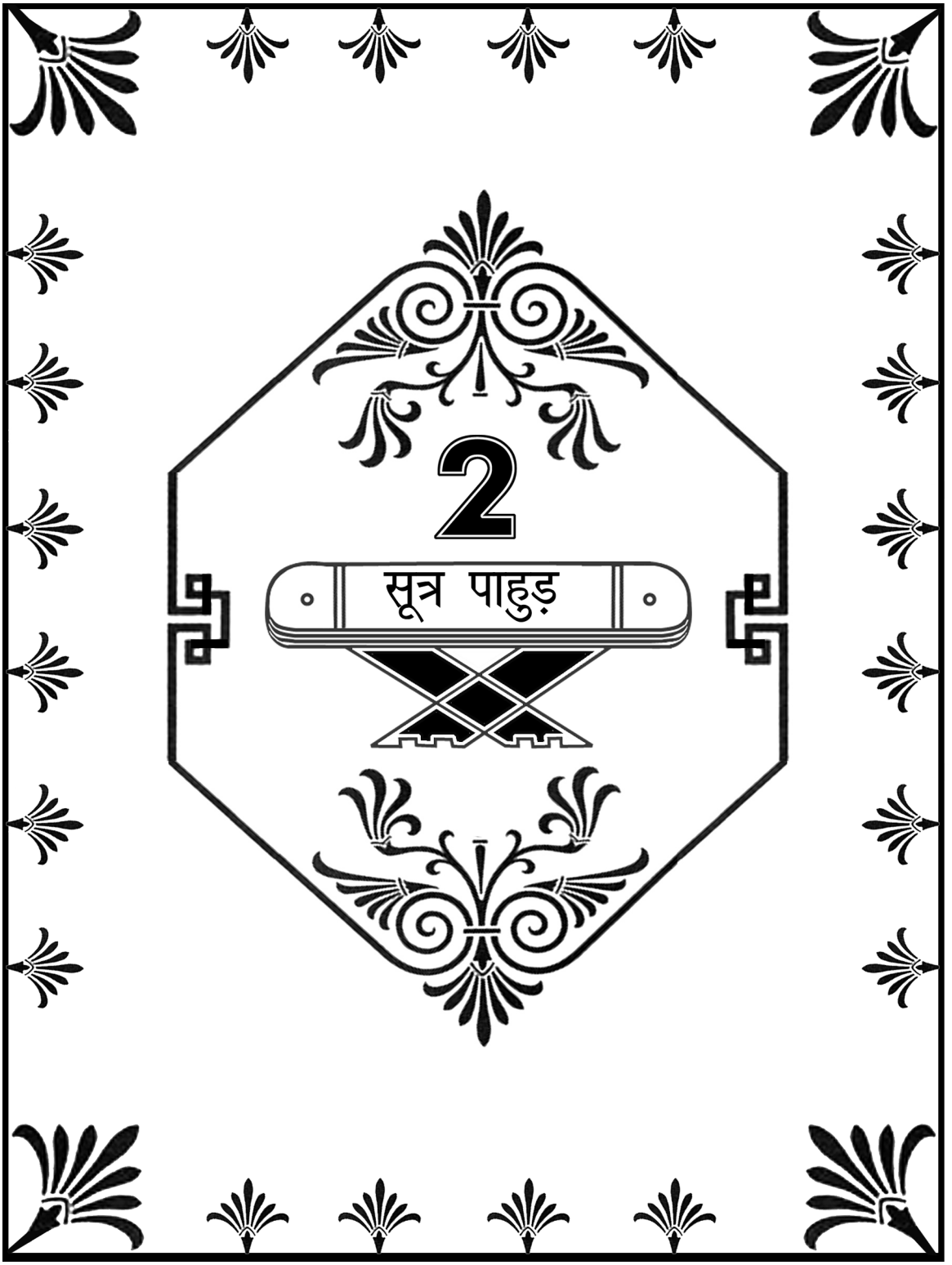


जीव विशुद्ध सम्यक्त्व से कल्याण की परम्परा पाते हैं इसलिए
सम्यग्दर्शन रूपी रत्न
लोक में सुर और असुरों के द्वारा पूजा जाता है

अंतिम सूक्ति



दर्शनपाहुड समाप्त


2
सूत्र पाहुड़



कल्याण के, सुख के वांछकों को
जिनसूत्र का सेवन निरन्तर करना योग्य है।
जो सूत्र का ज्ञाता होता है
उसके चैतन्य चमत्कारमयी अपनी आत्मा स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आती है
अतः वह संसार में नष्ट नहीं होता
वरन्
उस संसार का नाश करता है।

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१.	सूत्र की महिमागर्भित सूत्र का स्वरूप	२–६
२.	दो प्रकार के सूत्र को जानकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तने वाला भव्य है	२–६
३.	'सूत्र में प्रवीणता संसारनाशक है'-इसका द ष्टान्त सहित समर्थन	२–१४
४.	सूत्र सहित पुरुष संसार में नष्ट नहीं होता	२–१५
५.	जिनोक्त सूत्रगत जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञाता ही सम्यग्द ष्टि है	२–१५
६.	व्यवहार व परमार्थ-दो भेद रूप सूत्र के ज्ञान का फल	२–१६
७.	सूत्र के अर्थ और पद से रहित जीव मिथ्याद ष्टि है	२–२१
८.	जिनसूत्र से भ्रष्ट हरिहरादि तुल्य मनुष्य को भी सिद्धि की अशक्यता	२–२२
९.	उत्कृष्ट आचरणधारी संघनायक भी स्वच्छन्द मुनि मिथ्याद ष्टि है	२–२३
१०.	जिनसूत्र में दिगम्बर पाणिपात्र एक ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सर्व अमार्ग हैं	२–२३
११.	संयम सहित एवं आरम्भ-परिग्रह रहित मुनि ही वन्दनीय हैं	२–२४
१२.	कर्मनिर्जराप्रवीण परिषहविजयी मुनि वंदनीय हैं	२–२५
१३.	दिगम्बर मुद्रा के सिवाय वस्त्रधारी संयमी इच्छाकार करने योग्य हैं	२–२५

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१४.	इच्छाकार के योग्य श्रावक का स्वरूप	२–२६
१५.	इच्छाकार के प्रधान अर्थ को न जानने वाले के सिद्धि की असंभवता	२–२७
१६.	जिसके द्वारा मोक्ष मिलता है ऐसी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करने की प्रेरणा	२–२७
१७.	जिनसूत्र के जानने वाले मुनि का स्वरूप	२–२८
१८.	तिलतुषमात्र भी परिग्रह का धारी मुनि निगोद का पात्र होता है	२–२६
१९.	जिनवचन में अल्प या बहुत परिग्रहधारी लिंगी गर्हणीय है	२–३१
२०.	निर्ग्रन्थ महाव्रती त्रिगुप्तिगुप्त संयमी ही वंदनीय है	२–३२
२१.	पहला लिंग मुनि का कहा, दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का है	२–३३
२२.	तीसरा लिंग आर्यिका का है	२–३४
२३.	चाहे तीर्थंकर ही क्यों न हो पर वस्त्रधारी सीझता नहीं-ऐसा जिनशासन में कहा है	२–३४
२४.	स्त्रियों के दिगम्बर दीक्षा के अनधिकार का कारण	२–३५
२५.	सम्यग्द ष्टि मार्गसंयुक्त स्त्रियों की निष्पापता	२–३६
२६.	स्त्रियों को ध्यान की सिद्धि न हो सकने के कारण	२–३६
२७.	जिनसूत्र के श्रद्धान का फल-समस्त इच्छाओं की निव त्ति से सर्व सुख प्राप्ति	२–३७

2. विषय वस्तु २–४०

3. गाथा चयन २–४१–४३

4. सूक्ति प्रकाश २–४४

5. गाथा चित्रावली २–४५-५०

6. अंतिम सूक्ति चित्र

सूत्र पा० समाप्त २–५१



दोहा

वीर जिनेश्वर कूं नमूं , गौतम गणधर लार।
काल पंचमा आदि मैं , भये सूत्र करतार।।१।।

अर्थ

गौतम गणधर सहित उन वीर जिनेश्वर को नमन करता हूँ जो पंचम काल के प्रारम्भ में सूत्र के कर्ता हुए।।१।।

इस प्रकार मंगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथाबद्ध जो 'सूत्रपाहुड़' है उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :–

उत्थानिका

सो प्रथम ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य 'सूत्र की महिमा गर्भित सूत्र का स्वरूप' बताते है :–

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं।। १।।

अरहंत भाषित अर्थमय, गणधर सुविरचित सूत्र जो।
सूत्रार्थ मार्गण हेतु युत, परमार्थ उससे साधे मुनि।।१।।

अर्थ

जो गणधर देवों ने सम्यक् प्रकार अर्थात् पूर्वापर विरोध रहित गूंथा–रचा सो सूत्र है। **कैसा है सूत्र**–अरिहंत देव घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ हुए उनके द्वारा जिसमें अर्थ भाषित है। **और कैसा है**–सूत्र का जो कुछ अर्थ है उसका 'मार्गण' अर्थात खोजना, जानना ही जिसमें प्रयोजन है। ऐसे सूत्र के द्वारा श्रमण अर्थात् मुनि हैं वे परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ–प्रयोजन जो अविनाशी आनन्दमय मोक्ष उसको साधते हैं। यहाँ 'सूत्र' ऐसा विशेष्य पद गाथा में नहीं कहा फिर भी विशेषणों की सामर्थ्य से लिया है।

भावार्थ

जो **१.**अरिहंत सर्वज्ञ से तो भाषित है **२.**गणधर देवों के द्वारा अक्षर–पद–वाक्यमयी गूंथा गया है और **३.**सूत्र के अर्थ को जानने का ही जिसमें अर्थ अर्थाथ प्रयोजन है-ऐसे सूत्र से मुनि परमार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं। अन्य अक्षपाद, कणाद, जैमिनी, कपिल तथा सुगत आदि छद्मस्थों के द्वारा रचे हुए जो कल्पित सूत्र हैं उनसे परमार्थ की सिद्धि नहीं है–ऐसा आशय जानना।।१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सूत्र का जो ऐसा अर्थ आचार्यों की परम्परा से वर्तता है उसको जानकर जो मोक्षमार्ग को साधता है वह भव्य है' :–

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आयरियपरंपरेण मग्गेण।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो।।२।।

सूकथित सूत्र में जो उसे, सूरि परम्पर मार्ग से।
जो द्विविध सूत्र को जानकर, शिवमग में वर्ते भव्य वह।।२।।

अर्थ

सर्वज्ञ भाषित सूत्र में जो कुछ भली प्रकार से कहा गया है उन दो प्रकार के सूत्रों को आचार्यों की परम्परा रूप मार्ग से, शब्द से और अर्थ से जानकर जो मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है वह भव्य जीव है और मोक्ष पाने योग्य है।

भावार्थ

यहाँ **कोई कहता है** कि 'अरहंत के द्वारा भाषित और गणधरों से गूंथा हुआ सूत्र तो द्वादशांग रूप है वह तो इस काल में दीखता नहीं तब परमार्थ रूप मोक्षमार्ग कैसे सधे ?'

उसके **समाधान** को यह गाथा है कि 'अरहंत भाषित और गणधर गूंथित सूत्र में जो उपदेश है वह आचार्यों की परम्परा से जाना जाता है, उसको शब्द और अर्थ से जानकर जो मोक्षमार्ग को साधता है वह मोक्ष प्राप्त होने योग्य भव्य है'।

यहाँ **फिर कोई पूछता है** कि 'वह आचार्यों की परम्परा क्या है।'

सो अन्य ग्रंथों में जो आचार्यों की परम्परा कही है सो ऐसे है—श्री वर्द्धमान तीर्थंकर सर्वज्ञ देव के पीछे ये **तीन तो केवलज्ञानी** हुए—**१.**गौतम, **२.**सुधर्म और **३.**जम्बू। उनके पीछे ये **पाँच श्रुतकेवली** हुए जिनको द्वाद्वशांग सूत्र का ज्ञान हुआ—**१.**विष्णु, **२.**नन्दिमित्र, **३.**अपराजित, **४.**गोवर्धन एवं **५.**भद्रबाहु। उनके पीछे **दस पूर्वों के पाठी ये ग्यारह** हुए—**१.**विशाख, **२.**प्रौष्ठिल, **३.**क्षत्रिय, **४.**जयसेन, **५.**नागसेन, **६.**सिद्धार्थ, **७.**धतिषेण, **८.**विजय, **९.**बुद्धिल, **१०.**गांगदेव और **११.**धर्मसेन। उनके पीछे ये **पांच ग्यारह अंग के धारक हुए**—**१.**नक्षत्र, **२.**जयपाल, **३.**पांडु, **४.**ध्रुवसेन एवं **५.**कंस। उनके पीछे **एक अंग के धारक ये चार हुए**—**१.**सुभद्र, **२.**यशोभद्र, **३.**भद्रबाहु एवं **४.**लोहाचार्य।

इनके पीछे अंग के पूर्ण ज्ञान की तो व्युच्छित्ति हुई और अंगों के एकदेश अर्थ

के ज्ञानी जो आचार्य हुए **उनमें से कुछ के नाम ये हैं**—अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन और नेमिचन्द्र इत्यादि। उनके पीछे उनकी परिपाटी में जो आचार्य हुए उनसे अर्थ का व्युच्छेद नहीं हुआ।

इस प्रकार दिगम्बरों के सम्प्रदाय में तो प्ररूपणा यथार्थ है तथा अन्य श्वेताम्बरादि जो वर्द्धमान स्वामी से परम्परा मिलाते हैं वह कल्पित है क्योंकि भद्रबाहु स्वामी के पीछे कुछ मुनि जो अकाल में भ्रष्ट हुए वे अर्द्धफालक कहलाए, उनके सम्प्रदाय में श्वेताम्बर हुए उनमें 'देवगण' नामक साधु उनके सम्प्रदाय में हुआ है, उसने सूत्र रचे हैं जिनमें उसने शिथिलाचार को पुष्ट करने के लिए कल्पित कथा तथा कल्पित आचरण का कथन किया है सो प्रमाणभूत नहीं है। **पंचम काल में जैनाभासों के शिथिलाचार की अधिकता है सो युक्त है क्योंकि इस काल में सच्चे मोक्षमार्ग की विरलता है इसलिए शिथिलाचारियों के सच्चा मोक्षमार्ग कहाँ से होगा-ऐसा जानना।**

अब यहाँ कुछ द्वादशांग सूत्र तथा अंगबाह्य श्रुत का वर्णन लिखते हैं—तीर्थंकरों के मुख से उत्पन्न हुई जो सर्व भाषामयी दिव्यध्वनि उसको सुनकर चार ज्ञान और सात ऋद्धियों के धारक गणधर देवों ने अक्षर पदमय सूत्रों की रचना की सो **सूत्र दो प्रकार का है—१. अंग और २. अंगबाह्य।** उनके अपुनरुक्त अक्षरों की संख्या बीस अंक प्रमाण है। वे अंक 'एक कम एकट्ठी' प्रमाण हैं सो ऐसे—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५—इतने अक्षर हैं। उनके पद किए जाएं तब एक मध्यम पद के 'सोलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अट्ठासी' अक्षर कहे गए हैं, उनका भाग देने पर एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाँच—इतने होते हैं। ये जो पद हैं वे तो बारह अंग रूप सूत्र के पद हैं और अवशेष बीस अंकों में जो अक्षर रहे वे अंगबाह्य श्रुत कहलाते हैं वे 'आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर' हैं जिन अक्षरों में चौदह प्रकीर्णक रूप सूत्र रचना है।

अब इन **द्वादशांग रूप सूत्र रचना के नाम और पद संख्या** लिखते हैं :—

(१) प्रथम अंग 'आचारांग' है उसमें मुनीश्वरों के आचार का निरूपण है। उसके पद 'अठारह हजार' हैं।

(२) **दूसरा 'सूत्रक त' अंग है** जिसमें ज्ञान की विनय आदि अथवा धर्म क्रिया में स्वमत–परमत की क्रिया के विशेष का निरूपण है। इसके पद 'छत्तीस हजार' हैं।
(३) **तीसरा 'स्थान' अंग है** जिसमें पदार्थों के एक आदि स्थानों का निरूपण है जैसे जीव सामान्य से एक प्रकार का है तथा विशेष से दो प्रकार एवं तीन प्रकार का है इत्यादि–इस प्रकार स्थान कहे हैं। इसके पद 'बयालिस हजार' हैं।
(४) **चौथा 'समवाय' अंग है** जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीव आदि पदार्थों की समानता का वर्णन है। इसके पद 'एक लाख, चौंसठ हजार' हैं।
(५) **पांचवां 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' अंग है** जिसमें जीव के अस्ति एवं नास्ति आदि जो साठ हजार प्रश्न गणधरदेव ने तीर्थंकर के निकट किये उनका वर्णन है। इसके पद 'दो लाख, अट्ठाईस हजार' हैं।
(६) **छठा 'ज्ञात धर्मकथा' नामक अंग है** जिसमें तीर्थंकर के धर्म की कथा, जीवादि पदार्थों के स्वभाव का वर्णन तथा गणधर के प्रश्नों के उत्तर का वर्णन है। इसके पद 'पांच लाख, छप्पन हजार' हैं।
(७) **सातवां 'उपासकाध्ययन' नामक अंग है** जिसमें ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावक के आचार का वर्णन है। इसके पद 'ग्यारह लाख, सत्तर हजार' हैं।
(८) **आठवां 'अंतक तदश' नामक अंग है** जिसमें एक–एक तीर्थंकर के काल में जो दस–दस अंतकृत केवली हुए उनका वर्णन है। इसके पद 'तेईस लाख, अट्ठाईस हजार' हैं।
(९) **नौवां 'अनुत्तरोपपादिकदश' नामक अंग है** जिसमें एक–एक तीर्थंकर के काल में जो दस–दस महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन है। इसके पद 'बानवे लाख, चवालिस हजार' हैं।
(१०) **दसवां 'प्रश्नव्याकरण' नामक अंग है** जिसमें अतीत–अनागत काल संबंधी शुभाशुभ का प्रश्न यदि कोई करे तो उसका यथार्थ उत्तर कहने के उपाय का वर्णन है तथा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजनी और निर्वेजनी–इन चार कथाओं का भी इस अंग में वर्णन है। इसके पद 'तिरानवे लाख, सोलह हजार' हैं।
(११) **ग्यारहवां 'विपाकसूत्र' नामक अंग है** जिसमें कर्म के उदय के तीव्र–मंद अनुभाग का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा लिए हुए वर्णन है। इसके पद 'एक करोड़, चौरासी लाख' हैं।

इस प्रकार जो ग्यारह अंग हैं उनके पदों की संख्या का जोड़ देने पर 'चार करोड़, पंद्रह लाख, दो हजार' पद होते हैं।

(१२) **बारहवां 'द ष्टिवाद' नामक अंग है** जिसमें मिथ्यादर्शन संबंधी जो 'तीन सौ तरेसठ' कुवाद हैं उनका वर्णन है। इसके 'एक सौ आठ करोड़, अड़सठ लाख, छप्पन हजार, पांच' पद हैं।

इस बारहवें अंग के ये पांच अधिकार हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका।

(१) **'परिकर्म'** में गणित के करणसूत्र हैं जिसके ये **पांच भेद हैं :—**

१. पहला 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' है जिसमें चन्द्रमा के गमनादि तथा परिवार, ऋद्धि, व द्धि, हानि और ग्रहण आदि का वर्णन है। इसके पद 'छत्तीस लाख, पांच हजार' हैं।

२. दूसरा 'सूर्यप्रज्ञप्ति' है जिसमें सूर्य की ऋद्धि, परिवार और गमन आदि का वर्णन है। इसके पद 'पांच लाख, तीन हजार' हैं।

३. तीसरा 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' है जिसमें जंबूद्वीप संबंधी मेरु, गिरि, क्षेत्र और कुलाचल आदि का वर्णन है। इसके पद 'तीन लाख, पच्चीस हजार' हैं।

४. चौथा 'द्वीपसागरप्रज्ञप्ति' है जिसमें द्वीप और सागर का स्वरूप, वहाँ स्थित ज्योतिषी, व्यंतर और भवनवासी देवों के आवास तथा उनमें विद्यमान जिनमंदिरों का वर्णन है। इसके पद 'बावन लाख, छत्तीस हजार' हैं।

५. पांचवां 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है जिसमें जीव–अजीव पदार्थों के प्रमाण का वर्णन है। इसके पद 'चौरासी लाख, छत्तीस हजार' हैं।

इस प्रकार परिकर्म के पांच भेदों के पद जोड़ने पर 'एक करोड़, इक्यासी लाख, पांच हजार' होते हैं।

(२) **बारहवें अंग का दूसरा भेद 'सूत्र' नामक है** उसमें मिथ्यादर्शन संबंधी जो 'तीन सौ तरेसठ' कुवाद हैं उनका पूर्व पक्ष लेकर उन्हें जीव पदार्थ पर लगाने आदि का वर्णन है। इसके पद 'अट्ठासी लाख' हैं।

(३) **बारहवें अंग का तीसरा भेद 'प्रथमानुयोग' है** जिसमें प्रथम जीव को उपदेश योग्य तीर्थंकर आदि त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। इसके पद 'पांच हजार' हैं।

(४) **बारहवें अंग का चौथा भेद 'पूर्वगत' है उसके ये चौदह भेद हैं** :—

१. प्रथम पूर्व 'उत्पाद' नाम का है उसमें जीव आदि वस्तुओं का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

आदि अनेक धर्मों की अपेक्षा भेद वर्णन है। इसके पद 'एक करोड़' हैं।

२. दूसरा 'अग्रायणी' नामक पूर्व है जिसमें सात सौ सुनय और दुर्नय का तथा छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का वर्णन है। इसके पद 'छियानवे लाख' हैं।

३. तीसरा 'वीर्यानुवाद' नामक पूर्व है जिसमें द्रव्यों की शक्ति रूप वीर्य का वर्णन है। इसके पद 'सत्तर लाख' हैं।

४. चौथा 'अस्तिनास्तिप्रवाद' नामक पूर्व है जिसमें जीवादि वस्तुओं का स्व–पर द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा लेकर, अस्ति और नास्ति आदि अनेक धर्मों में, विधि–निषेध से, सात भंगों के द्वारा, कथंचित् विरोध मेटने रूप मुख्यता और गौणता से वर्णन है। इसके पद 'साठ लाख' हैं।

५. पांचवां 'ज्ञानप्रवाद' नामक पूर्व है जिसमें ज्ञान के भेदों के स्वरूप, संख्या, विषय और फल आदि का वर्णन है। इसके पद 'एक कम एक करोड़' हैं।

६. छठा 'सत्यप्रवाद' नामक पूर्व है जिसमें सत्य और असत्य आदि वचनों की जो अनेक प्रकार की प्रव त्ति है उसका वर्णन है। इसके पद 'एक करोड़, छह' हैं।

७. सातवां 'आत्मप्रवाद' नामक पूर्व है जिसमें आत्मा जो जीव पदार्थ उसके कर्ता और भोक्ता आदि अनेक धर्मों का निश्चय–व्यवहार नय की अपेक्षा से वर्णन है। इसके पद 'छब्बीस करोड़' हैं।

८. आठवां 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व है जिसमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध, सत्त्व, उदय और उदीरण आदि का तथा क्रिया रूप कर्मों का वर्णन है। इसके 'एक करोड़, अस्सी लाख' पद हैं।

९. नौवां 'प्रत्याख्यान' नामक पूर्व है जिसमें पाप के त्याग का अनेक प्रकार से वर्णन है। इसके पद 'चौरासी लाख' हैं।

१०. दसवां 'विद्यानुवाद' नामक पूर्व है जिसमें 'सात सौ' क्षुद्र विद्या और 'पांच सौ' महा विद्या–इनका स्वरूप, साधन तथा मंत्रादि और सिद्ध होने पर इनके फल का वर्णन है तथा अष्टांग निमित्त ज्ञान का वर्णन है। इसके पद 'एक करोड़, दस लाख' हैं।

११. ग्यारहवां 'कल्याणवाद' नामक पूर्व है जिसमें तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि के गर्भ आदि कल्याणकों का उत्सव तथा उसका कारण षोडशकारण भावना और तपश्चरणादि तथा चन्द्रमा एवं सूर्य आदि के गमन विशेष आदि का वर्णन है।

इसके पद 'छब्बीस करोड़' हैं।

१२. बारहवां 'प्राणवाद' नामक पूर्व है जिसमें आठ प्रकार का वैद्यक और भूतादि व्याधि दूर करने के मंत्रादि तथा विष दूर करने के उपाय तथा स्वरोदय आदि का वर्णन है। इसके 'तेरह करोड़' पद हैं।

१३. तेरहवां 'क्रियाविशाल' नामक पूर्व है जिसमें संगीतशास्त्र, छंद और अलंकारादि तथा चौंसठ कला, गर्भाधानादि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि 'एक सौ आठ' क्रिया, देव–वंदनादि पच्चीस क्रिया और नित्य नैमित्तिक क्रिया इत्यादि का वर्णन है। इसके पद 'नौ करोड़' हैं।

१४. चौदहवां 'त्रिलोकबिंदुसार' नामक पूर्व है जिसमें तीन लोक का स्वरूप, बीजगणित का स्वरूप तथा मोक्ष का और मोक्ष की कारणभूत क्रिया इत्यादि का वर्णन है। इसके पद 'बारह करोड़, पचास लाख' हैं।

इस प्रकार ये चौदह पूर्व हैं जिनके सर्व पदों का जोड़ 'पिच्यानवे करोड़, पचास लाख, पांच' है।

(५) बारहवें अंग का पांचवां भेद 'चूलिका' है उसके निम्न पांच भेद हैं। उनके पद 'दस करोड़, उनचास लाख, छियालिस हजार' हैं।

१. वहाँ 'जलगता' चूलिका में जल का स्तंभन करना और जल में गमन करना तथा अग्नि का स्तंभन, अग्नि में प्रवेश और अग्नि का भक्षण करना इत्यादि के कारणभूत मंत्र–तंत्रादि का प्ररूपण है। **इसके पद 'दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ' हैं। इतने-इतने ही पद अन्य चार चूलिका के जानने।**

२. दूसरी 'स्थलगता' चूलिका है उसमें मेरु पर्वत और भूमि इत्यादि में प्रवेश करना एवं शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरणादि का प्ररूपण है।

३. तीसरी 'मायागता' चूलिका है उसमें मायामयी इंद्रजाल और विक्रिया के कारणभूत मंत्र, तंत्र एवं तपश्चरणादि का प्ररूपण है।

४. चौथी 'रूपगता' चूलिका है उसमें सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल और हिरण इत्यादि अनेक प्रकार के रूप पलट लेना तथा उसके कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि का प्ररूपण है तथा चित्राम, काष्ठ और लेपादि के लक्षण का वर्णन और धातु, रस एवं रसायन का निरूपण है।

५. पांचव 'आकाशगता' चूलिका है उसमें आकाश में गमनादि के कारणभूत मंत्र, यंत्र और तंत्रादि का प्ररूपण है।

ऐसे बारहवां अंग है। इस प्रकार तो बारह अंग रूप सूत्र है।

अंगबाह्य श्रुत के ये चौदह प्रकीर्णक हैं :–

(१) **प्रथम 'सामायिक' प्रकीर्णक है** उसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार सामायिक इत्यादि का विशेषता से वर्णन है।

(२) **दूसरा 'चतुर्विंशतिस्तव' नामक प्रकीर्णक है** उसमें चौबीस तीर्थंकरों की महिमा का वर्णन है।

(३) **तीसरा 'वंदना' नामक प्रकीर्णक है** उसमें एक तीर्थंकर के आश्रय वंदना और स्तुति का वर्णन है।

(४) **चौथा 'प्रतिक्रमण' नामक प्रकीर्णक है** उसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन है।

(५) **पांचवां 'वैनयिक' नामक प्रकीर्णक है** उसमें पाँच प्रकार की विनय का प्ररूपण है।

(६) **छठा 'क तिकर्म' नामक प्रकीर्णक है** उसमें अरहंत आदि की वंदना की क्रिया का वर्णन है।

(७) **सातवां 'दशवैकालिक' नामक प्रकीर्णक है** उसमें मुनि के आचार और आहार की शुद्धता आदि का वर्णन है।

(८) **आठवां 'उत्तराध्ययन' नामक प्रकीर्णक है** उसमें परीषह और उपसर्ग को सहने के विधान का वर्णन है।

(९) **नौवां 'कल्पव्यवहार' नामक प्रकीर्णक है** इसमें मुनियों के योग्य आचरण और अयोग्य सेवन के प्रायश्चितों का वर्णन है।

(१०) **दसवां 'कल्पाकल्प' नामक प्रकीर्णक है** उसमें मुनि को यह योग्य है और यह अयोग्य है–ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा वर्णन है।

(११) **ग्यारहवां 'महाकल्प' नामक प्रकीर्णक है** उसमें जिनकल्पी मुनियों के प्रतिमायोग और त्रिकालयोग का प्ररूपण है तथा स्थविरकल्पी मुनियों की प्रव त्ति का वर्णन है।

(१२) **बारहवां 'पुंडरीक' नामक प्रकीर्णक है** उसमें चार प्रकार के देवों में उत्पन्न

होने के कारणों का प्ररूपण है।

(१३) तेरहवां 'महापुंडरीक' नामक प्रकीर्णक है उसमें इन्द्रादि बड़ी ऋद्धि के धारक देवों में उत्पन्न होने के कारणों का प्ररूपण है।

(१४) चौदहवां 'निषिद्धिका' नामक प्रकीर्णक है उसमें अनेक प्रकार के दोषों की शुद्धता के निमित्त प्रायश्चित का प्ररूपण है। यह प्रायश्चित शास्त्र है, इसका 'निसीतिका' ऐसा भी नाम है।

ऐसे अंगबाह्य श्रुत चौदह प्रकार का कहा तथा पूर्वो की उत्पति का पर्यायसमास ज्ञान से लगाकर पूर्व ज्ञान पर्यन्त जिन बीस भेदों का जिसमें विशेष रूप से वर्णन है उस श्रुतज्ञान का वर्णन 'गाम्मटसार' ग्रंथ में विस्तार से है वहाँ से जानना।।२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो सूत्र में प्रवीण है वह संसार का नाश करता है' :–

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि।। ३।।

सूत्रज्ञ जो वह नाश करता जगत की उत्पत्ति का ।
धागे सहित सूई न खोती, रहित उससे नष्ट हो।।३।।

अर्थ

जो पुरुष सूत्र को जानने वाला है, उसमें प्रवीण है वह संसार के उपजने का नाश करता है जैसे लोहे की सुई है सो 'सूत्र' अर्थात् डोरा उसके बिना हो तो नष्ट हो जाती है और डोरे सहित हो तो नष्ट नहीं होती–यह द ष्टांत है।

भावार्थ

जो सूत्र का ज्ञाता होता है वह संसार का नाश करता है। इसका द ष्टान्त इस प्रकार है कि 'यदि सुई डोरे सहित होती है तो द ष्टिगोचर होकर मिल जाती है, नष्ट नहीं होती और डोरे के बिना होती है तो दीखती नहीं, नष्ट हो जाती है–ऐसा जानना'।।३।।

उत्थानिका

आगे 'सुई के द ष्टांत' का दार्ष्टांत कहते हैं :–

पुरिसो पि जो ससुत्तो ण विणसइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि।। ४।।

नहि नष्ट हो संसार में गत, भी जो सूत्र सहित पुरुष।
प्रत्युत उसे नाशे अद ष्ट के, स्वानुभव प्रत्यक्ष से।।४।।

अर्थ

जैसे सुई सूत्र सहित नष्ट नहीं होती वैसे जो पुरुष भी संसार में गत हो रहा है, अपना रूप जिसे अपने में द ष्टिगोचर नहीं है तो भी वह यदि सूत्र सहित हो, सूत्र का ज्ञाता हो तो उसके आत्मा सत्ता रूप चैतन्य चमत्कारमयी स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आती है इसलिए वह गत नहीं है अर्थात् नष्ट नहीं हुआ है उल्टे वह जिस संसार में गत है उस संसार का नाश करता है।

भावार्थ

यद्यपि आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है तो भी सूत्र के ज्ञाता के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभवगोचर है। वह सूत्र का ज्ञाता संसार का नाश करता है और आप प्रकट होता है इसलिए सुई का द ष्टांत युक्त है।।४।।

उत्थानिका

आगे 'सूत्र में अर्थ क्या है' सो कहते हैं :–

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।। ५।।

सूत्रार्थ में जिन कहे बहुविघ, अर्थ जीवाजीव के।
हैं हेय तथा अहेय उनको, जानता सद्द ष्टि वह।।५।।

अर्थ

सूत्र का अर्थ है सो जिन सर्वज्ञदेव ने कहा है। तथा सूत्र में जो अर्थ है सो जीव–अजीव आदि बहुत प्रकार का है तथा 'हेय' अर्थात् त्यागने योग्य पुद्गलादि और 'अहेय' अर्थात् त्यागने योग्य नहीं ऐसा आत्मा–ऐसा है सो जो इसको जानता है वह प्रकट सम्यग्द ष्टि है।

भावार्थ

सर्वज्ञभाषित सूत्र में जीवादि नौ पदार्थ और उनमें हेय व उपादेय–ऐसे बहुत प्रकार से व्याख्यान है, उसको जो जानता है वह श्रद्धावान होकर सम्यग्द ष्टि होता है।।५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिनभाषित सूत्र है सो व्यवहार–परमार्थ रूप से दो प्रकार का है, उसको जानकर योगीश्वर शुद्ध भाव करके सुख को पाते हैं' :–

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।। ६।।

जिन उक्त है जो सूत्र वह, व्यवहार-निश्चय रूप है।
उसे जान योगी पावें सुख, क्षय करें मल के पु ज का।।६।।

अर्थ

जो जिनभाषित सूत्र है वह व्यवहार रूप है तथा परमार्थ रूप है, उस व्यवहार–परमार्थ को जानकर योगीश्वर सुख पाते हैं और 'मलपुंज' अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मका क्षपण करते हैं।

भावार्थ

जिनसूत्र को व्यवहार–परमार्थ रूप यथार्थ जानकर जो योगीश्वर मुनि हैं वे कर्मों का नाश कर अविनाशी सुख रूप मोक्ष को पाते हैं। **यहाँ 'परमार्थ' अर्थात् निश्चय और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है-जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोग रूप शास्त्रों में दो प्रकार से प्रसिद्ध है-एक आगम रूप**

और दूसरी अध्यात्मरूप। जहाँ सामान्य-विशेष स्वरूप से सब पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है सो तो आगम रूप है परन्तु जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण किया जाता है सो अध्यात्म है तथा अहेतुमत् और हेतुमत्-ऐसे भी दो प्रकार हैं। वहाँ जो सर्वज्ञ की आज्ञा ही से केवल प्रमाणता मानी जाती है सो अहेतुमत् है और जहाँ प्रमाण एवं नयों के द्वारा वस्तु की निर्बाध सिद्धि जिसमें करके मानी जाती है सो हेतुमत् है।

ऐसे दो प्रकार के आगम में निश्चय-व्यवहार से व्याख्या जैसी है सो कुछ लिखते हैं। जब आगम रूप सब पदार्थों के व्याख्यान पर लगाते हैं तब तो वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेष रूप अनन्त धर्मस्वरूप है सो ज्ञानगम्य है। उनमें सामान्य रूप तो निश्चय का विषय है और विशेष रूप जितने हैं उनको भेद रूप करके भिन्न-भिन्न कहे वह व्यवहार नयका विषय है, उसको द्रव्यपर्याय स्वरूप भी कहते हैं।

जिस वस्तु को विवक्षित करके सिद्ध करें उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो कुछ सामान्य–विशेष रूप वस्तु का सर्वस्व हो सो तो निश्चय–व्यवहार से जैसे कहा है वैसे सधता है और उस वस्तु की कुछ अन्य वस्तु के संयोग रूप अवस्था हो उसको उस वस्तु रूप कहना सो भी व्यवहार है उसको 'उपचार' ऐसे भी नाम से कहते हैं।

इसका उदाहरण ऐसा है–जैसे एक विवक्षित घट नामक वस्तु पर लगावें तब जिस घट का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामान्य–विशेष रूप जितना सर्वस्व है उतना कहा वैसे निश्चय–व्यवहार से कहना वह तो निश्चय–व्यवहार है और घट के कुछ अन्य वस्तु के लेप से उस घट को उस नाम से कहना तथा अन्य पटादि में घट का आरोपण करके घट कहना सो व्यवहार है।

व्यवहार के दो आश्रय हैं-एक प्रयोजन, दूसरा निमित्त। सो कुछ प्रयोजन साधने को किसी वस्तु को घट कहना वह तो प्रयोजनाश्रित है और किसी अन्य वस्तु के निमित्त से घट में जो अवस्था हुई उसको घट रूप कहना वह निमिताश्रित है। इस प्रकार विवक्षित सर्व जीव-अजीव आदि वस्तुओं पर लगाना।

जब एक आत्मा ही को प्रधान करके लगाना सो अध्यात्म है। उसमें जीव सामान्य को भी आत्मा कहते हैं और जो जीव अपने को सब जीवों से भिन्न अनुभव करे उसको भी आत्मा कहते हैं। जब अपने को सबसे भिन्न अनुभव करके अपने पर निश्चय-व्यवहार लगावें तब इस प्रकार है–आप अनादि–अनन्त, अविनाशी, सब अन्य द्रव्यों से भिन्न, एक, सामान्य–विशेष रूप, द्रव्यपर्यायात्मक 'जीव' नामक शुद्ध वस्तु है सो कैसी है–शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप असाधारण धर्म को लिए हुए अनन्त शक्ति की धारक है। उसमें अनन्त शक्ति को लिए हुए सामान्य चेतना सो तो द्रव्य है तथा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य–ये चेतना के जो विशेष हैं वे गुण हैं और अगुरुलघुगुण के द्वारा षट्स्थान पतित हानि–वृद्धि रूप परिणमन करती हुईं त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं। **इस प्रकार शुद्ध 'जीव' नामक वस्तु को जैसी सर्वज्ञ ने देखी वैसी आगम में प्रसिद्ध है वह तो एक अभेद रूप शुद्ध निश्चय का विषयभूत जीव है, इस दृष्टि से अनुभव करें तब तो ऐसा है और अनन्त धर्मों में भेद रूप किसी एक धर्म को लेकर कहना सो व्यवहार है।**

आत्मवस्तु के अनादि ही से पुद्गल कर्म का संयोग है, उसके निमित्त से विकार भाव की उत्पत्ति है, उसके निमित्त से राग–द्वेष–मोह रूप विकार होता है उसको विकार परिणति कहते हैं, उससे फिर आगामी कर्म का बंध होता है। इस प्रकार अनादि निमित्त–नैमित्तिक भाव से चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण रूप प्रवृत्ति होती है। वहाँ जिस गति को प्राप्त होता है वैसे ही नाम का जीव कहलाता है तथा जैसा रागादि भाव होता है वैसा नाम कहलाता है।

जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की बाह्य–अन्तरंग सामग्री के निमित्त से अपने शुद्धस्वरूप शुद्ध निश्चय के विषयस्वरूप अपने को जानकर श्रद्धा करे और कर्म संयोग को तथा उसके निमित्त से अपने जो भाव होते हैं उनका यथार्थ स्वरूप जाने तब भेदज्ञान होता है, तब परभावों से विरक्त होता है, तब उनको मेटने का उपाय सर्वज्ञ के आगम से यथार्थ समझकर उसको अंगीकार करे तब अपने स्वभाव में स्थिर होकर अनन्त चतुष्ट्य प्रकट होता है, सब कर्मों का क्षय करके लोक के शिखर जा विराजता है, तब मुक्त हुआ कहलाता है, उसको सिद्ध भी कहते हैं।

इस प्रकार जितनी संसार की अवस्था और यह मुक्त अवस्था–ऐसे भेद रूप

आत्मा का निरूपण है सो सब व्यवहारनय का विषय है, इसको अध्यात्म शास्त्र में अभूतार्थ, असत्यार्थ नाम से कहकर वर्णन किया है क्योंकि शुद्ध आत्मा में संयोगजनित अवस्था हो सो तो असत्यार्थ ही है, कुछ शुद्ध वस्तु का तो यह स्वभाव नहीं है इसलिए असत्य ही है तथा जो निमित्त से अवस्था हुई वह भी आत्मा ही का परिणाम है, सो जो आत्मा का परिणाम है वह आत्मा ही में है इसलिए कथंचित् इसको सत्य भी कहते हैं परन्तु जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक ही यह द ष्टि है, भेदज्ञान होने पर जैसा है वैसा जानता है। जो द्रव्य रूप पुद्गलकर्म हैं वे आत्मा से भिन्न हैं हीं, उनसे शरीरादि का जो संयोग है वह आत्मा से प्रकट ही भिन्न है, उनको आत्मा के कहते हैं सो यह व्यवहार प्रसिद्ध है, इसको असत्यार्थ कहते हैं, उपचार कहते हैं। यहाँ कर्म के संयोगजनित भाव हैं वे सब निमित्ताश्रित व्यवहार के विषय हैं और उपदेश की अपेक्षा इसको प्रयोजनाश्रित भी कहते हैं—इस प्रकार निश्चय—व्यवहार का संक्षेप है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा उससे ऐसा समझना कि ये तीनों एक आत्मा ही के भाव हैं, इस प्रकार उन स्वरूप आत्मा ही का अनुभव हो सो तो निश्चय मोक्षमार्ग है, उसमें भी जब तक अनुभव की साक्षात् पूर्णता नहीं हो तब तक एकदेश रूप होता है उसको कथंचित् सर्वदेश रूप नाम से कहते हैं सो तो व्यवहार है और एकदेश नाम से कहना निश्चय है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भेद रूप कहकर मोक्षमार्ग कहना तथा इनके बाह्य परद्रव्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त हैं उनको दर्शन-ज्ञान-चारित्र नाम से कहना सो व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं, जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं; शास्त्र के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, जीवादि पदार्थों के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं इत्यादि तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप प्रव त्ति को चारित्र कहते हैं तथा बारह प्रकार के तप को तप कहते हैं—ऐसी जो भेद रूप तथा परद्रव्य के आलम्बन रूप प्रव त्ति है वह अध्यात्म शास्त्र की अपेक्षा व्यवहार के नाम से कही जाती है क्योंकि वस्तु के एकदेश को वस्तु कहना सो भी व्यवहार है और परद्रव्य के आलम्बन रूप प्रव त्ति को उस वस्तु के नाम से कहना सो भी व्यवहार है।

अध्यात्म शास्त्र में इस प्रकार का भी वर्णन है कि वस्तु अनन्त धर्म रूप है, उसका सामान्य—विशेष से तथा द्रव्य—पर्याय से वर्णन किया जाता है, उसमें द्रव्यमात्र कहना तथा पर्यायमात्र कहना सो तो व्यवहार का विषय है तथा जो द्रव्य

रूप है वही पर्याय रूप है–इस प्रकार दोनों को ही प्रधान करके कहना सो प्रमाण का विषय है। इसका उदाहरण इस प्रकार है–जैसे जीव को चैतन्यरूप, नित्य, एक, शुद्ध, अस्तित्व रूप इत्यादि अभेदमात्र कहना सो तो द्रव्यार्थिक का विषय है और ज्ञान-दर्शन रूप, अनित्य, अनेक, अशुद्ध, नास्तित्व इत्यादि रूप कहना सो पर्यायार्थिक का विषय है–ऐसे ये दोनों ही प्रकार व्यवहार का विषय और दोनों प्रकार का निषेध करके वचन अगोचर कहना सो निश्चयनय का विषय और दोनों प्रकार को प्रधान करके कहना सो प्रमाण का विषय है इत्यादि। इस प्रकार निश्चय–व्यवहार का सामान्य संक्षेप स्वरूप है उसको जानकर जैसा आगम–अध्यात्म शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन हो उसको सूक्ष्म द ष्टि से जानना।

जिनमत अनेकांतस्वरूप स्याद्वाद है और अनेक नयों के आश्रित कथन है। वहाँ नयों का जो परस्पर विरोध है उसको स्याद्वाद मेटता है,उसके विरोध-अविरोध का स्वरूप भली प्रकार यथार्थ जानना सो तो गुरु आम्नाय ही से होता है परन्तु गुरु का निमि त्त इस काल में विरल हो गया इसलिए अपने ज्ञान का बल चले तब तक विशेष समझते ही रहना, कुछ ज्ञान का लेश पाकर उद्धत नहीं होना। वर्तमान काल में अल्पज्ञानी बहुत हैं इसलिए उनसे कुछ अधिक अभ्यास करके उनमें महन्त बन उद्धत हुए मद आ जाता है तब ज्ञान थकित हो जाता है और विशेष समझने की अभिलाषा नहीं रहती तब विपरीत होकर यद्वा-तद्वा कहता है, तब अन्य जीव के विपरीतता हो जाती है-इस प्रकार अपने अपराध होने का प्रसंग आता है इसलिए शास्त्र को समुद्र जानकर अल्पज्ञ रूप ही अपना भाव रखना जिससे विशेष समझने की अभिलाषा रहकर ज्ञान की व द्धि हो, अल्पज्ञानियों में बैठ महन्तबुद्धि रखने पर तो प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है-ऐसा जानना। निश्चय-व्यवहार रूप आगम की कथनी समझकर उसका श्रद्धान करके यथाशक्ति आचरण करना। इस काल में गुरु संप्रदाय के बिना महन्त नहीं बनना, जिन आज्ञा नहीं लोपना। आचरण तो शक्ति के अनुसार करना कहा है और श्रद्धा आज्ञा हो सो करनी कही है।

कोई कहते हैं कि 'हम तो परीक्षा करके जिनमत को मानेंगे।' वे व था बकते हैं क्योंकि अल्पबुद्धि का ज्ञान परीक्षा करने लायक नहीं होता। आज्ञा को प्रधान रखकर बने जितनी परीक्षा करने में दोष नहीं है पर केवल परीक्षा ही

को प्रधान रखने में यदि जिनमत से च्युत हो जाये तो बड़ा दोष आता है इसलिए जिनकी अपने हित-अहित पर द ष्टि है वे तो ऐसा जानो और जिनको अल्पज्ञानियों में महंत बनकर अपने मान, लोभ, बड़ाई, विषय और कषाय पोषने हों उनकी कथा नहीं है, वे तो जैसे अपने विषय कषाय पुष्ट होंगे वैसा करेंगे, उनको मोक्षमार्ग का उपदेश लगता नहीं, विपरीत को कैसा उपदेश-ऐसा जानना।।६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो सूत्र के अर्थ–पद से भ्रष्ट है उसको मिथ्याद ष्टि जानना' :–

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणियपत्तं सचेलस्स।।७।।

सूत्रार्थ पद है नष्ट जिसके, प्रकट मिथ्याद ष्टि वह।
नहि खेल में भी पाणिपात्र, सचेल के कर्तव्य है।।७।।

अर्थ

जो सूत्र का अर्थ और पद है विनष्ट जिसके ऐसा है वह प्रकट मिथ्याद ष्टि है इसलिये जो सचेल है–वस्त्र सहित है उसको 'खेडे वि' अर्थात् हास्य–कौतूहल मात्र में भी 'पाणिपात्र' अर्थात् हस्त रूपी पात्र में आहारदान सो नहीं करना।

भावार्थ

सूत्र में मुनि का रूप नग्न दिगम्बर कहा है और जो ऐसे सूत्र के अर्थ से तथा अक्षर रूप पद जिसके विनष्ट है और आप जिससे विनष्ट है, इस अर्थ–पद को छोड़ दिया है सो मुनि का रूप वस्त्र सहित कहता है तथा आप वस्त्र धारण करके मुनि कहलाता है वह जिन आज्ञा से भ्रष्ट हुआ प्रकट मिथ्याद ष्टि है इसलिए ऐसे वस्त्र सहित को हास्य–कौतूहल में भी 'पाणिपात्र' अर्थात् आहारदान नहीं करना तथा इसका ऐसा भी अर्थ होता है कि ऐसे मिथ्याद ष्टि को पाणिपात्र आहार लेना

योग्य नहीं है, ऐसा वेष हास्य–कौतूहल में भी धारण करना योग्य नहीं है कि जिसमें वस्त्र सहित रहना और 'पाणिपात्र' भोजन करना–ऐसा क्रीड़ा मात्र से भी नहीं करना।।७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिनसूत्र से भ्रष्ट है वह हरिहरादि के तुल्य हो तो भी मोक्ष नहीं पाता है' :–

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। ८।।

हर-हरी सम हो स्वर्ग जाए, तो भी कोटी भव भ्रमे।
पाता नहीं है सिद्धि, संसारस्थ ही है कहा गया ।।८।।

अर्थ

जो नर सूत्र के अर्थ–पद से भ्रष्ट है वह 'हरि' अर्थात् नारायण और 'हर' अर्थात् रुद्र तुल्य भी हो, अनेक ऋद्धि से युक्त हो तो भी 'सिद्धि' अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। यदि वह कदाचित् दान–पूजादि से पुण्य उपजाकर स्वर्ग चला जाये तो भी वहाँ से चयकर करोड़ों भव ले संसार ही में रहता है–ऐसा जिनागम में कहा है।

भावार्थ

श्वेताम्बरादि ऐसा कहते हैं कि 'ग हस्थ आदि वस्त्र सहित हैं उनके भी मोक्ष होता है–इस प्रकार सूत्र में कहा है।' उनका इस गाथा में निषेध का आशय है कि 'हरिहरादि बड़ी सामर्थ्य के धारक भी हैं तो भी वस्त्र सहित तो मोक्ष नहीं पाते हैं। श्वेताम्बरों ने कल्पित सूत्र बनाये हैं जिनमें यह लिखा है सो प्रमाणभूत नहीं है, वे जिनसूत्र के अर्थ–पद से च्युत हुए हैं–ऐसा जानना'।।८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिनसूत्र से च्युत हुए हैं और स्वच्छंद हुए प्रवर्तते हैं, वे मिथ्याद ष्टि हैं :–

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गुरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं।। ६।।

परिकर्म बहु, उत्क ष्ट सिंह चरित्र, गुरुक भी भार हो।
पर विहरता स्वच्छंद, पाता पाप को, मिथ्यात्व को।।६।।

अर्थ

जो मुनि होकर उत्क ष्ट सिंह के समान निर्भय हुआ आचरण करता है और 'बहु परिकर्म' अर्थात् तपश्चरणादि क्रिया विशेषों से युक्त है तथा 'गुरुकभार'[1] अर्थात् बड़ा पदस्थ रूप है–संघनायक कहलाता है परन्तु जिनसूत्र से च्युत हुआ स्वच्छंद प्रवर्तता है तो वह पाप ही को प्राप्त होता है और मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।

भावार्थ

जो धर्म का नायकपना लेकर निर्भय हो तपश्चरणादि से बड़ा कहलाकर अपना संप्रदाय चलाता है और जिनसूत्र से च्युत होकर स्वेच्छाचारी हुआ प्रवर्तता है वह पापी मिथ्याद ष्टि ही है, उसका प्रसंग श्रेष्ठ नहीं है।।६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनसूत्र में ऐसा मोक्षमार्ग कहा है':–

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में **'गुरुकभार'** की विवेचना की है कि 'राजादि के भय का निवारण करना; ि ाष्यों के पठन-पाठन में समर्थता; यात्र, प्रतिष्ठा, दीक्षा, दान, आयुर्वेद और ज्योतिष ाास्त्र की निर्णय ीलता; षडाव यक कर्म में कर्मठता; धर्मोपदे ा देने में समर्थता और सब यतियों को नि चत कर देने की सामर्थ्य 'गुरुकभार' कहलाती है।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।। १०।।

निश्चेल पाणिपात्र जिनवर इन्द्र से उपदिष्ट जो।
वह एक ही है मुक्ति मारग, शेष सर्व अमार्ग हैं।।१०।।

अर्थ

जो 'निश्चेल' अर्थात् वस्त्र रहित दिगम्बर मुद्रास्वरूप और 'पाणिपात्र' अर्थात् हाथ ही हैं पात्र जिसमें इस प्रकार खड़ा रहकर आहार करना ऐसे एक अद्वितीय मोक्षमार्ग का तीर्थंकर परम देवों ने उपदेश दिया है, इसके सिवाय जो अन्य रीति हैं वे सब अमार्ग हैं।

भावार्थ

जो म गचर्म, व क्ष के वल्कल, कपास पट्ट, दुकूल, रोमवस्त्र, टाट के और त ण के वस्त्र इत्यादि रखकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं तथा इस काल में जिनसूत्र से च्युत हुए हैं उन्होंने अपनी इच्छा से अनेक वेष चलाए हैं–कई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कई रक्त वस्त्र, कई पीले वस्त्र, कई टाट के वस्त्र, कई घास के वस्त्र और कई रोम के वस्त्र इत्यादि रखते हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि जिनसूत्र में तो एक नग्न दिगम्बर स्वरुप पाणिपात्र भोजन करना–ऐसा मोक्षमार्ग कहा है, अन्य सब वेष मोक्षमार्ग नहीं हैं, जो मानते हैं वे मिथ्याद ष्टि हैं।।१०।।

उत्थानिका

आगे दिगम्बर मोक्षमार्ग की प्रव त्ति कहते हैं :–

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।। ११।।

जो जीव सयंम सहित है, आरम्भ-परिग्रह विरत है।
इस सुर, असुर व मानवों युत, लोक में वह वंद्य है।।११।।

अर्थ

जो दिगम्बर मुद्रा का धारक मुनि इन्द्रिय–मन का वश करना और छह काय के जीवों की दया करना–ऐसे संयम से तो सहित हो और 'आरम्भ' अर्थात् ग हस्थ के जितने आरम्भ हैं उनसे तथा बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त हो, उनमें नहीं प्रवर्ते तथा 'अपि' शब्द से ब्रह्मचर्य आदि से युक्त हो वह इस देव–दानवों से सहित मनुष्य लोक में वंदने योग्य है, अन्य वेषी–परिग्रह और आरम्भादि से युक्त पाखण्डी वंदने योग्य नहीं है।।११।।

उत्थानिका

आगे फिर उनकी प्रव त्ति का विशेष कहते हैं :–

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू।। १२।।

बाईस परिषह को सहें जो, शक्ति शत संयुक्त हैं।
वे कर्म क्षयमय निर्जरा, परवीण साधु वंद्य हैं।।१२।।

अर्थ

जो साधु–मुनि अपनी सैंकड़ों शक्तियों से युक्त होते हुए क्षुधा एवं त षादि बाईस परीषहों को सहते हैं वे साधु वंदने योग्य हैं। कैसे हैं वे–कर्मों का क्षय रूप जो उनकी निर्जरा उसमें प्रवीण हैं।

भावार्थ

जो बड़ी शक्ति के धारक साधु हैं वे परीषहों को सहते हैं, परीषह आने पर अपने पद से च्युत नहीं होते उनके कर्मों की निर्जरा होती है, वे वंदने योग्य हैं।।१२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो दिगम्बरमुद्रा के सिवाय किसी वस्त्र को धारण करते हैं और सम्यग्दर्शन–ज्ञान से युक्त होते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं' :–

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय।। १३।।

अवशेष जो भी लिंगी सम्यक् ज्ञान-दर्शन युक्त हैं।
हैं परिग हीत वे वस्त्र से, अरु योग्य इच्छाकार के।।१३।।

अर्थ

दिगम्बर मुद्रा के सिवाय अवशेष जो वेष से संयुक्त लिंगी हैं और सम्यक्त्व सहित दर्शन–ज्ञान से संयुक्त हैं तथा वस्त्र से परिग हीत हैं अर्थात् वस्त्र धारण करते हैं वे इच्छाकार करने योग्य कहे गये हैं।

भावार्थ

जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान से संयुक्त हैं और उत्क ष्ट श्रावक का वेष धारण करते हैं, एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं। 'मैं तुमको इच्छता हूँ, चाहता हूँ'–ऐसा 'इच्छामि' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार से इच्छाकार करना जिनसूत्र में कहा है।।१३।।

उत्थानिका

आगे इच्छाकार के योग्य श्रावक का स्वरूप कहते हैं :–

इच्छायारमहत्थं सुत्तट्ठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे ट्ठिय सम्मत्तं परलोयसुहंकरो होई।। १४।।

सूत्रस्थ, छोड़े कर्म, जाने इच्छाकार महार्थ जो।
परलोक के सुख को लहे, स्थानथित समकिती वो।।१४।।

अर्थ

जो पुरुष जिनसूत्र में स्थित हुआ 'इच्छाकार' शब्द का जो महान-प्रधान अर्थ है उसको जानता है और 'स्थान' जो श्रावक के भेद रूप प्रतिमा उनमें स्थित होकर सम्यक्त्व सहित वर्तता हुआ आरंभ आदि कर्मों को छोड़ता है वह परलोक में सुख करने वाला होता है।

भावार्थ

उत्क ष्ट श्रावक को 'इच्छाकार' करते हैं सो जो 'इच्छाकार' का जो प्रधान अर्थ है उसको जानता है और सूत्र के अनुसार सम्यक्त्व सहित आरम्भादि को छोड़कर उत्क ष्ट श्रावक होता है वह परलोक में स्वर्ग का सुख पाता है।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो 'इच्छाकार' के प्रधान अर्थ को नहीं जानता है और अन्य धर्म का आचरण करता है वह सिद्धि को नहीं पाता है' :–

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। १५।।

नहिं चाहता निज आतमा, अवशेष धर्म करे भले।
तो भी ना पाता सिद्धि, संसारस्थ ही है कहा गया।।१५।।

अर्थ

'अथ पुन': ऐसे शब्द का यह अर्थ है कि 'पहिली गाथा में कहा था कि जो 'इच्छाकार' के प्रधान अर्थ को जानता है वह आचरण करके स्वर्ग का सुख पाता है, वही अब फिर कहते हैं कि 'इच्छाकार' का प्रधान अर्थ आत्मा को चाहना है अर्थात् अपने स्वरूप में रुचि करना है सो इसको जो इष्ट नहीं करता है और अन्य धर्म के समस्त आचरण करता है तो भी 'सिद्धि' अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता है और उसको संसार में ही स्थित रहने वाला कहा है।'

भावार्थ

'इच्छाकार' का प्रधान अर्थ आत्मा का चाहना है सो जिसके अपने स्वरूप की रुचि रूप सम्यक्त्व नहीं है उसके सब मुनि-श्रावक की आचरण रूप प्रव त्ति मोक्ष का कारण नहीं है।।१५।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करके उपदेश करते हैं :–

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। १६।।

इन कारणों से करो श्रद्धा, त्रिविधविध निज आत्म की।
जिससे हैं पाते मोक्ष उसको, जानो सर्व प्रयत्न से।।१६।।

अर्थ

पहिले कहा था कि 'जो आत्मा को इष्ट नहीं करता है उसके सिद्धि नहीं है इस ही कारण से हे भव्य जीवों! तुम उस आत्मा को श्रद्धो-उसका श्रद्धान करो, मन-वचन-काय से स्वरूप में रुचि करो, जिस कारण से मोक्ष को पाओ और जिससे मोक्ष पाया जाता है उसको 'प्रयत्न' अर्थात् सब प्रकार के उद्यम से जानो।

भावार्थ

जिससे मोक्ष पाया जाता है उस ही को जानना एवं श्रद्धान करना–यह प्रधान उपदेश है, अन्य आडम्बर से क्या प्रयोजन–ऐसा जानना।।१६।।

उत्थानिका

आगे जो जिनसूत्र को जानने वाले मुनि हैं उनका स्वरूप फिर दृढ़ करने को कहते हैं :–

बालग्गकोडिमित्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं एक्कठाणम्मि।। १७।।

बालाग्र की अणि मात्र भी, परिग्रहग्रहण नहिं साधु के।
करपात्र में परदत्त अन्न वे, ग्रहें इक स्थान में।।१७।।

अर्थ

बाल के अग्रभाग की 'कोटि' अर्थात् अणी उस मात्र भी परिग्रह का ग्रहण साधुओं के नहीं होता है।

यहाँ **आशंका है** कि 'यदि परिग्रह कुछ भी नहीं है तो आहार कैसे करते हैं ?' **उस पर कहते हैं** कि 'आहार ऐसे करते हैं–'पाणिपात्र' अर्थात् करपात्र, अपने हाथ ही में भोजन करते हैं और वह भी अन्य का दिया हुआ प्रासुक अन्न मात्र लेते हैं सो भी एक स्थान पर ही लेते हैं, बार–बार नहीं लेते हैं और अन्य–अन्य स्थान में नहीं लेते हैं।'

भावार्थ

जो मुनि आहार ही पर का दिया हुआ, प्रासुक, योग्य अन्नमात्र, निर्दोष, एक बार दिन में अपने हाथ में लेते हैं तो अन्य परिग्रह किसलिये ग्रहण करेंगे अर्थात् नहीं करेंगे। जिनसूत्र में मुनि ऐसे कहे हैं।।१७।।

उत्थानिका

आगे **कोई कहता है कि** 'यदि अल्प परिग्रह ग्रहण करें तो उसमें दोष क्या है ?' **उसको दोष दिखाते हैं :-**

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुअं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्।। १8।।

यथाजात सद श रूप तिल-तुष, मात्र कर में ना ग्रहें।
यदि ग्रहें अल्प-बहुत तो उससे, गमन होय निगोद में।।१8।।

अर्थ

मुनि हैं सो यथाजात रूप सरीखे हैं अर्थात् जैसा जन्मता बालक नग्न होता है वैसे नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारक हैं सो अपने हाथ में तिल के तुष मात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करते हैं और यदि कुछ थोड़ा-बहुत लें, ग्रहण करें तो उससे निगोद चले जाते हैं।

भावार्थ

मुनि यथाजात रूप निर्ग्रंथ दिगम्बर कहे गये हैं सो ऐसे होकर भी कुछ परिग्रह

रखें तो जानना कि इनके जिनसूत्र की श्रद्धा नहीं है, मिथ्याद ष्टि हैं और मिथ्यात्व का फल निगोद ही है। कदाचित् कुछ तपश्चरणादि करें और उससे शुभ कर्म बाँधकर स्वर्गादि पावें तो भी फिर एकेन्द्रिय होकर संसार ही में भ्रमण करते हैं।

यहाँ प्रश्न–मुनि के शरीर है, **आहार** करते हैं, **कमंडलु, पीछी व पुस्तक** रखते हैं **और यहाँ तिल के तुष मात्र भी रखना नहीं कहा सो कैसे ?**

उसका समाधान–यदि मिथ्यात्व सहित रागभाव से अपनाकर अपने विषय-कषाय पुष्ट करने के लिए रखे तो उसको परिग्रह कहते हैं, उस निमित्त कुछ थोड़ा-बहुत रखने का निषेध किया है परन्तु केवल संयम साधने के निमित्त का तो सर्वथा निषेध है नहीं। शरीर है सो आयु पर्यन्त छोड़ने पर छूटता नहीं, इसका तो ममत्व ही छूटता है और जब तक शरीर है तब तक **आहार** न करें तो सामर्थ्य हीन हो जायें तब संयम नहीं सधे इसलिए शरीर को खड़ा रखकर कुछ योग्य आहार विधिपूर्वक शरीर से राग रहित होते हुए लेकर संयम साधते हैं। तथा **कंमडलु** शौच का उपकरण है, यदि नहीं रखें तो मल–मूत्र की अशुचिता से पंच परमेष्ठी की भक्ति–वंदना कैसे करें और लोकनिद्य हों। **पीछी** दया का उपकरण है, यदि नहीं रखें तो जीवों सहित भूमि आदि की प्रतिलेखना किससे करें ! **पुस्तक** है सो ज्ञान का उपकरण है, यदि नहीं रखें तो पठन–पाठन कैसे हो ! **तथा इन उपकरणों का रखना भी ममत्वपूर्वक नहीं है, इनसे रागभाव नहीं है।**

और आहार–विहार तथा पठन–पाठन की क्रियायुक्त जब तक रहें तब तक केवलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इन सब क्रियाओं को छोड़कर शरीर का भी सर्वथा ममत्व छोड़ ध्यान अवस्था लेकर तिष्ठें, अपने स्वरूप में लीन हों तब परम निर्ग्रंथ अवस्था होती है, तब श्रेणी को प्राप्त होकर मुनिराज के केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य क्रिया सहित हों तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है–ऐसा निर्ग्रंथपना जिनसूत्र में मोक्षमार्ग कहा है। श्वेताम्बर कहते हैं कि 'भवस्थिति पूरी होने पर सब अवस्थाओं में केवलज्ञान उत्पन्न होता है सो यह कहना मिथ्या है, जिनसूत्र का यह वचन नहीं है, उन श्वेताम्बरों ने कल्पित सूत्र बनाए हैं उनमें लिखा होगा'।

फिर यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि 'जो तुमने कहा वह तो उत्सर्ग मार्ग है परन्तु अपवाद मार्ग में वस्त्रादि उपकरण रखना कहा है, जैसे तुमने धर्मोपकरण कहे

वैसे वस्त्रादि भी धर्मोपकरण हैं, जैसे क्षुधा की बाधा आहार से मिटाकर संयम साधते हैं वैसे शीत आदि की बाधा यदि वस्त्र आदि से मिटाकर संयम साधें तो इसमें विशेष क्या है ?'

उनको कहते हैं कि 'इसमें तो बड़े दोष आते हैं तथा फिर तो कोई कहेगा कि यदि काम विकार उत्पन्न हो तो स्त्री सेवन भी करे तो इसमें क्या विशेष है ! इसलिए इस प्रकार तो कहना युक्त नहीं है। क्षुधा की बाधा तो आहार से मिटाना युक्त है, आहार के बिना देह अशक्त हो जाता है तथा छूट जाये तो अपघात का दोष आता है परन्तु शीत आदि की बाधा तो अल्प है सो यह तो ज्ञानाभ्यास आदि के साधन से ही मिट जाती है और जो अपवाद मार्ग कहा सो जिसमें मुनिपद रहे ऐसी क्रिया करना तो अपवाद मार्ग है परन्तु जिस परिग्रह से तथा जिस क्रिया से मुनिपद से भ्रष्ट होकर ग हस्थ के समान हो जाये वह तो अपवाद मार्ग है नहीं। दिगम्बर मुद्रा धारण करके कमंडलु-पीछी सहित आहार-विहार और उपदेशादि में प्रवर्ते सो अपवाद मार्ग है और सब प्रव त्ति को छोड़ परम निर्ग्रन्थ होकर शुद्धोपयोग में लीन हो सो उत्सर्ग मार्ग कहा है। ऐसा मुनिपद अपने से सधता न जानकर किसलिए शिथिलाचार का पोषण करना, मुनिपद की सामर्थ्य न हो तो श्रावक धर्म ही का पालन करना, परम्परा से इसी से सिद्धि हो जाएगी। जिनसूत्र की यथार्थ श्रद्धा रखने से सिद्धि है, इसके बिना अन्य क्रिया सब ही संसार मार्ग हैं, मोक्षमार्ग नहीं है-ऐसा जानना'।।१८।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ का समर्थन करते हैं :–

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो।। १9।।

जिस मत में परिग्रहग्रहण अल्प वा, बहुत होता लिंगि के।
गर्हित है वह जिनवचन में, परिग्रह रहित निरगार है।।१9।।

अर्थ

जिसके मत में 'लिग' जो वेष उसके परिग्रह का अल्प तथा बहुत का ग्रहण करना कहा है वह मत तथा उसका श्रद्धावान पुरुष गर्हित है–निंदा के योग्य है क्योंकि जिनवचन में जो परिग्रह रहित है सो निराकार[1] है, निर्दोष मुनि है–ऐसा कहा है।

भावार्थ

श्वेताम्बरादि के कल्पित सूत्रों में वेष में अल्प–बहुत परिग्रह का ग्रहण कहा है सो सिद्धान्त तथा उसके श्रद्धानी निंद्य हैं। जिनवचन में परिग्रह रहित को ही निर्दोष मुनि कहा है।।१६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य कहा है' :–

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य।। २०।।

त्रय गुप्ति, पंच महाव्रतों से, युक्त जो संयत वही।
निर्ग्रन्थ मुक्तीमार्ग है वह, प्रकट वंदन योग्य है।।२०।।

अर्थ

जो मुनि पाँच महाव्रतों से युक्त हो और तीन गुप्ति से संयुक्त हो सो ही संयत है-संयमवान है और निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग है तथा वह ही प्रकटपने निश्चय से वंदने योग्य है।

टि0-1. 'म0 टी0' में इसका अर्थ 'अनपवदनीय-अपवादरहित अर्थात् अनिंद्य' किया है।
'मु0 प्रति' व 'श्रु0 टी0' में यहाँ 'निराकार' के स्थान पर 'निरगार' पाठ है परन्तु 'पं0 जयचंद जी' ने अपनी मूल टीका में प्राकृत गाथा के 'निरायार' □ाब्द का अर्थ यहाँ भी और आगे चारित्राहुड़ में भी संयमाचरण चारित्र के प्रकरण में गाथा 21 व 28 के अर्थ में 'निराकार' ही किया है अत: यहाँ मूल टीका अनुसारी पाठ ही दिया गया है।

भावार्थ

जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पाँच महाव्रतों से सहित हो और मन, वचन, काय रूप तीन गुप्तियों से सहित हो वह संयमी है, वह ही निर्ग्रंथ स्वरुप है और वह ही वंदने योग्य है। जो कुछ अल्प–बहुत परिग्रह रखे सो महाव्रती संयमी नहीं है–वह मोक्षमार्ग नहीं है, ग हस्थवत् है।।२०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पूर्वोक्त एक वेष तो मुनि का कहा, अब दूसरा वेष उत्क ष्ट श्रावक का है–ऐसा कहते हैं' :–

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण।। २१।।

है दूसरा जो लिंग उत्क ष्ट, श्रावकों का अपर का।
हो मौनयुत वा वाक् समिति, सपात्र भिक्षाटन करे।।२१।।

अर्थ

'द्वितीय' अर्थात् दूसरा लिंग–वेष 'उत्क ष्ट अपर श्रावक' अर्थात् जो ग हस्थ नहीं ऐसा उत्क ष्ट श्रावक उसका कहा है, सो उत्क ष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक है, वह भ्रमण करके भिक्षा के द्वारा भोजन करता है और 'पत्ते' अर्थात् पात्र में करता है अथवा हाथ में करता है और समिति रूप प्रवर्तता हुआ भाषा समिति रूप बोलता है अथवा मौन से प्रवर्तता है।

भावार्थ

एक तो मुनि का यथाजात रूप लिंग कहा और दूसरा यह उत्क ष्ट श्रावक का कहा सो ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्क ष्ट श्रावक है, वह एक वस्त्र तथा कोपीन (लंगोटी) मात्र धारण करता है और भिक्षा के द्वारा भोजन करता है तथा पात्र में भी भोजन करता है अथवा करपात्र में भी करता है तथा समिति रूप वचन भी कहता है अथवा मौन भी रखता है–इस प्रकार ऐसा यह दूसरा वेष है।।२१।।

उत्थानिका

आगे तीसरा लिंग स्त्री का कहते हैं :–

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जियवि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।। २२।।

है लिंग स्त्री ऐसा कि, भोजन करे इक काल में।
हो आर्यिका भी वस्त्र इक धर, आवरणयुत अशन हो।।२२।।

अर्थ

लिंग है सो स्त्रियों का ऐसा है–एक काल में तो भोजन करे, बार–बार न खाये तथा आर्यिका भी हो तो एक वस्त्र धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्र के आवरण सहित करे, नग्न नहीं हो।

भावार्थ

स्त्री आर्यिका भी होती है और क्षुल्लिका भी होती है सो दोनों ही भोजन तो दिन में एक बार ही करें और जो आर्यिका हो सो एक वस्त्र धारे तथा वस्त्र धारण किये हुए ही भोजन करे, नग्न नहीं हो–ऐसा स्त्री का तीसरा लिंग है।।२२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'वस्त्रधारक के मोक्ष नहीं है, मोक्षमार्ग नग्नपना ही है' :–

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। २३।।

यदि तीर्थकर भी हो न सीझे, वस्त्रधर जिनशासने।
नग्नत्व मुक्तीमार्ग है, अवशेष सब उन्मार्ग हैं।।२३।।

अर्थ

जिनशासन में यह कहा है कि वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है

अर्थात् मोक्ष नहीं पाता है। यदि तीर्थंकर भी हो तो जब तक ग हस्थ रहे तब तक मोक्ष नहीं पाता है, दीक्षा लेकर दिगम्बर रूप धारण करे तब मोक्ष पाता है क्योंकि नग्नपना है सो ही मोक्षमार्ग है, अवशेष बाकी सब ही उन्मार्ग हैं।

भावार्थ

श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारी के भी मोक्ष होना कहते हैं सो मिथ्या है—यह जिनमत नहीं है।।२३।।

उत्थानिका

आगे स्त्रियों के जो दीक्षा नहीं है उसका कारण कहते हैं :—

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा।। २४।।

जो स्त्री उसके स्तनांतर, योनि, नाभि, काँख में।
हैं सूक्ष्म जीव कहे गये सो, उनके दीक्षा कैसे हो !।।२४।।

अर्थ

स्त्रियों के 'लिंग' अर्थात् योनि में, 'स्तनांतर' अर्थात् दोनों कुचों के मध्य प्रदेश में तथा 'कक्षदेश' अर्थात् कांख में और नाभि में 'सूक्ष्मकाय' अर्थात् द ष्टि के अगोचर जीव कहे गये हैं सो ऐसी स्त्रियों के 'प्रव्रज्या' अर्थात् दीक्षा कैसे हो !

भावार्थ

स्त्रियों के योनि, स्तन, कांख और नाभि में पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति निरन्तर कही है सो उनके महाव्रत रूप दीक्षा कैसे हो तथा उनके जो महाव्रत कहे हैं सो उपचार से कहे हैं, परमार्थ नहीं है। स्त्री अपनी सामर्थ्य की हद्द को पहुँचकर व्रत धारण करती है, इस अपेक्षा से उसके उपचार से महाव्रत कहे हैं।।२४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि स्त्री भी दर्शन से शुद्ध हो तो पाप रहित है, भली है' :–

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया[1]।। २५।।

पर यदी दर्शनशुद्ध हो तो, मार्गयुत है कही गई।
आचरण घोर को आचरे, युतपाप कहलाती नहीं।।२५।।

अर्थ

स्त्रियों में जो स्त्री 'दर्शन' अर्थात् यथार्थ जिनमत की श्रद्धा से शुद्ध है सो भी मार्ग से संयुक्त है, वह घोर चारित्र–तीव्र तपश्चरणादि आचरण से पाप से रहित होती है इसलिए पापयुक्त नहीं कहलाती।

भावार्थ

स्त्रियों में भी यदि कोई स्त्री सम्यक्त्व से सहित हो और तपश्चरण करे तो पाप रहित होकर स्वर्ग को प्राप्त होती है इसलिये प्रशंसा योग्य है परन्तु स्त्री पर्याय से मोक्ष नहीं है।।२५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'स्त्रियों के ध्यान की सिद्धि भी नहीं है' :–

टि0-1. 'म0 व श्रु0 टी0' में इस पंक्ति में आए हुए 'पावया' □ाब्द की सं0 छाया 'प्रवज्या' देकर पंक्ति का अर्थ किया है कि 'स्त्री कठिन चारित्र का आचरण करके स्वर्ग जाती है, उसके निर्वाण योग्य दिगम्बर दीक्षा नहीं कही गई है।' 'पं0 जयचंद जी' ने इस पंक्ति का अर्थ स्त्री की प्र□ांसा करते हुए भिन्न रूप से इस प्रकार किया है कि 'स्त्री घोर चारित्र का आचरण करके पाप से रहित होती है अत: पापयुक्त नहीं कहलाती।' ढूढ़ांरी टीका में पं0 जी के इस अर्थ की अनुसारिणी 'पावया' □ाब्द की संस्कृत छाया 'प्रव्रज्या' के स्थान पर 'पापका' दी गई है।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणं[1]।। २६।।

हो चित्त की शुद्धि नहीं, है भाव शिथिल स्वभाव से।
मासिक धरम से शंकायुत, सो स्त्रियों के ध्यान नहिं।।२६।।

अर्थ

उन स्त्रियों के चित्त की शुद्धता नहीं है वैसे ही स्वभाव ही से उनके ढीला भाव है–शिथिल परिणाम है और उनके 'मासा' अर्थात् मास–मास में जो रुधिर का स्राव विद्यमान है उसकी शंका रहती है इससे स्त्रियों के ध्यान नहीं है।

भावार्थ

ध्यान होता है सो चित्त शुद्ध हो, द ढ़ परिणाम हों ओर किसी तरह की शंका न हो तब होता है सो स्त्रियों के ये तीनों ही कारण नहीं हैं तब ध्यान कैसे हो और ध्यान के बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है–इस प्रकार स्त्रियों के मोक्ष नहीं है, श्वेताम्बरादि कहते हैं सो मिथ्या है।।२६।।

उत्थानिका

आगे 'सूत्रपाहुड' को समाप्त करते हैं सो सामान्य से सुख का कारण कहते हैं :–

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताहं णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं।। २७।।

निज वस्त्र हेतु समुद्रजलवत्, ग्राह्य से ग्रहें अल्प मुनि।
इच्छाएँ निव त हुईं जिनकी, दुःख सब निव त हुए।।२७।।

टि0-1. 'म0 व श्रु0 टी0' में यहाँ आए हुए 'ण संकया झाणं' पाठ के स्थान पर 'ण□संकया झाणं' पाठ देकर अर्थ किया है कि 'स्त्रियों के निर्भयतापूर्वक ध्यान नहीं होता।'

अर्थ

जो मुनि 'ग्राह्य' अर्थात् ग्रहण करने योग्य जो वस्तु आहार आदि उनमें से तो वैसे ही अल्पग्राह्य है अर्थात् थोड़ा ग्रहण करते हैं, जैसे कोई पुरुष बहुत जल से भरा हुआ जो समुद्र उससे अपने वस्त्र को धोने के लिये वस्त्र धोने मात्र जल ग्रहण करता हैं और जिन मुनियों के इच्छा निव त हो गई उनके सब दुःख निव त हो गये।

भावार्थ

जगत में यह प्रसिद्ध है कि 'जिनके संतोष है वे सुखी हैं' इस न्याय से यह सिद्ध हुआ कि मुनियों के क्योंकि इच्छा की निव त्ति है, संसार के विषय–कषाय संबधी इच्छा किंचित् मात्र भी नहीं है, देह से भी विरक्त हैं इसलिए परम संतोषी हैं और आहारादि जो कुछ ग्रहण योग्य हैं उनमें से भी अल्प को ग्रहण करते हैं इसलिए वे परम संतोषी हैं, परम सुखी हैं–यह जिनसूत्र के श्रद्धान का फल है। अन्य सूत्र में यथार्थ निव त्ति का प्ररूपण नहीं है इसलिए कल्याण के सुख को चाहने वालों को जिनसूत्र का सेवन निरन्तर करना योग्य है।।२७।।

छप्पय

जिनवर की धुनि मेघ ध्वनि, सम मुख तैं गरजै।
गणधर की श्रुति भूमि, वरषि अक्षर पद सरजै।।
सकल तत्त्व परकाश करै, जग ताप निवारै।
हेय अहेय विधान, लोक नीकै मन धारै।।
विधि पुण्य पाप अर लोक की, मुनि श्रावक आचार फुनि।
करि स्व-पर भेद निर्णय सकल, कर्म नाशि शिव लहै मुनि ।।१।।

अर्थ

जिनेन्द्र भगवान की ध्वनि मेघों की ध्वनि के समान मुख से गरजती है और गणधरों के कान रूपी भूमि पर बरसकर उसमें (उनके द्वारा) अक्षर एवं पदों की रचना होती है। वह सारे तत्त्वों का प्रकाश करती है, संसार का ताप दूर करती है और उससे प्राणी हेय एवं अहेय (उपादेय) का विधान मन में भली प्रकार अवधारण

करते हैं। उसके द्वारा पुण्य एवं पाप की विधि (**प्रथमानुयोग**), लोक की रचना (**करणानुयोग**), श्रावक एवं मुनि का आचार (**चरणानुयोग**) जानकर एवं स्व–पर भेद का निर्णय (**द्रव्यानुयोग**) करके मुनि सारे कर्मों का नाश करके मोक्ष पा लेते हैं।।१।।

दोहा

वर्द्धमान जिन के वचन, वरतै पंचम काल।
भव्य पाय शिव मग लहै, नमूं तास गुणमाल।।२।।

अर्थ

वर्तमान पचंम काल में वर्द्धमान जिनेन्द्र के वचनों का प्रवर्तन है, भव्य जीव उनको पाकर मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेते हैं, मैं उन वीर जिन के वचनों के गुणों की माला को नमन करता हूँ।।२।।

इस प्रकार सूत्रपाहुड़ को पूर्ण किया।

विषयवस्तु

यह पाहुड़ सत्ताईस गाथाओं में निबद्ध है। जिनसूत्र की महिमा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि अरहंत सर्वज्ञ से भाषित और गणधर देवों द्वारा गूंथे हुए सूत्र से मुनि मोक्ष को साधते हैं। वह सूत्र आचार्यों की परम्परा रूप मार्ग से चला आया है एवं व्यवहार और परमार्थ रूप से दो प्रकार का है। उसको शब्द और अर्थ से जानकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तने वाला जो भव्य जीव होता है, वह सूत्र से हेय व अहेय समस्त पदार्थों को जानता है और स्वसंवेदन ज्ञान से अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करके संसार में रुलता नहीं वरन् संसार का नाश कर देता है। सूत्र के अर्थ पद से भ्रष्ट मिथ्याद ष्टि होता है, वह हरिहरादि तुल्य हो तो भी मोक्ष नहीं पाता।

जिनसूत्र में नग्न दिगम्बर स्वरूप ही एक अद्वितीय मोक्षमार्ग कहा गया है, शेष सर्व अमार्ग हैं। नग्न मुनि के बाल के अग्रभाग की अणी मात्र भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता, वह अपने हाथों में तिल का तुष मात्र भी कुछ ग्रहण करे तो उससे निगोद चला जाता है। जिनशासन में एक नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, वस्त्रधारी तो यदि तीर्थंकर भी हो तो भी वह मोक्ष नहीं पाता। इस एक मुनिलिंग के अतिरिक्त जिनसूत्र में दूसरा लिंग उत्क ष्ट श्रावक-क्षुल्लक का और तीसरा लिंग आर्यिका का कहा गया है। इन तीन के सिवाय चौथा लिंग होता ही नहीं।

फिर अन्त में वीतरागी मुनियों की महिमा करते हुए कि जिनके सारी इच्छा निव त हो गई उनके सारे दुःख ही नष्ट हो गए, आचार्य देव ने पाहुड़ की समाप्ति की है।



गा था च य न

गाथा १—'अरहंत भासियत्थं....' **अर्थ**—जिसका अर्थ अरहंत देव के द्वारा भाषित है, गणधर देवों ने जिसे सम्यक् प्रकार से गूंथा है और सूत्र के अर्थ को ढूँढने का ही जिसमें प्रयोजन है-ऐसे सूत्र के द्वारा श्रमण परमार्थ अर्थात् मोक्ष को साधते हैं।।१।।

गा० २—'सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं....' **अर्थ**—सर्वज्ञभाषित सूत्र में जो भली प्रकार कहा गया है उस शब्द और अर्थ रूप दो प्रकार के सूत्र को आचार्यों की परम्परा रूप मार्ग से जानकर जो मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है वह भव्य जीव है।।२।।

गा० ३–'सुत्तम्मि जाणमाणो....' **अर्थ**–जो पुरुष सूत्र में प्रवीण है वह संसार के उपजने का नाश करता है जैसे डोरे से रहित सुई नष्ट हो जाती है और डोरे सहित नष्ट नहीं होती।।३।।

गा० ४–'पुरिसो वि....' **अर्थ**–जिसको अपना स्वरूप द ष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष सूत्र का ज्ञाता होकर स्वात्मा के प्रत्यक्ष द्वारा संसार के मध्य स्थित होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है वरन् उस संसार का नाश करता है।।४।।

गा० ५–'सुत्तत्थं जिणभणियं....' **अर्थ**–जो मनुष्य जिनेन्द्रभाषित सूत्र के अर्थ को, जीव-अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों को तथा हेय और अहेय तत्त्व को जानता है वही वास्तव में सम्यग्द ष्टि है।।५।।

गा० ६–'जं सुत्तं जिणउत्तं....' **अर्थ**–जो जिनभाषित सूत्र है वह व्यवहार रूप तथा परमार्थ रूप है उसे जानकर योगी सुख पाते हैं और मलपु ज का नाश करते हैं।।६।।

गा० ८–'हरिहरतुल्लो....' **अर्थ**–जो नर सूत्र के अर्थ, पद से रहित है वह नारायण तथा रुद्र के तुल्य होने पर भी स्वर्ग में तो उत्पन्न होता है और वहाँ से चयकर करोड़ों पर्याय धारण करता है परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। वह संसारस्थ ही कहा गया है।।७।।

गा० ९–'उक्किट्ठसीहचरियं....' **अर्थ**–जो मुनि होकर उत्क ष्ट सिंह के समान निर्भय चर्या करता है, बहुत तपश्चरणादि परिकर्म करता है तथा संघ का नायक कहलाता है पर जिनसूत्र से च्युत हुआ स्वच्छन्द विहार करता है वह पाप ही को प्राप्त होता है और मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।।८।।

गा० १०–'णिच्चेलपाणिपत्तं....' **अर्थ**–परम जिनवरेन्द्रों ने वस्त्र रहित दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र आहार करने का जो उपदेश दिया है वही एक मोक्ष का मार्ग है और शेष सब अमार्ग हैं।।९।।

गा० १५–'अह पुण अप्पा....' **अर्थ**–जो आत्मा को नहीं चाहता है किन्तु धर्म के अन्य समस्त आचरण करता है तो भी वह सिद्धि को नहीं पाता है और उसे संसार में ही तिष्ठने वाला कहा गया है।।१०।।

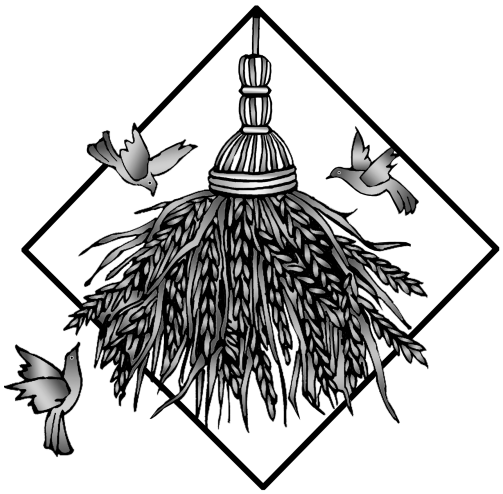
गा० १६–'एएण कारणेण य....' **अर्थ**–इस कारण से उस आत्मा का मन-वचन-काय से श्रद्वान करो क्योंकि जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है उसको 'प्रयत्न' अर्थात् सर्व प्रकार उद्यम से जानो।।११।।

गा० १७–'बालग्गकोडिमत्तं....' **अर्थ**–साधुओं के बाल के अग्रभाग की अणी बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता । वे एक ही स्थान में अन्य का दिया प्रासुक अन्न अपने कर रूपी पात्र में ग्रहण करते हैं।।१२।।

गा० १8–'जहजायरूवसरिसो....' **अर्थ**–मुनि यथाजात रूप सारिखी नग्न मुद्रा के धारक हैं, वे अपने हाथों में तिल के तुष मात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते और यदि कुछ थोड़ा बहुत ले लें तो उससे निगोद चले जाते हैं।।१३।।

गा० २३–'ण वि सिज्झइ....' **अर्थ**–जिनशासन में कहा है कि वस्त्र धारण करने वाला यदि तीर्थंकर भी हो तो भी सीझता नहीं है अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता है। नग्नपना ही एक मोक्षमार्ग है, बाकी सब ही उन्मार्ग हैं।।१४।।

गा० २७–'गाहेण अप्पगाहा....' **अर्थ**–जैसे कोई मनुष्य समुद्र में से अपना वस्त्र धोने के लिए वस्त्र धोने मात्र जल ग्रहण करता है वैसे मुनि ग्रहण करने योग्य आहारादि में से थोड़ा ग्रहण करते हैं। जिन मुनियों की इच्छा निव त्त हो गई है उनके सब दुःख निव त्त हो गए हैं।।१५।।





१. **णाऊण दुविह सुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो।। गाथा २।।**
अर्थ–शब्द एवं अर्थ रूप द्विविध सूत्र को जानकर जो मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है वह भव्य है।

२. **सुत्तम्मि जाणमाणो भवणासणं कुणदि।। ३।।**
अर्थ–सूत्र के जानने में प्रवीण पुरुष संसार का नाश करता है।

३. **णिच्चेलपाणिपत्तं एक्को वि मोक्खमग्गो।। १०।।**
अर्थ–निश्चेल अर्थात् नग्न दिगम्बर स्वरूप और हाथ ही हैं पात्र जिसमें ऐसे खड़ा रहकर आहार करना-ऐसा एक अद्वितीय मोक्षमार्ग है।

४. **तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।। १६।।**
अर्थ–उस आत्मा की मन-वचन-काय से श्रद्धा करो।

५. **बालग्गकोडिमित्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।। १७।।**
अर्थ–बाल के अग्रभाग की अणी मात्र भी परिग्रह का ग्रहण साधुओं के नहीं होता।

६. **जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।। १४।।**
अर्थ–मुनि यथाजात रूप सद श हैं अर्थात् जन्मते बालक के समान नग्न स्वरूप के धारक हैं। वे अपने हाथों में तिल-तुष मात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते।

७. **णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। २३।। अर्थ**–नग्नपना ही एक मोक्षमार्ग है, बाकी सब ही उन्मार्ग हैं।

जो अरिहंत सर्वज्ञ से तो भाषित है तथा गणधर देवों के द्वारा सम्यक् प्रकार से गूंथा गया है और सूत्र के अर्थ को जानने का ही जिसमें प्रयोजन है ऐसे सूत्र से मुनि परमार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं।।गाथा १।। जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है वह प्रकट मिथ्यादृष्टि है अतः वस्त्र सहित मुनि को हास्य-कौतूहल में भी पाणिपात्र रूप जो आहार है सो नहीं करना।।७।। जो संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही इस सुर, असुर एवं मनुष्य सहित लोक में वन्दना करने के योग्य है।।११।। जो साधु सैकड़ों शक्तियों से संयुक्त होते हुए बाईस परिषहों को सहते हैं और कर्मों की क्षय रूप निर्जरा करते हैं वे वंदने योग्य हैं।। १२।। दिगम्बर मुद्रा के सिवाय जो अन्य लिंगी हैं अर्थात् उत्कृ ष्ट श्रावक का वेष धारण करते हैं तथा सम्यक्त्व सहित दर्शन और ज्ञान से संयुक्त हैं और वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं वे 'इच्छाकार' के योग्य कहे गये हैं।।१३।। जो पुरुष सूत्र में स्थित होता हुआ 'इच्छाकार' शब्द के महान अर्थ को जानता है और सम्यक्त्व सहित श्रावक के भेद रूप प्रतिमा में स्थित होकर आरम्भादि कर्मों को छोड़ता है वह परलोक में सुखी होता है।।१४।। जिस लिंग में थोड़े-बहुत परिग्रह का ग्रहण हो वह निन्दा के योग्य होता है क्योंकि जिनागम में परिग्रह रहित को ही निर्दोष साधु कहा गया है।।१६।। जो मुनि पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियों से युक्त है वही संयमी होता है, वही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है और उसी का वन्दन करने योग्य है।।२०।। दूसरा लिंग ११वीं प्रतिमाधारी उन उत्कृष्ट श्रावकों का कहा गया है जो भिक्षावृत्ति से पात्र में भोजन करते हैं तथा भाषा समिति रूप बोलते हैं अथवा मौन से प्रवर्तते हैं।।२१।। तीसरा लिंग स्त्रियों का है। वे दिन में एक ही बार भोजन करती हैं, बार-बार नहीं; जो आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करती हैं और वस्त्र के आवरण सहित ही भोजन करती हैं।।२२।। स्त्रियों के योनि, स्तनों का मध्य, नाभि तथा कांख आदि स्थानों में सूक्ष्म जीव कहे गये हैं अतः उनके प्रव्रज्या अर्थात् महाव्रत रूप दीक्षा कैसे हो सकती है।।२४।। स्त्रियों में भी जो स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वह भी मार्ग से संयुक्त कही गई है। वह घोर चारित्र अर्थात् तीव्र तपश्चरणादि आचरण से पापरहित हो जाती है सो पापयुक्त नहीं कही जाती।।२५।। स्त्रियों के चित्त की शुद्धि नहीं कही जाती, उनका स्वभाव से ही शिथिल परिणाम होता है इसलिए स्त्रियों में ध्यान की आशंका नहीं ही करनी चाहिए

गाथा १

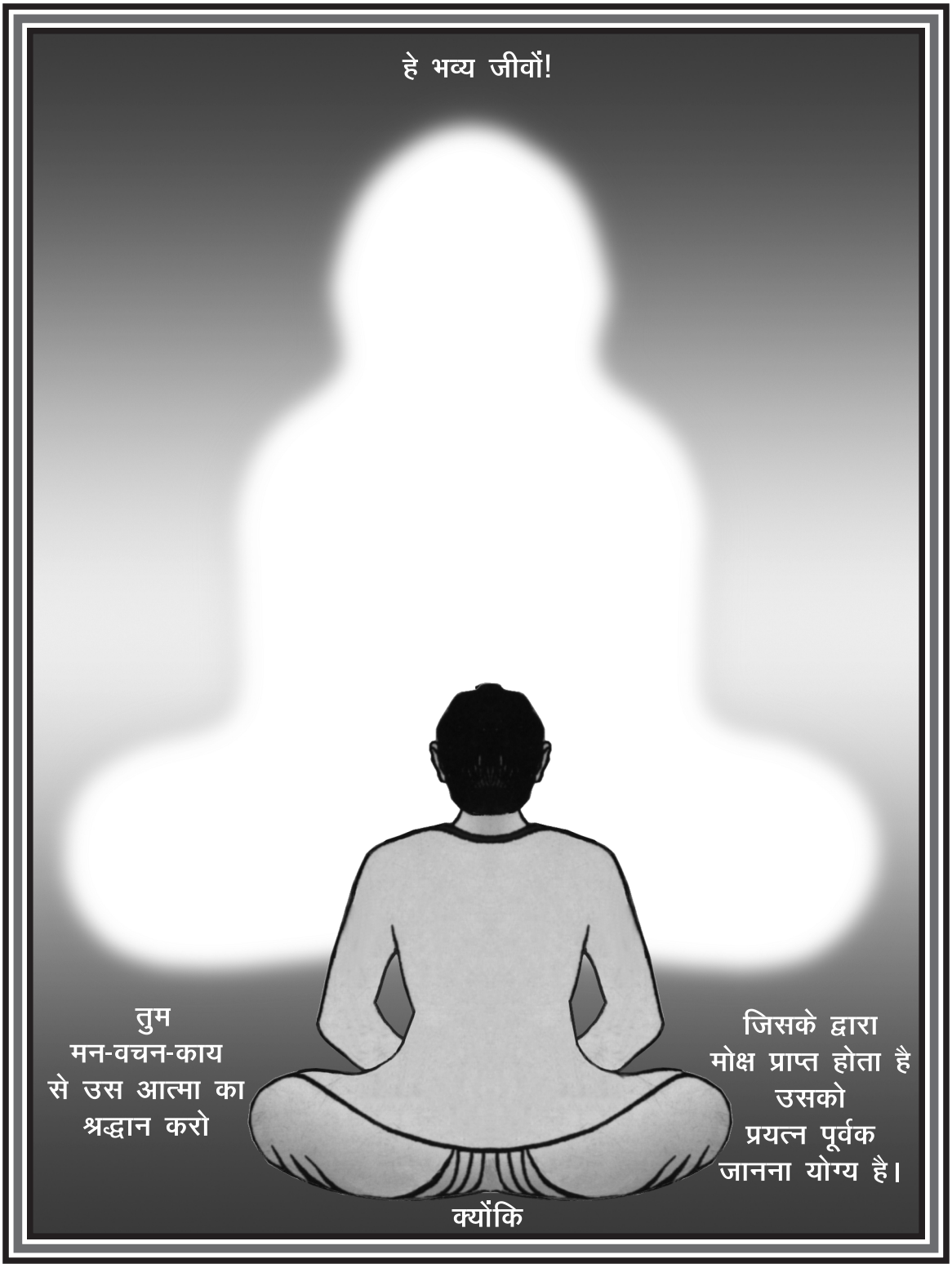

अंग प्रविष्ट
उत्पाद
अस्तिनास्तिप्रवाद
आत्मप्रवाद
प्रत्याख्यान
प्राणवाद
त्रिलोकबिंदुसार
अग्रायणी
ज्ञानप्रवाद
विद्यानुवाद
क्रियाविशाल
सत्यप्रवाद
कल्याणवाद
वीर्यानुवाद
कर्मप्रवाद
चौदह पूर्व
दृष्टिवाद अंग
विपाक सूत्रांग
अनुत्तर उपपातिक दशांग
प्रश्न व्याकरण अंग
ज्ञातृधर्म कथांग
व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग
उपासक दशांग
अंतकृत दशांग
अनुत्तरौपपातिक दशांग
प्रश्नव्याकरण अंग
विपाकसूत्र अंग
आचारांग
सूत्रकृत अंग
बारह अंग
दशवैकालिक
उत्तराध्ययन
कल्पव्यवहार
कल्पाकल्प
महाकल्पश्रुत
पुंडरीक
महापुंडरीक
निशीथ
अंग बाह्य
जो अरहंत देव के द्वारा भाषित हैं,
गणधरादि देवों के द्वारा भली भाँति रचा गया है
और
सूत्र का अर्थ जानना ही जिसका प्रयोजन है
ऐसे सूत्र के द्वारा श्रमण मोक्ष का साधन करते हैं।

गाथा ६

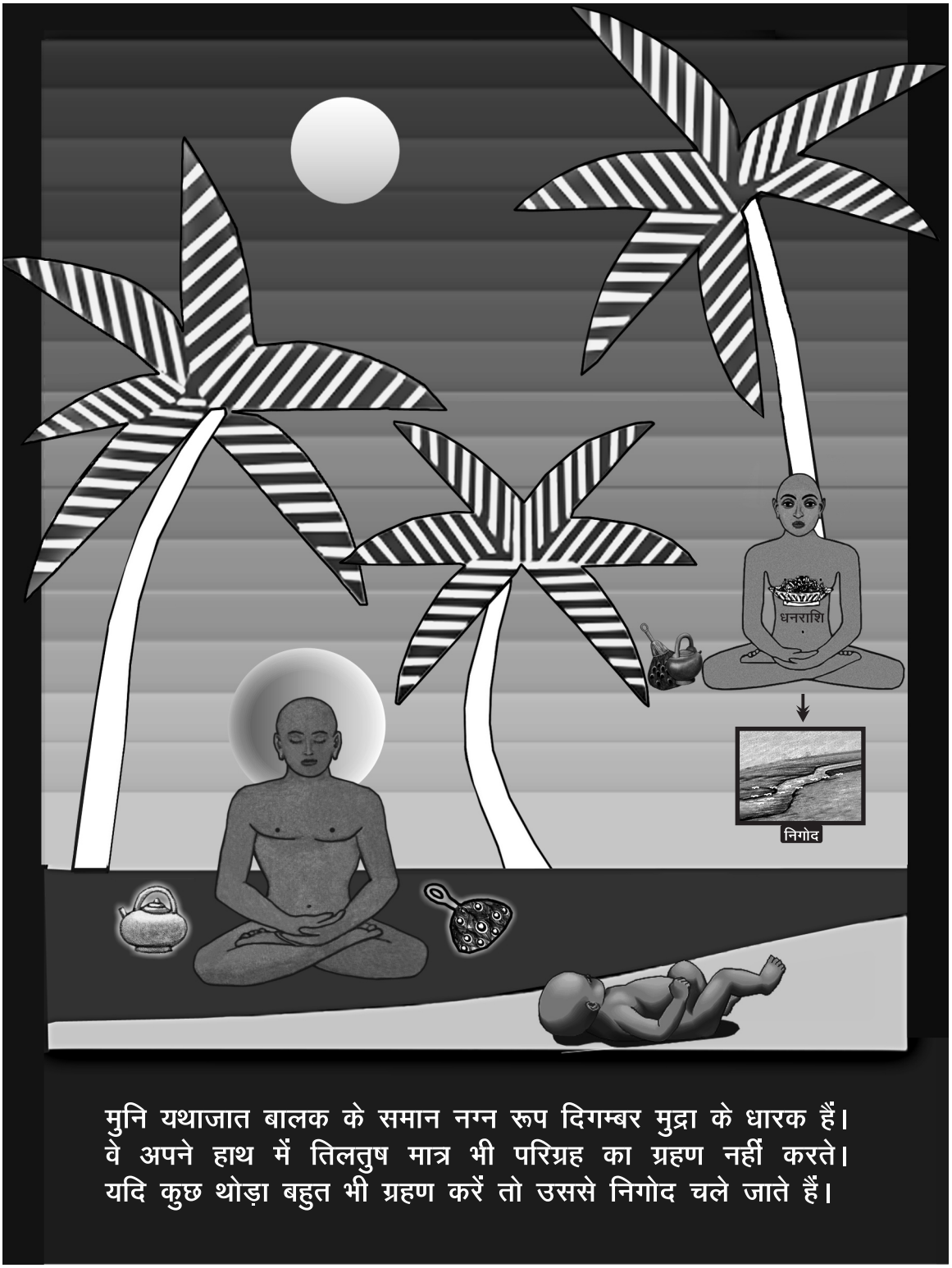


जो सूत्र जिनेन्द भगवान के द्वारा
कहा गया है
उसको व्यवहार और निश्चय रूप से जानकर
योगी अविनाशी सुख को पाता है
और
कर्म मल समूह का नाश करता है।

गाथा १६

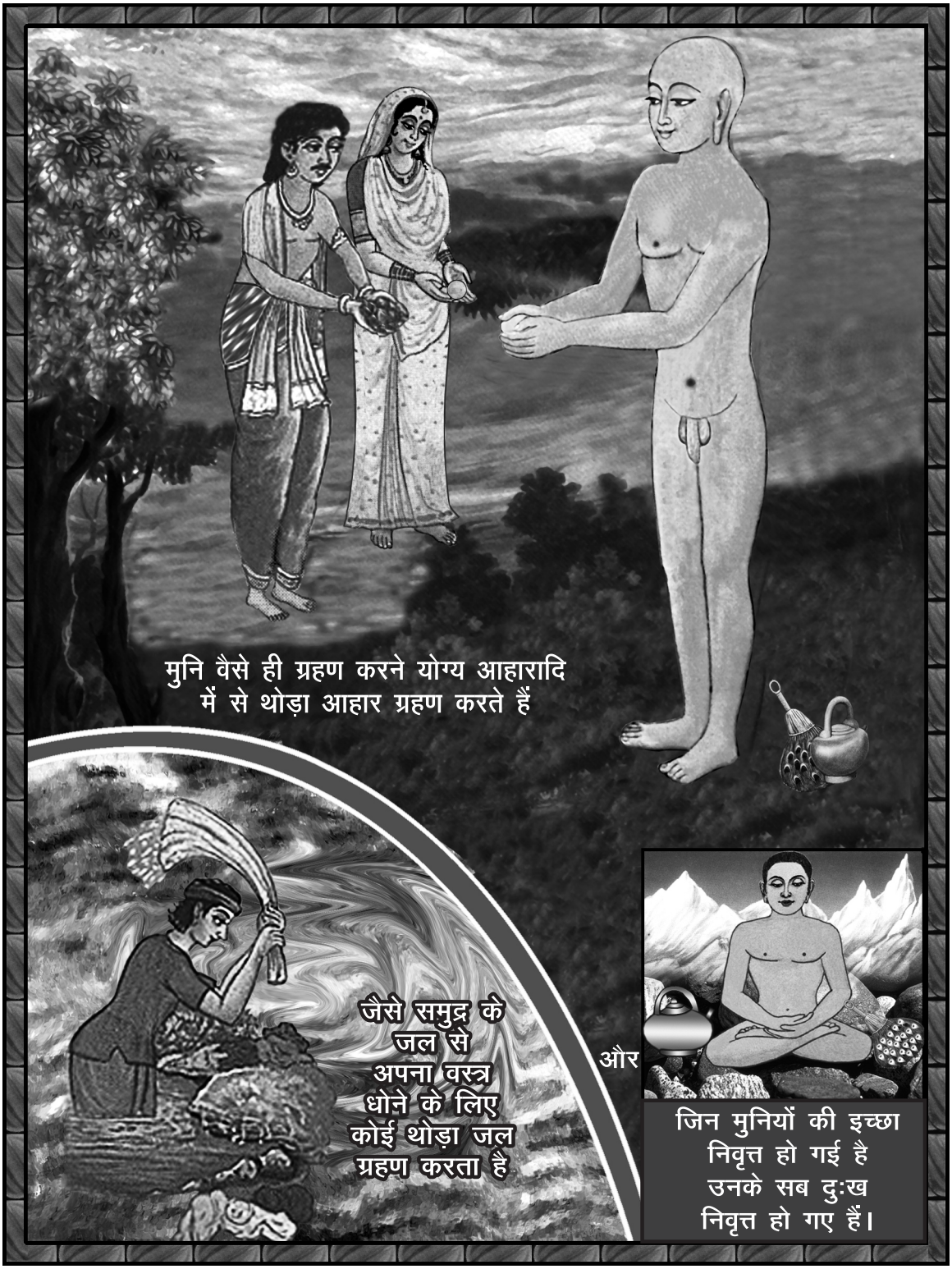

हे भव्य जीवों!
तुम
मन-वचन-काय
से उस आत्मा का
श्रद्धान करो
जिसके द्वारा
मोक्ष प्राप्त होता है
उसको
प्रयत्न पूर्वक
जानना योग्य है।
क्योंकि

गाथा १८

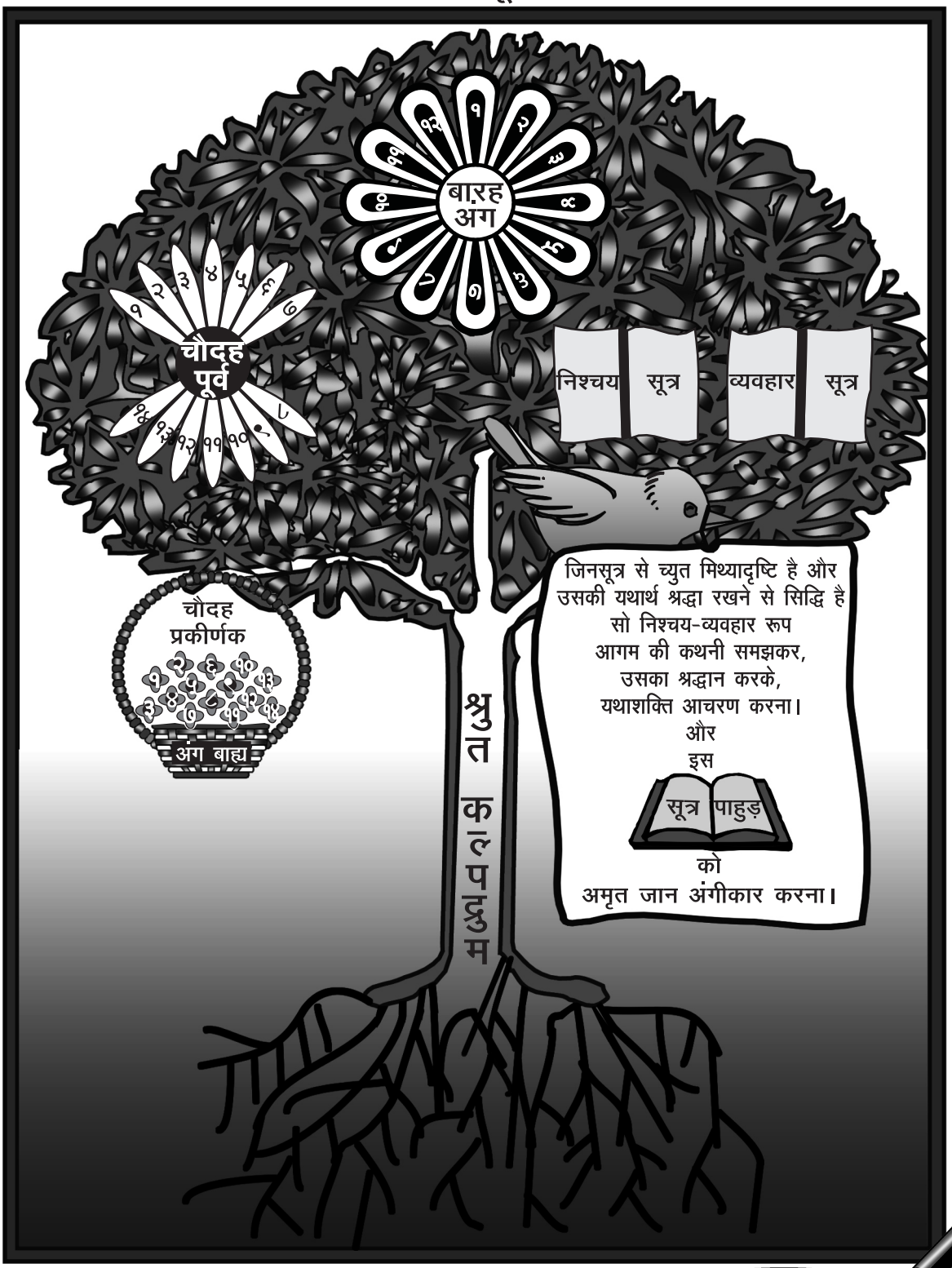


मुनि यथाजात बालक के समान नग्न रूप दिगम्बर मुद्रा के धारक हैं।
वे अपने हाथ में तिलतुष मात्र भी परिग्रह का ग्रहण नहीं करते।
यदि कुछ थोड़ा बहुत भी ग्रहण करें तो उससे निगोद चले जाते हैं।

गाथा २७


मुनि वैसे ही ग्रहण करने योग्य आहारादि
में से थोड़ा आहार ग्रहण करते हैं
जैसे समुद्र के
जल से
अपना वस्त्र
धोने के लिए
कोई थोड़ा जल
ग्रहण करता है
और
जिन मुनियों की इच्छा
निवृत्त हो गई है
उनके सब दुःख
निवृत्त हो गए हैं।

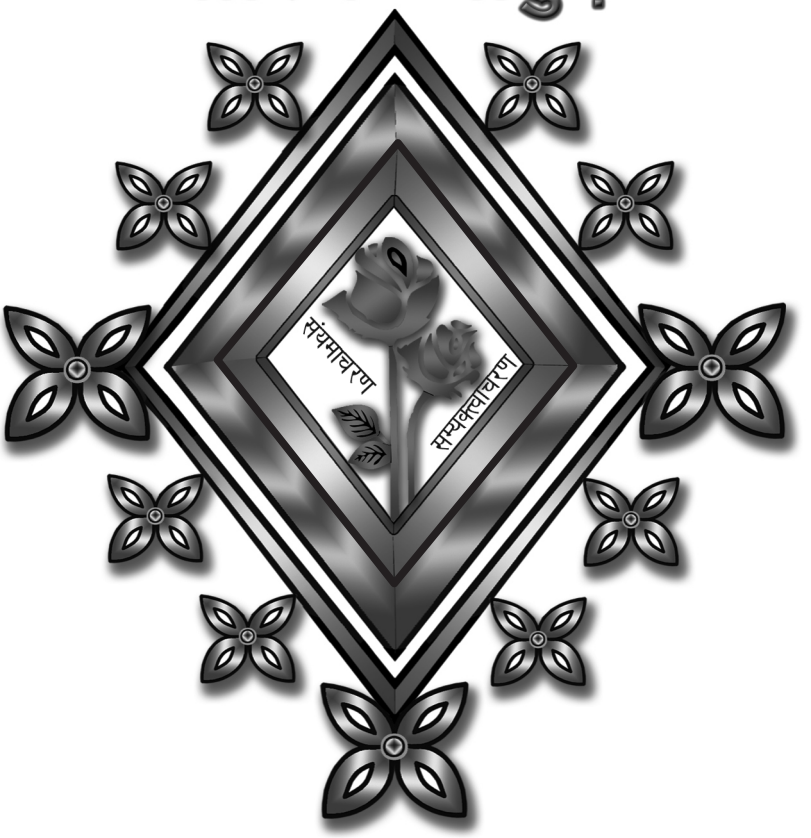
अंतिम सूक्ति



सूत्र पाहुड समाप्त

३

चारित्र पाहुड़



प्रारम्भिक सूक्ति


आचार्य कहते हैं–'हे भव्य जीवों !
इस चारित्रपाहुड को
तुम अपना शुद्ध भाव करके भाओ अर्थात्
अपने भावों में बारम्बार इसका अभ्यास करो,
जिससे शीघ्र ही सम्यक्त्वाचरण एवं
सागार संयमाचरण चारित्र द्वार से गुजर व
निरागार संयमाचरण द्वार का उल्लंघन कर
अपुनर्भव जो मोक्ष सो तुम्हारे होगा और
फिर संसार में जन्म नहीं पाओगे।'
निरागार संयमाचरण द्वार
सागार संयमाचरण द्वार
सम्यक्त्व आचरण द्वार

अनुक्रम

१. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१.	मंगलाचरण में सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत को वंदन	३–६
२.	रत्नत्रयशुद्धि एवं मोक्ष के आराधन का हेतु चारित्रपाहुड़ रचने की प्रतिज्ञा	३–६
३.	ज्ञान, दर्शन व उनके समायोग से होने वाले चारित्र का स्वरूप	३–७
४.	अक्षय अनंत दर्शन, ज्ञान व चारित्र के शोधन के लिए दो प्रकार के चारित्र का कथन	३–८
५.	**सम्यक्त्वाचरण व संयमाचरण चारित्र का स्वरूप**	३–६
६.	**सम्यक्त्वाचरण** के मलदोषों का तीनों योगों से परिहार करने की प्रेरणा	३–६
७.	सम्यक्त्वाचरण के आठ अंगों का वर्णन	३–१२
८.	मोक्षस्थान के लिए पहले गुणविशुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है	३–१४
९.	सम्यक्त्वाचरणपूर्वक संयमाचरण चारित्र से शीघ्र ही निर्वाण होता है	३–१४
१०.	सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट संयम का आचरण करता हुआ भी निर्वाण नहीं पाता	३–१५
११-१२.	सम्यक्त्वाचरण चारित्र के लक्षण	३–१६
१३.	कुदर्शन के उत्साह, सेवा, प्रशंसा व श्रद्धा से जिनसम्यक्त्व से च्युति	३–१७
१४.	सुदर्शन में उत्साह आदि से सम्यक्त्व च्युति का न होना	३–१८
१५.	अज्ञान, मिथ्यात्व व कुचारित्र त्याग का उपदेश	३–१६
१६.	विशुद्ध ध्यान का परिकर	३–२०
१७.	अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से जीव का मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन	३–२१
१८.	दर्शन, ज्ञान व सम्यक्त्व से जीव चारित्र के दोष छोड़ता है	३–२२
१९.	मोह रहित जीव के निजगुण की आराधना से कर्मों का शीघ्र नाश	३–२३
२०.	संक्षेप से सम्यक्त्वाचरण चारित्र का माहात्म्य–गुणश्रेणीनिर्जरा	३–२४

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२१.	**संयमाचरण चारित्र के सागार व अनगार भेद एवं उनके स्वरूप का वर्णन**	३–२५
२२.	**सागार संयमाचरण** के ग्यारह स्थान (ग्यारह प्रतिमाएँ)	३–२६
२३.	सागार संयमाचरण के बारह भेद (बारह व्रत)	३–२६
२४.	पाँच अणुव्रत का स्वरूप	३–२८
२५.	तीन गुणव्रत का स्वरूप	३–२६
२६.	चार शिक्षाव्रत का स्वरूप	३–२६
२७.	**अनगार संयमाचरण** (यतिधर्म) के प्ररूपण की प्रतिज्ञा	३–३०
२८.	यतिधर्म की सामग्री-पंचेन्द्रिय संवरण आदि	३–३१
२९.	पंचेन्द्रिय संवरण का स्वरूप	३–३२
३०.	पाँच महाव्रतों का स्वरूप	३–३२
३१.	इनकी महाव्रत संज्ञा कैसे है	३–३३
३२.	अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ	३–३३
३३.	सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	३–३४
३४.	अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	३–३५
३५.	ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ	३–३६
३६.	अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ	३–३७
३७.	संयम शुद्धि की कारण–पाँच समिति	३–३७
३८.	**निश्चय चारित्र का वर्णन**–ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानने का उपदेश	३–३८
३९.	सम्यग्ज्ञानपूर्वक निश्चय चारित्र ही मोक्षमार्ग है	३–३६
४०.	रत्नत्रय की श्रद्धापूर्वक ज्ञान से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है	३–३६
४१.	ज्ञानजल से विकारमल को धोकर योगियों का शिवालय वास	३–४०
४२.	ज्ञान के सिवाय इच्छित लाभ नहीं अतः सम्यग्ज्ञान को जानने का उपदेश	३–४१
४३.	ज्ञानयुक्त चारित्र के धारक को शीघ्र ही अनुपम सुख की प्राप्ति	३–४२
४४.	इष्ट चारित्र के कथन का संकोच	३–४२
४५.	चारित्रपाहुड़ को भाव से भाने का उपदेश और उसका फल	३–४३

2. विषय वस्तु ३–४५
3. गाथा चयन ३–४६-४७
4. सूक्ति प्रकाश ३–४८
5. गाथा चित्रावली ३–४६-६३
6. अंतिम सूक्ति चित्र
चारित्र पा० समाप्त ३–६४



दोहा

विगतराग सर्वज्ञ जिन, वंदौं मन-वच-काय।
चारित धर्म बखानियो, सांचो मोक्ष उपाय।।१।।
कुन्दकुन्द मुनिराज क त, चारित पाहुड ग्रंथ।
प्राक त गाथा बंध की, करूं वचनिका पंथ।।२।।

अर्थ

जिन्होंने मोक्ष के सच्चे उपाय रूप चारित्र धर्म का वर्णन किया उन वीतराग सर्वज्ञ जिन की मन-वचन-काय से वंदना करके कुन्दकुन्द आचार्यकृत 'चारित्रपाहुड़' ग्रंथ जो कि प्राकृत गाथाबद्ध है उसकी वचनिका करता हूँ।।१-२।।

ऐसे मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके अब प्राकृत गाथाबद्ध 'चारित्रपाहुड़' की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :–

उत्थानिका

यहाँ श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रथम ही मंगल के लिए इष्टदेव को नमस्कार करके **'चारित्रपाहुड़ कहने की प्रतिज्ञा'** करते हैं :–

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं।। १।।
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे।। २।। जुगमं।।

जो विगतराग विमोह जिन, परमेष्ठी हैं सर्वज्ञ हैं।
उन त्रिजगवंदित भव्यपूजित, अर्हत की कर वंदना।।१।।
वर्णन करूँ चारित्रपाहुड़, मोक्षाराधन हेतु जो।
सम्यक् जो दर्शन ज्ञान चारित, शुद्धि का कारण है वो।।२।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'मैं अरिहंत परमेष्ठी की वंदना करके 'चारित्रपाहुड़' को कहूँगा।'

कैसे हैं अरिहंत परमेष्ठी—'अरिहंत' ऐसा प्राकृत अक्षर की अपेक्षा तो ऐसा अर्थ है—**१.** 'अकार' आदि अक्षर से तो 'अरि' ऐसा तो मोह कर्म, **२.** 'रकार' आदि अक्षर की अपेक्षा 'रज' ऐसा ज्ञानावरण–दर्शनावरण कर्म तथा **३.** उस ही 'रकार' से 'रहस्य' ऐसा अंतराय कर्म–ऐसे चार घातिया कर्मों का 'हंत' अर्थात् हनना–घातना जिनके हुआ वे अरिहंत हैं। संस्कृत की अपेक्षा 'अर्ह' ऐसा पूजा अर्थ में धातु है उससे 'अर्हत्' ऐसा रूप बनता है तब जो पूजा योग्य हो उसको 'अर्हत्' कहते हैं सो भव्य जीवों के द्वारा पूज्य है।

परमेष्ठी कहने से जो 'परम' अर्थात् उत्कृष्ट और 'इष्ट' अर्थात् पूज्य हों वे परमेष्ठी कहलाते हैं अथवा 'परम' जो उत्कृष्ट पद उसमें जो स्थित हों सो परमेष्ठी हैं ऐसे इन्द्रादिकों से पूज्य अरिहंत परमेष्ठी हैं।

और कैसे हैं—सर्वज्ञ हैं, सब लोकालोक स्वरूप चराचर पदार्थों को जो प्रत्यक्ष जानते हैं वे सर्वज्ञ होते हैं।

और कैसे हैं—'सर्वदर्शी' अर्थात् सब पदार्थों को देखने वाले हैं।

और कैसे हैं—निर्मोह हैं, मोहनीय नामक कर्म की प्रधान प्रकृति जो मिथ्यात्व उससे रहित हैं।

और कैसे हैं—वीतराग हैं, विशेष रूप से जिसके राग दूर हुआ हो वह वीतराग होता है सो जिनके चारित्रमोह कर्म के उदय से जो होते हैं वे राग–द्वेष भी नहीं हैं।

और कैसे हैं—त्रिजगद्वंद्य हैं, तीन जगत के जो प्राणी तथा उनके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र एवं चक्रवर्ती उनसे जो वंदन के योग्य हैं। ऐसा तो 'अरिहंत' पद को विशेष्य और 'अन्य पद' को विशेषण करके अर्थ किया है। तथा 'सर्वज्ञ' पद को विशेष्य करके 'अन्य पदों' को विशेषण करने पर भी अर्थ होता है और वहाँ 'अरिहंत भव्य जीवों से पूज्य हैं'–ऐसा विशेषण होता है।

चारित्र कैसा है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र–ये तीन जो आत्मा के परिणाम हैं उनकी शुद्धि का कारण है। चारित्र के अंगीकार होने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम निर्दोष होते हैं।

और कैसा है चारित्र—मोक्ष के आराधन का कारण है। ऐसा जो चारित्र है उसका 'पाहुड़' अर्थात् प्राभ त ग्रंथ कहूँगा–ऐसी आचार्य ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है।

उत्थानिका

आगे **'सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप'** कहते हैं :–

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।। ३।।

जो जानता वह ज्ञान है, जो देखता दर्शन है वो ।
इन दोनों के समायोग से, चारित्र होता है अहो !।।३।।

अर्थ

जो जानता है वह **ज्ञान** है तथा जो देखता है वह **दर्शन** है–ऐसा कहा है तथा ज्ञान और दर्शन के समायोग से **चारित्र** होता है।

भावार्थ

जो जाने वह तो ज्ञान और जो देखे–श्रद्धान करे वह दर्शन और दोनों का एकरूप होकर स्थिर होना चारित्र है।।३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ये तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धि के लिए **चारित्र दो प्रकार** का कहा है' :–

एए तिण्हि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविहचारित्तं।। ४।।

अक्षय अनन्त ये ज्ञान आदि, भाव तीनों जीव के।
इन सबकी शुद्धि के लिए, चारित्र द्वय जिनवर कहा।।४।।

अर्थ

ये ज्ञान आदि जो तीन भाव कहे वे अक्षय और अनंत जीव के भाव हैं, इनको शोधने के लिए जिनदेव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।

भावार्थ

जानना, देखना और आचरण करना–ये तीन भाव जीव के अक्षय अनंत हैं। 'अक्षय' अर्थात् जिनका नाश नहीं और 'अमेय' अर्थात् अनंत–जिनका पार नहीं। सब लोकालोक को जानने वाला तो ज्ञान है, ऐसा ही दर्शन है और ऐसा ही चारित्र है तथापि घातिकर्मों के निमित्त से अशुद्ध है, मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप है इसलिए श्री जिनदेव ने इनके शुद्ध करने के लिये इनके चारित्र का आचरण करना दो प्रकार का कहा है।।४।।

उत्थानिका

आगे **वे दो प्रकार कौन से हैं** सो कहते हैं :–

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाण सदेसियं तं पि।। ५।।

सम्यक् चरण है प्रथम जो, जिन ज्ञान दर्शन शुद्ध है ।
संयमचरण है दूसरा, जिनज्ञानदेशित शुद्ध वह।।५।।

अर्थ

(१) प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण स्वरूप चारित्र है सो कैसा है–जिनदेव का ज्ञान और दर्शन–श्रद्धान उससे किया हुआ शुद्ध है तथा (२) दूसरा संयम का आचरण स्वरूप चारित्र है, वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ

चारित्र दो प्रकार का कहा-(१) सम्यक्त्वाचरण चारित्र–प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा सो सर्वज्ञ के आगम में जो तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा उसे यथार्थ जानकर उसका श्रद्धान करना और उसके जो शंकादि अतिचार मल–दोष कहे उनका परिहार करके शुद्ध करना और उसके निःशंकितादि गुणों का प्रकट होना सो सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। (२) **संयमाचरण चारित्र**–महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में जैसा कहा वैसा संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना सो संयमाचरण चारित्र है–इस प्रकार संक्षेप से स्वरूप कहा।।५।।

उत्थानिका

आगे सम्यक्त्वाचरण चारित्र के मल–दोषों का परिहार करके आचरण करना– ऐसा कहते हैं :–

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण।। ६।।

यों जानकर मिथ्यात्व के, जो शंका आदिक दोष सब।
सम्यक्त्व के मल कहे जिन, मन-वचन-काय से छोड़िये।।६।।

अर्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र को जानकर मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले जो शंकादि दोष, जो कि सम्यक्त्व को अशुद्ध करने वाले मल हैं और जिन्हें जिनदेव ने कहा है, उनको मन-वचन-काय से हुए जो तीन प्रकार के योग उनसे छोड़ना।

भावार्थ

शंकादि दोष जो सम्यक्त्व के मल हैं उनको त्यागने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र शुद्ध होता है इसलिए उनका त्याग करने का उपदेश जिनदेव ने किया है।

वे दोष क्या हैं सो कहते हैं :-

१. शंका—जिनवचन में जो वस्तु का स्वरूप कहा है उसमें संशय करना सो तो शंका है, इसके होने पर सात भय के निमित्त से स्वरूप से चिग जाना वह भी शंका है।

२. कांक्षा—भोगों की अभिलाषा सो कांक्षा है, इसके होने पर भोगों के लिये स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है।

३. जुगुप्सा—वस्तु के धर्म में ग्लानि करना सो जुगुप्सा है, इसके होने पर धर्मात्मा पुरुषों की पूर्व कर्म के उदय से बाह्य मलिनता देखकर मत से चिगना होता है।

४. मूढ़द ष्टि—देव, धर्म, गुरु तथा लौकिक कार्यों में मूढ़ता अर्थात् उनका यथार्थ स्वरूप न जानना सो मूढ़द ष्टि है, इसके होने पर अन्य लौकिकजनों के द्वारा माने हुए जो सरागी देव, हिंसा धर्म, सग्रंथ गुरु तथा लोगों के द्वारा बिना विचार किये माने हुए जो अनेक क्रिया विशेष उनकी विनय आदि की प्रव त्ति करने से यथार्थ मत से भ्रष्ट होता है।

५. अनुपगूहन—धर्मात्मा पुरुषों में कर्म के उदय से कुछ दोष उत्पन्न हुआ देखकर

उनकी अवज्ञा करना सो अनुपगूहन है, इसके होने पर धर्म से छूट जाना होता है।
६. अस्थितिकरण—धर्मात्मा पुरुषों को कर्म के उदय के वश से धर्म से चिगते देख उनकी स्थिरता नहीं करना सो अस्थितिकरण है, इसके होने पर जाना जाता है कि इसको धर्म से अनुराग नहीं है और अनुराग का न होना सो सम्यक्त्व में दोष है।
७. अवात्सल्य—धर्मात्मा पुरुषों से विशेष प्रीति न करना सो अवात्सल्य है, इसके होने पर सम्यक्त्व का अभाव प्रकट सूचित होता है।
८. अप्रभावना—धर्म का माहात्म्य शक्ति के अनुसार प्रकट नहीं करना सो अप्रभावना है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसके धर्म के माहात्म्य की श्रद्धा द ढ़ नहीं हुई है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के ये आठ दोष मिथ्यात्व के उदय से होते हैं। जहाँ ये तीव्र होते हैं वहाँ तो मिथ्यात्व प्रकृति का उदय एवं सम्यक्त्व का अभाव द्योतित करते हैं और जहाँ कुछ मंद अतिचार रूप होते हैं वहाँ सम्यक् प्रकृति नामक मिथ्यात्व की प्रकृति के उदय से होते हैं सो अतिचार कहलाते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव होता है। परमार्थ से विचार करें तब अतिचार त्यागने ही योग्य हैं।

इनके होने पर अन्य भी मल प्रकट होते हैं वहाँ तीन तो ये मूढ़ताएँ हैं-१. देवमूढ़ता २. पाखंडीमूढ़ता एवं ३. लोकमूढ़ता।
१. देवमूढ़ता—जहाँ कुछ वर की वांछा से सरागी देवों की उपासना करना एवं उनकी पाषाणादि में स्थापना करके पूजना।
२. पाखंडीमूढ़ता—जहाँ परिग्रह, आरम्भ एवं हिंसादि सहित पाखंडी वेषधारियों का सत्कार—पुरस्कारादि करना।
३. लोकमूढ़ता—जहाँ अन्य मतवालों के उपदेश से अथवा स्वयमेव बिना विचारे कुछ प्रव त्ति करने लग जाना जैसे १. सूर्य को अर्घ देना, २. ग्रहण में स्नान करना, ३. संक्रान्ति में दान देना, ४. अग्नि का सत्कार करना, ५. देहली, घर को पूजना, ६. गाय की पूँछ को नमस्कार करना, ७. गाय के मूत्र को पीना, ८. रत्न, घोड़ा आदि वाहन, प थ्वी, व क्ष, शस्त्र एवं पर्वत आदि का सेवन—पूजन करना, ९. नदी, समुद्र आदि को तीर्थ मानकर उनमें स्नान करना, १०. पर्वत से गिरना एवं ११. अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि जानना।

छह अनायतन—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके भक्त ऐसे जो छह—इनको धर्म के स्थान जान इनकी मन से प्रशंसा करना, वचन से सराहना करना एवं काय से वंदना करना—ये धर्म के स्थान नहीं इसलिए इनको अनायतन कहा[1]।

आठ मद—जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या एवं ऐश्वर्य—इनका गर्व करना ऐसे आठ मद हैं। यहाँ जाति तो मातापक्ष है और धनादि का लाभ कर्म के उदय के आश्रित है, कुल पितापक्ष है, रूप कर्मोदय के आश्रित है, तप अपना स्वरूप साधने को है, बल कर्म के उदय के आश्रित है, विद्या कर्म के क्षयोपशम के आश्रित है और ऐश्वर्य कर्मोदय आश्रित है—इनका गर्व क्या ! परद्रव्य के निमित्त से जो हो उसका गर्व करना सम्यक्त्व का अभाव बताता है अथवा सम्यक्त्व में मलिनता करता है।

इस प्रकार ये पच्चीस सम्यक्त्व के मल दोष हैं, इनका त्याग करने पर सम्यक्त्व शुद्ध होता है सो ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अंग है।।६।।

उत्थानिका

आगे शंकादि दोष दूर होने पर **सम्यक्त्व के आठ अंग** प्रकट होते हैं उनको कहते हैं :—

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ।। ७।।

निःशंक, कांक्षारहित, निर्विचिकित्स, द ष्टि अमूढ़ औ।
उपगूहन, स्थितिकरण, वत्सलता, प्रभावना अष्ट हैं।।७।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में लिखा है कि प्रभाचंद्र आचार्य **'षट् अनायतन'** का इस प्रकार निरूपण करते हैं—'मिथ्याद□र्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन और तीन इनके धारक पुरुष-ये षट् अनायतन हैं **अथवा** असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का आयतन, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञान से संयुक्त पुरुष, असर्वज्ञ का अनुष्ठान और असर्वज्ञ के अनुष्ठान से सहित पुरुष-ये छह अनायतन होते हैं।'

अर्थ

१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़द ष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य एवं ८. प्रभावना-ऐसे आठ अंग हैं।

भावार्थ

ये आठ अंग पहले कहे गये जो शंकादि आठ दोष उनके अभाव से प्रगट होते हैं। इनके उदाहरण पुराणों में हैं सो उनकी कथा से जानना।

(१) **निःशंकित** का तो **अंजन चोर** का उदाहरण है जिसने जिनवचन में शंका नहीं की और निर्भय होकर छींके की लड़ काटकर मंत्र सिद्ध किया।

(२) **निःकांक्षित** का **सीता, अनंतमती एवं सुतारा आदि** का उदाहरण है जिन्होंने भोगों के लिए धर्म को नहीं छोड़ा।

(३) **निर्विचिकित्सा** का **उद्दायन राजा** का उदाहरण है जिसने मुनि का शरीर अपवित्र देखकर ग्लानि नहीं की।

(४) **अमूढ़द ष्टि** का **रेवती रानी** का उदाहरण है जिसे विद्याधर ने अनेक महिमा दिखाई तो भी जो श्रद्धा से शिथिल नहीं हुई।

(५) **उपगूहन** का **जिनेन्द्रभक्त सेठ** का उदाहरण है जिसने चोर ने जब ब्रह्मचारी का वेष बनाकर छत्र चुराया तो उससे ब्रह्मचारी पद की निंदा होती जानकर उसका दोष छिपाया।

(६) **स्थितिकरण** का **वारिषेण** का उदाहरण है जिन्होंने पुष्पदंत ब्राह्मण को मुनिपद से शिथिल हुआ जानकर द ढ़ किया।

(७) **वात्सल्य** का **विष्णुकुमार मुनि** का उदाहरण है जिन्होंने अंकपन आदि मुनियों के उपसर्ग का निवारण किया।

(8) **प्रभावना** में **वज्रकुमार मुनि** का उदाहरण है जिन्होंने विद्याधरों की सहायता पाकर धर्म की प्रभावना की।

इस प्रकार इन आठ अंगों के प्रकट होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र संभव होता है। जैसे शरीर में हाथ पैर होते हैं वैसे ये सम्यक्त्व के अंग हैं, ये नहीं हों तो विकलांग होवे।।७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस प्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है' :–

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।। 8।।

गुणशुद्ध जिनसम्यक्त्व को, हो ज्ञानयुत जो आचरे।
सम्यक्चरण चारित प्रथम, हो मोक्षथान के हेतु वह।।8।।

अर्थ

'तत्' अर्थात् सो 'जिनसम्यक्त्व' अर्थात् अरिहंत भगवंत जिनदेव की श्रद्धा का निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध होकर यथार्थ ज्ञानपूर्वक आचरण करना प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, वह मोक्षस्थान के लिए होता है।

भावार्थ

सर्वज्ञ के द्वारा भाषित तत्त्वार्थ की श्रद्धा का निःशंकित आदि गुणों से सहित और पच्चीस मल दोषों से रहित ज्ञानवान आचरण करता है उसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं सो यह मोक्ष की प्राप्ति के लिये होता है। क्योंकि मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है इसलिए मोक्षमार्ग में प्रधान यह ही है।।8।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि '**ऐसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके यदि संयमाचरण चारित्र को अंगीकार करे तो शीघ्र ही निर्वाण को पावे**' :–

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ य सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं।। 9।।

सम्यक्त्वचरण से शुद्ध यदि, संयमचरण से शुद्ध हों।
अविमूढ़द ष्टि ज्ञानी वे, पाते अचिर निर्वाण को।।9।।

अर्थ

जो ज्ञानी होते हुए अमूढ़द ष्टि होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होते हैं वे यदि संयमाचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हों तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ

यदि पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से मूढ़द ष्टि रहित विशुद्ध सम्यग्द ष्टि हो करके सम्यक् चारित्र स्वरूप संयम का आचरण करे तो शीघ्र ही मोक्ष को पावे। संयम का अंगीकार होने पर स्वरूप के साधन रूप एकाग्र धर्मध्यान के बल से सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान रूप होकर, श्रेणी चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न करके, घातिकर्म का नाश करके मोक्ष पाता है सो यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र का ही माहात्म्य है।।9।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट हैं वे संयम का आचरण करते हैं तो भी मोक्ष नहीं पाते हैं' :–

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढ़ा तह वि ण पावंति णिव्वाणं।। १०।।

सम्यक्त्वचरण से भ्रष्ट नर, संयमचरण यदि आचरें।
तो भी न पाते मुक्ति को, अज्ञानज्ञानविमूढ़ वे।।१०।।

अर्थ

जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढ़द ष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं।

भावार्थ

सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना संयमाचरण चारित्र निर्वाण का कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना तो चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्वाचरण के बिना ज्ञान मिथ्या कहलाता है-इस प्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र के मिथ्यापना आता है।।१०।।

उत्थानिका

आगे **प्रश्न** उत्पन्न होता है कि 'ऐसे **सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिन्ह** क्या हैं जिनसे उसको जाना जाये ?' उसके **उत्तर** रूप गाथा में सम्यक्त्व के चिन्ह कहते हैं :–

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य।। ११।।
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण[1]।। १२।। जुगमं।।

हो विनय, वत्सलता व अनुकम्पा, सुदान में दक्ष जो।
हो मार्ग के गुण की प्रशंसा, ऊपगूहन, रक्षणा।।११।।
इन लक्षणों व इन युत आर्जव, भाव से जाता लखा।
बिन मोह जिनसम्यक्त्व को, आराधता है जीव जो।।१२।।

अर्थ

जिनदेव की श्रद्धा जो सम्यक्त्व उसको 'मोह' अर्थात् मिथ्यात्व उससे रहित आराधता हुआ जीव है सो इतने 'लक्षण' अर्थात् चिन्ह उनसे लक्षित होता है, जाना जाता है।

सम्यग्द ष्टि के लक्षण :-

(१) **वत्सलभाव**– प्रथम तो धर्मात्मा पुरुषों से जिसके वत्सलभाव हो, जैसी तत्काल की प्रसूतिवान गाय को बछड़े से प्रीति होती है वैसी धर्मात्मा से प्रीति हो–एक तो यह चिन्ह है।

टि0-1. इस पंक्ति का अर्थ करते हुए 'श्रु0 टी0' में लिखा है कि 'सम्यक्त्व रूप परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म हैं अत: उन्हें अमोह-अज्ञान से रहित, विचक्षण-चतुर मनुष्य ही जान सकता है' **अथवा** प्राकृत में 'ह' का 'घ' हो जाने के कारण 'अमोह' का पाठांतर 'अमोघ' है सो 'अमोघ' अर्थात् 'सफल जन्म वाला मनुष्य ही सम्यग्द□ष्टि जीव को जान सकता है।'

(२) **विनय**—सम्यक्त्वादि गुणों से जो अधिक हो उसकी विनय–सत्कारादि जिसके हो ऐसी विनय–एक यह चिन्ह है।

(३) **अनुकम्पा**—दुःखी प्राणी देख करुणाभाव स्वरूप अनुकम्पा जिसके हो एक यह चिन्ह है तथा वह अनुकम्पा कैसी हो–भली प्रकार दान से युक्त हो।

(४) **मार्गप्रशंसा**—निर्ग्रंथस्वरूप मोक्षमार्ग की प्रशंसा से जो सहित हो–एक यह चिन्ह है। यदि मार्ग की प्रशंसा न करता हो तो ज्ञात होता है कि इसके मार्ग की श्रद्धा द ढ़ नहीं है।

(५) **उपगूहन**—धर्मात्मा पुरुषों के यदि कर्म के उदय से दोष उत्पन्न हो तो उसको विख्यात न करे ऐसा उपगूहन भाव हो–एक यह चिन्ह है।

(६) **रक्षणा**—धर्मात्मा को मार्ग से चिगता जान उसकी स्थिरता करे ऐसा रक्षणा नामक चिन्ह है, तथा इसको स्थितिकरण भी कहते हैं।

(७) **आर्जवभाव**—इन सब चिन्हों को सत्यार्थ करने वाला एक आर्जवभाव है क्योंकि निष्कपट परिणाम से ये सारे चिन्ह सत्यार्थ होते हैं।

इतने लक्षणों से सम्यग्द ष्टि जाना जाता है।

भावार्थ

मिथ्यात्व कर्म के अभाव से जीव का सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है और उसके बाह्य चिन्ह सम्यग्द ष्टि के प्रकट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। जो वात्सल्य आदि भाव कहे वे आपके तो अपने अनुभवगोचर होते हैं और अन्य के उसकी वचन-काय की क्रिया से जाने जाते हैं, उनकी परीक्षा-जैसे अपने क्रिया विशेष हों वैसे अन्य के उनकी परीक्षा से जाने जाएं ऐसा व्यवहार है। यदि ऐसा न हो तो सम्यक्त्व के व्यवहार मार्ग का लोप हो परन्तु व्यवहारी प्राणी को व्यवहार ही का आश्रय कहा है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं।।११-१२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसे कारणों से सहित हो वह सम्यक्त्व को छोड़ता है' :–

उच्छाहभावणा संपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं।। १३।।

अज्ञान मोह के पथ कुमत की, करे श्रद्धा सेवा अरु।
उत्साह, शंसा, भावना, वह तजे जिनसम्यक्त्व को।।१३।।

अर्थ

'कुदर्शन' अर्थात् नैयायिक वैशेषिकमत, सांख्यमत और मीमांसा तथा वेदान्तमत और बौद्ध, चार्वाक तथा शून्यवाद के मत–इनके वेष तथा इनके भाषित पदार्थ, तथा श्वेताम्बरादि जैनाभास–इनमें श्रद्धा तथा उत्साहभावना तथा प्रशंसा तथा इनकी उपासना-सेवा करता पुरुष है वह जिनमत की श्रद्धा रूप सम्यक्त्व को छोड़ता है। कैसा है कुदर्शन–अज्ञान और मिथ्यात्व का मार्ग है।

भावार्थ

अनादिकाल से मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव संसार में भ्रमण करता है सो किसी भाग्य के उदय से जिनमार्ग की श्रद्धा हुई हो और फिर मिथ्यामत के प्रसंग से मिथ्यामत में किसी कारण से यदि उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा उत्पन्न हो जाए तो सम्यक्त्व का अभाव हो जाता है क्योंकि जिनमत के अतिरिक्त जो अन्यमत हैं उनमें छद्मस्थ अज्ञानियों के द्वारा प्ररूपित मिथ्या पदार्थ तथा मिथ्या प्रव त्ति रूप मार्ग है उसकी श्रद्धा आ जाए तो जिनमत की श्रद्धा जाती रहती है इसलिए मिथ्याद ष्टियों का संसर्ग ही नहीं करना–ऐसा भावार्थ जानना।।१३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ये उत्साह भावनादि कहे वे ही सुदर्शन में हों तो जिनमत की श्रद्धा रूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है' :–

उच्छाहभावणा संपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण।। १४।।

जो ज्ञानमार्ग से सुदर्शन की, करे श्रद्धा सेवा अरु।
उत्साह, शंसा, भावना, नहिं तजे जिनसम्यक्त्व को।।१४।।

अर्थ

'सुदर्शन' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग उसमें १.'उत्साहभावना' अर्थात् उसे ग्रहण करने का उत्साह और बारम्बार चिन्तवनरूप भाव, २.'संप्रशंसा' अर्थात् मन-वचन-काय से भला जान स्तुति करना, ३.'सेवा' अर्थात् उपासना-पूजनादि करना और ४.श्रद्धा करना-इस प्रकार ज्ञानमार्ग से यथार्थ जानकर इन्हें करता हुआ पुरुष है वह जिनमत की श्रद्धा रूप जो सम्यक्त्व है उसको नहीं छोड़ता है।

भावार्थ

जिनमत में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धा जिसके हो वह सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता है।।१४।।

उत्थानिका

आगे **अज्ञान, मिथ्यात्व और कुचारित्र के त्याग का उपदेश** करते हैं :–

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अहमो हिंसारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए[1]।। १५।।

टि0-1.'वी0 प्रति' में गाथा 15 की द्वितीय पंक्ति के 'अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए' पाठ के स्थान पर ये बड़ा कीमती पाठ उपलब्ध हुआ-'अहमो हिंसारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए' अर्थात् 'तू अहिंसालक्षण धर्म के होते अधम-बुरे हिंसा के आरम्भ को छोड़।' यह 'आ0 कुंदकुंद' द्वारा रचित मूल पाठ प्रतीत होता है क्योंकि इसका अर्थ अत्यन्त प्रकरणसंगत है परन्तु कालक्रम में 'अहमो' □ाब्द 'अह-मो' हुआ और 'हिंसारम्भ' के 'हि' की 'इ' की मात्र का लोप होकर यह 'हं' बनकर 'मो' के साथ जुड़कर एक नया □ाब्द 'मोहं' बना और 'सारम्भं' उधर रहकर 'अह मोहं सारम्भं' पद की परम्परा चल गई। माननीय 'पं0 जयचंद जी' ने इसी पद के अनुसार अर्थ किया है अत: मूल में यहाँ यही पाठ देकर दूसरा □ुद्ध पाठ उसी के नीचे कोष्ठक में छोटे अक्षरों में दिया है। **यह अत्यंत मुख्य टिप्पण है।**

लह शुद्ध समकित ज्ञान अरु, तज मिथ्या अरु अज्ञान को।
पाकर अहिंसा धर्म को, तज अधम हिंसारम्भ को।।१५।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! तू १. ज्ञान के होते तो अज्ञान का वर्जन कर, त्याग कर, २. विशुद्ध सम्यक्त्व के होते मिथ्यात्व का त्याग कर तथा ३ अहिंसा लक्षण धर्म के होते आरंभ सहित मोह का परिहार कर।

भावार्थ

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति होने पर फिर मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र में मत प्रवर्तो–ऐसा उपदेश है।।१५।।

उत्थानिका

आगे फिर उपदेश करते हैं :–

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते।। १६।।

गह संग बिन दीक्षा, सुसंयमयुत सुतप में प्रव त्ति कर।
जिससे हो निर्मोह विगतरागी, तेरे सुविशुद्ध ध्यान हो।।१६।।

अर्थ

हे भव्य ! तू 'संग' अर्थात् परिग्रह का त्याग जिसमें हो ऐसी दीक्षा ग्रहण कर और भली प्रकार संयमस्वरूप भाव के होते सम्यक् प्रकार तप में प्रवर्तन कर जिससे तेरे मोह रहित वीतरागपना होते निर्मल धर्म-शुक्ल ध्यान हो।[1]

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में लिखा है कि 'सांसारिक भोगों की आकांक्षा से रहित होकर केवल कर्म निर्जरा के उद्दे□य से जो तप होता है वह सुतप कहलाता है और ऐसा सुतप उत्तम संयम भाव के प्रगट होने पर ही हो सकता है क्योंकि असंयमी पुरुष के मासोपवासादि से युक्त होने पर भी सुतप का सद्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार सुवि□ुद्ध ध्यान भी निर्मोह अर्थात् पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि के व्यामोह से रहित पुरुष के ही होता है परन्तु जो पुरुष पुत्रदि के मोह से सहित है, उसके वि□ाष्ट धर्मध्यान एवं □ुक्लध्यान का ले□ा भी नहीं हो सकता।'

भावार्थ

निर्ग्रंथ होकर दीक्षा ले संयमभाव से भली प्रकार तप में प्रवर्ते तब संसार का मोह दूर हो और वीतरागपना हो, तब निर्मल धर्मध्यान व शुक्लध्यान होते हैं और इस प्रकार ध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है इसलिये ऐसा उपदेश है।।१६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ये जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तते हैं' :–

मिच्छादंसणमग्गे[1] मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
बज्झंति मूढ़जीवा मिच्छत्ताबुद्धिदोसेण।। १७।।

अज्ञान, मोह के दोष से, दूषित है, मिथ्या मार्ग जो।
वर्तते उसमें मूढ़जन, मिथ्यात्व, अबुद्धि के उदय से।।१७।।

टि0-1.'श्रु0 टी0' में इस गाथा का अर्थ किया है-'मूढ़ जीव मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से मलिन मिथ्यामार्ग में प्रव□त्ति कर अज्ञान और मोह दोष के द्वारा अपने को बाँध लेता है अर्थात् पापों से आच्छादित कर लेता है।'

'म0 टी0' में गाथा की प्रथम पंक्ति का अर्थ है-'अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान और मोह अर्थात् मिथ्याचारित्र-इनके दोषों से मलिन मिथ्याद□न के मार्ग में...।'

गाथा की द्वितीय पंक्ति के पाठ के स्थान पर 'वज्जंति (वर्जयन्ति) मूढ़जीवा सम्मत्तबुद्धिउदएण'-ये पाठ भी अन्यत्र मिलता है जिसका अर्थ है कि 'मूढ़ जीव सम्यग्द□न और सम्यग्ज्ञान के उदय होने पर मिथ्याद□न के मार्ग को छोड़ देते हैं।'

द्वितीय पंक्ति में आए हुए 'मिच्छत्ताबुद्धिदोसेण' पाठ के स्थान पर 'मु0 व अन्य प्रतियों में' भी 'मिच्छताबुद्धिउदएण' पाठ मिलता है और माननीय 'पं0 जी' ने भी अपनी टीका में 'मिथ्यात्व और अबुद्धि के उदय से' ऐसा इस पाठ का अनुसारी अर्थ ही किया है।

'वी0 प्रति' में भी 'मिच्छत्ताबुद्धिउदएण' पाठ ही उपलब्ध है परन्तु उसका अर्थ वहाँ 'मिथ्यात्व और अबुद्धि के उदय से' नहीं करके 'मिथ्यात्व की बुद्धि के उदय से' किया है।

अर्थ

मूढ़ जीव हैं वे अज्ञान और 'मोह' अर्थात् मिथ्यात्व के दोषों से मलिन जो 'मिथ्यादर्शन' अर्थात् कुमत का मार्ग उसमें मिथ्यात्व और 'अबुद्धि' अर्थात् अज्ञान के उदय से प्रवर्तते हैं।

भावार्थ

ये मूढ़ जीव मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तते हैं इसलिए मिथ्यात्व और अज्ञान का नाश करना—यह उपदेश है।।१७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं' :—

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि परिहरदि चरित्तजे दोसे।। १४।।

देखे दरश से, ज्ञान से जाने दरव-पर्यायों को।
सम्यक्त्व से श्रद्धा करे, परिहरे चरणज दोषों को।।१४।।

अर्थ

यह आत्मा **१.** सम्यग्दर्शन से तो सत्तामात्र वस्तु को देखता है, **२.** सम्यग्ज्ञान से द्रव्य और पर्यायों को जानता है और **३.** सम्यक्त्व से द्रव्यपर्याय स्वरूप सत्तामयी वस्तु का श्रद्धान करता है तथा ऐसा देखना, जानना व श्रद्धान करना हो तब 'चारित्र' अर्थात् आचरण में उपजे जो दोष उनको छोड़ता है।

भावार्थ

वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक सत्ता स्वरूप है सो जैसा है वैसा देखे, जाने और श्रद्धान करे तब आचरण शुद्ध करे सो सर्वज्ञ के आगम से वस्तु का निश्चय करके आचरण करना। वहाँ वस्तु है सो द्रव्यपर्याय स्वरूप है । इनमें द्रव्य का सत्ता लक्षण है तथा गुणपर्यायवान को द्रव्य कहते हैं। पर्याय है सो दो प्रकार की है—सहवर्ती और क्रमवर्ती। इनमें सहवर्ती को गुण कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य सामान्य से एक है तो भी विशेष से छह हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन द्रव्यों के गुण और पर्याय ये हैं–

(१) **जीव**–इसका दर्शनज्ञानमयी चेतना तो **गुण** है और मति आदि ज्ञान तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि व नर, नारक आदि **विभाव पर्याय** हैं, **स्वभावपर्याय** अगुरुलघुगुण के द्वारा हानि–व द्धि का परिणमन है।

(२) **पुद्गल द्रव्य**–इसके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप मूर्तिकपना तो **गुण** हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण का भेदों रूप परिणमन तथा अणु से स्कन्ध रूप होना तथा शब्द, बन्ध आदि रूप होना इत्यादि **पर्याय** हैं।

(३) **धर्म, अधर्म द्रव्य**–इनके गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वपना तो **गुण** हैं और इन गुणों के जीव–पुद्गल के गति–स्थिति के भेदों से भेद होते हैं वे **पर्याय** हैं तथा अगुरुलघुगुण के द्वारा हानि–व द्धि का परिणमन होता है सो **स्वभाव पर्याय** है।

(४) **आकाश**–इसका अवगाहना **गुण** है और जीव–पुद्गल आदि के निमित्त से प्रदेश भेद की कल्पना की जांय वे **पर्याय** हैं तथा हानि–व द्धि का परिणमन सो **स्वभाव पर्याय** है।

(५) **कालद्रव्य**–इसका वर्तना तो **गुण** है और जीव–पुद्गल के निमित्त से समय आदि की कल्पना सो **पर्याय** है, इसको व्यवहार काल भी कहते हैं तथा हानि–व द्धि का परिणमन सो **स्वभाव पर्याय** है इत्यादि।

इनका स्वरूप जिन आगम से जानकर देखना, जानना और श्रद्धान करना, इससे आचरण शुद्ध होता है। बिना ज्ञान और श्रद्धान के आचरण शुद्ध नहीं होता है-ऐसा जानना।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भाव हैं वे मोह रहित जीव के होते हैं, इनका आचरण करता हुआ शीघ्र मोक्ष पाता है' :–

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुण आराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ।। १9।।

ये तीनों ही तो भाव होते, मोहविरहित जीव के।
निज गुण का आराधक हुआ, परिहरता शीघ्र वह कर्म को।।१७।।

अर्थ

ये पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भाव हैं, वे निश्चय से 'मोह' अर्थात् मिथ्यात्व उससे जो रहित हो उस जीव के होते हैं, तब यह जीव अपना 'निजगुण' जो शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतना उसकी आराधना करता हुआ थोड़े ही काल में कर्म का नाश करता है।

भावार्थ

निजगुण के ध्यान से शीघ्र ही केवलज्ञान उपजाकर मोक्ष पाता है।।१७।।

उत्थानिका

आगे इस सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं :–

संखिज्जमसंखिज्जं गुणं च संसारिमेरुमित्ता णं।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा।। २०।।

कर संख्यासंख्य गुण निर्जरा, संसार मेरु कर्म की।
दुःखों को नाशें धीर वे, सम्यक्त्व आचरते हुए।।२०।।

अर्थ

सम्यक्त्व का आचरण करते धीर पुरुष हैं वे संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं और कर्मों के उदय से हुआ जो संसार का दुःख उसका नाश करते हैं। कैसे हैं कर्म–संसारी जीवों की 'मेरु' अर्थात् मर्याद मात्र हैं, सिद्ध हुए पीछे कर्म नहीं हैं।

भावार्थ

इस सम्यक्त्व का आचरण होने पर प्रथम काल में जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है वह तो असंख्यात के गुणकार रूप है। पीछे जब तक संयम का आचरण नहीं होता

तब तक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। वहाँ जो निर्जरा होती है वह संख्यात के गुणकार रूप होती है इसलिये संख्यातगुण और असंख्यातगुण–ऐसे दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है तब तक हैं, उनमें दुःख का कारण मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्व कर्म प्रधान है सो सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व का तो अभाव ही हुआ और चारित्रमोह दुःख का कारण है सो यह भी जब तक है तब तक उसकी निर्जरा करता है–इस प्रकार अनुक्रम से दुःख का क्षय होता है। संयमाचरण के होने पर सब दुःखों का क्षय होगा ही। **यहाँ सम्यक्त्व का माहात्म्य ऐसा है कि सम्यक्त्वाचरण के होने पर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है इसलिये सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर इसी का वर्णन पहिले किया है।।२०।।**

उत्थानिका

आगे **'संयमाचरण चारित्र'** को कहते हैं :–

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहरहियस्स खलु णिरायारं।। २१।।

सागार निर आगार भेद है, द्विविध संयमचरण के।
सागार परिग्रह सहित के, उस रहित के निरगार हो।।२१।।

अर्थ

संयमाचरण चारित्र है सो दो प्रकार है–**१.**साकार और **२.**निराकार[1]। वहाँ

टि0-**1.** यहाँ 'पं0 जयचन्द जी' की 'मूल प्रति' के अनुसार 'साकार, निराकार' पाठ ही दिए गए हैं। आगे भी गाथा 22, 23, एवं 28 में अर्थ, भावार्थ आदि में सर्वत्र 'साकार, निराकार' ही पाठ हैं। प्राकृत कोष में 'सायार' □ाब्द का अर्थ 'अपवादयुक्त' एवं 'णिरायार' का अर्थ 'अपवादरहित-निर्दोष' किया है अतः 'अपवादयुक्त संयमाचरण' को 'साकार संयमाचरण चारित्र' और 'अपवादरहित' को 'निराकार संयमाचरण चारित्र' कहते हैं। 'मूल प्रति' को छोड़कर 'मु0 प्रति व अन्य भी सारी ही टीकाओं में' 'साकार, निराकार' पाठ के स्थान पर सर्वत्र 'सागार' (अर्थ-ग□हयुक्त ग□हस्थ) व 'निरागार' (अर्थ-मुनि) पाठ है और जिनागम में संयमाचरण चारित्र के भेदों में सर्वत्र इन दोनों ही पाठों के प्रचलित होने पर भी यहाँ मान्य 'पं0 जी' की 'मूल प्रति' का ही अनुसरण किया गया है।

साकार तो परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निराकार परिग्रह से रहित मुनि के होता है–यह निश्चय है।।२१।।

उत्थानिका

आगे **'साकार संयमाचरण'** को कहते हैं :–

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ[1] देसविरदो य।। २२।।

दर्शन व व्रत, सामायिक अरु प्रोषध, सचित, निशिभुक्ति अरु।
आरम्भ, ब्रह्म, उद्दिष्ट, अनुमति, ग्रंथ त्याग हैं देशविरति।।२२।।

अर्थ

दर्शन, व्रत, सामायिक तीन तो ये और प्रोषध आदि आठ का नाम गाथा में पूरे नाम का एकदेश है। पूरे नाम ऐसे कहना–प्रोषध उपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग–ऐसे ये ग्यारह प्रकार देशविरत हैं।

भावार्थ

ये साकार संयमाचरण के ग्यारह स्थान हैं, इनको 'प्रतिमा' भी कहते हैं।।२२।।

उत्थानिका

आगे इन स्थानों में संयम का आचरण किस प्रकार से है सो कहते हैं:–

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं।। २३।।

टि0-1.'वी0 प्रति' में दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा का अर्थ क्रम□ा:'उपदे□याहार का त्यागी' और 'उद्दंडविहारी' (स्वतंत्र विहारी) किया है।

हैं पाँच अणुव्रत तथा गुणव्रत, तीन होते जिसमें हैं।
शिक्षाव्रत होते चार वह, सागार संयमचरण है।।२३।।

अर्थ

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत–ऐसे बारह प्रकार का संयमाचरण चारित्र है सो यह साकार है। यह ग्रन्थ सहित श्रावक के होता है इसलिये साकार कहा है।

भावार्थ

यहाँ प्रश्न—जो ये बारह प्रकार तो व्रत के कहे और पहिले गाथा में ग्यारह नाम कहे, उनमें प्रथम 'दर्शन' नाम कहा उसमें ये व्रत कैसे होते हैं ? **उसका समाधान** ऐसा है–'अणुव्रत' ऐसा नाम किंचित् व्रत का है सो पांच अणुव्रतों में किंचित् यहाँ भी होते हैं इसलिये दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती ही है। **इसका नाम 'दर्शन' ही कहा वहाँ ऐसा न जानना कि इसके केवल सम्यक्त्व ही होता है और अव्रती है, अणुव्रत नहीं हैं। इसके अणुव्रत अतिचार सहित होते हैं इसलिये इसका 'व्रती' नाम नहीं कहा। दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत अतिचार रहित पालता है अतः 'व्रत' नाम कहा है। यहाँ सम्यक्त्व के अतिचार टालता है अतः सम्यक्त्व ही प्रधान है इसलिये 'दर्शनप्रतिमा' नाम है।**

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है–जो आठ मूलगुण को पालता है, सात व्यसन का त्याग करता है और सम्यक्त्व अतिचार रहित शुद्ध जिसके होता है सो दर्शन प्रतिमा का धारक है। वहाँ पाँच उदम्बर फल और मद्य, मांस व मधु आठों का त्याग करे सो आठ मूलगुण हैं। अथवा किसी ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि पाँच अणुव्रत पाले और मद्य, मांस, मधु का त्याग करे–ऐसे आठ मूलगुण हैं सो इसमें विरोध नहीं है, विवक्षा का भेद है। पाँच उदम्बरफल और तीन मकार का त्याग कहने से जिन वस्तुओं में साक्षात् त्रस दीखें उन सब ही वस्तुओं का भक्षण नहीं करे। देवादि के निमित्त तथा औषधादि के निमित्त इत्यादि कारणों से दिखते हुए त्रस जीवों का घात न करे–ऐसा आशय है सो इसमें तो अहिंसाणुव्रत आया और सात व्यसनों के त्याग में झूठ का और चोरी का और परस्त्री का त्याग आया और व्यसन ही के त्याग में क्योंकि अन्याय, परधन और परस्त्री का ग्रहण नहीं है

अतः इसमें अति लोभ के त्याग से परिग्रह का घटाना आया–इस प्रकार पाँच अणुव्रत आते हैं। यहाँ क्योंकि इनके अतिचार टलते नहीं इसलिये यह 'अणुव्रती' नाम नहीं पाता–इस प्रकार दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती है इसलिये देशविरत साकार संयमाचरण में इसको भी गिना है।।२३।।

उत्थानिका

आगे **पाँच अणुव्रत** का स्वरूप कहते हैं :–

थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं।। २४।।

त्रसकायवध, स्थूल झूठ व चोरी जिसमें त्यक्त हों।
परिहार परमहिला का अरु परिमाण ग्रंथारम्भ का।।२४।।

अर्थ

(१) 'थूल' जो त्रसकाय का घात, (२) 'थूलम षा' अर्थात् असत्य, (३) 'थूल अदत्त' अर्थात् पर का बिना दिया धन और (४) 'पर महिला' अर्थात् पर की स्त्री–इनका तो परिहार अर्थात् त्याग तथा (५) परिग्रह और आरम्भ का परिमाण–ऐसे पाँच अणुव्रत हैं।

भावार्थ

यहाँ 'थूल' कहने का ऐसा अर्थ जानना-जिसमें अपना मरण हो, पर का मरण हो; अपना घर बिगड़े, पर का घर बिगड़े; राजा के दण्ड योग्य हो और पंचों के दण्ड योग्य हो-ऐसे मोटे अन्याय रूप पाप कार्य जानने सो ऐसे स्थूल पाप राजादि के भय से न करे सो व्रत नहीं है, इनको तीव्र कषाय के निमित्त से तीव्र कर्म बंध के निमित्त जान स्वयमेव न करने के भावरूप त्याग हो सो व्रत है। इसके ग्यारह स्थान कहे, उनमें ऊपर-ऊपर त्याग बढ़ता जाता है सो इसकी उत्कृष्टता तक ऐसा है कि जिन कार्यों में त्रस जीवों को बाधा हो ऐसे सब ही कार्य छूट जाते हैं इसलिये सामान्य से ऐसा कहा है कि त्रसहिंसा का त्यागी देशव्रती होता है। इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थों से जानना।।२४।।

उत्थानिका

आगे **तीन गुणव्रतों** को कहते हैं :–

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि।। २५।।

दिश-विदिश गति परिमा प्रथम, द्वितिय अनर्थदण्ड वर्जना।
परिमाण भोग-उपभोग हो, ऐसे ये गुणव्रत तीन हैं।।२५।।

अर्थ

(१) दिशा–विदिशा में गमन का परिमाण सो प्रथम गुणव्रत है, (२) अनर्थदण्ड का वर्जना सो द्वितीय गुणवत है और (३) भोग–उपभोग का परिमाण सो तीसरा गुणव्रत है–ऐसे ये तीन गुणव्रत हैं।

भावार्थ

यहाँ 'गुण' शब्द तो उपकार का वाचक है कि ये अणुव्रतों का उपकार करते हैं। दिशा विदिशा और पूर्व दिशा आदि हैं उनमें गमन करने की मर्यादा करे। 'अनर्थदण्ड' अर्थात् जिन कार्यों से अपना प्रयोजन नही सधता हो ऐसे जो पापकार्य उनको न करे।

यहाँ कोई पूछता है–प्रयोजन के बिना तो कोई भी पुरुष कार्य नहीं करता है, जो करता है सो कुछ प्रयोजन विचारकर ही करता है फिर अनर्थदण्ड क्या ?

उसका समाधान–सम्यग्द ष्टि श्रावक जो होता है वह प्रयोजन अपने पद के योग्य विचारता है, जो पद के सिवाय है सो अनर्थ है और पापी पुरुषों के तो सब पाप ही प्रयोजन हैं, उनकी क्या कथा।

'भोग' कहने से भोजनादि और 'उपभोग' कहने से स्त्री, वस्त्र एवं आभूषण आदि उनका परिमाण करे–ऐसा जानना।।२५।।

उत्थानिका

आगे **चार शिक्षाव्रतों** को कहते हैं:–

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते।। २६।।

है प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक, दूसरा प्रोषध कहा।
हो अतिथिपूजा त तिय, चौथा अंत में सल्लेखना।।२६।।

अर्थ

१. सामायिक तो पहिला शिक्षाव्रत है, २. दूसरा प्रोषध व्रत है, ३. तीसरा अतिथि का पूजन है, ४. चौथा अन्त समय सल्लेखना व्रत है।

भावार्थ

यहाँ **'शिक्षा'** शब्द से तो ऐसा अर्थ सूचित होता है–'जो आगामी मुनिव्रत है उसकी शिक्षा इनमें है कि मुनि होगा तब ऐसे रहना होगा।' वहाँ **सामायिक** कहने से तो राग–द्वेष का त्याग करके सब ग हारंभ सम्बन्धी पाप क्रिया से निव त्ति कर, एकांत स्थान में बैठकर प्रभात, मध्यान्ह और अपरान्ह कुछ काल की मर्यादा करके अपने स्वरूप का चिंतवन तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति का पाठ पढ़ना, उनकी वंदना करना इत्यादि विधान का करना जानना। वैसे ही **'प्रोषध'** अर्थात् अष्टमी चौदस पर्वों में प्रतिज्ञा लेकर धर्म कार्य में प्रवर्तना प्रोषध है। 'अतिथि' अर्थात् मुनि उनकी पूजन करना, आहारदान करना सो **अतिथिपूजन** है तथा अंत समय में काय का और कषाय का क श करना, समाधिमरण करना सो **अन्त सल्लेखना** है–इस प्रकार चार शिक्षाव्रत हैं।

यहाँ प्रश्न–तत्त्वार्थसूत्र में तो तीन गुणव्रत में देशव्रत कहा और भोगोपभोग परिमाण को शिक्षाव्रत में कहा तथा सल्लेखना को भिन्न कहा और यहाँ ऐसे कहा सो यह कैसे ?

उसका समाधान–यह विवक्षा का भेद है। यहाँ देशव्रत दिग्व्रत में गर्भित है और सल्लेखना को शिक्षाव्रत में कहा है, कोई विरोध नहीं है।।२६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'संयमाचरण चारित्र में ऐसे तो श्रावक धर्म कहा, अब यतिधर्म को कहूँगा' :–

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उ देसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।। २७।।

इस भाँति श्रावकधर्म, संयमचरण है देशित सकल।
यतिधर्म संयमचरण निष्कल, शुद्ध अब मैं कहूँगा।।२७।।

अर्थ

'एवं' अर्थात् इस प्रकार श्रावक धर्मस्वरूप संयमाचरण तो कहा। कैसा है यह–'सकल' अर्थात् कला सहित है, एकदेश को कला कहते हैं। अब यति का धर्मस्वरूप जो संयमाचरण है उसे कहूँगा–ऐसी आचार्य ने प्रतिज्ञा की है। **कैसा है यतिधर्म**–शुद्ध है, निर्दोष है, जिसमें पापाचरण का लेश भी नहीं है। **पुनः कैसा है**–'निकल' अर्थात् कला से निष्क्रांत है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्म के समान एकदेश नहीं है।।२७।।

उत्थानिका

आगे **'यतिधर्म की सामग्री'** कहते हैं :–

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं।। २८।।

पंचेन्द्रि संवर, पाँच व्रत, पच्चीस किरिया युक्त है।
त्रय गुप्ति, समिति पंच यह, संयमचरण निरगार है।।२८।।

अर्थ

पाँच इन्द्रियों का संवरण,[1] पाँच व्रत जो कि पच्चीस क्रियाओं का सद्भाव होने पर होते हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति-ऐसा निराकार संयमाचरण चारित्र होता है।।२८।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में लिखा है-'पंचेन्द्रियसंवरणं अर्थात् कूर्मवत्संकोचनं। जैसे विपत्ति देख कछुआ अपने सारे अवयवों को संकुचित कर पीठ के नीचे कर लेता है वैसे ही मुनि भी अपनी स्प□ानादि इन्द्रियों को सब ओर से हटाकर आत्मस्वरूप में संकुचित कर लेते हैं।'



आगे **'पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप'** कहते हैं :–

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेइ रायदोसे पंचिंदियसंवरो भणिओ।। २९।।

अमनोज्ञ और मनोज्ञ द्रव्य, सजीव में वा अजीव में।
नहि करे राग अरु द्वेष कहते, पंचेन्द्रिय संवर इसे।।२९।।

अर्थ

अमनोज्ञ तथा मनोज्ञ ऐसे जो पदार्थ, जिनको लोक अपना माने ऐसे सजीव द्रव्य तो स्त्री–पुत्रादि और अजीव द्रव्य धन–धान्य आदि सब पुद्गल द्रव्य उनमें राग–द्वेष का न करना सो पाँच इन्द्रियों का संवर कहा है।

भावार्थ

इन्द्रियगोचर जो जीव-अजीव द्रव्य हैं जो कि इन्द्रियों के ग्रहण में आते हैं, उनमें यह प्राणी किसी को इष्ट मानकर राग करता है और किसी को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, सो ऐसा राग-द्वेष मुनि नहीं करते हैं, उनके संयमाचरण चारित्र होता है।।२९।।



आगे **'पाँच व्रतों का स्वरूप'** कहते हैं :–

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरइ अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य।। ३०।।

हिंसा से विरति अहिंसा व्रत, झूठ, चोरी से विरती अरु।
चौथा अब्रह्म से विरति, पंचम परिग्रह से विरति है।।३०।।

अर्थ

१. प्रथम तो हिंसा से विरति सो अहिंसा है, २. दूसरा असत्यविरति है, ३. तीसरा अदत्तविरति है, ४. चौथा अब्रह्मविरति है और ५. पाँचवाँ परिग्रह से विरति है।

भावार्थ

इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग जिनमें होता है वे पाँच महाव्रत हैं।।३०।।

उत्थानिका

आगे **'इनका 'महाव्रत' ऐसा नाम क्यों है'** सो कहते हैं :–

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्ल पुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहेयाइं।। ३१।।

साधे महन्त पुरुष, हैं साधा पूर्व में उनने इन्हें।
स्वयमेव ही हैं महान ये, अतएव महाव्रत नाम है।।३१।।

अर्थ

१. 'महल्ला' अर्थात् महन्त पुरुष जिनको साधते हैं, आचरण करते हैं, पुनः २. पहिले भी जिनका महन्त पुरुषों ने आचरण किया है, पुनः ३. ये व्रत आप ही महान हैं-बड़े हैं क्योंकि इनमें पाप का लेश नही-ऐसे ये पाँच महाव्रत हैं।

भावार्थ

जिनका बड़े पुरुष आचरण करें और जो स्वयं निर्दोष हों वे ही बड़े कहलाते हैं–इस प्रकार इन पाँच व्रतों की महाव्रत संज्ञा है।।३१।।

उत्थानिका

आगे इन **पाँच व्रतों की जो पच्चीस भावना** हैं उनको कहते हैं। उनमें प्रथम ही **'अहिंसा व्रत की पाँच भावना'** कहते हैं :–

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणायाहिंसाए भावणा होंति।। ३२।।

वचगुप्ति, मनगुप्ती, समिति ईर्या, आदान निक्षेप अरु।
अवलोक के भोजन, अहिंसा भावना ये पाँच हैं।।३२।।

अर्थ

१-२. वचनगुप्ति और मनोगुप्ति-ऐसे दो तो गुप्ति और ३. ईर्यासमिति पुनः ४. भली प्रकार कमंडलु आदि का ग्रहण-निक्षेप-यह आदाननिक्षेपण समिति पुनः ५. अच्छी तरह से देखकर विधिपूर्वक शुद्ध भोजन करना-यह एषणा समिति-इस प्रकार ये पाँच अहिंसा महाव्रत की भावना हैं।

भावार्थ

भावना नाम बारंबार उस ही का अभ्यास करना उसका है सो यहाँ प्रव त्ति-निव त्ति में हिंसा लगती है उसका निरन्तर यत्न रखे तब अहिंसा व्रत पलता है इसलिये यहाँ योगों की निव त्ति करनी तो भली प्रकार से गुप्ति रूप करनी और प्रव त्ति करनी तो समिति रूप करनी, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से अहिंसा महाव्रत द ढ़ रहता है-ऐसे आशय से इनको भावना कहा है।।३२।।

उत्थानिका

आगे **'सत्य महाव्रत की भावना'** को कहते हैं :–

कोहभयहासलोहामोहाविवरीयभावणा चेव।
विदियस्स भावणा एए पंचेव य तहा होंति।। ३३।।

भय, क्रोध, लोभ व हास्य, मोह से, हों जो विपरित भावना।
वे ही द्वितीय व्रत सत्य की, होती है पाँचों भावना।।३३।।

अर्थ

१.क्रोध, **२.**भय, **३.**हास्य, **४.**लोभ और **५.**मोह इनसे 'विपरीत' अर्थात् उल्टा

इनका अभाव–ये द्वितीय व्रत जो सत्य महाव्रत उसकी भावना हैं।

भावार्थ

असत्य वचन की प्रव त्ति होती है सो क्रोध से तथा हास्य से तथा लोभ से तथा परद्रव्य से मोह रूप मिथ्यात्व से होती है सो इनका त्याग होने पर सत्य महाव्रत द ढ़ रहता है। पुनः 'तत्त्वार्थसूत्र' में पाँचवी भावना 'अनुवीचीभाषण' कही है सो उसका अर्थ यह है कि जिनसूत्र के अनुसार वचन बोले और यहाँ मोह का अभाव कहा सो मिथ्यात्व के निमित्त से सूत्र विरुद्ध कहता है, मिथ्यात्व का अभाव होने पर सूत्र विरुद्ध नहीं कहता सो ही अनुवीचीभाषण का भी यह ही अर्थ हुआ, इसमें अर्थभेद नहीं है।।३३।।

उत्थानिका

आगे **'अचौर्य महाव्रत की भावना'** को कहते हैं :–

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसमविसंवादो।। ३४।।

हो विमोचित वा शून्यग ह, उपरोध बिन थल वास हो।
हो एषणा शुद्धि, ना साधर्मी से विसंवाद हो।।३४।।

अर्थ

१.'शून्यागार' अर्थात् गिरि गुफा एवं तरु कोटरादि में निवास करना पुनः **२.**'विमोचितावास' अर्थात् जो लोगों ने किसी कारण से छोड़ दिया हो ऐसा जो ग ह–ग्रामादि उसमें निवास करना पुनः **३.**'परोध' अर्थात् दूसरे का जहाँ उपरोध न किया जाये, किसी वसतिकादि को अपनाकर दूसरे को रोकना–ऐसा न करना पुनः **४.**'एषणाशुद्धि' अर्थात् आहार शुद्ध लेना पुनः **५.**साधर्मियों से विसंवाद न करना–ये पाँच भावना त तीय महाव्रत की हैं।

भावार्थ

मुनियों के वसतिका में बसना और आहार लेना-ये दो प्रव त्ति अवश्य होती हैं सो लोक में इन ही के निमित्त अदत्त का ग्रहण होता है। मुनि बसते हैं तो ऐसी जगह बसते हैं जहाँ अदत्त का दोष न लगे। पुनः आहार ऐसा लेते हैं जिसमें अदत्त का दोष न उत्पन्न हो तथा इन दोनों की प्रव त्ति में साधर्मी आदि से विसंवाद न उपजे-इस प्रकार ये पाँच भावना कही हैं, इनके होते अचौर्य महाव्रत द ढ़ रहता है[1]।।३४।।

उत्थानिका

आगे **'ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना'** कहते हैं :–

महिलालोयण पुव्वरइ सरण संसत्तवसहि विकहाहिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंच वि तुरियम्मि।। ३५।।

महिलानिरीक्षण, पूर्वरतिस्म ति, वसति संसक्त वास अरु।
विकथा व पौष्टिक रस विरति, पंच भावना व्रत चतुर्थ की।।३५।।

अर्थ

१.स्त्रियों का 'आलोकन' अर्थात् उन्हें राग सहित देखना, **२.**पूर्व में किये भोगों का स्मरण करना, **३.**स्त्रियों से संसक्त वसतिका में बसना, **४.**स्त्रियों की कथा करना और **५.**पुष्टिकारक रस का सेवन करना–इन पाँचों से विकार उत्पन्न होता है इसलिये इनसे विरक्त रहना–ये पाँच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना हैं।

भावार्थ

काम विकार के निमित्तों से ब्रह्मचर्य व्रत का भंग होता है सो स्त्रियों को रागभाव से देखना इत्यादि जो निमित्त कहे, उनसे विरक्त रहना, उनका प्रसंग नहीं करना, इससे ब्रह्मचर्य महाव्रत द ढ़ रहता है।।३५।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0' (सु0)-'[illegible]ून्यागार और विमोचितावास में रहने से परिग्रह में त[illegible]ष्णा का अभाव होता है। परोध और एषणा[illegible]ुद्धि से भी अचौर्य महाव्रत निर्मल होता है। सहधर्मी के साथ विवाद नहीं करने से जिनवचनों का व्याघात नहीं होता।'

उत्थानिका

आगे पंचम **'अपरिग्रह महाव्रत की भावना'** कहते हैं :–

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्द परिस रस रूव गंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति।। ३६।।

रस, फरस, रूप अरु शब्द, गंध, मनोज्ञ वा अमनोज्ञ में।
जो राग-रुष परिहार पंचम, व्रत की पाँचों भावना।।३६।।

अर्थ

१.शब्द, **२.**स्पर्श, **३.**रस, **४.**रूप और **५.**गन्ध–ये पाँच इन्द्रियों के विषय सो कैसे 'समनोज्ञ' अर्थात् मनोज्ञता से सहित और अमनोज्ञ–ऐसे दोनों में राग–द्वेष आदि का न करना–परिग्रहत्याग व्रत की ये पाँच भावना हैं।

भावार्थ

पाँच इन्द्रियों के जो विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं, उनमें इष्ट–अनिष्ट बुद्धि रूप राग–द्वेष जो न करे तब अपरिग्रह व्रत द ढ़ रहता है इसलिये ये पाँच भावना अपरिग्रह महाव्रत की कही हैं।।३६।।

उत्थानिका

आगे **'पाँच समितियों'** को कहते हैं :–

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ।। ३७।।

ईर्या व भाषा, एषणा, आदान अरु निक्षेप हैं।
ये पाँच समिति होती संयम, शुद्धिहित जिन ने कही।।३७।।

अर्थ

१.ईर्या, **२.**भाषा, **३.**एषणा पुनः **४.**आदान और **५.**निक्षेप–ऐसी ये पाँच समिति

संयम की शुद्धता की कारण हैं, यह जिनदेव ने कहा है।

भावार्थ

मुनि पाँच महाव्रत रूप संयम का साधन करते हैं, उस संयम की शुद्धता के लिए पाँच समिति रूप प्रवर्तते हैं इसी कारण इसका नाम सार्थक है। 'सं' अर्थात् सम्यक् प्रकार 'इति' अर्थात् प्रव त्ति जिसमें हो सो समिति है। **१.**गमन करें तब चार हाथ प्रमाण प थ्वी देखते चलते हैं, **२.**बोलें तब हित मित रूप वचन बोलते हैं, **३.**आहार लें सो छियालीस दोष, बत्तीस अंतराय टाल और चौदह मल रहित शुद्ध आहार लेते हैं, **४.**धर्मोपकरणों को उठावें–लें तब यत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं ऐसे ही **५.**कुछ क्षेपण करें तब यत्नपूर्वक क्षेपण करते हैं–इस प्रकार निष्प्रमाद प्रवर्तते हैं तब संयम शुद्ध पलता है इसलिये पाँच समिति रूप प्रव त्ति कही है।

ऐसे संयमाचरण चारित्र की प्रव त्ति का वर्णन किया।।३७।।

उत्थानिका

अब आचार्य निश्चय चारित्र को मन में धारण कर ज्ञान का स्वरूप कहते हैं और ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है उसके अनुभवन का उपदेश करते हैं :–

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि।। ३४।।

जिनमग में जिनवर भव्यजन के, बोधहित जैसा कहा।
उस ज्ञान एवं ज्ञान रूपी, आतमा को जान तू।।३४।।

अर्थ

जिनमार्ग में जिनेश्वर देव ने भव्य जीवों के संबोधने के लिये जैसा ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे भव्य जीव ! तू जान।

भावार्थ

ज्ञान को और ज्ञान के स्वरूप को अन्यमती अनेक प्रकार से कहते हैं, वैसा ज्ञान

और ज्ञान का स्वरूप नहीं है। जो सर्वज्ञ वीतराग देव भाषित ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप है वह निर्बाध सत्यार्थ है। ज्ञान है सो ही आत्मा है तथा आत्मा का जो स्वरूप है उसको जानकर उसमें स्थिरता भाव करे व परद्रव्यों से राग–द्वेष न करे सो ही निश्चय चारित्र है सो पूर्वोक्त महाव्रतादि की प्रव त्ति के द्वारा इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होना–ऐसा उपदेश है।।३८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसे ज्ञान से इस प्रकार जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है' :–

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासण मोक्खमग्गु त्ति।। ३9।।

सुविभाग जाने जीव-अजीव का, होता वह सज्ज्ञानि अरु।
रागादि दोष से रहित, जिनशासन में मुक्तिमग यही।।३9।।

अर्थ

जो पुरुष जीव और अजीव–इनका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है तथा रागादि दोषों से रहित होता है–ऐसा जिनशासन में मोक्षमार्ग है।

भावार्थ

जो जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप भेद रूप जान आपा-परका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और परद्रव्यों से राग-द्वेष छोड़ने से ज्ञान में स्थिरता होने पर निश्चय सम्यक् चारित्र होता है सो ही जिनमत में मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है। अन्यमतियों ने जो अनेक प्रकार कल्पना करके कहा है वह मोक्षमार्ग नहीं है।।३9।।

उत्थानिका

आगे ऐसे मोक्षमार्ग को जान जो श्रद्धा सहित उसमें प्रवर्तता है वह शीघ्र ही मोक्ष पाता है–ऐसा कहते हैं :–

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं।।४०।।

श्रद्धा परम से जानो उन, द ग्-ज्ञान-चारित तीन को।
निर्वाण पाते योगी जिनको, जान करके शीघ्र ही।।४०।।

अर्थ

हे भव्य ! तू दर्शन, ज्ञान व चारित्र–इन तीनों को परम श्रद्धा से जान, जिसको जानकर योगी मुनि हैं सो थोड़े ही काल मे निर्वाण को पाते हैं।

भावार्थ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग है उसको श्रद्धापूर्वक जानने का उपदेश है क्योंकि इसको जानने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।।४०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस प्रकार निश्चय चारित्र रूप ज्ञान का जैसा स्वरूप कहा, उसको जो पाते हैं वे शिव रूप मन्दिर में बसने वाले होते हैं' :–

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।।४१।।

पा ज्ञान जल संयुक्त हो, सुविशुद्ध निर्मल भाव से।
त्रिभुवन के चूड़ामणि वे, शिवधामवासी सिद्ध हों।।४१।।

अर्थ

जो पुरुष इस जिनभाषित ज्ञान रूप जल को पा करके अपने निर्मल भली प्रकार विशुद्ध भाव से संयुक्त होते हैं वे पुरुष तीन भुवन के चूड़ामणि और 'शिव' अर्थात् मुक्ति सो ही हुआ 'आलय' अर्थात् मन्दिर उसमें बसने वाले ऐसे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

भावार्थ

जैसे जल से स्नान करके शुद्ध हो उत्तम पुरुष महल में निवास करते हैं वैसे यह

ज्ञान है सो जलवत् है और आत्मा के रागादि मल लगने से मलिनता होती है सो इस ज्ञान रूपी जल से रागादि मल धोकर जो अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं वे मुक्ति रूपी महल में बस आनन्द भोगते हैं और उनको तीन भुवन के शिरोमणि सिद्ध कहा जाता है।।४१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान गुण से जो रहित हैं वे इष्ट वस्तु को नहीं पाते इसलिये गुण–दोष को जानने के लिये ज्ञान को भली प्रकार से जानना' :–

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंति ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाऊं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि।।४२।।

जो ज्ञान गुण से हीन वे, पाते ना इच्छित लाभ को।
यह जान सम्यग्ज्ञान जानो, दोष-गुण के ज्ञान हित।।४२।।

अर्थ

ज्ञान गुण से हीन जो पुरुष हैं वे अपनी इच्छित वस्तु के लाभ को नहीं पाते हैं ऐसा जानकर हे भव्य ! तू पूर्वोक्त जो सम्यग्ज्ञान है उसको गुण–दोष को जानने के लिये जान।

भावार्थ

ज्ञान के बिना गुण–दोष का ज्ञान नहीं होता तब अपनी इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु को नहीं जानता और तब इष्ट वस्तु का लाभ नहीं होता क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही से गुण दोष जाने जाते हैं इसलिये गुण–दोष को जानने के लिये सम्यग्ज्ञान को जानना सम्यग्ज्ञान के बिना हेय–उपादेय वस्तुओं का जानना नहीं होता और हेय–उपादेय को जाने बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता इसलिये ज्ञान ही को चारित्र से प्रधान करके कहा है।।४२।।



आगे कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करते हैं वे थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाते हैं :–

चारित्तसमारूढ़ो अप्पासु[1] परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो।। ४३।।

चारित्र पे आरूढ़ ज्ञानी, पर को आत्म में ना चहें।
निश्चय ही जानो अचिर, अनुपम, सौख्य को पाते हैं वे।।४३।।

अर्थ

जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र सहित है वह अपनी आत्मा में परद्रव्य की इच्छा नहीं करता, परद्रव्य में राग–द्वेष–मोह नहीं करता सो ज्ञानी जिसकी उपमा नहीं है ऐसा अविनाशी मुक्ति का सुख पाता है ऐसा हे भव्य ! तू निश्चय से जान। यहाँ ज्ञानी होकर हेय–उपादेय को जानकर संयमी हो जो परद्रव्य को अपने में नहीं मिलाता है वह परमसुख पाता है ऐसा बताया है।।४३।।



आगे इस चारित्र के कथन का संकोच करते हैं :–

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासय दुण्हं पि उदेसियं चरणं।। ४४।।

टि0-1. इस □ाब्द की सं0 छाया-'आत्मनः' करते हुए 'श्रु0 टी0' में गाथा की प्रथम पंक्ति का अर्थ किया है-'चारित्र पर आरूढ़ हुआ अर्थात् चारित्र का पालन करता हुआ ज्ञानी आत्मा से पर अर्थात् भिन्न माला, स्त्री आदि अन्य इष्ट पदार्थों की इच्छा नहीं करता। जैसा कि कहा भी है-**जिनका मन समसुख से सुवासित हो रहा है, उन्हें भोजन ही रुचिकर नहीं होता फिर अन्य कामभोगों की तो क्या कथा ! मछलियों को जब खाली जमीन भी जलाती है तो फिर अंगार का तो कहना ही क्या है !**'

इस भाँति ज्ञानी वीतरागी, देव ने संक्षेप से।
सम्यक्त्व, संयम के आश्रय दो, प्रकार का भाषा चरित।।४४।।

अर्थ

'एवं' अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार संक्षेप से श्री वीतराग देव ने कहा जो सम्यक्त्व और संयम–इन दोनों के आश्रय दोनों का चारित्र दो प्रकार का कहा है। कैसा है वीतराग–ज्ञान रूप सर्वज्ञ है।

भावार्थ

श्री वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा भाषित जो चारित्र उसका पूर्वोक्त प्रकार संक्षेप से सम्यक्त्व और संयम–इन दोनों के आश्रित सम्यक्त्वाचरण स्वरूप और संयमाचरण स्वरूप दो प्रकार से उद्देश रूप किया है, आचार्य देव ने चारित्र के कथन का संक्षेप रूप से कहकर संकोच किया है।।४४।।

उत्थानिका

आगे इस **'चारित्रपाहुड़ को भाने का उपदेश और इसका फल'** कहते हैं :–

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगई चइऊणं अचिरेण अपुणब्भवा होह।। ४५।।

स्फुट रचित यह 'चरणपाहुड़', भावो भाव विशुद्ध से।
तज चतुर्गति को शीघ्र ही, निर्वाण जिससे प्राप्त हो।।४५।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! यह 'चरण' अर्थात् चारित्र का पाहुड हमने स्फुट प्रकट करके रचा है उसको तुम अपने भाव को शुद्ध करके भाओ, अपने भावों में बारम्बार अभ्यास करो, जिससे शीघ्र ही चार गतियों को छोड़कर अपुनर्भव जो मोक्ष सो तुम्हारे होगा, फिर संसार में जन्म नहीं पाओगे।

भावार्थ

इस चारित्रपाहुड को बांचना, पढ़ना, धारण करना, बारम्बार भाना और अभ्यास

करना–यह उपदेश है, क्योंकि चारित्र का स्वरूप जानकर उसे धारण करने की रुचि हो और अंगीकार करे तब चार गति रूप संसार के दुःख से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त होता है तथा फिर संसार में जन्म धारण नहीं करता इसलिये जो कल्याण के अर्थी हैं वे ऐसा करो।।४५।।

इस प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र ऐसे दो प्रकार के चारित्र का स्वरूप इस प्राभ त में कहा।

छप्पय

चारित दोय प्रकार, देव जिनवर नैं भाख्या।
समकित संयम चरण, ज्ञानपूरव तिस राख्या।।
जे नर सरधावान, याहि धारैं विधि सेती।
निश्चय अर व्यवहार, रीति आगम मैं जेती।।
जब जग धंधा सब मेटिकै, निज स्वरूप मैं थिर रहै।
तब अष्ट कर्म कूं नाशिकै, अविनाशी सुख शिव लहै।।१।।

अर्थ

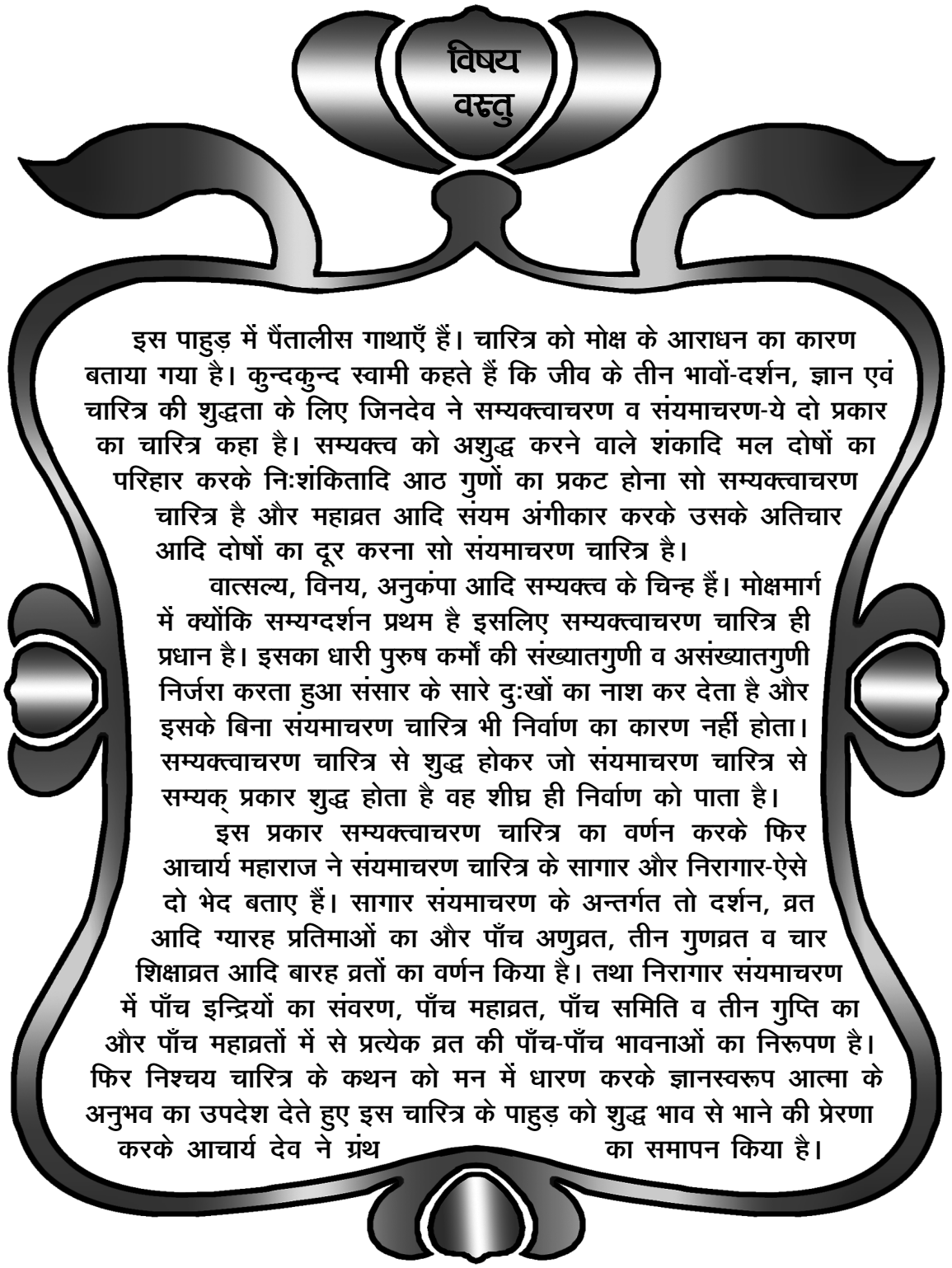
जिनदेव ने सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण–ऐसा दो प्रकार का चारित्र कहा है और ज्ञान को उसके पूर्व में रखा है। जो श्रद्धावान नर निश्चय और व्यवहार रीति से आगम में जैसा कहा है वैसा उनको विधिपूर्वक धारण करते हैं वे जगत का सारा धंधा मेटकर जब निज स्वरूप में स्थिर होते हैं तब अष्टकर्म का नाश करके अविनाशी मोक्ष को प्राप्त करते हैं।।१।।

दोहा

जिनभाषित चारित्र कूं, पालैं जे मुनिराज।
तिनिके चरण नमूं सदा, पाऊं तिनि गुणसाज।। २।।

अर्थ

जो जिनभाषित चारित्र का पालन करते हैं उन मुनिराज के चरणों में मैं सदा इसलिए नमस्कार करता हूँ जिससे मैं उनके गुणों के समूह को पा जाऊँ।।२।।

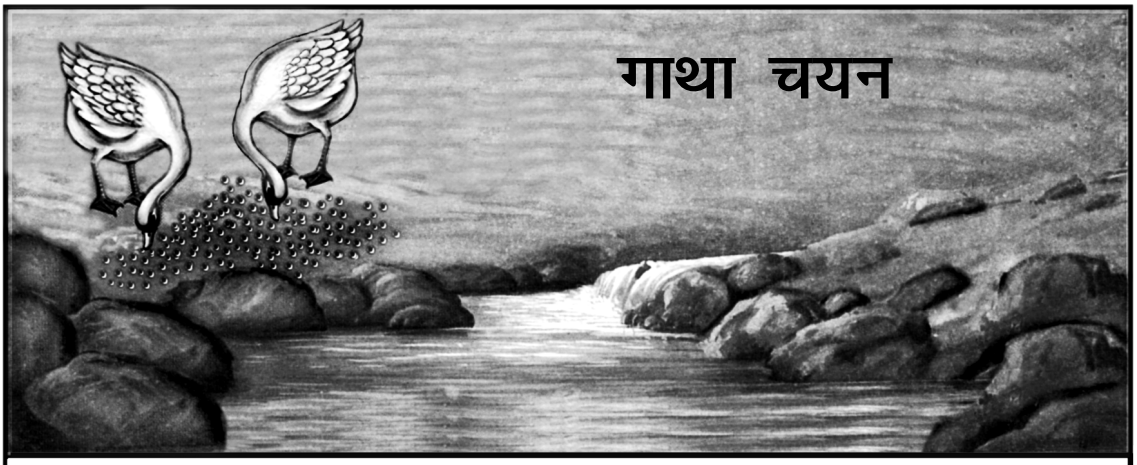


विषय वस्तु

इस पाहुड़ में पैंतालीस गाथाएँ हैं। चारित्र को मोक्ष के आराधन का कारण बताया गया है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जीव के तीन भावों-दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की शुद्धता के लिए जिनदेव ने सम्यक्त्वाचरण व संयमाचरण-ये दो प्रकार का चारित्र कहा है। सम्यक्त्व को अशुद्ध करने वाले शंकादि मल दोषों का परिहार करके निःशंकितादि आठ गुणों का प्रकट होना सो सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और महाव्रत आदि संयम अंगीकार करके उसके अतिचार आदि दोषों का दूर करना सो संयमाचरण चारित्र है।

वात्सल्य, विनय, अनुकंपा आदि सम्यक्त्व के चिन्ह हैं। मोक्षमार्ग में क्योंकि सम्यग्दर्शन प्रथम है इसलिए सम्यक्त्वाचरण चारित्र ही प्रधान है। इसका धारी पुरुष कर्मों की संख्यातगुणी व असंख्यातगुणी निर्जरा करता हुआ संसार के सारे दुःखों का नाश कर देता है और इसके बिना संयमाचरण चारित्र भी निर्वाण का कारण नहीं होता। सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होकर जो संयमाचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध होता है वह शीघ्र ही निर्वाण को पाता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र का वर्णन करके फिर आचार्य महाराज ने संयमाचरण चारित्र के सागार और निरागार-ऐसे दो भेद बताए हैं। सागार संयमाचरण के अन्तर्गत तो दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमाओं का और पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत आदि बारह व्रतों का वर्णन किया है। तथा निरागार संयमाचरण में पाँच इन्द्रियों का संवरण, पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति का और पाँच महाव्रतों में से प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का निरूपण है। फिर निश्चय चारित्र के कथन को मन में धारण करके ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव का उपदेश देते हुए इस चारित्र के पाहुड़ को शुद्ध भाव से भाने की प्रेरणा करके आचार्य देव ने ग्रंथ का समापन किया है।



गाथा चयन

गाथा ४–'एए तिण्णि वि भावा....' **अर्थ**–जीव के ज्ञानादि ये तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं। इन तीनों की शुद्धि के लिए जिनदेव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।।१।।

गा० ५–'जिणणाणदिट्ठिसुद्धं....' **अर्थ**–पहला सम्यक्त्व के आचरणस्वरूप चारित्र है सो जिनभाषित तत्त्वों के ज्ञान और श्रद्धान से शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरणस्वरूप चारित्र है वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।।२।।

गा० ९–'सम्मत्तचरणसुद्धा....' **अर्थ**–जो ज्ञानी अमूढ़द ष्टि होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध हैं वे यदि संयमाचरण चारित्र से भी सम्यक् प्रकार शुद्ध होते हैं तो शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।।३।।

गा० १०–'सम्मत्तचरणभट्ठा....' **अर्थ**–जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं वे अज्ञान और ज्ञान के विषय में मूढ़ होने के कारण निर्वाण को नहीं पाते हैं।।४।।

गा० १९–'एए तिण्णि वि भावा....' **अर्थ**–ये सम्यग्दर्शनादि तीनों भाव मोह रहित जीव के होते हैं तब यह जीव अपने आत्मगुण की आराधना करता हुआ शीघ्र ही कर्म का नाश करता है।।५।।

गाथा २०–'संखिज्जमसंखिज्जं....' **अर्थ**–सम्यक्त्व का आचरण करने वाले धीर पुरुष संसारी जीवों की मर्यादा मात्र कर्मों की संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा करते हुए दुःखों का क्षय करते हैं।।६।।

गाथा ३१–'साहंति जं....' **अर्थ**–इनको महंत पुरुष साधते हैं तथा पहले भी ये महापुरुषों के द्वारा आचरण किये गये हैं और ये आप ही महान हैं इसीलिए ये व्रत महाव्रत कहलाते हैं।।७।।

गाथा ३४–'भव्वजणबोहणत्थं....' **अर्थ**–जिनमार्ग में जिनेश्वर देव ने भव्य जीवों को

संबोधने के लिए जैसा ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे भव्य! तू अच्छी तरह जान।।8।।

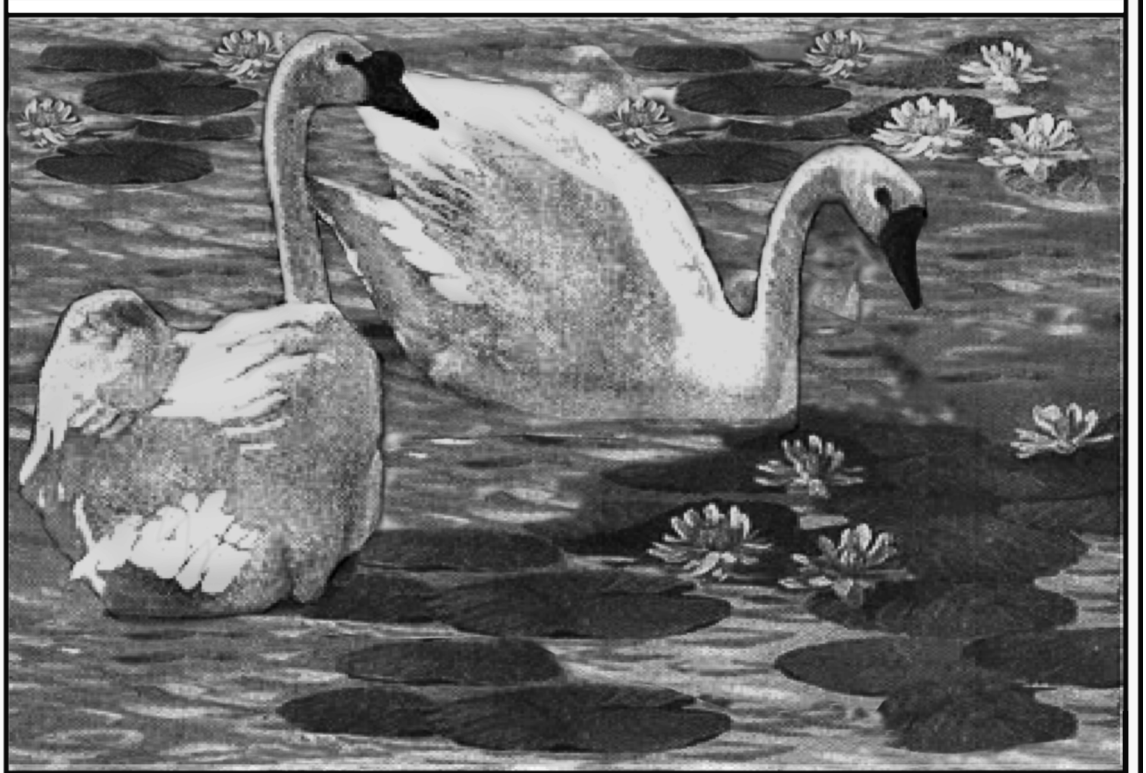
गा० ३9–'जीवाजीवविभत्ती....' **अर्थ**–जो पुरुष जीव और अजीव का भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है। रागादि दोषों से रहित ही जिनशासन में मोक्षमार्ग है।।9।।

गा० ४०–'दंसणणाणचरित्तं....' **अर्थ**–दर्शन, ज्ञान और चारित्र-इन तीनों को तू परम श्रद्धा से जान जिन्हें जानकर योगी शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।।१०।।

गा० ४१–'पाऊण णाणसलिलं....' **अर्थ**–जो पुरुष ज्ञान रूपी जल को पाकर निर्मल और सुविशुद्ध भावों से संयुक्त होते हैं वे शिवालय में बसने वाले तथा त्रिभुवन के चूडामणी सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।।११।।

गा० ४२–'णाणगुणेहिं विहीणा....' **अर्थ**–जो पुरुष ज्ञान गुण से रहित हैं वे अपनी इच्छित वस्तु के लाभ को नहीं पाते हैं ऐसा जानकर तू गुण-दोषों को जानने के लिए सम्यग्ज्ञान को भली प्रकार जान।।१२।।

गा० ४३–'चारित्तसमारूढ़ो....' **अर्थ**–चारित्र में आरूढ़ ज्ञानी अपनी आत्मा में परद्रव्य को नहीं चाहता है, वह शीघ्र ही अनुपम सुख पाता है-ऐसा तू निश्चय से जान।।१३।।



१. **सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा।। गाथा २०।।**
अर्थ–सम्यक्त्व का आचरण करने वाले धीर पुरुष दुःखों का क्षय करते हैं।

२. **णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि।। ३४।।**
अर्थ–उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को तू जान।

३. **जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।। ३9।।**
अर्थ–जो पुरुष जीव और अजीव के विभाग को जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है।

४. **रायादिदोसरहिओ जिणसासण मोक्खमग्गुत्ति।। ३9।।**
अर्थ–जिनशासन में रागादि दोषों से रहित ही मोक्षमार्ग है।

५. **दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए।। ४०।।**
अर्थ–हे भव्य! दर्शन, ज्ञान व चारित्र-इन तीनों को तू परम श्रद्धा से जान।

६. **णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंति ते सुइच्छियं लाहं।। ४२।।**
अर्थ–ज्ञान गुण से हीन पुरुष अपनी इच्छित वस्तु-मोक्ष के लाभ को नहीं पाते।

७. **चारित्तसमारूढ़ो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।। ४३।।**
अर्थ–चारित्र में आरूढ़ ज्ञानी अपनी आत्मा में परद्रव्य को नहीं चाहता।



मैं
सर्वज्ञ,
सर्वदर्शी,
मोह से रहित,
वीतराग परम पद में
स्थित, त्रिजगत के द्वारा वंदनीय
और भव्य जीवों से पूज्य अरहंतों की
वंदना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र
की शुद्धि का कारण तथा मोक्ष आराधन का हेतुभूत
चारित्रपाहुड़ कहूँगा।। गा० १, २।। वह जिनदेव का श्रद्धान
जब निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध होता है तथा यथार्थ
ज्ञान से युक्त आचरण किया जाता है तो प्रथम सम्यक्त्वाचरण
चारित्र कहलाता है सो मोक्षस्थान के लिए होता है।।८।। हे
भव्य ! तू ज्ञान के होते तो अज्ञान को, विशुद्ध सम्यक्त्व के होते
मिथ्यात्व को तथा अहिंसा लक्षण धर्म के होते अधम हिंसा के
आरम्भ को छोड़।।१५।। हे भव्य ! तू परिग्रह का त्याग जिसमें
हो ऐसी दीक्षा ग्रहण कर, उत्तम संयम भाव के होते सम्यक्
प्रकार तप में प्रवृत्ति कर क्योंकि मोह रहित वीतराग भाव
के होने पर ही अत्यंत विशुद्ध ध्यान होता
है।। १६।। चारित्र पाहुड़।।

गाथा १



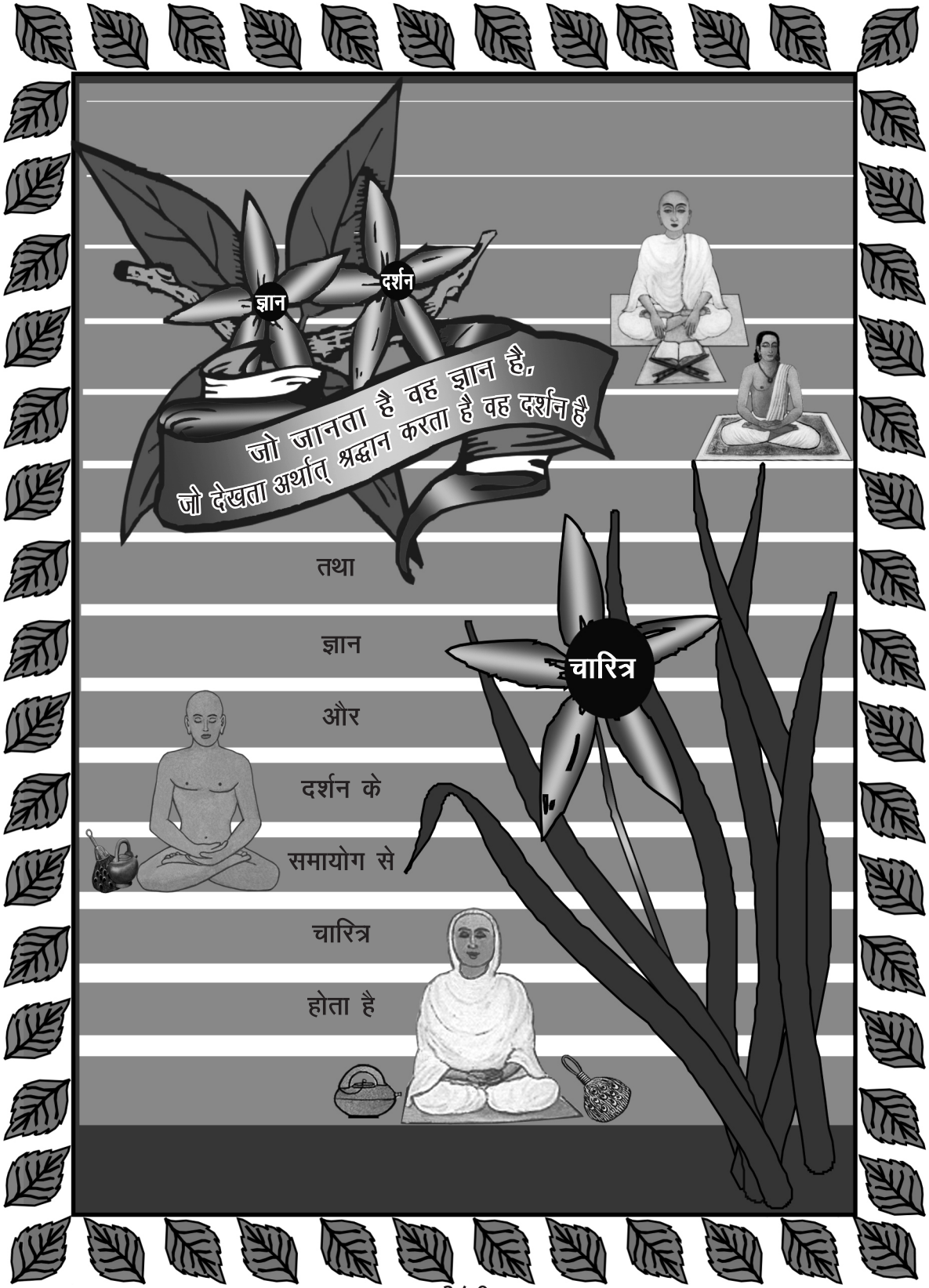
आचार्य कहते हैं कि मैं

सर्वज्ञ सर्वदर्शी, निर्मोह वीतराग और तीनों लोकों के भव्यजीवों के द्वारा वंद्य

अरहंत परमेष्ठी को नमस्कार करके

चारित्र पाहुड को कहूंगा।

गाथा ३


ज्ञान
दर्शन
जो जानता है वह ज्ञान है,
जो देखता अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन है
तथा
ज्ञान
और
दर्शन के
समायोग से
चारित्र
होता है
चारित्र

गाथा ४,५



जीव के ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय तथा अमेय होते हैं तथा
उन तीनों की शुद्धि के लिए जिनदेव ने ये दो प्रकार का चारित्र कहा है



इन दोनों में

पहला



जो सम्यक्त्व के आचरणस्वरूप चारित्र है
सो जिनभाषित तत्त्वों के ज्ञान व श्रद्धान से शुद्ध है।

तथा

दूसरा



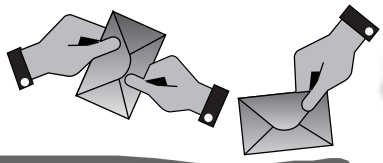
जो संयम का आचरणस्वरूप चारित्र है
वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।

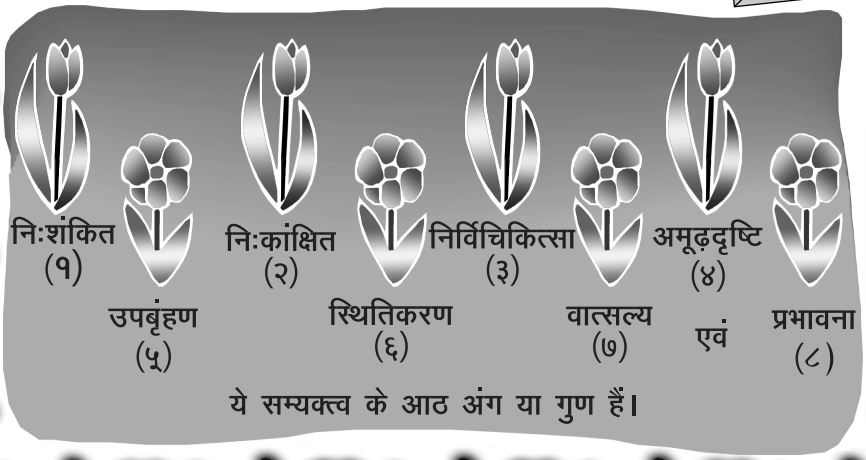


गाथा ६,७

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार
सम्यक्त्वाचरण चारित्र को जानकर
जिनदेव के द्वारा कहे हुए
मिथ्यात्व के उदय से होने वाले
शंकादि सब निम्न दोषों को जो कि
सम्यक्त्व के अशुद्ध करने वाले मल हैं
मन-वचन-काय
से छोड़ो।

शंका(१)	कांक्षा(२)	जुगुप्सा(३)	मूढ़दृष्टि(४)
अनुपगूहन (५)	अस्थितिकरण (६)	अवात्सल्य (७)	अप्रभावना (८)





ये सम्यक्त्व के आठ अंग या गुण हैं।

गाथा ६,१०

जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि होकर
सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध हैं
वे यदि संयमाचरण चारित्र से भी
सम्यक् प्रकार शुद्ध होते हैं तो
शीघ्र ही निर्वाण को पाते हैं।



जो पुरुष
सम्यक्त्वाचरण चारित्र
से भ्रष्ट हैं
और
संयम का आचरण करते हैं
वे अज्ञान और ज्ञान के विषय में
मूढ़ होने के कारण
निर्वाण को नहीं पाते हैं।

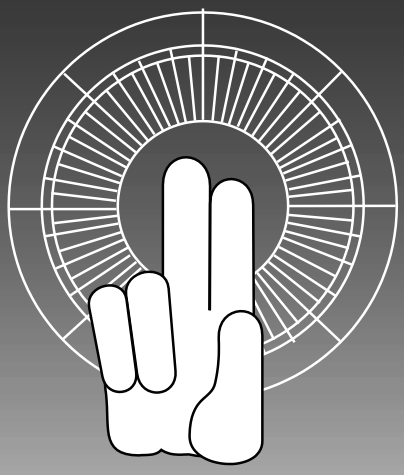
गाथा ११,१२



मोह का अभाव होने से जिनोपदिष्ट सम्यक्त्व को आराधता हुआ जीव
१. वात्सल्य,
२. विनय
३. दान देने में दक्ष अनुकम्पा
४. मोक्षमार्ग की प्रशंसा
५. उपगूहन
६. रक्षणा अर्थात् स्थितिकरण
और
इन सब चिन्हों को सत्यार्थ करने वाला
७. एक आर्जव भाव

इन सब लक्षणों से जाना जाता है।

गाथा २१



संयमाचरण चारित्र इन दो प्रकार का होता है
सागार और निरागार
इनमें से



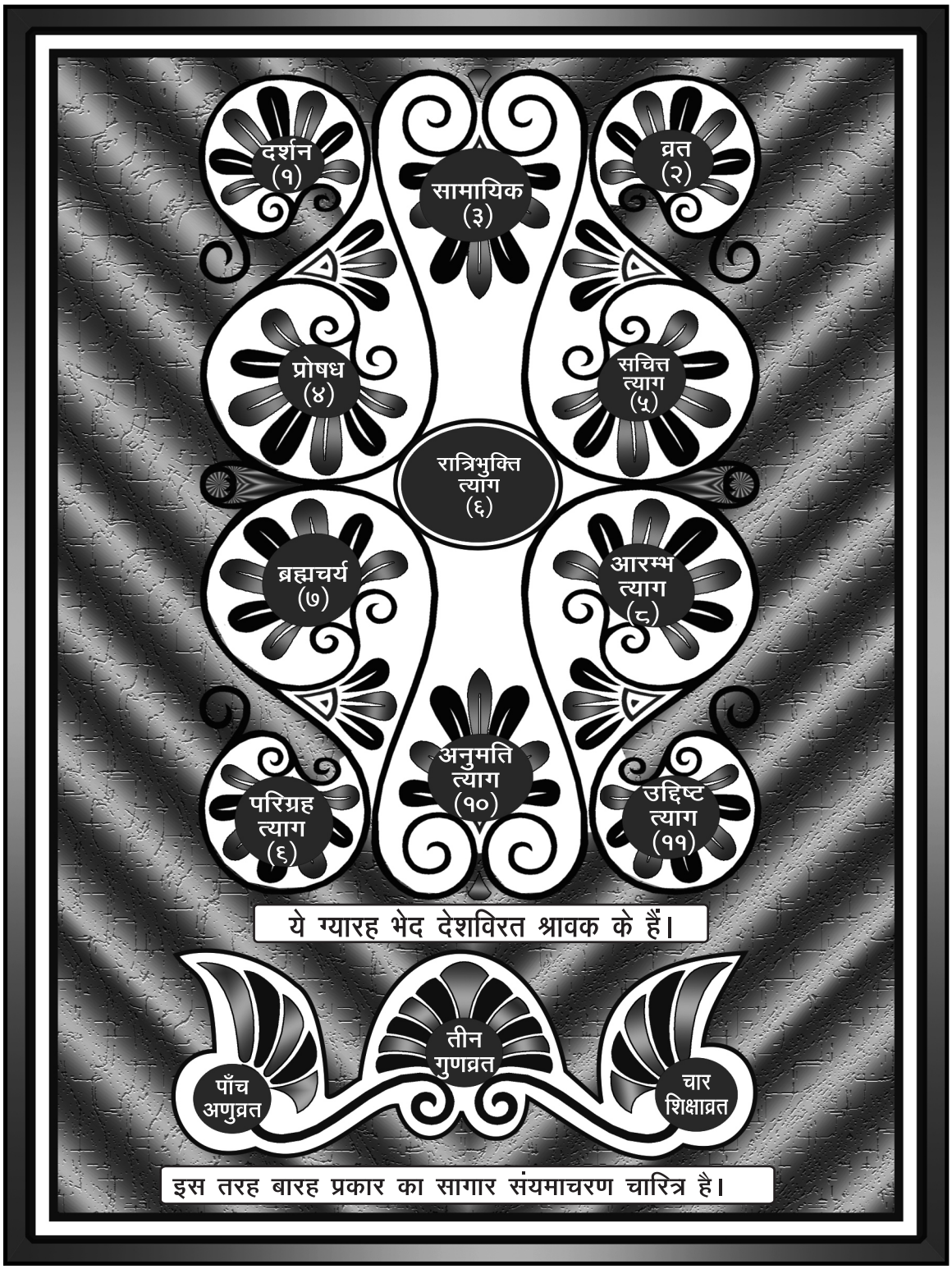
सागार तो परिग्रह सहित श्रावक के होता है

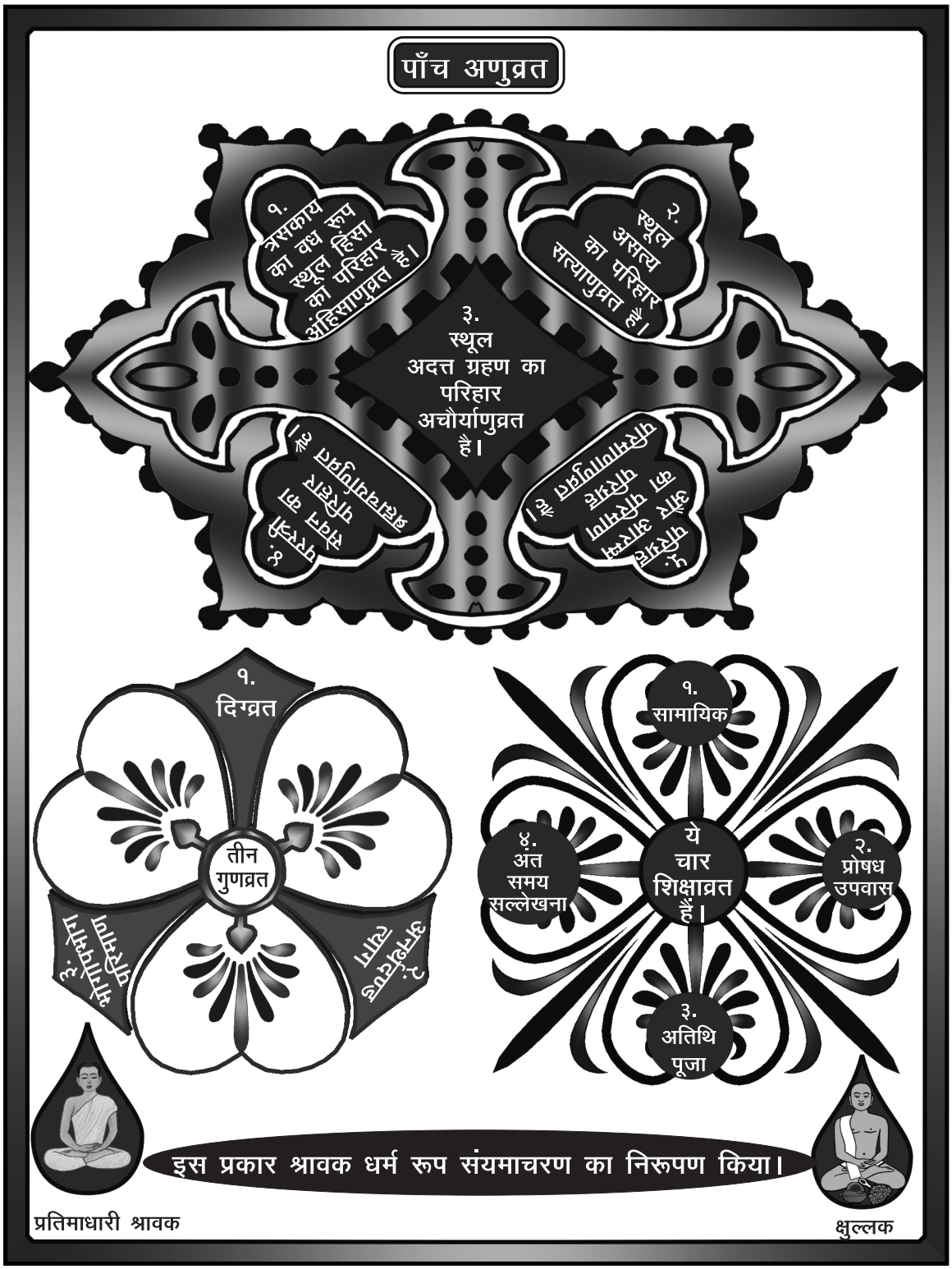
और



निरागार परिग्रह रहित मुनि के होता है

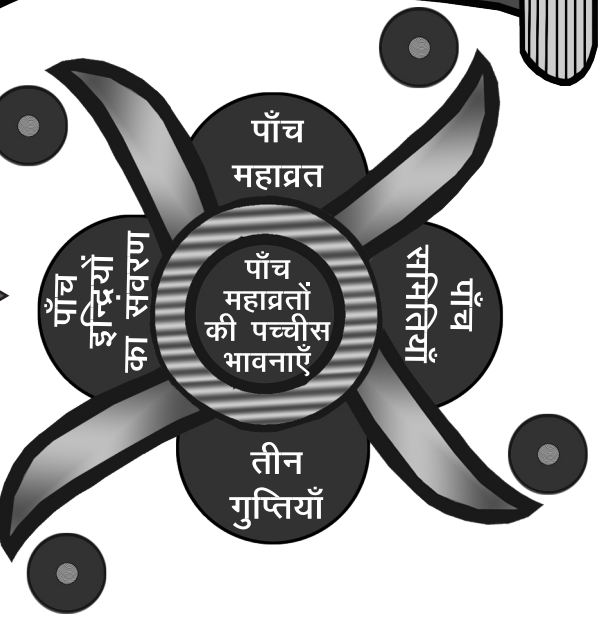
गाथा २२,२३


दर्शन (१)
सामायिक (३)
व्रत (२)
प्रोषध (४)
सचित्त त्याग (५)
रात्रिभुक्ति त्याग (६)
ब्रह्मचर्य (७)
आरम्भ त्याग (८)
परिग्रह त्याग (९)
अनुमति त्याग (१०)
उद्दिष्ट त्याग (११)
ये ग्यारह भेद देशविरत श्रावक के हैं।
पाँच अणुव्रत
तीन गुणव्रत
चार शिक्षाव्रत
इस तरह बारह प्रकार का सागार संयमाचरण चारित्र है।


पाँच अणुव्रत
१. त्रसकाय का वध रूप स्थूल हिंसा का परिहार अहिंसाणुव्रत है।
२. स्थूल असत्य का परिहार सत्याणुव्रत है।
३. स्थूल अदत्त ग्रहण का परिहार अचौर्याणुव्रत है।
४. परस्त्री मात्र का त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है।
५. धन धान्यादि परिग्रह की मर्यादा परिग्रह परिमाणाणुव्रत है।
१. दिग्व्रत
२. देशव्रत
३. अनर्थदण्ड त्याग
तीन गुणव्रत
१. सामायिक
२. प्रोषध उपवास
३. अतिथि पूजा
४. अंत समय सल्लेखना
ये चार शिक्षाव्रत हैं।
इस प्रकार श्रावक धर्म रूप संयमाचरण का निरूपण किया।
प्रतिमाधारी श्रावक
क्षुल्लक

अब यहाँ यतिधर्म रूप शुद्ध और निष्कल संयमाचरण का निरूपण करूँगा।

ये निरागार संयमाचरण चारित्र है।



पाँच इन्द्रिय संवर



अमनोज्ञ और मनोज्ञ
स्त्री-पुत्रादि सजीव
तथा
गृह, स्वर्ण और रजत आदि
अजीव द्रव्यों में जो
राग-द्वेष का नहीं करना है
वह
पाँच इन्द्रियों का संवर
कहा गया है।

गाथा ३०,३२,३३,३६

पाँच महाव्रत

हिंसा से विरति अहिंसा महाव्रत है।

असत्य से विरति सत्य महाव्रत है।

अदत्त वस्तु से विरति अचौर्य महाव्रत है।

अब्रह्म से विरति ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

परिग्रह से विरति अपरिग्रह महाव्रत है।

इन पाँच व्रतों की पच्चीस भावनाएँ होती हैं।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ



सत्य व्रत की पाँच भावनाएँ

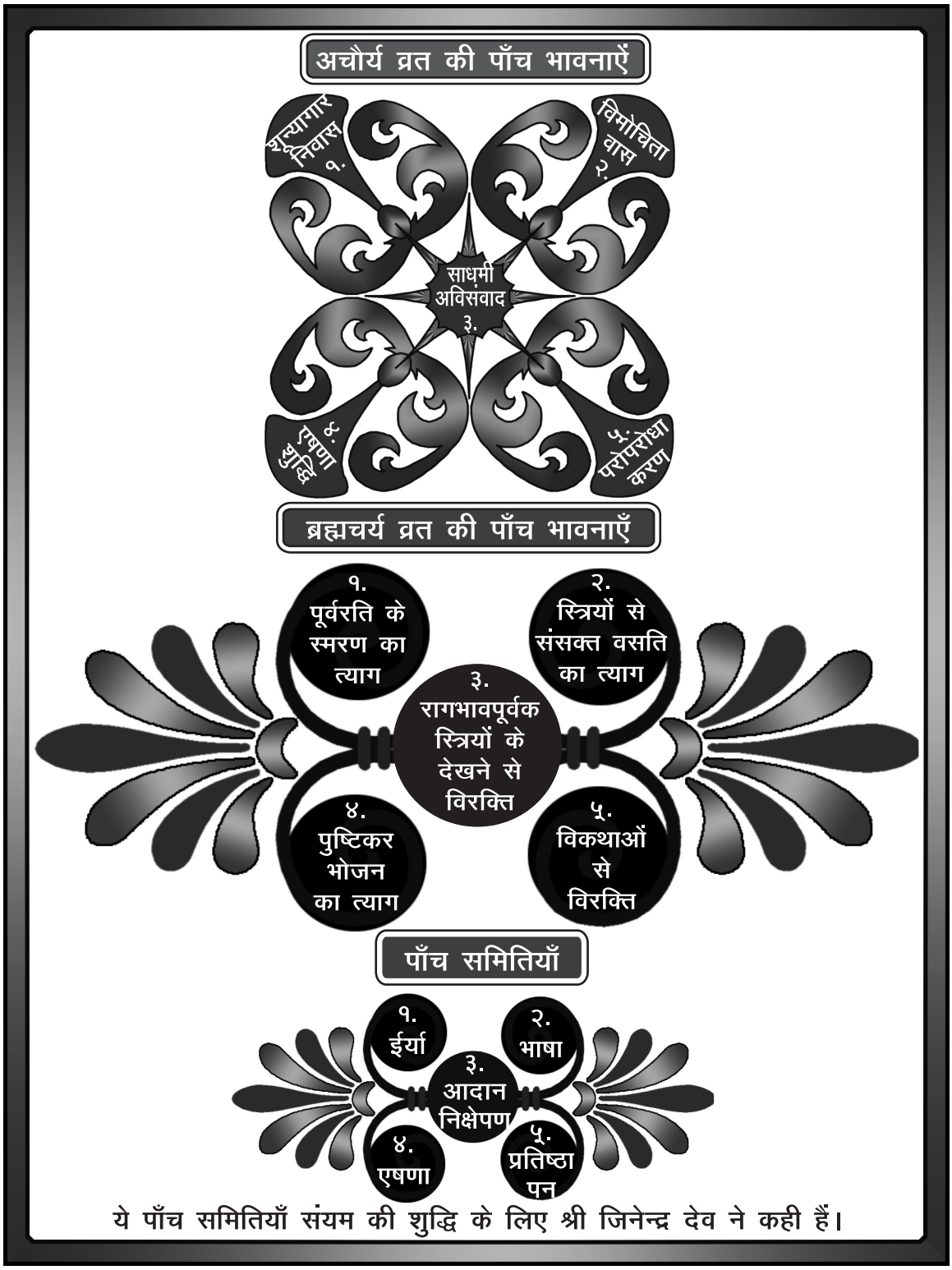


परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनाएँ

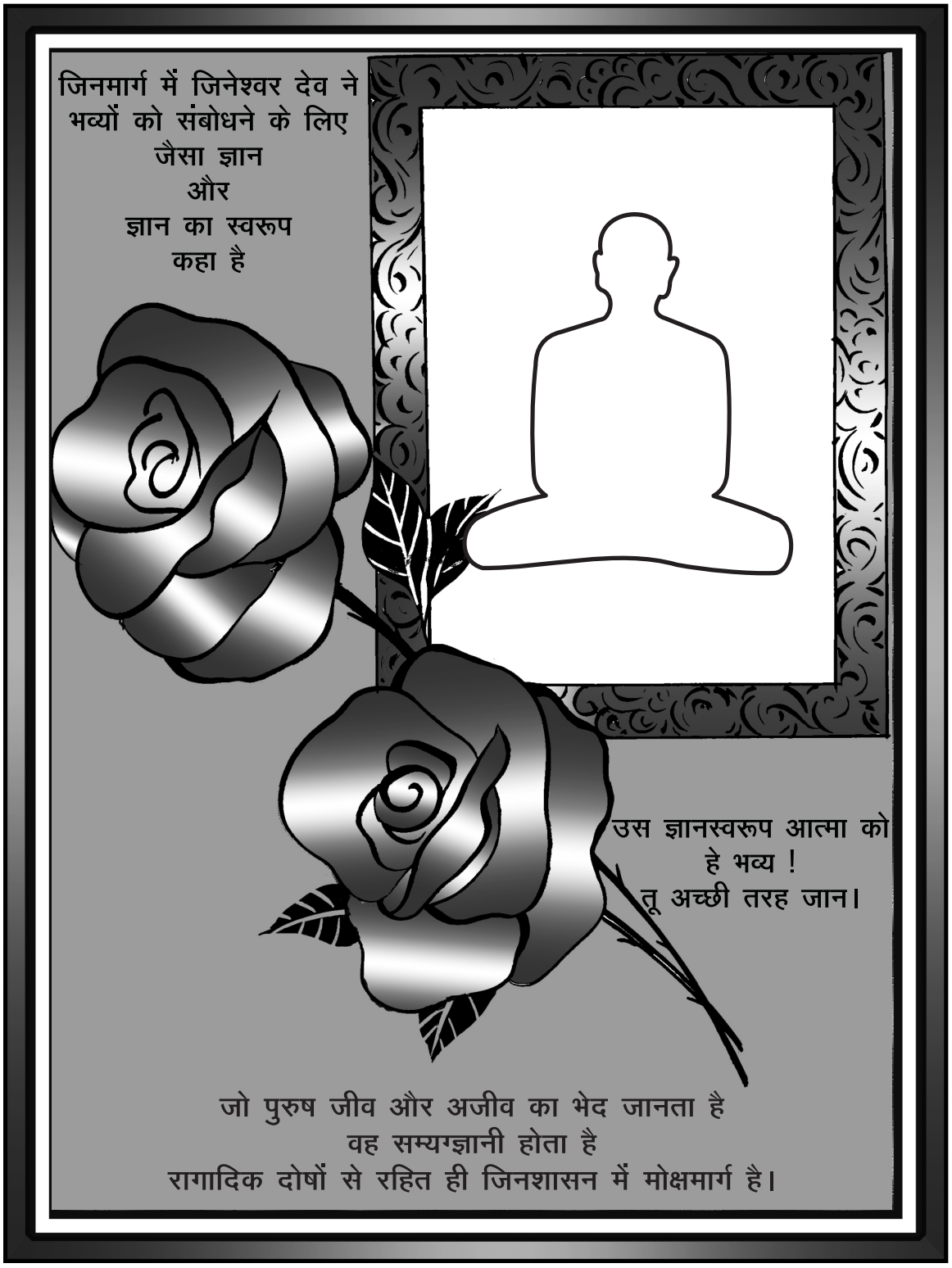
मनोज्ञ और अमनोज्ञ



इन पंचेन्द्रिय विषयों में रागद्वेषादि का त्याग


अचौर्य व्रत की पाँच भावनाऐं
शून्यागार निवास १.
विमोचिता वास २.
साधर्मी अविसंवाद ३.
एषणा शुद्धि ४.
परोपरोधा करण ५.
ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ
१. पूर्वरति के स्मरण का त्याग
२. स्त्रियों से संसक्त वसति का त्याग
३. रागभावपूर्वक स्त्रियों के देखने से विरक्ति
४. पुष्टिकर भोजन का त्याग
५. विकथाओं से विरक्ति
पाँच समितियाँ
१. ईर्या
२. भाषा
३. आदान निक्षेपण
४. एषणा
५. प्रतिष्ठापन
ये पाँच समितियाँ संयम की शुद्धि के लिए श्री जिनेन्द्र देव ने कही हैं।

गाथा ३८,३९


जिनमार्ग में जिनेश्वर देव ने
भव्यों को संबोधने के लिए
जैसा ज्ञान
और
ज्ञान का स्वरूप
कहा है
उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को
हे भव्य !
तू अच्छी तरह जान।
जो पुरुष जीव और अजीव का भेद जानता है
वह सम्यग्ज्ञानी होता है
रागादिक दोषों से रहित ही जिनशासन में मोक्षमार्ग है।

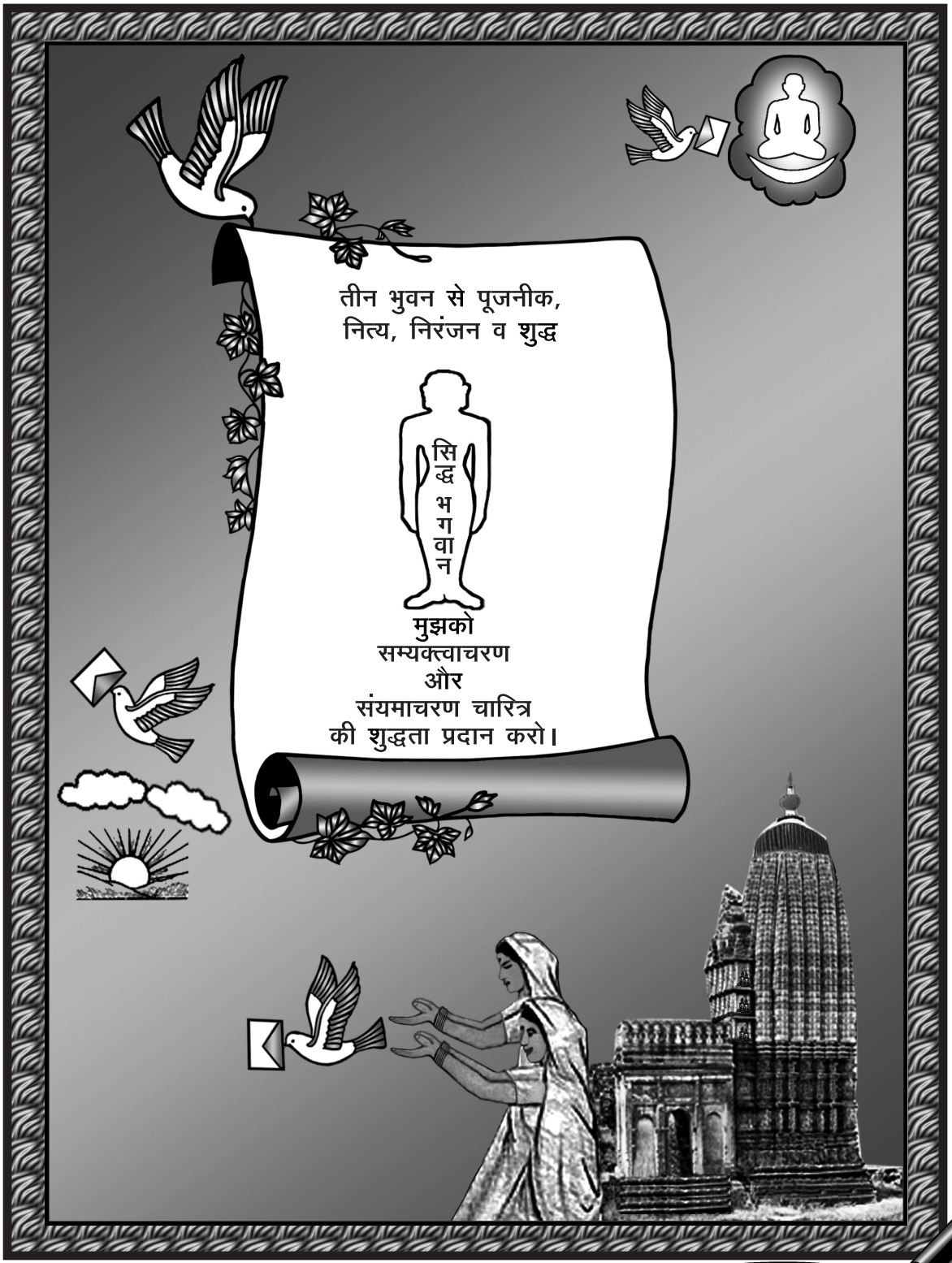
गाथा ४१



जो पुरुष ज्ञान रूपी जल को पीकर निर्मल और सुविशुद्ध भावों से संयुक्त होते हैं



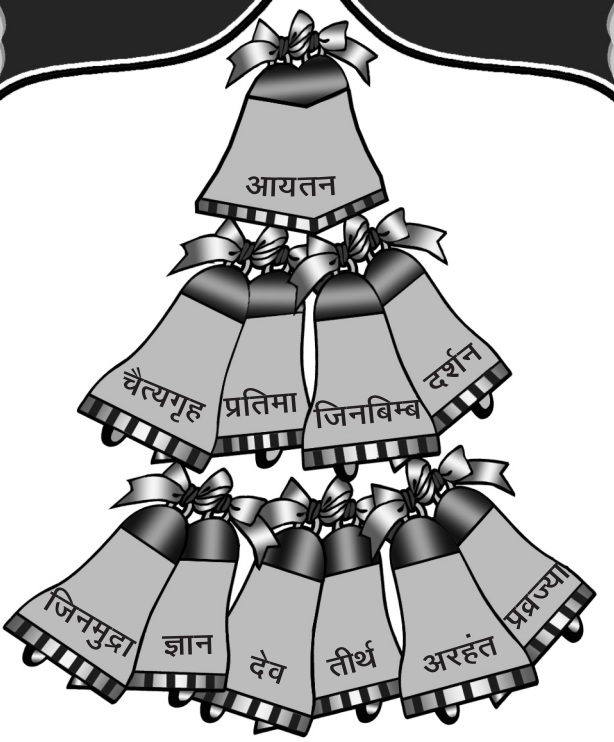
अंतिम सूक्ति



चारित्रपाहुड समाप्त


४
बोध पाहुड़

प्रारम्भिक सूक्ति



अनादि से संसार में भ्रमते प्राणी अपना दुःख मेटने को आयतन आदि ग्यारह स्थानक जो धर्म के ठिकाने उनका आश्रय लेते हैं पर उनका सच्चा स्वरूप जानते नहीं सो यथार्थ जाने बिना सुख कहाँ ! अतः आचार्य देव ने दयालु होकर जैसा सर्वज्ञ देव ने भाषा वैसा आयतन आदि का स्वरूप इस 'बोधपाहुड़' में यथार्थ कहा है, उसको बांचो–पढ़ो, धारण करो, उसकी श्रद्धा करो, उन स्वरूप प्रवर्तो जिससे वर्तमान में सुखी रहो और आगामी संसार के समस्त दुःखों से छूटकर परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त होओ।

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१-२	आचार्य वंदना रूप मंगलाचरण एवं ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा	४–६
३-४.	**आयतन आदि ग्यारह स्थलों के नाम**	४–७
५.	**आयतन**–सामान्य संयमी आयतन है	४–८
६.	ऋद्धिधारक मुनि-महर्षि आयतन हैं	४–८
७.	निर्मल ध्यान से सहित, मुनिवरव षभ केवलज्ञानी सिद्धायतन हैं	४–९
८-९.	**चैत्यग ह**–ज्ञानमयी संयमी मुनि ही चैत्यग ह है	४–१०-११
१०-११.	**जिनप्रतिमा**–संयमी मुनि जंगम प्रतिमा है	४–१२-१३
१२-१३.	ध्रुवसिद्ध थिर प्रतिमा है	४–१३
१४.	**दर्शन**–जो मोक्षमार्ग को दिखावे वह दर्शन है	४–१५
१५.	अन्तरंग में तो ज्ञानमयी और बाह्य में मुनि का रूप सो दर्शन है	४–१६
१६.	**जिनबिम्ब**–ज्ञानमयी, वीतराग एवं दीक्षा-शिक्षा प्रदायक आचार्य ही जिनबिम्ब हैं	४–१६
१७.	ऐसे आचार्य रूप जिनबिम्ब को प्रणामादि करने की प्रेरणा	४–१७
१८.	जिनबिम्ब आचार्य ही दीक्षा-शिक्षा देने वाली अरिहंत मुद्रा है	४–१८
१९.	**जिनमुद्रा**–संयम की द ढ़ मुद्रा से सहित ज्ञान को स्वरूप में लगाने वाला मुनि ही जिनमुद्रा है	४–१९
२०.	**ज्ञान**–मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो निजस्वरूप, वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है अतः ज्ञान को जानने की प्रेरणा	४–१९
२१.	अज्ञानी मोक्षमार्ग के लक्ष्य को नहीं प्राप्त करता–इसका द ष्टान्त सहित कथन	४–२०
२२.	विनयसंयुक्त ज्ञानी ही मोक्षमार्ग के लक्ष्य को–निजात्मस्वरूप को पाता है	४–२१
२३.	जिसके पास मोक्षमार्ग की मतिज्ञानादि रूप सारी सामग्री है वह मोक्षमार्ग से नहीं चूकता	४–२१
२४.	**देव**–अर्थ, धर्म और प्रव्रज्या सहित देव अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष का कारण ज्ञान देता है	४–२२

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२५.	दयाविशुद्ध धर्म, परिग्रह रहित प्रव्रज्या और मोह रहित देव भव्यजीवों के उदय को करते हैं	४–२३
२६.	**तीर्थ**–व्रत, सम्यक्त्व विशुद्ध शुद्धात्मा रूप तीर्थ में मुनि को दीक्षा-शिक्षा रूप स्नान के द्वारा पवित्र होने की प्रेरणा	४–२४
२७.	शांतभाव सहित उत्तम क्षमादि धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान ही जिनमार्ग में तीर्थ हैं	४–२५
२८.	**अरिहंत**–नामादि निक्षेप व गुण-पर्याय आदि भावों से अरिहंत का ज्ञान होता है	४–२६
२९.	**नाम निक्षेप**–गुणों के सद्भाव से नाम अर्हंत का वर्णन	४–२८
३०.	दोषों के अभाव से नाम अर्हंत का वर्णन	४–२९
३१.	**स्थापना निक्षेप**–गुणस्थानादि पाँच भेदों से अरिहंत की स्थापना के पाँच प्रकार	४–३०
३२.	चौदह गुणस्थानों में अर्हन्त की स्थापना	४–३१
३३.	चौदह मार्गणाओं में अर्हन्त की स्थापना	४–३२
३४.	छह पर्याप्तियों में अर्हन्त की स्थापना	४–३३
३५.	दस प्राणों में अर्हन्त की स्थापना	४–३४
३६.	चौदह जीवस्थानों में अर्हन्त की स्थापना	४–३५
३७-३९.	**द्रव्य निक्षेप**–आत्मा से भिन्न औदारिक देह को प्रधान करके द्रव्य अर्हन्त का वर्णन	४–३६
४०-४१.	**भावनिक्षेप**–भाव को प्रधान करके अर्हन्त का वर्णन	४–३७-३८
४२-४४.	**प्रव्रज्या**–दीक्षा योग्य स्थानक तथा दीक्षित मुनियों के ध्यान व चिंतवन योग्य स्थान	४–४१
४५-५९.	प्रव्रज्या का अन्तरंग एवं बाह्य स्वरूप	४–४३-५६
६०.	बोधपाहुड़ के कथन का संकोचन	४–५७
६१.	बोधपाहुड़ का कथन बुद्धिकल्पित नहीं वरन् पूर्वाचार्यों के अनुसार है	४–६१
६२.	श्रुतकेवली भद्रबाहु की स्तुति रूप वचन	४–६२

2. विषय वस्तु	४–६४	**5. गाथा चित्रावली**	४–८२
3. गाथा चयन	४–६६	**6. अंतिम सूक्ति चित्र**	
4. सूक्ति प्रकाश	४–६७	**बोध पा० समाप्त**	४–८३



दोहा

देव जिनेश्वर सर्व गुरु, वंदौं मन-वच-काय।
जा प्रसाद भवि बोध ले, पालैं जीवनिकाय।। १।।

अर्थ

जिनके प्रसाद से भव्यजीव बोध (ज्ञान) को प्राप्त करके जीवों के समूह की दया पालते हैं उन जिनेश्वर देव और सारे गुरुओं की मन-वचन-काय से वंदना करता हूँ।।१।।

इस प्रकार मंगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यक त प्राक त गाथाबद्ध 'बोधपाहुड़' ग्रन्थ है उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :–

उत्थानिका

प्रथम ही आचार्य **ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा** करते हैं:–

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे।। १।।
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वोच्छामि समासेण य छक्कायसुहंकरं सुणसु।। २।।जुगमं।।

बहु शास्त्र अर्थ के ज्ञाता द ग्, संयम विमल तप आचरे।
औ कषाय मल से रहित शुद्ध, आचार्यों की कर वंदना।।१।।
जो सकल जन बोधार्थ जिन, मारग में जिनवर ने कहा।
छह काय को सुखकर सुनो, भाषूँ उसे संक्षेप से।।२।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'मैं आचार्यों की वंदना करके, **१.**छहकाय के जीवों को सुख का करने वाला, **२.**जिनमार्ग में जिनवरदेव ने जैसा कहा वैसा तथा **३.**समस्त लोगों के हित का जिसमें प्रयोजन है ऐसा ग्रंथ संक्षेप से कहूंगा उसको हे भव्य जीव! तू सुन। जिन आचार्यों की वंदना की **वे आचार्य कैसे हैं–१.** बहुत शास्त्रों के अर्थ को जानने वाले हैं। **और कैसे हैं–२.** संयम और सम्यक्त्व से जिनका तपश्चरण शुद्ध है। **और कैसे हैं–३.** 'कषाय रूप मल से रहित हैं इसलिए शुद्ध हैं।'

भावार्थ

यहाँ आचार्यों की जो वंदना की, उसके विशेषणों से यह जाना जाता है कि गणधरादि से लेकर अपने गुरु पर्यंत सबकी वंदना है तथा ग्रन्थ करने की जो प्रतिज्ञा की, उसके विशेषणों से यह जाना जाता है कि जो 'बोधपाहुड़' ग्रन्थ करेंगे उससे लोगों को धर्ममार्ग में सावधान करके, कुमार्ग छुड़ाकर अहिंसा धर्म का उपदेश करेंगे।।१–२।।

उत्थानिका

आगे इस बोधपाहुड़ में जो 'ग्यारह स्थल' बांधे हैं, उनके नाम कहते हें :–

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं।। ३।।
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो।। ४।। जुगमं।।

जिनप्रतिमा, दर्शन, चैत्यग ह, जिनमुद्रा एवं आयतन।
जिनबिम्ब होवे वीतरागी, आत्महेतुक ज्ञान अरु।। ३।।
अरहंतदेशित देव व तीरथ तथा अरहंत हैं।
गुण से विशुद्ध हो प्रव्रज्या, ये यथाक्रम ज्ञातव्य हैं।।४।।

अर्थ

१.आयतन; २.चैत्यग ह; ३.जिनप्रतिमा; ४.दर्शन; ५.जिनबिम्ब, कैसा है जिनबिम्ब? सुष्ठु अर्थात् भली प्रकार वीतराग है, रागसहित नहीं है; **६.जिनमुद्रा; ७.ज्ञान**–वह ऐसा है कि आत्मा ही उसमें अर्थ अर्थात् प्रयोजन है–इस प्रकार सात तो ये जैसे वीतरागदेव ने कहे वैसे यथा अनुक्रम से जानने तथा **१.देव; २.तीर्थ; ३.अरहंत और ४.गुण से विशुद्ध प्रव्रज्या**–ये चार जैसे अरहंत भगवान ने कहे वैसे इस ग्रंथ में जानने–**इस प्रकार ये ग्यारह स्थल हुए।**

भावार्थ

यहाँ ऐसा आशय जानना कि 'धर्ममार्ग में काल के दोष से अनेक मत हुए हैं तथा जैनमत में भी भेद हुए हैं, जिनमें आयतन आदि में विपरीतपना हुआ है,उनका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नहीं और धर्म के लोभी हुए जैसी बाह्य में प्रव त्ति देखते हैं उस ही में लगकर प्रवर्तन करने लग जाते हैं, उनको संबोधने के लिए इस 'बोधपाहुड़' की रचना की है। इसमें आयतन आदि ग्यारह स्थानकों का परमार्थभूत स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है वैसा कहेंगे, उनके अनुक्रम से जैसे नाम कहे वैसे ही अनुक्रम से उनका व्याख्यान करेंगे, सो जानने योग्य है।।३-४।।

उत्थानिका

आगे प्रथम ही जो **'आयतन'** कहा उसका निरूपण करते हैं :–

मणवयणकायदव्वा आयत्ता[1] जस्स इंदिया विसया ।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं।। ५।।

आधीन जिसके मन, वचन, तन द्रव्य, इन्द्रियविषय अरु।
जिनमग में निर्दिष्ट आयतन, उस संयमी का रूप है।।५।।

अर्थ

जिनमार्ग में जो संयम सहित मुनि का रूप है उसे आयतन कहा है। कैसा है मुनि रूप–जिनके द्रव्य रूप मन–वचन–काय तथा पाँच इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्द आदि विषय 'आयत्तन' अर्थात् आधीन हैं, वशीभूत हैं। उनके संयमी मुनि आधीन नहीं हैं, वे मुनि के वशीभूत हैं। ऐसा संयमी है सो आयतन है।।५।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं।। ६।।

मद, रागद्वेष व मोह, क्रोध अरु लोभ सब आधीन हों।
उस पंच महाव्रतधर महर्षि, को कहा है आयतन।।६।।

टि०- 1.'श्रु० टी०' में 'आयत्ता' के स्थान पर 'आसत्ता' (सं०-'आसक्ता' अर्थात् 'सम्बन्धमायाता') पाठ देकर पंक्ति का अर्थ किया है-'मन-वचन-काय रूप द्रव्य और पांच इन्द्रियों के विषय जिनके अपने आपके सम्बन्ध को प्राप्त हैं अर्थात् पर पदार्थ से हटकर आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं।'

अर्थ

जिस मुनि के मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ और 'चकार' से माया आदि—ये सब 'आयत्ता' अर्थात् निग्रह को प्राप्त हो गए तथा जो पांच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह का त्याग इनका धारी हो—ऐसे महामुनि ऋषीश्वर को आयतन कहा है।

भावार्थ

पहली गाथा में तो बाह्य का रूप कहा था, यहाँ बाह्य—अभ्यंतर दोनों प्रकार से जो संयमी हो सो आयतन है—ऐसा जानना।।६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :—

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धज्झाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सुद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं।।७।।

सुविशुद्ध ध्यानी ज्ञानयुत, जिसके सदर्थ सुसिद्ध है।
मुनिवरव षभ विदितार्थ वह, सिद्धायतन सुप्रसिद्ध है।।७।।

अर्थ

जिस मुनि के 'सदर्थ' अर्थात् समीचीन अर्थ जो शुद्ध आत्मा सो सिद्ध हो गया हो वह सिद्धायतन है।

कैसे हैं मुनि—**१.**विशुद्ध है ध्यान जिनके अर्थात् धर्मध्यान को साधकर शुक्लध्यान को प्राप्त हुए हैं।

और कैसे हैं—**२.**ज्ञान से सहित हैं अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं।

और कैसे हैं—**३.**शुद्ध हैं अर्थात् घातिकर्मरूपी मल से रहित हैं इसलिए मुनियों में 'व षभ' अर्थात् प्रधान हैं।

और कैसे हैं—**४.**जाने हैं समस्त पदार्थ जिन्होंने—ऐसे मुनिप्रधान को सिद्धायतन कहते हैं।

भावार्थ

इस प्रकार तीन गाथा में आयतन का स्वरूप कहा। उनमें **पहली** गाथा में तो

संयमी सामान्य का बाह्य रूप प्रधान करके उसे आयतन कहा। **दूसरी** में अन्तरंग–बाह्य दोनों की शुद्धता रूप ऋद्धिधारी मुनि ऋषीश्वर को कहा और इस **तीसरी** गाथा में जो मुनियों में प्रधान केवलज्ञानी हैं उनको सिद्धायतन कहा है।

यहाँ ऐसा आशय जानना–'आयतन' नाम जिसमें बसा जाए, निवास किया जाए, उसका है सो धर्म पद्धति में जो धर्मात्मा पुरुष के आश्रय करने योग्य हो वह धर्मायतन है सो ऐसे मुनि ही धर्म के आयतन हैं, अन्य कोई वेषधारी, पाखंडी, विषय-कषायों में आसक्त और परिग्रहधारी धर्म के आयतन नहीं हैं तथा जैनमत में भी जो सूत्र के विरुद्ध प्रवर्तन करते हैं वे भी आयतन नहीं हैं, वे सब अनायतन हैं। बौद्धमत में पाँच इन्द्रियाँ, पाँच उनके विषय, एक मन और एक धर्मायतन शरीर-ऐसे जो बारह आयतन कहे गए हैं वे भी कल्पित हैं सो जैसा यहाँ आयतन कहा वैसा ही जानना, धर्मात्मा को उस ही का आश्रय करना, अन्य की स्तुति, वंदना, प्रशंसा एवं विनयादि नहीं करना-यह बोधपाहुड़ ग्रन्थ करने का आशय है। और जिसमें ऐसे मुनि बसते हैं ऐसे क्षेत्र को भी आयतन कहते हैं सो यह व्यवहार है।

ऐसा आयतन का स्वरूप कहा।।७।।

उत्थानिका

आगे **'चैत्यग ह'** का निरूपण करते हैं :–

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं।। ८।।

जाने निजात्मा ज्ञानमय, अरु अन्य को चैतन्यमय।
उस ज्ञानमय शुद्ध महाव्रती को, चैत्यग ह तुम जानना।।८।।

अर्थ

जो मुनि **१.** 'बुद्ध' अर्थात् ज्ञानमयी आत्मा को जानता हो, **२.** अन्य जीवों को चैत्य अर्थात् चेतनास्वरूप जानता हो, **३.** आप ज्ञानमयी हो तथा **४.** पांच महाव्रतों से शुद्ध–निर्मल हो उस मुनि को हे भव्य ! तू 'चैत्यग ह' जान।

भावार्थ

जिसमें स्व-पर को जानने वाला, ज्ञानी, निष्पाप-निर्मल ऐसा 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप आत्मा रहता है वह 'चैत्यग ह' है सो ऐसा चैत्यग ह संयमी मुनि है, अन्य पाषाण आदि के मन्दिर को चैत्यग ह कहना व्यवहार है।।8।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स[1]।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं।।9।।

वह चैत्य आत्मिक जिसके है, सुख-दुःख बंधन-मोक्ष अरु !
षट्कायहितकर चैत्यग ह, जिनमार्ग में उसको कहा।।9।।

अर्थ

जिसके बंध और मोक्ष तथा सुख और दुःख ये अपने हों अर्थात् जिसके स्वरूप में हों उसे 'चैत्य' कहते हैं क्योंकि जो चेतनास्वरूप हो उसी के बंध, मोक्ष, सुख एवं दुःख संभव हैं। ऐसा जो चैत्य उसका जो ग ह हो वह चैत्यग ह है सो जिनमार्ग में ऐसा चैत्यग ह जो छह काय का हित करने वाला हो ऐसा मुनि है। सो पाँच स्थावर और त्रस में विकलत्रय और असैनी पंचेन्द्रिय तक तो केवल रक्षा ही करने योग्य है इसलिए उनकी रक्षा करने का उपदेश करते हैं तथा स्वयं उनका घात नहीं करते, उनका यह ही हित है तथा सैनी पंचेन्द्रिय जो जीव हैं उनकी **१.** रक्षा भी करते हैं, **२.** रक्षा का उपदेश भी करते हैं तथा **३.** उनको संसार से निव त्ति रूप मोक्ष होने का उपदेश करते हैं इस प्रकार मुनिराज को चैत्यग ह कहा जाता है।

भावार्थ

लौकिकजन चैत्यग ह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार का मानते हैं उनको सावधान किया है कि जिनसूत्र में तो जो छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी

टि0-1.ढूंढारी टीका में देखें ।

संयमी मुनि है वह चैत्यग ह है, अन्य को चैत्यग ह कहना वा मानना सो व्यवहार है। **ऐसे 'चैत्यग ह' का स्वरूप कहा।।9।।**

उत्थानिका

आगे **'जिनप्रतिमा'** का निरूपण करते हैं :–

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।। १०।।

दग-ज्ञान निर्मल चरणधर की, स्व-पर जंगम देह जो।
बिन राग है निर्ग्रन्थ सो, जिनमार्ग में प्रतिमा कही।।१०।।

अर्थ

दर्शन–ज्ञान से शुद्ध–निर्मल है चारित्र जिनका उनकी 'स्वपरा' अर्थात् अपनी और पर की जो चलती हुई देह है अथवा 'स्वपरा' अर्थात् आत्मा से 'पर अर्थात् भिन्न ऐसी जो देह है, सो जिनमार्ग में जंगम प्रतिमा है। **सो कैसी है**–निर्ग्रंथस्वरूप है, जिसके कुछ परिग्रह का लेश नहीं ऐसी दिगम्बर मुद्रा युक्त है। **और कैसी है**–वीतरागस्वरूप है, जिसके किसी वस्तु से राग–द्वेष–मोह नहीं है। जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा कही है।

भावार्थ

जिनके दर्शन-ज्ञान से निर्मल चारित्र पाया जाता है ऐसे मुनियों की गुरु-शिष्य की अपेक्षा अपनी तथा पर की चलती हुई देह जो निर्ग्रंथ वीतराग मुद्रास्वरूप है वह जिनमार्ग में प्रतिमा है, अन्य कल्पित है और धातु–पाषाण आदि से निर्मित जो दिगम्बर मुद्रास्वरूप प्रतिमा कही जाती है सो व्यवहार है, वह भी यदि बाह्य आक ति ऐसी ही हो तो व्यवहार में मान्य है[1]।।१०।।

टि०-1. ढूंढारी टीका में देखें ।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।। ११।।

जाने रु देखे शुद्ध समकित युत, चरण शुध आचरे।
वह संयमी निर्ग्रन्थ प्रतिमा, होती वंदन योग्य है।।११।।

अर्थ

जो **१.**शुद्ध चारित्र का आचरण करते हैं, **२.**सम्यग्ज्ञान से यथार्थ वस्तु को जानते हैं तथा **३.**सम्यग्दर्शन से अपने स्वरूप को देखते हैं इस प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व जिनके पाया जाता है ऐसी जो निर्ग्रंथ संयमस्वरूप प्रतिमा है वह वंदने योग्य है।

भावार्थ

जानने वाला, देखने वाला, शुद्ध सम्यक्त्व एवं शुद्ध चारित्र स्वरूप निर्ग्रंथ संयम सहित ऐसा जो मुनि का स्वरूप है सो ही प्रतिमा है, वह वंदने योग्य है, अन्य कल्पित वंदने योग्य नहीं है तथा वैसे ही रूप सद श जो धातु–पाषाण की प्रतिमा हो वह व्यवहार से वंदने योग्य है।।११।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

दंसण अणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेय।। १२।।
णिरुवममचलमखोहा णिम्मविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।। १३।। जुगमं।।

जिनका है अंतविहीन दर्शन, ज्ञान, सुख अरु अमित बल।
शाश्वत सुखी निर्देह जो, कर्माष्ट बंध विमुक्त हैं।।१२।।
निरुपम, अचल, अक्षोभ, ध्रुव, निर्मित जो जंगम रूप से।
स्थित है सिद्धस्थान में, व्युत्सर्ग प्रतिमा सिद्धों की।।१३।।

अर्थ

१. **जो अनन्त चतुष्टय युक्त है**–अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य एवं अनन्त सुख से सहित है;

२. **शाश्वत** अविनाशी सुखस्वरूप है;

३. **अदेह है**–कर्म नोकर्म रूप पुद्गलमयी देह जिनके नहीं है;

४. **अबन्ध है**–अष्ट कर्मों के बंध से रहित है;

५. **उपमा रहित है**–जिसकी उपमा दी जाए ऐसी लोक में वस्तु नहीं है;

६. **अचल है**–प्रदेशों का चलना जिसके नहीं है;

७. **अक्षोभ है**–जिसके उपयोग में कुछ क्षोभ नहीं है, निश्चल है;

8. **जंगम रूप से निर्मित है**–कर्म से निर्मुक्त होने के बाद एक समय गमन रूप होते हैं इसलिए जंगम रूप से निर्मापित है तथा

9. **सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग उसमें स्थित है** इसी से 'व्युत्सर्ग' अर्थात् काय रहित जैसा पूर्व में देह का आकार था वैसा प्रदेशों का आकार कुछ कम ध्रुव है, संसार से मुक्त होकर एक समय गमन करके लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाते हैं फिर चलाचल नहीं होते–**ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।**

भावार्थ

पहले दो गाथा में तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनि की देह सहित कही फिर इन दो गाथाओं में थिर प्रतिमा सिद्धों की कही–ऐसे जंगम–थावर प्रतिमा का स्वरूप कहा, अन्य कई अन्यथा बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं सो प्रतिमा वंदने योग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न–जो यह तो परमार्थ स्वरूप कहा और बाह्य व्यवहार में पाषाणादि की प्रतिमा की वंदना की जाती है वह कैसे ?

उसका समाधान-जो बाह्य व्यवहार में मतांतर के भेद से अनेक रीति से प्रतिमा की प्रव त्ति है सो यहाँ परमार्थ को प्रधान करके कहा है और जो व्यवहार है सो जैसा परमार्थ हो उसी को सूचित करता हुआ हो तो वह निर्बाध होता है। सो जैसा प्रतिमा का परमार्थ रूप आकार कहा वैसा ही आकार रूप यदि व्यवहार हो तो वह व्यवहार भी प्रशस्त है, व्यवहारी जीवों के वह भी वंदने योग्य है, स्याद्वाद न्याय से साधने पर परमार्थ और व्यवहार में विरोध नहीं है।

ऐसे 'जिनप्रतिमा' का स्वरूप कहा।।१२-१३।।

उत्थानिका

आगे '**दर्शन**' का स्वरूप कहते हैं :–

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।। १४।।

सम्यक्त्व, संयम, धर्ममय, शिवमग को जो दरशावता।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमयी उसे, जिनमार्ग में दर्शन कहा।।१४।।

अर्थ

जो मोक्षमार्ग को दिखाता है वह दर्शन है। कैसा है मोक्षमार्ग–सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व रूप है। **और कैसा है**–'संयम' अर्थात् चारित्र, पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति–ऐसे तेरह प्रकार चारित्र रूप है। **और कैसा है**–'सुधर्म' अर्थात् उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म रूप है। **और कैसा है**–निर्ग्रंथ रूप है, बाह्य–अभ्यंतर परिग्रह से रहित है। **और कैसा है**–ज्ञानमयी है, जीव–अजीव आदि पदार्थों को जानने वाला है। यहाँ निर्ग्रंथ और ज्ञानमयी ये दोनों विशेषण दर्शन के भी होते हैं क्योंकि दर्शन है सो बाह्य में तो इसकी मूर्ति निर्ग्रंथ रूप है और अन्तरंग ज्ञानमयी है। ऐसे मुनि के रूप को जिनमार्ग में दर्शन कहा है तथा ऐसे रूप के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व को भी दर्शन कहते हैं।

भावार्थ

परमार्थ रूप अन्तरंग दर्शन तो सम्यक्त्व है और बाह्य इसकी मूर्ति ज्ञान सहित ग्रहण किया गया निर्ग्रंथ रूप है। ऐसा मुनि का रूप है सो दर्शन है क्योंकि मत की मूर्ति को दर्शन कहना लोक में प्रसिद्ध है।।१४।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं सघियमयं चावि।
तह दंसणम्मि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं।। १५।।

ज्यों फूल होता गंधमय, अरु दुग्ध होता घ तमयी।
त्यों बाह्य में रूपस्थ दर्शन, अन्तः सम्यग्ज्ञानमय।।१५।।

अर्थ

जैसे फूल है सो गंधमयी है तथा दूध है सो घ तमयी है वैसे 'दर्शन' अर्थात् मत में सम्यक्त्व है। **कैसा है दर्शन**–अंतरंग तो ज्ञानमयी है तथा बाह्य रूपस्थ है–मुनि का रूप है तथा उत्क ष्ट श्रावक व आर्यिका का रूप है।

भावार्थ

दर्शन नाम मत का प्रसिद्ध है सो यहाँ जिनदर्शन में मुनि, श्रावक एवं आर्यिका का जैसा बाह्य वेष कहा वह दर्शन जानना और इसकी श्रद्धा वह अन्तरंग दर्शन जानना सो ये दोनों ही ज्ञानमयी हैं, यथार्थ तत्त्वार्थ का जानने रूप सम्यक्त्व इसमें पाया जाता है इसी कारण फूल में गंध का और दूध में घी का द ष्टान्त युक्त है। सो ये दर्शन का स्वरूप यथार्थ है। अन्य मत में तथा काल दोष से जिनमत में जैनाभास वेषी अनेक प्रकार से अन्यथा कहते हैं वह कल्याण रूप नहीं है, संसार का कारण है।

ऐसे 'दर्शन' का स्वरूप कहा।।१५।।

उत्थानिका

आगे **'जिनबिम्ब'** का निरूपण करते हैं :–

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।। १६।।

संयम से शुद्ध, सुवीतरागी, ज्ञानमय जिनबिम्ब जो।
वे शुद्ध दीक्षा-शिक्षा देते, कर्मक्षय की हेतु जो।।१६।।

अर्थ

जिनबिम्ब कैसा है–१. ज्ञानमयी है, २. संयम से शुद्ध है, ३. अतिशय से वीतराग है तथा ४. वह कर्मों के क्षय की कारण और शुद्ध ऐसी दीक्षा और शिक्षा देता है।

भावार्थ

जो जिन अर्थात् अरहंत सर्वज्ञ, उसका प्रतिबिम्ब अर्थात् उसके स्थान पर उसी के समान मानने योग्य हो ऐसे आचार्य हैं सो 'दीक्षा' अर्थात् व्रत का ग्रहण और 'शिक्षा' अर्थात् व्रत का विधान बताना–ये दोनों कार्य भव्य जीवों को देते हैं इस कारण प्रथम तो **१.** वह आचार्य ज्ञानमयी हो अर्थात् जिनसूत्र का जिनको ज्ञान हो, ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा–शिक्षा कैसे दें, **२.** आप संयम से शुद्ध हों, यदि ऐसे न हों तो अन्य को भी शुद्ध संयम न करावें तथा **३.** अतिशय से वीतराग न हों तो कषाय सहित हों तब दीक्षा–शिक्षा यथार्थ न दें–इस कारण ऐसे आचार्य को जिन के प्रतिबिम्ब जानना।।१६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो।। १७।।

उनको करो प्रणमन, विनय, वात्सल्य, पूजा सर्वविध।
जिनके सुनिश्चित ज्ञान, दर्शन और चेतनभाव है।।१७।।

अर्थ

ऐसे पूर्वोक्त जिनबिम्ब को प्रणाम करो तथा सर्व प्रकार पूजा करो तथा विनय करो तथा वात्सल्य करो। किसलिए? जिस कारण उनके ध्रुव अर्थात् निश्चय से दर्शन-ज्ञान पाया जाता है तथा चेतनाभाव है।।१७।।

भावार्थ

दर्शनज्ञानमयी चेतनाभाव सहित जिनबिम्ब आचार्य हैं उनको प्रणामादि करना। यहाँ परमार्थ को प्रधान कहा है सो जड़ प्रतिबिम्ब की गौणता है।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं[1] :–

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्ख सिक्खा या।। १8।।

तप, व्रत, गुणों से शुद्ध, जाने-देखे शुध सम्यक्त्वयुत।
दीक्षा व शिक्षादायिनी, अर्हन्त मुद्रा है वही।।१8।।

अर्थ

जो **१.**तप और व्रत और 'गुण' अर्थात् उत्तरगुणों से शुद्ध हो, **२.**सम्यग्ज्ञान से पदार्थों को यथार्थ जाने तथा **३.**सम्यग्दर्शन से पदार्थों को देखे इसी से शुद्ध सम्यक्त्व जिसके हो–ऐसा जिनबिम्ब आचार्य है सो यह ही दीक्षा–शिक्षा देने वाली अरहंत की मुद्रा है।

भावार्थ

ऐसा जिनबिम्ब है सो जिनमुद्रा ही है।

इस प्रकार 'जिनबिम्ब' का स्वरूप कहा।।१८।।

टि0-1.इस अठारहवीं गाथा को माननीय 'पं0 जयचंद जी' ने 'बोधपाहुड' के ग्यारह स्थलों में से पांचवें स्थल 'जिनबिम्ब' में लिया है परन्तु निम्न कारणों से यह 'जिनबिम्ब' सम्बन्धित न होकर छठे स्थल 'जिनमुद्रा' की क्यों प्रतीत होती है इसके कारणों को जिज्ञासु पाठकगण ढूंढारी टीका से जान लें। वहाँ इसी स्थल पर विस्त□त टिप्पण दिया गया है।

उत्थानिका

आगे **'जिनमुद्रा'** का स्वरूप कहते हैं :–

दिढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदिढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया[1] ।। १9।।

इन्द्रिय-कषाय सुदिढ़ मुद्रा, संयम सुद ढ़ मुद्रा से हो।
है उक्त मुद्रा ज्ञान से, जिनमुद्रा तो ऐसी कही।।१9।।

अर्थ

द ढ़ अर्थात् वज्रवत् जो चलाने पर भी न चले ऐसा संयम जो इन्द्रिय–मन का वश करना एवं षट् जीवनिकाय की रक्षा करना–ऐसे संयम रूप मुद्रा से तो पाँच इन्द्रियों को विषयों में नहीं प्रवर्ताना, उनका संकोचना यह तो **इन्द्रिय मुद्रा** है तथा ऐसे संयम से ही कषायों की प्रव त्ति जिसमें नहीं है ऐसी **कषाय द ढ़ मुद्रा** है तथा ज्ञान का स्वरूप में लगाना–ऐसे ज्ञान से सारी बाह्य मुद्रा शुद्ध होती है। सो जिनशासन में ऐसी 'जिनमुद्रा' होती है।

भावार्थ

१. संयम से सहित हों, **२.** इन्द्रियाँ जिनकी वशीभूत हों, **३.**कषायों की जिनके प्रव त्ति न हो और **४.**ज्ञान को स्वरूप में लगाते हों ऐसे मुनि हैं वे ही 'जिनमुद्रा' हैं।
ऐसे 'जिनमुद्रा' का स्वरूप कहा ।।१६।।

उत्थानिका

आगे **'ज्ञान'** का निरूपण करते हैं :–

संजमसंजुत्तस्स य झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।। २०।।

संयम से युक्त, सुध्यान योग्य, विमुक्ति मग का लक्ष्य जो।
वह ज्ञान से हो प्राप्त इससे, ज्ञान ही ज्ञातव्य है।।२०।।

टि0-1.ढूंढारी टीका में देखें ।

अर्थ

संयम से संयुक्त और ध्यान के योग्य ऐसा जो मोक्षमार्ग उसका 'लक्ष्य' अर्थात् लक्षने योग्य वेध्य–निशाना जो अपना निजस्वरूप वह ज्ञान से पाया जाता है इसलिए इस प्रकार लक्ष्य को जानने के लिए ज्ञान को जानना।

भावार्थ

संयम अंगीकार करके ध्यान करे परन्तु आत्मा का स्वरूप न जाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती इसलिए ज्ञान का स्वरूप जानना, इसके जानने से सर्व सिद्धि है।।२०।।

उत्थानिका

आगे इसको द ष्टान्त से द ढ़ करते हैं :–

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ[1] कंडस्स वेज्झयविहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।। २१।।

अभ्यास, बाण विहीन प्राणी, लक्ष्य को नहिं पाता ज्यों।
अज्ञानी भी लक्षित करे नहीं, मोक्षमग का लक्ष्य त्यों।।२१।।

अर्थ

जैसे वेध्य को वेधनेवाला वेधक जो बाण उससे 'विहीन' अर्थात् रहित जो पुरुष है वह 'कांड' अर्थात् धनुष उसके अभ्यास से रहित हो तो 'लक्ष्य' अर्थात् निशाने को नहीं पाता वैसे ही ज्ञान से रहित जो अज्ञानी है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप जो मोक्षमार्ग उसके 'लक्ष्य' अर्थात् लक्षने योग्य जो परमात्मा का स्वरूप है उसको नहीं पाता।

भावार्थ

जैसे धनुषधारी धनुष के अभ्यास से और वेधने वाला वेधक जो बाण उससे रहित हो तो निशाने को नहीं पाता वैसे ही ज्ञान से रहित अज्ञानी मोक्षमार्ग का निशाना

टि0-1. ढूंढारी टीका में देखें ।

जो परमात्म–स्वरूप है उसको यदि नहीं पहिचाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती इसलिए ज्ञान को जानना। परमात्मा रूप निशाना ज्ञान रूप बाण ही से वेधने योग्य है।।२१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि ऐसा ज्ञान जो विनय संयुक्त पुरुष होता है सो पाता है :–

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।। २२।।

हो ज्ञान पुरुष को प्राप्त, होता है वह सुजन विनीत को।
पाता है ज्ञान से मोक्षमग के, लक्ष्य को लखते हुए।।२२।।

अर्थ

ज्ञान होता है वह पुरुष को होता है तथा पुरुष यदि विनयसंयुक्त हो तो ही ज्ञान को पाता है और ज्ञान को पाता है तब उस ज्ञान ही से मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो परमात्मा का स्वरूप उसको लक्षता–ध्याता हुआ उस लक्ष्य को पाता है।

भावार्थ

ज्ञान पुरुष के होता है तथा पुरुष ही यदि विनयवान हो तो ज्ञान को पाता है और उस ज्ञान ही से शुद्ध आत्मा का स्वरूप जाना जाता है इसलिये विशेष ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान की प्राप्ति करना जिससे निज शुद्ध स्वरूप को जानकर मोक्ष पाया जाता है। यहाँ जो विनय से रहित होकर यथार्थ सूत्र-पद से विचलित हुए अर्थात् भ्रष्ट हो गए उनका निषेध जानना।।२२।।

उत्थानिका

आगे इसी को दृढ़ करते हैं :–

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणं सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। २३।।

मति धनुष थिर, श्रुत डोरी जिसके, रत्नत्रय शुभ बाण हो।
परमार्थ बद्ध हो लक्ष्य वह, नहिं चूकता शिवमार्ग को।।२३।।

अर्थ

जिस मुनि के **१.**मतिज्ञान रूप धनुष स्थिर हो, **२.**श्रुतज्ञान रूप जिसके 'गुण' अर्थात् प्रत्यंचा (डोरी) हो, **३.**रत्नत्रय रूप जिसके भला बाण हो तथा **४.**परमार्थस्वरूप निज शुद्ध आत्म रूप का जिसने सम्बन्ध रूप लक्ष्य किया हो ऐसा मुनि है सो मोक्षमार्ग को नहीं चूकता है।

भावार्थ

जैसे धनुष की सब सामग्री यथावत् मिले तो निशाना नहीं चूकता है वैसे मुनि को मोक्षमार्ग की यथावत् सामग्री मिले तो वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है बल्कि उसके साधन से मोक्ष पाता है—यह ज्ञान का माहात्म्य है इसलिये जिनागम के अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान का साधन करना।

ऐसे 'ज्ञान' का निरूपण किया।।२३।।

उत्थानिका

आगे **'देव'** का स्वरूप कहते हैं :—

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।। २४।।

है देव वह जो धर्म, अर्थ व, काम अरु दे ज्ञान को।
जिसके हो जो वस्तु सो दे वह, धर्म, अर्थ अरु प्रव्रज्या।।२४।।

अर्थ

'देव' उसे कहते हैं जो 'अर्थ' अर्थात् धन, धर्म, 'काम' अर्थात् इच्छा के विषय-ऐसे

भोग तथा मोक्ष का कारण ज्ञान–इन चारों को दे तथा यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु हो वह उसे ही दे सकता है और जिसके पास जो वस्तु न हो वह उसे कैसे दे! इस न्याय से अर्थ, धर्म, स्वर्गादि के भोग और मोक्ष के सुख का कारण जो 'प्रव्रज्या' अर्थात् दीक्षा वह जिसके हो सो देव जानना।।२४।।

उत्थानिका

आगे धर्मादि का स्वरूप कहते हैं जिसके जानने से देव का स्वरूप जाना जाता है :–

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं।। २५।।

है धर्म दयाविशुद्ध, दीक्षा सर्व संग से रहित है।
हैं देव व्यपगतमोह वे, ही भव्य जीव उदय करें।।२५।।

अर्थ

धर्म है सो तो दया से विशुद्ध है, **'प्रव्रज्या'** अर्थात् दीक्षा है सो सर्व परिग्रह से रहित है तथा **देव** है सो नष्ट हुआ है मोह जिसका–ऐसा है सो ऐसा देव भव्य जीवों के उदय को करने वाला है।

भावार्थ

लोक में यह प्रसिद्ध है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–ये चार पुरुष के प्रयोजन हैं, इनके लिये पुरुष किसी को पूजता है–वंदता है तथा यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वह दूसरे को देता है, बिना हुई कहाँ से लावे ! अतः ये चार पुरुषार्थ जिनदेव के पाये जाते हैं–धर्म तो उनके दया रूप पाया जाता है, जिसको साधकर आप तीर्थंकर हुए तब धन की और संसार के भोगों की प्राप्ति हुई और सर्व लोक पूज्य हुए। पुनः तीर्थंकर पदवी में दीक्षा लेकर, सब मोह से रहित होकर परमार्थस्वरूप आत्मीकधर्म को साध के, मोक्षसुख को पाया अतः ऐसे तीर्थंकर जिन हैं सो ही 'देव' हैं। अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं उनके धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष नहीं है क्योंकि वे कई तो हिंसक हैं और कई विषयासक्त हैं—मोही हैं अतः उनके धर्म कैसा तथा अर्थ और काम की उनके वांछा पाई जाती है अतः उनके अर्थ व काम कैसा तथा वे जन्म, मरण से सहित हैं अतः उनके मोक्ष कैसा ! इस प्रकार देव सच्चे जिनदेव ही हैं और वे ही भव्य जीवों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, अन्य सब देव कल्पित हैं।

ऐसे 'देव' का स्वरूप कहा।।२५।।

उत्थानिका

आगे **'तीर्थ'** का स्वरूप कहते हैं :—

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण।। २६।।

सम्यक्त्व-व्रत से शुद्ध, इन्द्रियसंयमी, निरपेक्ष जो।
उस तीर्थ में दीक्षा-सुशिक्षा, स्नान से मुनि हों विमल।।२६।।

अर्थ

व्रत, सम्यक्त्व से विशुद्ध, पाँच इन्द्रियों से 'संयत' अर्थात् संवर सहित तथा निरपेक्ष अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजादि रूप इस लोक के फल की तथा परलोक में स्वर्गादि के भोगों की अपेक्षा से रहित—ऐसे आत्मस्वरूप रूप तीर्थ में मुनि है सो दीक्षा-शिक्षा रूप स्नान से पवित्र होओ।

भावार्थ

१. तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व सहित, **२.** पाँच महाव्रतों से शुद्ध, **३.** पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरक्त और **४.** इहलोक-परलोक के विषयभोगों की वांछा से रहित—ऐसे निर्मल आत्मा के भाव रूप तीर्थ में स्नान करके पवित्र होओ—**ऐसी प्रेरणा है**।।२६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण।। २७।।

सम्यक्त्व, संयम, ज्ञान, तप, सद्धर्म मल से रहित जो।
यदि शान्त भाव से युक्त हों तो, तीर्थ हैं जिनमार्ग में।।२७।।

अर्थ

जिनमार्ग में **१.** निर्मल उत्तम क्षमादि धर्म, **२.** तत्त्वार्थ–श्रद्धान लक्षण शंकादि मल रहित निर्मल सम्यक्त्व, **३.** इन्द्रिय–मन को वश में करना और षट्काय के जीवों की रक्षा करना–ऐसा निर्मल संयम, **४.** अनशन, अवमौदर्य, व त्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश–ऐसा बाह्य तो छह प्रकार तथा प्रायश्चित, विनय, वैयाव त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ऐसा छह प्रकार का अन्तरंग–ऐसा बारह प्रकार का निर्मल तप तथा **५.** जीव–अजीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान–ये तीर्थ हैं। ये भी यदि शांत भाव से सहित हों और कषाय भाव न हों तो निर्मल तीर्थ हैं क्योंकि ये यदि क्रोधादि भाव सहित होते हैं तो मलिनता हो जाती है और तब निर्मलता नहीं रहती।

भावार्थ

जिनमार्ग में ऐसा तीर्थ कहा है। लोग सागर व नदियों को तीर्थ मानकर उनमें स्नान करके निर्मल होना चाहते हैं सो शरीर का बाह्य मल तो इनसे कि चित् उतरता है परन्तु उसका धातु–उपधातु रूप अन्तर्मल इनसे नहीं उतरता और ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मल तथा अज्ञान एवं राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्म रूप जो आत्मा के अन्तर्मल हैं वे तो इनसे कि चित् मात्र भी नहीं उतरते उल्टे हिंसादि से पापकर्म रूप मल लगता है इसलिये सागर व नदी आदि को तीर्थ मानना भ्रम है। जिसके द्वारा तिरा जाये सो 'तीर्थ' है– ऐसा तीर्थ जो जैसा जिनमार्ग में कहा है सो वैसा ही संसार समुद्र से तारने वाला जानना।

ऐसे 'तीर्थ' का स्वरूप कहा।।२७।।



उत्थानिका

आगे **'अरहंत'** का स्वरूप कहते हैं :–

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंतं[1] ।। २8।।

टि0-1.'श्रु0 टी0' में गाथा में आए हुए 'सगुणपज्जाया' एवं 'भावा' □ाब्द की सं0 छाया क्रम□ा: 'स्वगुणपर्याया:' एवं 'भव्या' देते हुए गाथा का अर्थ किया है-**'नामादि चार निक्षेप, स्वकीय गुण, स्वकीय पर्याय, च्यवन, आगति और संपदा-इन नौ बातों का** आश्रय करके अत्यंत निकट, श्रेष्ठ भव्य जीव अरिहंत भगवान की भावना करते हैं अर्थात् उन्हें अपने हृदय कमल में नि□चल रूप से धारण करते हैं।

नामादि चार निक्षेप के लिए उन्होंने गाथा उद्ध□ृत की है-

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था।।

अर्थ– अर्हन्त भगवान के जो नाम हैं वे **नाम जिन हैं,** उनकी प्रतिमाएँ **स्थापना जिन** हैं, अर्हन्त भगवान का जीव **द्रव्य जिन** है और समव□ारण में स्थित भगवान **भाव जिन** हैं।

अन्य **स्वकीय गुण आदि पाँच बातों की** वहाँ आगे विवेचना इस प्रकार है–

1. **स्वकीय गुण**-अनन्त ज्ञान, द□ान, सुख एवं वीर्य-ये अर्हत के स्वकीय गुण हैं।

2.**स्वकीय पर्याय**-दिव्य परमौदारिक □ारीर, अष्ट महा प्रातिहार्य और समव□ारण आदि-ये अरिहन्त भगवान की स्व पर्याय हैं।

3.**च्यवन**-स्वर्ग वा नरक से उनका च्यवन होता है।

4.**आगति**-भरत, ऐरावत और विदेहादि क्षेत्रें में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर वे इन क्षेत्रें में उत्पन्न होते हैं।

5.**सपंदा**-गर्भावतार से पूर्व छ: मास और गर्भ के पूरे नव मास-इस तरह पन्द्रह मास पर्यन्त रत्न, सुवर्ण, पुष्प व गन्धोदक आदि की व□ाष्टि माता के आंगन में होती है और पूरा नगर ही सुवर्णमयी हो जाता है।

भगवान की इस सारी संपत्ति का वर्णन विस्तार से 'महापुराण' से जानना चाहिए।

'म0 टी0' में 'सगुणपज्जाया' □ाब्द की सं0 छाया 'सद्गुणपर्यायै:' एवं 'भावा' □ाब्द के स्थान पर 'भव्वा' (सं0-भव्या:) पाठ देकर गाथा का अर्थ किया है-'अर्हत भगवान के उत्कृष्ट गुण और पर्यायों के द्वारा, नामादि चार निक्षेपों के आधार पर, स्वर्ग अथवा नरक से च्युत होते हुए अर्थात् गर्भ व जन्म के समय संपत्तिमान अर्हत आत्मा का भव्य जीव अपने अंत:करण में चिन्तन करते हैं।'

सब नाम, स्थापन, द्रव्य, भाव, स्वकीय गुण-पर्याय जो।
हैं जनाते अरहंत को, ये च्यवन, आगति, संपदा।।२८।।

अर्थ

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव–ये जो चार 'भाव' अर्थात् पदार्थ हैं वे अरहंत का बोध कराते हैं तथा 'सगुणपर्याया' अर्थात् अरहंत के गुण पर्यायों सहित 'चउणा' अर्थात् च्यवन, आगति और सम्पदा–ऐसे ये भाव अरहंत को बताते हैं।

भावार्थ

अरहंत शब्द से यद्यपि सामान्य की अपेक्षा जो केवलज्ञानी हों वे सब ही अरहंत होते हैं तथापि यहाँ तीर्थंकर पद को प्रधान करके कथन किया है इसलिए नामादि से ज्ञान कराना कहा है सो लोकव्यवहार में नाम आदि की प्रव त्ति इस प्रकार है– **१.**जो जिस वस्तु का नाम हो वैसा उसमें गुण न हो उसको तो **नाम** निक्षेप कहते हैं। **२.**जिस वस्तु का जैसा आकार हो उस आकार की उसकी काष्ठ–पाषाणादि की मूर्ति बनाकर उसका संकल्प करना उसको **स्थापना** कहते हैं। **३.**जिस वस्तु की जो पहिली अवस्था हो उस ही को अगली अवस्था में प्रधान करके कहना उसको **द्रव्य** कहते हैं तथा **४.**वर्तमान में जो अवस्था हो उसको **भाव** कहते हैं।

ऐसे चार निक्षेपों की जो प्रव त्ति है जिसका कथन शास्त्र में भी लोक को समझाने के लिये किया है कि निक्षेप विधान के द्वारा नाम, स्थापना और द्रव्य को भाव न समझना–नाम को नाम समझना, स्थापना को स्थापना समझना, द्रव्य को द्रव्य समझना और भाव को भाव समझना क्योंकि अन्य को अन्य समझने पर 'व्यभिचार' नामक दोष आता है अतः उसके मेटने को और लोक को यथार्थ समझाने को शास्त्र में कथन है किन्तु यहाँ वैसा निक्षेप का कथन नहीं समझना। **यहाँ तो निश्चयनय को प्रधान करके कथन है सो जैसा अरहंत का नाम है वैसा ही गुण सहित नाम जानना, स्थापना जैसी उनकी देह सहित मूर्ति है वैसी ही स्थापना जानना, जैसा उनका द्रव्य है वैसा द्रव्य जानना और जैसा उनका भाव है वैसा ही भाव जानना।।२८।।**

उत्थानिका

ऐसे ही कथन आगे करते हैं सो प्रथम ही **'नाम को प्रधान करके'** कहते हैं :–

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई।। २९।।

जो अमित दर्शन-ज्ञान युत, वसु कर्म बंध से मुक्त हैं।
आरूढ़ अनुपम गुणों में, ऐसे अहो ! अरहंत हैं।।२९।।

अर्थ

जिनके दर्शन और ज्ञान[1] तो अनन्त हैं, घातिया कर्मों के नाश से सब ज्ञेय पदार्थों का देखना व जानना जिनके है तथा नष्ट हुआ जो आठों कर्मों का बंध[2] उससे जिनके मोक्ष है। यहाँ सत्त्व की और उदय की विवक्षा न लेना परन्तु बंध केवली के आठों ही कर्मों का नहीं है। यद्यपि उनके साता वेदनीय का बंध सिद्धान्त में कहा है तथापि वह स्थिति अनुभाग रूप नहीं है इसलिये अबंध तुल्य ही है–इस प्रकार आठों ही कर्मों के बंध के अभाव की अपेक्षा उनके भावमोक्ष कहा जाता है तथा वे उपमा रहित गुणों में आरूढ़ हैं–सहित हैं, ऐसे गुण छद्मस्थ में कहीं भी नहीं होते अतः उपमा रहित गुण जिनमें हैं वे अरहंत होते हैं।

टि0-1. पदार्थ की सत्ता मात्र का अवलोकन होना **द□न** है और वि□ाषता को लिए हुए विकल्प सहित जानना **ज्ञान** कहलाता है।

टि0-2. इस पर 'श्रु0 टी0' में **प्र□न** किया है कि 'जबकि अरहन्त भगवान के चार घातिया कर्म ही नष्ट हुए हैं तो फिर उन्हें 'नष्टाष्टकर्मबंध' क्यों कहा जाता है?' इसका **उत्तर** है-'आपने ठीक कहा है परन्तु **जिस प्रकार** सेनापति के नष्ट हो जाने पर □ात्र समूह के जीवित रहते हुए भी वह म□त के समान जान पड़ता है क्योंकि विकृति के करने वाले भाव का अभाव हो गया है **उसी प्रकार** सब कर्मों में मुख्यभूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि भगवान के चार अघातिया कर्म अभी विद्यमान हैं, फिर भी विविध फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये-ऐसा कहा जाता है।'

भावार्थ

केवल नाममात्र ही जो अरहंत हों उनको अरहंत नहीं कहते, उक्त गुणों से जो सहित हों उनको नाम अरहंत कहते हैं।।२९।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो।। ३०।।

जो पुण्य-पाप, जरा, जनम, व्याधि, मरण, चउगतिगमन।
औ दोषकर्म विनाश हुए ज्ञानात्म, वे अर्हंत हैं।।३०।।

अर्थ

'जरा' अर्थात् बुढ़ापा, 'व्याधि' अर्थात् रोग, जन्म-मरण, चारों गतियों में गमन, पुण्य तथा पाप और दोषों को उत्पन्न करने वाले जो कर्म उनका नाश करके जो केवलज्ञानमयी अरहंत हुए हों सो 'अरहंत' हैं।

भावार्थ

पहिली गाथा में तो गुणों के सद्भाव से अरहंत नाम कहा और इस गाथा में दोषों के अभाव से नाम अरहंत कहा। राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, विस्मय, निद्रा, विषाद और खेद–ये ग्यारह दोष तो घातिया कर्मों के उदय से होते हैं और क्षुधा, त षा, जन्म, जरा, मरण, रोग और स्वेद–ये अघातिया कर्मों के उदय से होते हैं। इस गाथा में जरा, रोग, जन्म, मरण, चार गतियों में गमन का अभाव, पुण्य और पाप, इनका अभाव कहने से तो अघातिया कर्मों से हुए जो दोष उनका अभाव जानना क्योंकि अघातिया कर्मों में इन दोषों को उत्पन्न करने वाली जो पाप प्रक तियाँ उनके उदय का अरहंत के अभाव है और रागद्वेषादि दोषों का घातिया कर्मों के अभाव से अभाव है।

यहाँ कोई पूछता है–अरहंत के मरण का और पुण्य का अभाव कहा सो मोक्षगमन होना यह 'मरण' अरहंत के है और पुण्य प्रक तियों का उनके उदय पाया

जाता है फिर उनका अभाव कैसे कहा ?

उसका समाधान–यहाँ जिस मरण में मरकर फिर संसार में जन्म हो ऐसे 'मरण' की अपेक्षा है, ऐसा मरण अरहंत के नहीं है, ऐसे ही जिस पुण्य प्रक ति का उदय पाप प्रक ति की सापेक्षता करे ऐसे पुण्य के उदय का उनके अभाव जानना अथवा बंध की अपेक्षा पुण्य का बंध भी नहीं है, जो साता वेदनीय बंधती है वह स्थिति–अनुभाग के बिना अबंध तुल्य ही है।

फिर कोई पूछता है–केवली के असाता वेदनीय का उदय भी सिद्धांत में कहा है उसकी प्रव त्ति कैसे है ?

उसका समाधान–असाता के अत्यन्त मंद अनुभाग का उदय है और साता के अति तीव्र अनुभाग का उदय है जिसके वश से असाता कुछ बाह्य कार्य करने में समर्थ नहीं होती, सूक्ष्म उदय देकर खिर जाती है अथवा संक्रमण रूप होकर साता रूप हो जाती है–ऐसा जानना। **ऐसे अनंत चतुष्टय से सहित और सर्व दोषों से रहित जो सर्वज्ञ वीतराग हों वे नाम से 'अरहंत' कहलाते हैं।।३०।।**

उत्थानिका

आगे **'स्थापना के द्वारा'** अरहंत का वर्णन करते हैं :–

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्ती पाण जीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स।। ३१।।

हैं मार्गणा, गुणथान, प्राण, पर्याप्ति, जीवस्थान जो।
इन पाँचविध स्थाप, कर प्रणमन, तू अर्हत पुरुष को।।३१।।

अर्थ

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान-इन पाँच प्रकारों से अरहंत पुरुष की स्थापना प्राप्त करना अथवा उनको प्रणाम करना।

भावार्थ

स्थापना निक्षेप में जो काष्ठ-पाषाणादि में संकल्प करना कहा है वह यहाँ

प्रधान नहीं है। यहाँ निश्चय को प्रधान करके कथन है जिसमें गुणस्थानादि से अरहंत का स्थापन करना कहा है।।३१।।

उत्थानिका

सो ही आगे विशेष रूप से कहते हैं :–

तेरहमे गुणठाणे सजोयकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणो होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा।। ३२।।

अर्हत सयोगीकेवली, गुणथान तेरहवे में हों।
चौंतीस अतिशय गुण सहित, वसु प्रतिहार्य से युत प्रकट।।३२।।

अर्थ

गुणस्थान चौदह कहे हैं, उनमें सयोगकेवली नामक जो तेरहवाँ गुणस्थान है उसमें योगों की प्रव त्ति सहित और केवलज्ञानयुक्त सयोगकेवली अरहंत होते हैं। उनके चौंतीस अतिशय तो गुण और आठ प्रातिहार्य होते हैं–इस प्रकार गुणस्थान के द्वारा 'स्थापना अरहंत' कहे जाते हैं।

भावार्थ

यहाँ चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहने से तो समवसरण में विराजमान तथा विहार करते अरहंत लिये हैं, 'सयोग' कहने से विहार की और वचन की प्रव त्ति सिद्ध होती है तथा 'केवली' कहने से केवलज्ञान के द्वारा सब तत्त्वों का जानना सिद्ध होता है।

चौंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :–

जन्म से तो ये दस प्रकट होते हैं–**१.** मल–मूत्र का अभाव, **२.** पसेव (पसीने) का अभाव, **३.** रुधिर व मांस का होना, **४.** समचतुरस्रसंस्थान, **५.** वज्रव षभनाराच संहनन, **६.** सुन्दर रूप, **७.** सुगन्धित शरीर, **८.** शुभ लक्षणों का होना, **९.** अनन्त बल तथा **१०.** मधुर वचन।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर ये दस होते हैं–**१.** उपसर्ग का अभाव, **२.** अदया

का अभाव, **३.** शरीर की छाया का न पड़ना, **४.** चार मुखों का दीखना, **५.** सब विद्याओं का स्वामिपना **६.** नेत्रों की पलकों का न गिरना, **७.** नख केशों का नहीं बढ़ना, **८.** सौ योजन तक सुकाल, **९.** आकाशगमन तथा **१०.** कवलाहार का न होना।

चौदह देवकृत ये हैं :– **१.** सकलार्द्धमागधी भाषा, **२.** सब जीवों में मैत्री भाव, **३.** सब ऋतुओं के फल–फूलों का फलना और फूलना, **४.** दर्पण के समान भूमि, **५.** कंटक रहित भूमि, **६.** मंद सुगन्धित पवन, **७.** सबके आनंद का होना, **८.** गंधोदक की वृष्टि, **९.** चरणों के नीचे देवों के द्वारा कमल रचना, **१०.** सर्व धान्यों की उत्पत्ति, **११.** आकाश में दिशाओं का निर्मल होना, **१२.** देवों को आह्वानन शब्द, **१३.** धर्म चक्र का आगे चलना और **१४.** इन **अष्ट मंगल द्रव्यों** का होना–**१.** छत्र, **२.** ध्वजा, **३.** दर्पण, **४.** कलश, **५.** चँवर, **६.** भृंगार (झारी), **७.** ताल (पंखा) और **८.** सुप्रतीक अर्थात् ठौना।

ऐसे चौंतीस अतिशय के नाम कहे।

जो **आठ प्रतिहार्य** होते हैं उनके नाम ये हैं –**१.** अशोक वृक्ष, **२.** पुष्पवृष्टि, **३.** दिव्यध्वनि, **४.** चँवर, **५.** सिंहासन, **६.** भामंडल, **७.** दुन्दुभि बाजा और **८.** छत्र।

इस प्रकार गुणस्थान के द्वारा अरहंत का स्थापन कहा।।३२।।

उत्थानिका

अब **'मार्गणा'** के द्वारा कहते हैं :–

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।। ३३।।

गति, काय एवं इन्द्रि, योग, कषाय, वेद व ज्ञान है।
दर्शन, भव्य, संयम, संज्ञि, लेश्या, समकित अरु आहार हैं।।३३।।

अर्थ

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व,

सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार-ये चौदह मार्गणाएँ होती हैं। अरहंत तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में होते हैं। उसमें मार्गणाओं को लगाओ तो **गति** चार में उनके मनुष्य गति है; **इन्द्रिय** जाति पाँच में पंचेन्द्रिय जाति है; **काय** छह में त्रसकाय है; **योग** पन्द्रह में मनोयोग तो सत्य और अनुभय ऐसे दो और ये ही दो वचनयोग तथा काययोग औदारिक–इस प्रकार पाँच योग हैं और यदि समुद्घात करें तो उसके औदारिक मिश्र और कार्मण ये दो मिलकर सात योग हैं; **वेद** तीनों ही का अभाव है; **कषाय** पच्चीस सब ही का अभाव है; **ज्ञान** आठ में केवलज्ञान है; **संयम** सात में एक यथाख्यात है; **दर्शन** चार में एक केवलदर्शन है; **लेश्या** छह में एक शुक्ल है जो योगनिमित्तक है; **भव्य** दो में एक भव्य है; **सम्यक्त्व** छह में क्षायिक सम्यक्त्व है; **संज्ञी** दो में संज्ञी हैं सो द्रव्य से हैं, भाव से क्षयोपशम रूप भाव मन का अभाव है; **आहार** दो में आहारक हैं सो नोकर्मवर्गणा की अपेक्षा हैं, कवलाहार नहीं है और समुद्घात करें तो अनाहारक भी हैं–ऐसे दोनों हैं।

इस प्रकार मार्गणा की अपेक्षा अरहंत का स्थापन जानना।।३३।।

उत्थानिका

आगे **'पर्याप्ति'** से कहते हैं :–

आहारो य सरीरो इंदिय मण आणपाण भासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो।। ३४।।

आहार, तन, मन, इन्द्रि, भाषा और श्वासोच्छ्वास इस।
पर्याप्तिगुणसम द्ध उत्तम, देव श्री अरहंत हैं।।३४।।

अर्थ

आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, 'आणपाण' अर्थात् श्वासोच्छवास और भाषा-ऐसी छह पर्याप्तियाँ हैं। इस पर्याप्ति गुण के द्वारा 'सम द्ध' अर्थात् युक्त उत्तम देव अरहंत हैं।

भावार्थ

पर्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है–एक पर्याय से चयकर जीव जब अन्य पर्याय को प्राप्त होता है तो उत्कष्ट तीन समय अंतराल में रहता है फिर यदि सैनी पंचेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होता है तो वहाँ आहार, भाषा और मन–इन तीन जाति की वर्गणाओं को ग्रहण करता है। इस प्रकार ग्रहण करके आहार जाति की वर्गणा से तो आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छवास–ये चार पर्याप्तियाँ अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्ण करता है फिर भाषा व मनो जाति की वर्गणा से अन्तर्मुहूर्त ही में भाषा और मन पर्याप्ति पूर्ण करता है–इस प्रकार छहों पर्याप्तियाँ अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण करता है, फिर आयु पर्यन्त पर्याप्त ही कहलाता है और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण किया ही करता है। यहाँ आहार नाम कवलाहार का न जानना[1]। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में भी अरहंत के पर्याप्तियाँ पूर्ण ही हैं।

ऐसे पर्याप्ति के द्वारा अरहंत का स्थापन है।।३४।।

उत्थानिका

आगे **'प्राण'** के द्वारा कहते हैं :–

पंच वि इंदियपाणा मणवचकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा।। ३५।।

इन्द्रिय प्राण तो पाँच, मन, वच, काय त्रय बल प्राण हैं।
श्वासोच्छ्वास है प्राण आयु, प्राण ये दस प्राण हैं।।३५।।

टि0-1. सकल लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय हो जाने पर केवली भगवान के शरीर की स्थिति में कारणभूत, अन्य साधारण मनुष्यों में नहीं पाए जाने वाले असाधारण, परम शुभ, सूक्ष्म, पुण्य रूप, दिव्य नोकर्म वर्गणा के अनन्त परमाणु प्रतिसमय शरीर के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वही उनका आहार कहलाता है। अन्य मनुष्यों के समान कवलाहार उनमें नहीं होता क्योंकि वह निद्रा, ग्लानि, आलस्य आदि अनेक दोषों को उत्पन्न करता है और जिसके निद्रा आदि दोष हैं वह आप्त कैसे हो सकता है!

अर्थ

पाँच तो इन्द्रिय प्राण, मन-वचन-काय तीन बल प्राण, एक श्वासोच्छवास और एक आयु प्राण-ये दस प्राण हैं।

भावार्थ

ऐसे जो ये दस प्राण कहे उनमें तेरहवें गुणस्थान में भाव इन्द्रिय और भाव मन की क्षयोपशम भाव रूप प्रव त्ति नहीं है इस अपेक्षा से तो कायबल, वचनबल, श्वासोच्छवास और आयु–ये चार प्राण ही कहे जाते हैं और द्रव्य की अपेक्षा दसों ही कहलाते हैं।

इस प्रकार 'प्राण के द्वारा' अरहंत का स्थापन है।।३५।।

उत्थानिका

आगे **'जीवस्थान'** के द्वारा कहते हैं :–

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो।। ३६।।

है मनुज भव पंचेन्द्रि, जीवस्थान उनका चौदवाँ।
इन गुण गणों से युक्त, 'गुण' आरूढ़ श्री अरहंत हैं।।३६।।

अर्थ

मनुष्य भव में पंचेन्द्रिय नामक चौदहवें 'जीवस्थान' अर्थात् जीवसमास[1] में इन गुणों के समूह से युक्त तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त अरहंत होते हैं[2]।

टि0–1. परिभाषा–अनंतानंत जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिनमें संग्रह किया जाता है उन्हें 'जीवसमास' कहते हैं।

2. 'श्रु0 टी0'–'चौदहवें गुणस्थान में भी अरहन्त होते हैं अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली तो अर्हन्त हैं ही, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भी अर्हन्त होते हैं। इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य जब तक तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में आरूढ़ है तब तक अर्हन्त कहलाता है और गुणस्थानों से पार होने पर सिद्ध कहलाता है।'

भावार्थ

जीवसमास चौदह कहे हैं–एकेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर दो, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ऐसे विकलत्रय तीन और पंचेन्द्रिय, असैनी व सैनी दो–ऐसे जो सात हुए, वे पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह हुए। **इनमें चौदहवाँ सैनी पंचेन्द्रिय जीवस्थान अरहंत के है।** गाथा में सैनी का नाम नहीं लिया और मनुष्य भव का नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होता है, असैनी नहीं होता इसलिये मनुष्य कहनेसे सैनी ही जानना।

ऐसे गुणों से सहित स्थापना अरहंत का वर्णन किया।।३६।।

उत्थानिका

आगे **'द्रव्य को प्रधान करके'** अरहंत का निरूपण करते हैं :–

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य।। ३७।।
दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगं।। ३8।।
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स।। ३9।। तिकलं।।

जरव्याधिदुःख रहित, अशननीहारवर्जित विमल हैं।
नहिं है जुगुप्सा, श्लेष्म, थूक, पसेव नहिं, निर्दोष हैं।।३७।।
दस प्राण, छः पर्याप्तियुत, अठ सहस लक्षण हैं कहे।
गोक्षीरशंखधवल रुधिर अरु, मांस है सर्वांग में।।३8।।
ऐसे गुणों से सर्व अतिशयवान, अमल सुगन्धयुत।
यों जानना औदारिकी, नरदेह अर्हत्पुरुष की।।३9।।

अर्थ

अरहंत पुरुष की औदारिक काय ऐसी जानना–**१.**जरा और व्याधि–रोग सम्बन्धी दुःख जिसमें नहीं है, **२.**आहार–नीहार से रहित है, **३.'विमल'** अर्थात् मल–मूत्र से रहित है तथा **४.**'सिंहाण' अर्थात् श्लेष्म (बलगम), 'खेल' अर्थात् थूक, 'स्वेद' अर्थात् पसेव और 'दुर्गंछा' अर्थात् जुगुप्सा, ग्लानि व दुर्गंधादि दोष जिसमें नहीं हैं।।३७।।

पुनः **१.**दस तो जिसमें प्राण हैं सो द्रव्य प्राण जानना, **२.**पूर्ण पर्याप्त है, **३.**एक हजार आठ लक्षण जिसके कहे हैं और **४.**गोशीर अर्थात् कपूर अथवा चंदन तथा शंख सद श जिसमें सर्वांग रुधिर और माँस है।।३८।।

ऐसे गुणों से सारी ही देह अतिशयों से संयुक्त है तथा निर्मल है आमोद अर्थात् सुगन्ध जिसमें–ऐसी औदारिक देह अरहंत पुरुष की जानना। इस प्रकार 'द्रव्य अर्हन्त' का वर्णन किया।।३६।।

भावार्थ

यहाँ द्रव्य निक्षेप नहीं समझना। आत्मा से भिन्न बाह्य देह को प्रधान करके द्रव्य अरहंत का वर्णन है।। ३७–३9।।

उत्थानिका

आगे **'भाव को प्रधान करके'** निरूपण करते हैं सो भाव में प्रथम ही दोषों का अभाव कहते हैं :–

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो।। ४०।।

मद, राग-द्वेष, कषाय मल से, रहित हैं, सुविशुद्ध हैं।
मन परिणमन से मुक्त उनका, भाव केवल जानना।।४०।।

अर्थ

'केवलभाव' अर्थात् केवलज्ञान ही रूप एक भाव के होते हुए अरहंत ऐसे

जानना–**१.**मद अर्थात् मानकषाय से होने वाले गर्व तथा राग-द्वेष अर्थात् कषायों के तीव्र उदय से होने वाले प्रीति और अप्रीति रूप परिणामों से रहित हैं, **२.**पच्चीस कषाय रूप मल, सत्ता के द्रव्यकर्म तथा उनके उदय से होने वाले भाव मल से रहित हैं और इसी कारण अतिशय से विशुद्ध हैं–निर्मल हैं तथा **३.**'चित्तपरिणाम' अर्थात् मन के परिणमन रूप विकल्पों से रहित हैं, **४.**ज्ञानावरण कर्म के क्षय से क्षयोपशम रूप मन के विकल्प जिनके नहीं हैं–ऐसे केवल एक ज्ञान रूप और वीतराग स्वरूप भाव अरहंत जानना।।४०।।

उत्थानिका

आगे भाव ही का विशेष कहते हैं :–

सम्मद्दंसण पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो।। ४१।।

सत् दरश से देखें, दरव-पर्याय जाने ज्ञान से।
ज्ञातव्य अर्हत् भाव है, सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध जो।।४१।।

अर्थ

१.सम्यग्दर्शन से तो अपने को तथा सबको सत्ता मात्र से जो देखता है ऐसा केवलदर्शन जिसके है, **२.**ज्ञान से सब द्रव्य-पर्यायों को जो जानता है ऐसा जिसके केवलज्ञान है तथा **३.**सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध है, क्षायिक सम्यक्त्व जिसके पाया जाता है–ऐसा अरहंत का भाव जानना।

भावार्थ

अरहंत होते हैं सो घातिया कर्मों के नाश से होते हैं सो मोह कर्म के नाश से तो मिथ्यात्व और कषायों का अभाव होने से उनके परम वीतरागता एवं सर्व प्रकार निर्मलता होती है तथा दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्मों के नाश से अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान प्रकट होते हैं जिनसे वे सब द्रव्य–पर्यायों को एक समय में प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं।

द्रव्य छह होते हैं जिनमें जीवद्रव्य तो संख्या से अनंतानंत हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे अनंतानंत गुणे हैं, आकाश द्रव्य एक है सो अनंतानंत प्रदेशी है जिसके मध्य में सारे जीव और पुद्गल असंख्यात प्रदेशों में स्थित हैं तथा एक धर्म द्रव्य और एक अधर्म द्रव्य–ये दोनों असंख्यात–असंख्यात प्रदेशी हैं जिनसे आकाश के लोक–अलोक का विभाग है तथा इस लोक ही में कालद्रव्य के असंख्यात कालाणु स्थित हैं। इन सब द्रव्यों की परिणमन रूप जो पर्यायें हैं वे एक-एक द्रव्य की अनंतानंत हैं जिनमें काल द्रव्य का परिणमन निमित्त है। उसके निमित्त से क्रम रूप होता समयादि व्यवहार काल कहलाता है जिसकी गणना से द्रव्यों की अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायें अनन्तानन्त हैं। इन सब द्रव्य–पर्यायों को अरहंत का दर्शन–ज्ञान एक समय में देखता, जानता है इसी कारण उनको सर्वदर्शी, सर्वज्ञ कहते हैं।

इस प्रकार अरहंत का निरूपण चौदह गाथाओं में किया। उनमें प्रथम गाथा में जो कहा था कि नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण एवं पर्याय सहित च्यवन, आगति और संपदा–ये भाव अरहंत का ज्ञान कराते हैं उसका व्याख्यान नामादि कथन में सब ही आ गया। अब उसका संक्षेप में भावार्थ लिखते हैं :–

गर्भ कल्याणक–प्रथम तो गर्भ कल्याणक होता है सो प्रभु के गर्भ में आने से छह महिने पहले इन्द्र के द्वारा प्रेरित कुबेर जिस राजा की रानी के गर्भ में प्रभु आएंगे उसके नगर की शोभा करता है; रत्न एवं सुवर्णमयी भवन बनाता है; नगर के कोट, खाई, दरवाजे और सुन्दर वन–उपवन की रचना करता है; सुन्दर जिनके वेष हैं ऐसे नर–नारी नगर में बसाता है तथा नित्य राजभवन के ऊपर रत्नों की वर्षा हुआ करती है। पुनः जब वे माता के गर्भ में आते हैं तब माता को सोलह शुभ स्वप्न आते हैं तथा रुचिक द्वीप में बसने वाली देवांगनाएँ माता की नित्य सेवा किया करती हैं।

जन्म कल्याणक–ऐसे नौ मास बीतने पर प्रभु का तीन ज्ञान और दस अतिशय सहित जब जन्म होता है तब तीन लोक में क्षोभ होता है, देवों के बिना बजाये बाजे बजते हैं, इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है तब इन्द्र प्रभु का जन्म हुआ जानकर स्वर्ग से ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है, चार प्रकार के सब देव–देवियाँ एकत्रित होकर आते हैं, शची इन्द्राणी माता के पास जाकर गुप्त रूप से प्रभु को ले आती है, इन्द्र हर्षित होकर उन्हें हजार नेत्रों से देखता है। सौधर्म इन्द्र उन्हें अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरु पर्वत की ओर चलता है, ईशान इन्द्र छत्र

लगाता है, सनत्कुमार व महेन्द्र इन्द्र चँवर ढोरते हैं, पुनः मेरु के पांडुक वन की पांडुक शिला पर सिंहासन के ऊपर उनको स्थापित करते हैं, सारे देव क्षीर समुद्र से एक हजार आठ कलशों में जल लाकर देव–देवांगनाओं के गीत, न त्य एवं बाजों के बड़े उत्सव सहित प्रभु के मस्तक पर ढारकर जन्मकल्याणक का अभिषेक करते हैं, तत्पश्चात् श ंगार करके वस्त्र–आभूषण पहिनाकर माता के महल में लाकर उन्हें माता को सौंप देते हैं, पुनः इन्द्रादि देव अपने स्थान को चले जाते हैं और कुबेर सेवा के लिए रहता है, पीछे वे कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्था भोगते हैं जिसमें मनोवांछित भोग भोगते हैं।

तपकल्याणक–फिर कुछ वैराग्य का कारण पाकर संसार–शरीर–भोगों से विरक्त होते हैं तो लौकान्तिक देव वैराग्य को बढ़ाने वाली स्तुति करते हैं। तत्पश्चात् इन्द्र आकर तपकल्याणक करता है और उन्हें पालकी में बैठाकर बड़े उत्सव से वन में ले जाता है। वहाँ प्रभु पवित्र शिला पर बैठकर पंचमुष्टि से लोंच करके पंच महाव्रत अंगीकार करते हैं तथा समस्त परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर रूप धारण करके ध्यान करते हैं तो उनके तत्काल मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है।

ज्ञानकल्याणक–फिर कुछ काल व्यतीत होने पर तप के बल से घातिया कर्मों की सैंतालीस एवं अघातिया कर्मों की सोलह से तरेसठ प्रक तियों का सत्ता में से नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न कर अनन्त चतुष्टय पाकर क्षुधादि अठारह दोषों से रहित हो अरिहंत होते हैं तब इन्द्र आकर समवशरण की रचना करता है सो आगमोक्त अनेक शोभा सहित मणिसुवर्णमयी कोट, खाई, वेदी, चारों दिशाओं में चार दरवाजे, नाट्यशाला एवं वन आदि की अनेक रचना करता है, उसके मध्य सभामंडप में बारह सभाओं में मुनि, आर्यिका, श्रावक, देव, देवी एवं तिर्यंच तिष्ठते हैं। प्रभु के अनेक अतिशय प्रकट होते हैं, सभामंडप के बीच तीन पीठ पर गंधकुटी के मध्य सिंहासन के ऊपर अंतरीक्ष प्रभु पद्मासन से विराजते हैं और आठ प्रातिहार्य युक्त होते हैं, उनकी वाणी खिरती है जिसको सुनकर गणधर द्वादशांग शास्त्र रचते हैं–ऐसे केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव इन्द्र करता है, फिर पीछे प्रभु विहार करते हैं तो उसका बड़ा उत्सव देव करते हैं।

निर्वाणकल्याणक–पुनः कुछ काल बाद आयु के दिन थोड़े रहते हैं तब योगों का निरोध कर अघातिया कर्मों का नाश करके मुक्ति पधारते हैं तब पीछे शरीर का संस्कार करके इन्द्र उत्सव सहित निर्वाण कल्याणक करता है।

इस प्रकार तीर्थंकर पंच कल्याणक की पूजा पाकर अरहंत कहलाकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं–ऐसा जानना।।४१।।

उत्थानिका

आगे प्रव्रज्या का निरूपण करते हैं जिसे दीक्षा कहते हैं सो प्रथम ही दीक्षा के योग्य स्थान विशेष का तथा दीक्षा सहित मुनि जहाँ तिष्ठते हैं उसका स्वरूप कहते हैं :–

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा।।४२।।
सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति।।४३।।
पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति।।४४।। तिकलं।।

तरुतल हो अथवा शून्यग ह, उद्यान वा श्मशान हो।
गिरिगुफा, गिरि का शिखर वा विकराल वन अथवा वसति।।४२।।
निजवशासक्त तो तीर्थ व वच-चैत्य-आलय त्रिक अरु।
जिनभवन हैं ध्यातव्य जिनमारग, में जिनवर ने कहा।।४३।।
पंचेन्द्रिसंयत, पँच महाव्रत सहित व निरपेक्ष अरु।
स्वाध्याय-ध्यान से युक्त मुनिवरव षभ इन इच्छा करें।।४४।।

अर्थ

(१) **दीक्षा के योग्य स्थान**–सूना घर, व क्ष का मूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशान भूमि, पर्वत की गुफा, पर्वत का शिखर, भयानक वन अथवा वसतिका[1]–इनमें दीक्षा सहित मुनि तिष्ठते हैं, ये दीक्षा के योग्य स्थान हैं।

(२) **दीक्षा सहित मुनियों के ध्याने योग्य पदार्थ-**

१. तीर्थस्थान–'स्ववशासक्त' अर्थात् स्वाधीन मुनियों से आसक्त जो क्षेत्र जिनमें मुनि बसते हैं तथा जहाँ से मुक्ति प्राप्त करते हैं ऐसे तो तीर्थस्थान हैं।

२. वच, चैत्य और आलय का त्रिक–जो पूर्व में 'उक्त' अर्थात् आयतन आदि, परमार्थ रूप संयमी मुनि, अरहंत सिद्ध स्वरूप–इनके नाम के अक्षर रूप मंत्र तथा इनकी आज्ञा रूपी वाणी सो तो वच है; उनके आकार की धातु–पाषाण की प्रतिमा का स्थापन सो चैत्य है और वह प्रतिमा, अक्षर मंत्र एवं वाणी जिसमें स्थापित किए जाएं ऐसा आलय–मन्दिर, यंत्र वा पुस्तक ऐसा वच, चैत्य एवं आलय का त्रिक है।

३. जिनभवन–'जिनभवन' अर्थात् अक त्रिम चैत्यालय–मन्दिर ऐसा आयतनादि और इनके समान ही जिनका व्यवहार है उन्हें जिनमार्ग में जिनवर देव ने 'वेद्य' अर्थात् दीक्षा सहित मुनियों के ध्यान करने योग्य–चिन्तवन करने योग्य कहा है[2]।

जो मुनिव षभ अर्थात् मुनियों में प्रधान हैं वे ऊपर जैसे कहे वैसे शून्य ग हादि तथा तीर्थ, नाममंत्र, स्थापन रूप मूर्ति और उनका आलय-मन्दिर, पुस्तक और अक त्रिम जिनमन्दिर उनको 'णिइच्छन्ति' अर्थात् निश्चय से इष्ट करते हैं, उनमें सूने घर आदि में तो बसते हैं और तीर्थ आदि का ध्यान, चिन्तवन करते हैं तथा दूसरों को वहाँ दीक्षा देते हैं।

यहाँ 'णिइच्छन्ति' का पाठान्तर 'ण इच्छन्ति' ऐसा भी है उसका काकोक्ति से तो ऐसा अर्थ होता है कि 'उन्हें क्या इष्ट नहीं करते अर्थात् करते ही हैं' और एक टिप्पण में ऐसा अर्थ किया है कि 'ऐसे शून्य ग हादि तथा तीर्थादि यदि 'स्ववशासक्त'

टि0-1. 'श्रु0 टी0'-वसतिका अर्थात् नगर के बाहर बने हुए मठ आदि में या ग्राम-नगर आदि में मुनि को रहना चाहिए। नगर में अधिक से अधिक पांच रात तक रहना चाहिए और ग्राम में वि□ाष निवास न करना चाहिए। अधिक निवास करने से उस स्थान से अथवा ग्राम-नगरादि में रहने वाले मानवों से ममत्व हो जाता है इसलिए उसका निषेध है।

2. ढूढारी टीका में देखें।

अर्थात् स्वेच्छाचारियों एवं भ्रष्टाचारियों के द्वारा आसक्त हों, युक्त हों तो वे मुनिप्रधान उनको इष्ट नहीं करते, वहाँ नहीं रहते।

कैसे हैं वे मुनिप्रधान–पाँच महाव्रतों से संयुक्त हैं। **और कैसे हैं**–पाँचों इन्द्रियों का है भली प्रकार जीतना जिनके। **और कैसे हैं**–निरपेक्ष हैं, किसी प्रकार की वांछा से मुनि नहीं हुए हैं। **और कैसे हैं**–स्वाध्याय[1] और ध्यान से युक्त हैं, या तो शास्त्र पढ़ते–पढ़ाते हैं या धर्म–शुक्ल ध्यान करते हैं।

भावार्थ

यहाँ दीक्षा के योग्य स्थान तथा दीक्षा सहित दीक्षा को देने वाले मुनि का तथा उनके द्वारा चिन्तवन करने योग्य व्यवहार का स्वरूप कहा है।।४२-४४।।

उत्थानिका

आगे **'प्रव्रज्या'** का स्वरूप कहते हैं :–

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४५।।

ग हग्रंथ मोहविमुक्त, है परिषहजयी, जितकषायी।
है मुक्त पापारम्भ से, जिन प्रव्रज्या ऐसी कही।।४५।।

अर्थ

जो **१.**'ग ह' अर्थात् घर और 'ग्रन्थ' अर्थात् परिग्रह–इन दोनों से तथा इनके मोह–ममत्व एवं इष्ट–अनिष्ट बुद्धि से रहित है, **२.** बाईस परिषहों का सहना जिसमें होता है, **३.** जीती गई हैं कषाय जिसमें तथा **४.** पाप रूप जो आरम्भ उससे रहित है–ऐसी प्रव्रज्या जिनेश्वर देव ने कही है।

भावार्थ

जैन दीक्षा में कुछ भी परिग्रह नहीं है, सर्व संसार का मोह नहीं है, बाईस

टि0-1. ढूंढारी टीका में देखें ।

परिषहों का उसमें सहना है, कषायों का जीतना है और पापारम्भ का अभाव है-ऐसी दीक्षा अन्य मत में नहीं है।।४५।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइं छेत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४६।।

धन-धान्य, वस्त्र, कनक व शयनासन अरु क्षेत्रादि के।
सब ही कुदान से रहित है वह, प्रव्रज्या ऐसी कही।।४६।।

अर्थ

धन, धान्य और वस्त्र का दान, 'हिरण्य' अर्थात् चाँदी, सोना आदि, शय्या, आसन एवं यहाँ आदि शब्द से छत्र–चँवरादि तथा क्षेत्र आदि–इन कुदानों के देने से जो रहित है ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ

कई अन्यमती ऐसी प्रव्रज्या कहते हैं कि गाय, धान्य, वस्त्र, सोना, चाँदी, शयन, आसन, छत्र, चँवर एवं भूमि आदि का दान करना सो प्रव्रज्या है। इसका इस गाथा में निषेध किया है कि 'प्रव्रज्या तो निर्ग्रन्थस्वरूप है, जो धन–धान्य आदि रखकर दान करता है उसके कैसी प्रव्रज्या ! यह तो ग हस्थ का कर्म है तथा ग हस्थ के भी इन वस्तुओं के दान से विशेष पुण्य तो उत्पन्न नहीं होता, पाप बहुत है पुण्य अल्प है सो बहुत पाप का कार्य तो ग हस्थ को भी करने में लाभ नहीं है, जिसमें बहुत लाभ हो वह ही करना योग्य है और दीक्षा तो इन वस्तुओं से रहित ही जानना'।।४६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४७।।

निंदा-प्रशंसा, शत्रु-मित्र तथा अलाभ व लाभ में।
त ण-कनक में समभाव होता, प्रव्रज्या ऐसी कही।।४७।।

अर्थ

जिसमें **१.** शत्रु–मित्र में समभाव है, **२.** प्रशंसा–निंदा में और लाभ–अलाभ में समभाव है तथा **३.** त ण–कंचन में समभाव है–प्रव्रज्या ऐसी कही है।

भावार्थ

जैन दीक्षा में राग-द्वेष का अभाव है इसलिए शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और त ण-कंचन में तुल्य भाव है–जैन मुनियों की ऐसी दीक्षा है।।४७।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

उत्तममज्झमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४८।।

उत्तम वा मध्यम गेह, निर्धन-सधन में निरपेक्ष हो।
सर्वत्र पिण्ड का ग्रहण जिसमें, प्रव्रज्या ऐसी कही।।४८।।

अर्थ

'उत्तम गेह' अर्थात् शोभा सहित राजभवन आदि और 'मध्यमगेह' अर्थात् शोभा

रहित सामान्य जनों के घर में तथा दरिद्री और धनवान में 'निरपेक्ष' अर्थात् अपेक्षा से रहित सब जगह[1] ग्रहण किया गया है 'पिंड' अर्थात् आहार जिसमें ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ

मुनि दीक्षा सहित होते हैं, वे आहार लेने जाते हैं तो ऐसा नहीं विचारते कि बड़े घर जाना अथवा छोटे घर जाना तथा दरिद्री के न जाना, धनवान के जाना ऐसे वांछा रहित जहाँ अपने योग्य निर्दोष आहार हो वहाँ सर्वत्र ही जाकर योग्य आहार लेते हैं—ऐसी दीक्षा है।४४।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :—

टि0-1. 'श्रु0 टी0' के अनुसार 'सर्व जायगां' का अर्थ है-'सर्वत्र योग्य ग□ह में आहार स्वीकृत करना।' 'योग्य ग□ह' पद पर वहाँ **प्र□न** उठाया है कि 'वे अयोग्य ग□ह कौन से हैं जिनमें भिक्षा ग्रहण नहीं की जाती ?'

उत्तर में कहा है कि 'गायक-गाने बजाने वाले गंधर्व, कोटपाल, नीचकर्म से आजीविका करने वाले, माली, विलिंगी-मिथ्याभेषधारी साधु, वे□या, तेली, दीनता के वचन बोलने वाले श्रावक, बालकों का जन्म कराने वाली सूतिका, छिंपक-कपड़े छापने वाले, मदिरा बेचने वाले, मद्यपायी संसर्गी-मद्य पीने वालों के साथ संसर्ग रखने वाले, जुलाहे, मालाकार, कुंभकार, नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार, सुनार, ि□ल्पी-पत्थर आदि घड़ने वाले के घर में मुक्ति की इच्छा करने वाले यति को आहार नहीं करना चाहिए और इन्हीं के समान अन्य लोगों का भी अपने मन से विचार कर लेना चाहिए।'

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया[1] ।। ४9।।

नहिं मान, आशा, राग-द्वेष, निःसंग हो, निर्ग्रंथ हो।
निर्ममता, निरहंकारिता हो, प्रव्रज्या ऐसी कही।।४9।।

टि0-1.'श्रु0 टी0' में इस गाथा में आए हुए प्रव्रज्या के 'निर्ग्रंथ, निस्संग व निरहंकार' वि□ाषणों की इस रूप में व्याख्या की है :-

1. **निर्ग्रन्था**-जो परिग्रह से रहित हो **अथवा** 'निः' यानि अति□ायपूर्ण, ग्रंथों से सहित हो अर्थात् प्रव्रज्या का धारी जिनेन्द्र प्ररूपित □ाास्त्रें का ज्ञाता हो।
2. **निस्संगा**-जो स्त्रि आदि संग से रहित हो **अथवा** नि□चत □ाोभनीय अंगों-द्वाद□ाांगों से सहित हो अर्थात् जिसमें द्वाद□ाांगों का पठन-पाठन होता हो **अथवा** □ारीर के नि□चत आठ अंगों और उपांगों से सहित हो। दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और f□ार-ये आठ अंग होते हैं और अगुंली, आँख, नाक आदि उपांग होते हैं। प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले का □ारीर अंग-उपांग से सहित होना चाहिए, विकल नहीं। कुरूपी, हीनांग, अधिकांग□ और कुष्ठादि रोग से युक्त मनुष्य को दीक्षा नहीं दी जाती।
3. **निरहंकारा**-जिन दीक्षा अहंकार से रहित अर्थात् कर्मोदय प्रधान होती है। जीवों को सुख-दुःख अपने-अपने कर्मो के उदय से होता है इसलिए 'मैंने यह किया, वह किया'-ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिए। जैसा कि तार्किक f□ारोमणि 'श्री समन्तभद्राचार्य' ने कहा है-**'अन्तरंग और बहिरंग उपादान और निमित्त-दोनों कारणों की अनुकूलता से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता-होनहार अलंघ्य□ाक्ति है-इसकी सामर्थ्य को कोई लांघ नहीं सकता। भवितव्यता की अपेक्षा न करके मात्र पुरुषार्थ की अपेक्षा रखने वाला अहंकार से पीड़ित मानव अनेक मंत्र-तंत्रदि सहकारी कारणों को मिलाकर भी सुख-दुःखादि कार्यों को करने में असमर्थ रहता है अर्थात् जब तक जिस कार्य की भवितव्यता नहीं आ पहुँची तब तक यह प्राणी अकेला नहीं, अनेक कारणों के साथ मिलकर भी कार्य नहीं कर पाता। हे भगवन् ! ऐसा आपने ठीक ही कहा है।'**

अथवा निरहंकारात्=निरहं+कारात् (क+आरात्)। निरहं-निरघं-निष्पापं अर्थात् सर्व सावद्य योग से रहित जिनदीक्षा होती है और 'क' अर्थात् '□ाुद्ध बुद्ध एकस्वभाव निजात्मस्वरूप, उसके 'आरात्' अर्थात् समीप जो वर्ते वह जिनदीक्षा होती है। **चिच्चमत्कार लक्षण ज्ञायक एकस्वभाव टंकोत्कीर्ण निज आत्मा में तल्लीनता ही प्रव्रज्या होती है-ऐसा जानना चाहिए।**

अर्थ

पुनः कैसी है प्रव्रज्या–निर्ग्रन्थस्वरूप है, परिग्रह से रहित है।
और कैसी है–निःसंग अर्थात् स्त्री आदि परद्रव्य का मिलाप जिसमें नहीं है।
और कैसी है–निर्माना अर्थात् मानकषाय जिसमें नहीं है, मद से रहित है।
और कैसी है–निराश है अर्थात् आशा जिसमें नहीं हैं, संसार–शरीर–भोगों की आशा से रहित है।
और कैसी है–'अराय' अर्थात् राग का जिसमें अभाव है, संसार–शरीर–भोगों से प्रीति जिसमें नहीं है।
और कैसी है–निर्द्वेष है, किसी से द्वेष जिसमें नहीं है।
और कैसी है–'निर्ममा' अर्थात् जिसमें किसी से ममत्व भाव नहीं है।
और कैसी है–निरहंकारा अर्थात् अहंकार से रहित है, जो कुछ कर्म का उदय हो सो होता है–ऐसा जानने से जिसमें परद्रव्य के कर्तापने का अहंकार नहीं है और अपने स्वरूप ही का साधन है। ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ

अन्यमती कोई वेष पहनकर उस मात्र को दीक्षा मानते हैं सो दीक्षा नहीं है, जैन दीक्षा ऐसी कही है।।४9।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५०।।

निःस्नेह है, निर्मोह है, है कलुष तथा विकार बिन।
आशारहित, निर्लोभ, निर्भय, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५०।।

अर्थ

पुनः प्रव्रज्या ऐसी कही है।

कैसी है–'निःस्नेहा' अर्थात् जिसमें किसी से स्नेह नहीं है, परद्रव्य से रागादि रूप सचिक्कण भाव जिसमें नहीं है।

और कैसी है–'निर्लोभा' अर्थात् जिसमें किसी परद्रव्य को लेने की वांछा नहीं है।

और कैसी है–'निर्मोहा' अर्थात् जिसमें किसी परद्रव्य से मोह नहीं है, भूलकर भी परद्रव्य में आत्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

और कैसी है–निर्विकार है। बाह्य–अभ्यंतर विकार से रहित है। बाह्य में तो शरीर की चेष्टा का, वस्त्राभूषणादि का तथा अंग–उपांग का और अन्तरंग में काम–क्रोधादि का विकार जिसमें नहीं है[1]।

और कैसी है–'निःकलुषा' अर्थात् मलिनभाव से रहित हैं, आत्मा को कषायें मलिन करती हैं सो कषाय जिसमें नहीं है।

और कैसी है–'निर्भया' अर्थात् किसी प्रकार का भय जिसमें नहीं है क्योंकि जो अपने स्वरूप को अविनाशी जाने उसे किसका भय हो।

और कैसी है–'निराशभावा' अर्थात् जिसमें किसी प्रकार से किसी परद्रव्य की आशा का भाव नहीं है, **आशा तो किसी वस्तु की प्राप्ति न हो उसकी लगी रहती है और जहाँ परद्रव्य को अपना जाना नहीं और अपने स्वरूप की प्राप्ति हो गई तब कुछ पाना शेष न रहा फिर किसकी आशा हो।** प्रव्रज्या ऐसी कही है।

भावार्थ

जैन दीक्षा ऐसी है, अन्यमत में स्व–पर द्रव्य का भेदज्ञान नहीं है उनके ऐसी दीक्षा कैसे हो।।५०।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0'-'णिव्वियार' प्राकृत पाठ के 'निर्विकार' और 'निर्विचार'-ऐसे दो अर्थ हैं। जिनदीक्षा वस्त्र-आभरण आदि वेष विकार से रहित निर्विकार होती है अथवा निर्वियार होती है अर्थात् 'नि□चतो विचारो विवेको भेदज्ञानं यस्यां सा निर्विचारा'-नि□चत रूप से विचार विवेक जिसमें होता है वह निर्विचार है। जिनदीक्षा 'आत्मा प□थक् है और कर्म प□थक् है'-इस विवेक से सहित होती है।'

उत्थानिका

आगे दीक्षा का बाह्य रूप कहते हैं :–

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५१।।

हो यथाजात तो रूप, लम्बितभुज, निरायुध, शांत है।
परक तनिलय आवासयुत है, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५१।।

अर्थ

कैसी है प्रव्रज्या–'यथाजातरूपसद शा' अर्थात् जैसा तत्काल जन्मे हुए बालक का नग्न रूप होता है वैसा रूप जिसमें है। **और कैसी है**–'अवलम्बितभुजा' अर्थात् लम्बायमान की गई हैं भुजाएँ जिसमें, बहुलता की अपेक्षा कायोत्सर्ग से खड़ा रहना जिसमें होता है। **और कैसी है**–निरायुधा अर्थात् आयुधों (शस्त्रों) से रहित है। **और कैसी है**–'शान्ता' अर्थात् अंग–उपांग के विकार रहित शांत जिसमें मुद्रा होती है। **और कैसी है**–'परक तनिलयनिवासा' अर्थात् दूसरे के द्वारा बनाया गया निलय जो वसतिका आदि उसमें है निवास जिसमें, अपने को क त–कारित–अनुमोदना और मन–वचन–काय से जिसमें दोष न लगा हो ऐसी दूसरे के द्वारा बनाई हुई वसतिका आदि में जिसमें बसना होता है[1]। ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ

कई अन्यमती बाह्य में वस्त्रादि रखते हैं, कई आयुध रखते हैं, कई सुख के लिए चलाचल आसन रखते हैं, कई उपाश्रय आदि रहने का निवास बनाकर उसमें बसते हैं और अपने को दीक्षा सहित मानते हैं उनके वेष मात्र हैं, जैन दीक्षा तो जैसी कही है वैसी ही है।।५१।।

टि0- 1. 'श्रु0 टी0'-'जिनदीक्षा में किसी दूसरे के द्वारा बनाए हुए उपाश्रय में निवास किया जाता है, सर्प के समान। **जिस प्रकार** सर्प अपना बिल स्वयं नहीं बनाता, अपने आप बने हुए अथवा किसी के द्वारा बनाये हुए बिल में निवास करता है **उसी प्रकार** जिनदीक्षा का धारक साधु अपना उपाश्रय स्वयं न बनाकर पर्वत की गुफा तथा व□क्ष की कोटर आदि अपने आप बने हुए अथवा किसी अन्य धर्मात्मा के द्वारा बनवाए हुए स्थान में निवास करता है।'

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५२।।

उपशमक्षमादमयुक्त, तनसंस्कार बिन है, रुक्ष है।
मद, राग-द्वेष से रहितता हो, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५२।।

अर्थ

पुनः कैसी है प्रव्रज्या–'उपशमक्षमादमयुक्ता' अर्थात् उपशम तो मोह कर्म के उदय का अभाव रूप शांत परिणाम, क्षमा क्रोध का अभाव रूप उत्तम क्षमा और दम इन्द्रियों को विषयों में नहीं प्रवर्ताना–इन भावों से युक्त है। **और कैसी है**–'शरीरसंस्कारवर्जिता' अर्थात् स्नानादि के द्वारा शरीर के संवारने से रहित है। **और कैसी है**–रुक्ष है, शरीर के तेलादि का मर्दन जिसमें नहीं है। **और कैसी है**–मद, राग व द्वेष से रहित है। ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ

अन्यमत के वेषी क्रोधादि रूप परिणमते हैं, शरीर को संवारकर सुन्दर रखते हैं, इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं और अपने को दीक्षा सहित मानते हैं सो वे तो ग हस्थ के समान हैं, यति कहलाकर उल्टे मिथ्यात्व को द ढ़ करते हैं। जैन दीक्षा जैसी कही है सो सत्यार्थ है और जो इसको अंगीकार करते हैं वे ही सच्चे यति हैं।।५२।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५३।।

जहँ मूढ़भाव मिथ्यात्व नहिं अरु, अष्ट कर्म प्रणष्ट है।
सम्यक्त्व गुण से शुद्ध होती, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५३।।

अर्थ

पुनः कैसी है प्रव्रज्या–विपरीत हुआ है अर्थात् दूर हुआ है मूढ़भाव–अज्ञानभाव जिसमें। अन्यमती आत्मा का स्वरूप सर्वथा एकान्त से भिन्न–भिन्न अनेक प्रकार का कहकर विवाद करते हैं, उनके आत्मा के स्वरूप में मूढ़ भाव है, जैन मुनियों के अनेकांत से साधा हुआ यथार्थ ज्ञान है इसलिये मूढ़ भाव नहीं है। **और कैसी है प्रव्रज्या**–प्रणष्ट हुए हैं कर्म आठ जिसमें क्योंकि जैन दीक्षा लेने वाले के कर्मों का नाश होकर मोक्ष होता है। **और कैसी है**–नष्ट हुआ है मिथ्यात्व जिसमें। जैन दीक्षा में अतत्त्वार्थ श्रद्धान रूप मिथ्यात्व का अभाव है इसी कारण सम्यक्त्व नामक गुण से विशुद्ध है–निर्मल है, सम्यक्त्व सहित दीक्षा में दोष नहीं रहता है। ऐसी प्रव्रज्या कही है।।५३।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

जिणमग्गे पव्वज्जा छह संघयणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया।। ५४।।

जिनमार्ग में निर्ग्रन्थ दीक्षा, संहनन छह में कही।
भवि पुरुष भावें भावना, वह कर्मक्षय हेतु कही।।५४।।

अर्थ

प्रव्रज्या है सो जिनमार्ग में छहों संहनन वाले जीवों के होनी कही है। **कैसी है वह**–निर्ग्रन्थ स्वरूप है अर्थात् सब परिग्रह से रहित यथाजात रूप स्वरूप है। इसकी जो भव्य पुरुष हैं वे भावना करते हैं–**ऐसी प्रव्रज्या कर्म के क्षय का कारण कही है।**

भावार्थ

बज्रव षभनाराच आदि छह शरीर के संहनन कहे हैं उनमें सब ही में दीक्षा का होना कहा है सो जो भव्य पुरुष हैं वे कर्म क्षय का कारण जानकर इसको अंगीकार करो। ऐसा नहीं है कि जो द ढ संहनन वज्रव षभ आदि हैं उन ही में यह हो और असम्प्राप्तास पाटिका संहनन में न हो, ऐसी निर्ग्रन्थ रूप दीक्षा असम्प्राप्तास पाटिका संहनन में भी होती है।।५४।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

तिलतुसमत्तणिमित्तं समबाहरिगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं।। ५५।।

तिलतुषप्रमाण न बाह्य संग रु, राग तत्कारण नहीं।
जिनदीक्षा होती वैसी, जैसी सर्वदर्शी ने कही।।५५।।

अर्थ

जिस प्रव्रज्या में तिल के तुष मात्र के संग्रह का कारण ऐसा जो भाव रूप इच्छा नामक अन्तरंग परिग्रह तथा उस तिल के तुष समान बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है ऐसी प्रव्रज्या जैसी सर्वज्ञदेव ने कही है वैसी ही है, अन्य प्रकार प्रव्रज्या नहीं है–ऐसा नियम जानना।

भावार्थ

श्वेताम्बर आदि कहते हैं कि अपवाद मार्ग में वस्त्रादि का संग्रह साधु के कहा है सो ऐसा सर्वज्ञ के सूत्र में तो कहा है नहीं, उन्होंने कल्पित सूत्र बनाये हैं उनमें कहा है सो काल दोष है।।५५।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अच्छेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।।५६।।

उपसर्ग अरु परिषह सहें, निर्जनप्रदेश में नित रहें।
सर्वत्र आरोहण करें भूतल, शिला अरु काष्ठ पर।।५६।।

अर्थ

पुनः कैसी है प्रव्रज्या–'उपसर्ग' अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत उपद्रव तथा 'परिषह' अर्थात् दैव–कर्म योग से आये जो बाईस उनको समभाव से सहना है जिसमें ऐसी प्रव्रज्या सहित मुनि हैं वे जहाँ अन्य जन नहीं हैं ऐसे निर्जन वन आदि जो प्रदेश वहाँ सदा तिष्ठते हैं और वहाँ भी शिलातल, काष्ठ और भूमितल में स्थित होते हैं, इन सारे ही प्रदेशों का आरोहण करते हैं, उनमें बैठते हैं, सोते हैं, सर्वत्र कहने से यदि वन में रहें तो और कुछ काल नगर में रहें तो ऐसे ही स्थानों पर रहते हैं।

भावार्थ

जैन दीक्षा वाले मुनि उपसर्ग और परिषहों में समभाव से रहते हैं और निर्जन प्रदेश में जहाँ सोते और बैठते हैं वहाँ शिला, काष्ठ और भूमि ही में बैठते-सोते हैं, ऐसा नहीं है कि अन्यमत के वेषी के समान स्वच्छंद प्रमादी रहते हों-ऐसा जानना।।५६।।

उत्थानिका

आगे अन्य विशेष कहते हैं :–

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।५७।।

नारी, नपुसंक, पशु, कुशील, का संग नहिं, विकथा न हो।
स्वाध्याय-ध्यान से युक्त होवे, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५७।।

अर्थ

जिस प्रव्रज्या में पशु–तिर्यंच, महिला–स्त्री एवं षंढ–नपुंसक इनका तथा कुशील–व्यभिचारी पुरुषों का संग नहीं किया जाता तथा स्त्री, राज, भोजन और चोर इत्यादि की कथा जो विकथा उनको नही किया जाता, तो क्या करते हैं! स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र–जिनवचनों का पठन–पाठन और ध्यान अर्थात् धर्म, शुक्ल ध्यान–इनसे युक्त रहते हैं, **प्रव्रज्या ऐसी जिनदेव ने कही है।**

भावार्थ

जैन दीक्षा लेकर कुसंगति करे, विकथादि से प्रमादी रहे तो दीक्षा का अभाव हो जाये इसलिए कुसंगति निषिद्ध है। अन्य वेष के समान यह वेष नहीं है, यह मोक्ष का मार्ग है, अन्य संसार मार्ग हैं।।५७।।

उत्थानिका

आगे फिर विशेष कहते हैं :–

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५४।।

सम्यक्त्व संयम गुण तथा, तप व्रत गुणों से शुद्ध जो।
दीक्षा गुणों से शुद्ध होती, प्रव्रज्या ऐसी कही।।५४।।

अर्थ

प्रव्रज्या जिनदेव ने ऐसी कही है। **'कैसी है'**–'तप' अर्थात् बाह्य–अभ्यंतर बारह प्रकार, अव्रत अर्थात् पाँच महाव्रत और गुण अर्थात् इनके भेद रूप उत्तरगुण उनसे शुद्ध है। **और कैसी है**–'संयम' अर्थात् इन्द्रिय–मन का निरोध एवं षट्काय के जीवों की रक्षा, 'सम्यक्त्व' अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण निश्चय–व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन तथा इनका 'गुण' अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण उनसे शुद्ध–अतिचार रहित निर्मल है। **और कैसी है**–जो प्रव्रज्या के गुण कहे उनसे शुद्ध है, वेष मात्र ही नहीं है–ऐसी शुद्ध प्रव्रज्या कही है, इन गुणों के बिना प्रव्रज्या शुद्ध नहीं है।

भावार्थ

तप, व्रत एवं सम्यक्त्व से सहित और इनके मूलगुण, उत्तरगुण तथा अतिचारों का शोधन जिसमें हो-ऐसी दीक्षा शुद्ध है। अन्यवादी तथा श्वेताम्बर जैसी कहते हैं सो दीक्षा शुद्ध नहीं है।।५४।।

उत्थानिका

आगे प्रव्रज्या के कथन का संकोच करते हैं :–

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं।। ५७।।

है शुद्ध सम्यक्दरशयुत, निर्ग्रन्थ जिनमग ख्यात जो।
संक्षेप से वैसी मुनिगुणपूर्ण जिनदीक्षा कही।।५७।।

अर्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार आयतन अर्थात् दीक्षा का स्थान जो निर्ग्रन्थ मुनि उसके जितने गुण हैं उनसे 'पज्जत्त' अर्थात् परिपूर्ण तथा अन्य भी जो बहुत दीक्षा में होने चाहिएं वे गुण जिसमें हों'-ऐसी प्रव्रज्या जिनमार्ग में जैसी 'ख्यात' अर्थात् प्रसिद्ध है वैसी संक्षेप से कही है। कैसा है जिनमार्ग-विशुद्ध है सम्यक्त्व जिसमें अर्थात् अतिचार रहित सम्यक्त्व जिसमें पाया जाता है। और कैसा है जिनमार्ग–निर्ग्रन्थ रूप है, जिसमें बाह्य-अन्तरंग परिग्रह नहीं है।

भावार्थ

ऐसी पूर्वोक्त निर्मल, सम्यक्त्व सहित व निर्ग्रन्थ रूप प्रव्रज्या जिनमार्ग में कही है सो अन्य नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पतंजलि और बौद्ध आदि मत में नहीं है तथा काल दोष से जो जैनमत से च्युत हुए और जैनी कहलाते है ऐसे जो श्वेताम्बर आदि उनमें भी नहीं है।

ऐसे प्रव्रज्या का वर्णन किया।।५७।।

उत्थानिका

आगे बोधपाहुड़ के कथन को संकोचते हुए आचार्य कहते हैं :–

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहिदंकरं उत्तं।। ६०।।

रूपस्थ व शुद्धार्थ पथ, जिनमग में जिनवर ज्यों कहा।
षट्कायहितकर भव्यजन, बोधार्थ त्यों मैंने कहा।।६०।।

अर्थ

शुद्ध है अन्तरंग भाव रूप अर्थ जिसमें ऐसा 'रूपस्थ' अर्थात् बाह्य स्वरूप मोक्षमार्ग जैसा जिनमार्ग में जिनवर देव ने कहा है वैसा छह काय के जीवों का हित करने वाला मार्ग भव्य जीवों को सम्बोधने के लिए मैंने कहा है–ऐसा आचार्य ने अपना अभिप्राय प्रकट किया है।

भावार्थ

इस बोधपाहुड़ में आयतन आदि प्रव्रज्या पर्यन्त ग्यारह स्थल कहे, उनका बाह्य–अन्तरंग स्वरूप जैसा जिनदेव ने जिनमार्ग में कहा है वैसा कहा। कैसा है वह रूप–छह काय के जीवों का हित करने वाला है। एकेन्द्रिय आदि असैनी पर्यन्त जीवों की तो रक्षा का जिसमें अधिकार है तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा भी कराता है और उन्हें मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार का दुःख मेट कर मोक्ष को भी प्राप्त कराता है–ऐसा मार्ग भव्य जीवों को सम्बोधने के लिए कहा है।

जगत के प्राणी अनादि से लगाकर मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन कर संसार में भ्रमण करते हैं सो दुःख मिटाने को आयतन आदि ग्यारह स्थान-धर्म के ठिकानों का आश्रय लेते हैं, वे उन ठिकानों का अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनसे सुख लेना चाहते हैं किन्तु यथार्थ के बिना सुख कहाँ! अतः आचार्य ने दयालु होकर जैसा सर्वज्ञ ने कहा वैसा आयतन आदि का स्वरूप संक्षेप से यथार्थ कहा है, इसको बाँचो, पढ़ो, धारण करो, इनकी श्रद्धा करो और इन रूप प्रवर्तन करो जिससे वर्तमान में सुखी रहो और आगामी संसार दुःख से छूटकर परमानन्द

स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होओ-ऐसा आचार्य के कहने का अभिप्राय है।

यहाँ कोई पूछता है–इस बोधपाहुड़ में धर्म व्यवहार की प्रव त्ति के ग्यारह स्थान कहे और उनका विशेषण किया कि ये छह काय के जीवों का हित करने वाले हैं सो अन्यमती इनका अन्यथा स्थापन करके प्रव त्ति करते हैं सो तो हिंसा रूप हैं और जीवों के हित करने वाले नहीं हैं, **यहाँ पाहुड़ में ये ग्यारह ही स्थान संयमी मुनि और अरहंत सिद्ध ही को कहे सो ये तो छह काय के जीवों के हित करने वाले हैं ही इसलिये पूज्य हैं–यह तो सत्य है परन्तु ये जहाँ बसते हैं ऐसे आकाश के प्रदेश रूप क्षेत्र तथा पर्वत की गुफा-वनादि तथा अक त्रिम चैत्यालय जो स्वयमेव बने हुए हैं उनको भी प्रयोजन और निमि त्त विचारकर उपचार मात्र से छह काय के जीवों का हित करने वाले कहें तो उसमें भी विरोध नहीं हैं।** यद्यपि ये प्रदेश जड़ हैं, ये बुद्धिपूर्वक किसी का बुरा–भला नहीं करते तथा जड़ को सुख–दुःख आदि फल का अनुभव नहीं होता तथापि ये भी व्यवहार से पूज्य हैं क्योंकि अरहंतादि जहाँ तिष्ठते है वे क्षेत्र, निवास आदि प्रशस्त हैं अतः उन अरहंतादि के आश्रय से वे क्षेत्रादि भी पूज्य हैं परन्तु ग हस्थ जो जिनमन्दिर बनाता है, वसतिका व प्रतिमा बनाता है ओर उनकी प्रतिष्ठा–पूजा करता है उसमें तो छह काय के जीवों की विराधना होती है सो इस उपदेश और प्रव त्ति की बहुलता कैसे है?

उसका समाधान ऐसा है–१. ग हस्थ अरहंत, सिद्ध एवं मुनियों का उपासक है सो जहाँ ये साक्षात् होते हैं वहाँ तो वह इनका वंदन-पूजन करता ही है परन्तु जहाँ ये साक्षात् नहीं होते वहाँ परोक्ष संकल्प में लेकर वंदन-पूजन करता है तथा उनके बसने के क्षेत्र और वे जहाँ से मुक्ति को प्राप्त हुए उन क्षेत्रों में तथा अक त्रिम चैत्यालय में उनका संकल्प करके वंदता-पूजता है इसमें अनुराग विशेष सूचित होता है तथा २. उनकी मुद्रा की प्रतिमा तदाकार बनवाता है और उसको मंदिर बनवाके प्रतिष्ठा करवाकर वहाँ स्थापित करता है तथा नित्य पूजन करता है जिसमें अत्यंत अनुराग सूचित होता है तथा उस अनुराग से विशिष्ट पुण्य का बंध होता है और ३. उस मन्दिर में छह काय के जीवों के हित का तथा रक्षा का उपदेश होता है तथा वहाँ निरन्तर सुनने वालों तथा धारण करने वालों के अहिंसा धर्म की श्रद्धा द ढ़ होती है तथा ४. उनकी तदाकार

प्रतिमा देखने वालों के शांत भाव होते हैं, ध्यान की मुद्रा का स्वरूप जाना जाता है एवं वीतराग धर्म से अनुराग विशेष होने से पुण्य का बंध होता है इसलिये इनको भी छह काय के जीवों का हित करने वाले उपचार से कहा जाता है और जिनमन्दिर, वसतिका एवं प्रतिमा बनवाने में तथा पूजा-प्रतिष्ठा करवाने में आरम्भ होता है जिसमें कुछ हिंसा भी होती है परन्तु ऐसा आरम्भ तो ग हस्थ का कार्य है, इसमें ग हस्थ को अल्प पाप कहा है और पुण्य बहुत कहा है क्योंकि ग हस्थ की पदवी में तो मिथ्यात्व, चोरी आदि अन्याय कार्य और मांसादि अभक्ष्य के खाने को महापाप कहा है।

ग हस्थ की पदवी में न्याय कार्य करना, न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना, रहने को स्थान बनवाना, विवाहादि करना तथा यत्नपूर्वक आरम्भ करके आहारादि स्वयं बनाना और खाना इत्यादि कार्यों में यद्यपि कुछ हिंसा भी होती है तो भी ग हस्थ को इनका महापाप नहीं कहा जाता। ग हस्थ के तो महापाप मिथ्यात्व का सेवन करना, अन्याय–चोरी आदि करके धन कमाना, त्रस जीवों को मारकर मांस आदि अभक्ष्य खाना और परस्त्री का सेवन करना आदि हैं।

और ग हस्थाचार छोड़कर जब मुनि हो तब ग हस्थ के न्यायकार्य और आरम्भ करके आहार बनवाना आदि मुनि के महापाप हैं क्योंकि मुनि की पदवी में ये कार्य भी अन्याय ही हैं। और मुनि के भी आहार–विहार आदि की प्रव त्ति में कुछ हिंसा होती है परन्तु उससे मुनि को हिंसक नहीं कहा जाता वैसे ही ग हस्थ के न्यायपूर्वक अपने पद के योग्य आरम्भ के कार्यों में अल्प पाप ही कहा जाता है।

अतः जिनमन्दिर, वसतिका, पूजा एवं प्रतिष्ठा के कार्यों में आरम्भ का अल्प पाप है तथा मोक्षमार्ग से एवं मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने वालों से अति अनुराग होता है और उनकी प्रभावना करता है, उनको आहार-दानादि देता है और उनकी वैयाव त्ति करता है सो यह सम्यक्त्व का अंग है और महान पुण्य का कारण है इसलिये ग हस्थों को सदा करना उचित है और ग हस्थ होकर ये कार्य न करे तो जाना जाता है कि इसके धर्मानुराग विशेष नहीं है।

यहाँ फिर कोई कहता है–'ग हस्थाचार के कार्य बिना तो ग हस्थ को सरता नहीं इसलिए उन्हें तो वह करे ही करे परन्तु धर्मपद्धति में बड़े आरम्भ के कार्य करके पाप क्यों मिलावे, सामायिक, प्रतिक्रमण एवं प्रोषध आदि करके पुण्य ही

उपजावे !'

उसको कहते हैं—जो तू ऐसा कहता है सो तुझे परिणामों की तो पहचान नहीं है, केवल बाह्य क्रिया मात्र ही में तू पुण्य समझता है, बाह्य बहुत आरम्भी-परिग्रही का मन सामायिक एवं प्रतिक्रमण आदि निरारम्भ कार्यों में विशेष लगता नहीं है-यह अनुभवगोचर है सो तुझे अपने भावों का अनुभव नहीं है। केवल बाह्य सामायिकादि निरारम्भ कार्य का वेष धारण करके बैठे तो कुछ विशेष पुण्य है नहीं। शरीरादि बाह्य वस्तु तो जड़ हैं, केवल जड़ की क्रिया का फल तो आत्मा को लगता नहीं, अपना भाव जितने अंश में बाह्य क्रिया में लगता है उतने अंश में शुभाशुभ फल अपने को लगता है-इस प्रकार विशेष पुण्य तो भावों के अनुसार होता है और बहुत आरम्भी-परिग्रही का भाव तो पूजा-प्रतिष्ठादि के बड़े आरम्भ में ही विशेष अनुराग सहित लगता है और जो ग हस्थाचार के बड़े आरम्भ से विरक्त होगा वह त्याग करके अपनी पदवी बढ़ाएगा, तब ग हस्थाचार के बड़े आरम्भ छोड़ेगा और इस ही रीति से धर्म प्रव त्ति के भी बड़े आरम्भ पदवी के अनुसार घटायेगा, मुनि होगा तो सारे ही आरम्भ क्यों करेगा इसलिये मिथ्याद ष्टि बहिर्बुद्धि जो बाह्य कार्यमात्र ही पुण्य, पाप एवं मोक्षमार्ग समझते हैं उनका उपदेश सुनकर अपने को अज्ञानी नहीं होना।

पुण्य-पाप के बंध में भाव ही प्रधान है और पुण्य-पाप से रहित मोक्ष का मार्ग है उसमें सम्यग्दर्शनादि रूप आत्म-परिणाम प्रधान हैं तथा धर्मानुराग है सो मोक्षमार्ग का सहकारी है पर धर्मानुराग के तीव्र मंद के भेद बहुत हैं इसलिये अपने भावों को यथार्थ पहचानकर, अपनी पदवी की सामर्थ्य विचारकर श्रद्धान, ज्ञान एवं प्रव त्ति करना। अपना बुरा-भला अपने भावों के आधीन है, बाह्य परद्रव्य तो निमित्त मात्र है। उपादान कारण हो तो निमित्त भी सहकारी हो और उपादान न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं करता-ऐसा इस बोधपाहुड़ का आशय जानना।

इसको भली प्रकार समझकर आयतनादि जैसे कहे वैसे और इनका व्यवहार भी बाह्य मे वैसा ही और चैत्यग ह, प्रतिमा, जिनबिम्ब एवं जिनमुद्रा आदि धातु—पाषाणदि का भी व्यवहार वैसा ही जानकर श्रद्धान करना और प्रव त्ति करना। अन्यमती इनका अनेक प्रकार स्वरूप बिगाड़कर प्रव त्ति करते हैं उनको बुद्धिकल्पित जानकर

उनकी उपासना नहीं करना। इस व्यवहार का प्ररूपण प्रव्रज्या के स्थल में आदि से दूसरी गाथा में ऐसा कहा है कि 'वच–चैत्य–आलय का त्रिक और जिनभवन–ये भी मुनियों के ध्याने योग्य हैं' सो ग हस्थ इनकी प्रव त्ति करते हैं तब ही तो ये मुनियों के ध्याने योग्य होते हैं अतः जिनमन्दिर, प्रतिमा एवं पूजा–प्रतिष्ठा आदि का सर्वथा निषेध करने वाले सर्वथा एकांती की तरह मिथ्याद ष्टि हैं, उनकी संगति नहीं करना।।६०।।

उत्थानिका

आगे आचार्य इस बोधपाहुड़ का वर्णन अपनी बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है–ऐसा कहते हैं :–

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।। ६१।।

शाब्दिक विकार से हुए भाषासूत्र में जो जिन कहा।
सो भद्रबाहु शिष्य जाना, वही मैंने है कहा।।६१।।

अर्थ

शब्द के विकार से उत्पन्न हुए ऐसे अक्षर रूप परिणमित भाषासूत्रों में जिनदेव ने जो कहा सो ही भद्रबाहु आचार्य के शिष्य ने जाना और वैसा ही कहा है।

भावार्थ

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परम भट्टारक की दिव्यध्वनि से शब्द हुए सो गौतम गणधर के श्रवण में अक्षर रूप आये तथा जैसा जिनदेव ने कहा वैसा ही परम्परा से भद्रबाहु नामक पंचम श्रुतकेवली ने जाना और अपने शिष्य विशाखाचार्य आदि को कहा सो उन्होंने जाना और वह ही अर्थ रूप विशाखाचार्य[1] की परम्परा से चला आया सो ही अर्थ आचार्य कहते हैं कि हमने कहा है, अपनी बुद्धि से कल्पित नहीं कहा है–ऐसा अभिप्राय है।।६१।।

टि0-1. 'वि□ाखाचार्य' मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को दीक्षाकाल में दिया हुआ नाम है।

उत्थानिका

आगे **भद्रबाहु स्वामी की स्तुति रूप वचन** कहते हैं :–

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरू भयवओ जयउ।। ६२।।

जो अंग द्वादश पूर्व चउदह, के विपुल विस्तारविद्।
जयवंत हों श्रुतज्ञानि भगवन्, भद्रबाहु गमकगुरु।।६२।।

अर्थ

भद्रबाहु नामक जो आचार्य हैं सो जयवन्त हों।कैसे हैं वे–बारह अंगों का है विज्ञान जिनको। **और कैसे हैं**–चौदह पूर्वों का है विपुल विस्तार जिनके इसी कारण कैसे हैं–श्रुतज्ञानी हैं अर्थात् पूर्ण भावज्ञान सहित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान जिनके पाया जाता है। **और कैसे हैं**–गमकगुरु हैं। जो सूत्रों के अर्थ को पाकर जैसे का तैसा वाक्यार्थ करते हैं उनको गमक कहते हैं, उनके गुरु हैं अर्थात् उनमें प्रधान हैं। **और कैसे हैं**–भगवान हैं, सुर–असुरों से पूज्य हैं ऐसे हैं सो जयवन्त होवें। ऐसा कहने में उनको स्तुति रूप नमस्कार सूचित होता है। 'जयति' धातु सर्वोत्कष्ट अर्थ में हैं सो सर्वोत्कष्ट कहने में नमस्कार ही आता है।

भावार्थ

भद्रबाहु स्वामी पाँचवें श्रुतकेवली हुए, उनकी परम्परा से शास्त्र का अर्थ जानकर यह बोधपाहुड़ ग्रन्थ रचा गया है इसलिए उनको अन्तिम मंगल के लिए आचार्य देव ने स्तुति रूप नमस्कार किया है–इस प्रकार बोधपाहुड़ समाप्त किया है।।६२।।

छप्पय

प्रथम आयतन, द्वितिय चैत्य ग ह, तीजो प्रतिमा।
दर्शन अर जिन बिंब, छठो जिन मुद्रा यतिमा।।
ज्ञान सातमूं, देव आठमूं, नवमूं तीरथ।
दसमूं है अरहंत, ग्यारमूं दीक्षा श्रीपथ।।

इम परमारथ मुनि रूप सति, अन्य भेष सब निंद्य हैं।
व्यवहार धातु पाषाणमय, आक ति इनिकी वंद्य है।। १।।

अर्थ

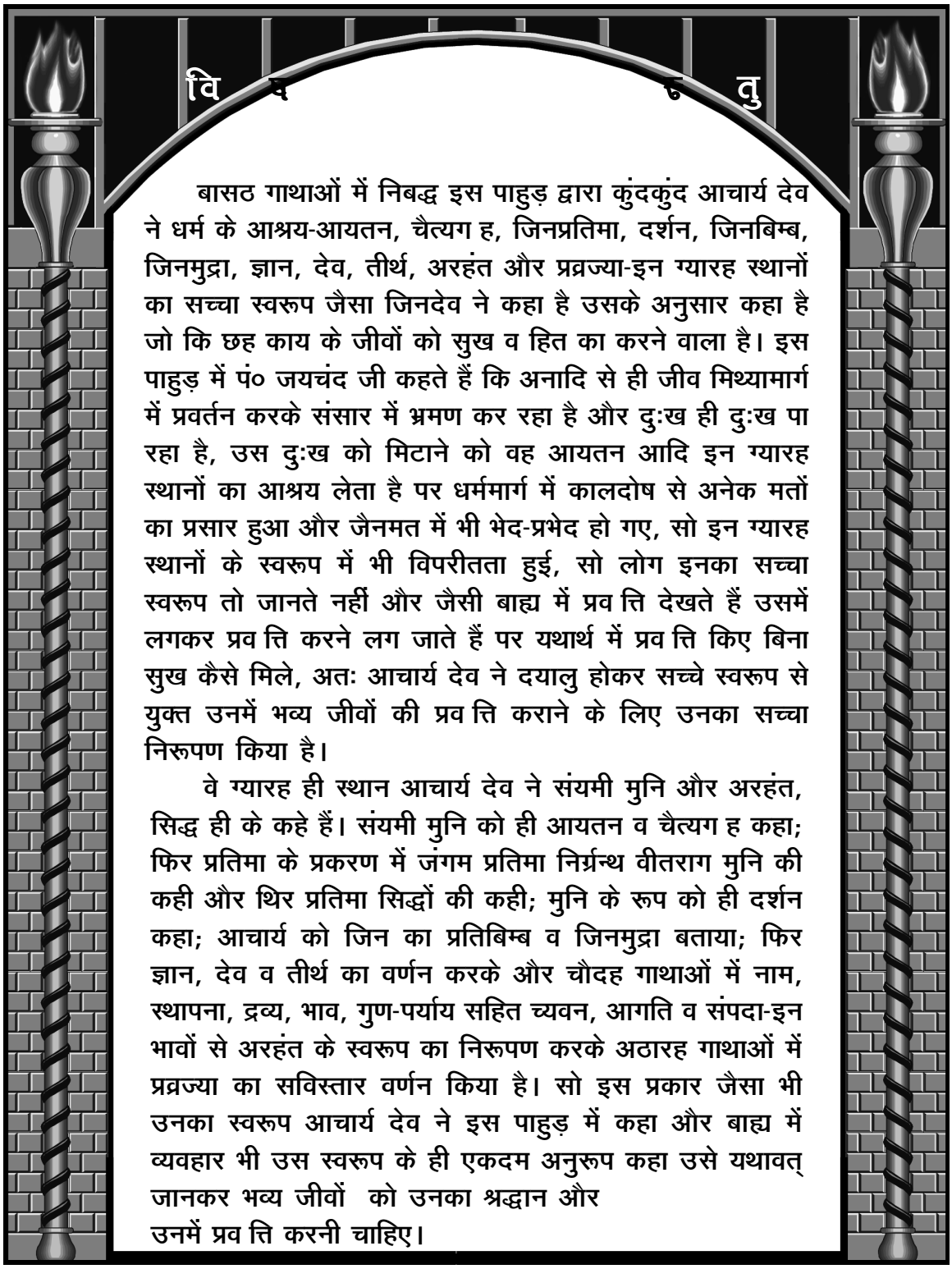
पहला आयतन, दूसरा चैत्यग ह, तीसरी प्रतिमा, चौथा दर्शन, पाँचवां जिनबिम्ब, छठा यतियों की जिनमुद्रा, सातवाँ ज्ञान, आठवाँ देव, नौवाँ तीर्थ, दसवाँ अरहंत एवं ग्यारहवाँ श्री जिनराज के पथ की दीक्षा–ये सब परमार्थ से मुनि के रूप हैं, अन्य सारे वेष निंद्य हैं और व्यवहार से इनकी धातु–पाषाणमय आक ति वंद्य है।

दोहा

कह्यो वीर जिन बोध यहु, गौतम गणधर धारि।
वरतायो पंचम समय, नमूं तिनहिं मद छारि।। २।।

अर्थ

वीर जिनेन्द्र ने यह बोध कहा, गौतम गणधर ने उसे धारण करके इस पंचमकाल में प्रवर्तन कराया उन्हें मैं मद को छोड़कर नमन करता हूँ।



वि ष य व स्तु

बासठ गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड़ द्वारा कुंदकुंद आचार्य देव ने धर्म के आश्रय-आयतन, चैत्यग ह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहंत और प्रव्रज्या-इन ग्यारह स्थानों का सच्चा स्वरूप जैसा जिनदेव ने कहा है उसके अनुसार कहा है जो कि छह काय के जीवों को सुख व हित का करने वाला है। इस पाहुड़ में पं० जयचंद जी कहते हैं कि अनादि से ही जीव मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करके संसार में भ्रमण कर रहा है और दुःख ही दुःख पा रहा है, उस दुःख को मिटाने को वह आयतन आदि इन ग्यारह स्थानों का आश्रय लेता है पर धर्ममार्ग में कालदोष से अनेक मतों का प्रसार हुआ और जैनमत में भी भेद-प्रभेद हो गए, सो इन ग्यारह स्थानों के स्वरूप में भी विपरीतता हुई, सो लोग इनका सच्चा स्वरूप तो जानते नहीं और जैसी बाह्य में प्रव त्ति देखते हैं उसमें लगकर प्रव त्ति करने लग जाते हैं पर यथार्थ में प्रव त्ति किए बिना सुख कैसे मिले, अतः आचार्य देव ने दयालु होकर सच्चे स्वरूप से युक्त उनमें भव्य जीवों की प्रव त्ति कराने के लिए उनका सच्चा निरूपण किया है।

वे ग्यारह ही स्थान आचार्य देव ने संयमी मुनि और अरहंत, सिद्ध ही के कहे हैं। संयमी मुनि को ही आयतन व चैत्यग ह कहा; फिर प्रतिमा के प्रकरण में जंगम प्रतिमा निर्ग्रन्थ वीतराग मुनि की कही और थिर प्रतिमा सिद्धों की कही; मुनि के रूप को ही दर्शन कहा; आचार्य को जिन का प्रतिबिम्ब व जिनमुद्रा बताया; फिर ज्ञान, देव व तीर्थ का वर्णन करके और चौदह गाथाओं में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण-पर्याय सहित च्यवन, आगति व संपदा-इन भावों से अरहंत के स्वरूप का निरूपण करके अठारह गाथाओं में प्रव्रज्या का सविस्तार वर्णन किया है। सो इस प्रकार जैसा भी उनका स्वरूप आचार्य देव ने इस पाहुड़ में कहा और बाह्य में व्यवहार भी उस स्वरूप के ही एकदम अनुरूप कहा उसे यथावत् जानकर भव्य जीवों को उनका श्रद्धान और उनमें प्रव त्ति करनी चाहिए।

गाथा चयन



गाथा १४–'दंसेइ मोक्खमग्गं....' **अर्थ**–जो सम्यक्त्व रूप, संयम रूप, उत्तम धर्म रूप, निर्ग्रन्थ रूप एवं ज्ञानमयी मोक्षमार्ग को दिखलाता है-ऐसे मुनि के रूप को जिनमार्ग में दर्शन कहा है।।१।।

गा० १५–'जह फुल्लं गंधमयं....' **अर्थ**–जैसे फूल गंधमय और दूध घ तमय है वैसे ही दर्शन अर्थात् मत में सम्यक्त्व है। वह दर्शन अन्तरंग तो ज्ञानमय है तथा बाह्य मुनि का रूप और उत्क ष्ट श्रावक व आर्यिका का रूप है।।२।।

गा० १७–'दिढ़संजममुद्दाए....' **अर्थ**–द ढ़ संयम रूप मुद्रा से तो पाँच इन्द्रियों को विषयों में न प्रवर्ताने रूप इन्द्रियमुद्रा है। ऐसे संयम से ही कषायों के वश में न होना-ऐसी कषायद ढ़मुद्रा है तथा ज्ञान का स्वरूप में लगना–इससे सारी बाह्य मुद्रा शुद्ध होती हैं। जिनशासन में ऐसी जिनमुद्रा होती है।।३।।

गा० २०–'संजमसंजुत्तस्स....' **अर्थ**–संयम से संयुक्त और उत्तम

ध्यान के योग्य मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो शुद्धात्मा है वह ज्ञान से ही पाया जाता है इसलिए ज्ञान को जानना चाहिये।।४।।

गाथा २१–'जह णवि....' **अर्थ**–जैसे धनुष के अभ्यास से रहित बाणविहीन पुरुष लक्ष्य को नहीं पाता वैसे ज्ञान रहित अज्ञानी मोक्षमार्ग के लक्ष्यभूत परमात्म-स्वरूप को नहीं पाता।।५।।

गा० २२–'णाणं पुरिसस्स....' **अर्थ**–ज्ञान पुरुष के होता है और पुरुष ही विनयसंयुक्त हो तो ज्ञान को पाता है और उस ज्ञान ही से मोक्षमार्ग के लक्ष्य परमात्म-स्वरूप का ध्यान करता हुआ उस लक्ष्य को पाता है।।६।।

गा० २७–'जं णिम्मलं....' **अर्थ**–यदि शान्त भाव से निर्मल उत्तम क्षमादि धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान धारण किये जायें तो जिनमार्ग में ये ही तीर्थ हैं।।७।।

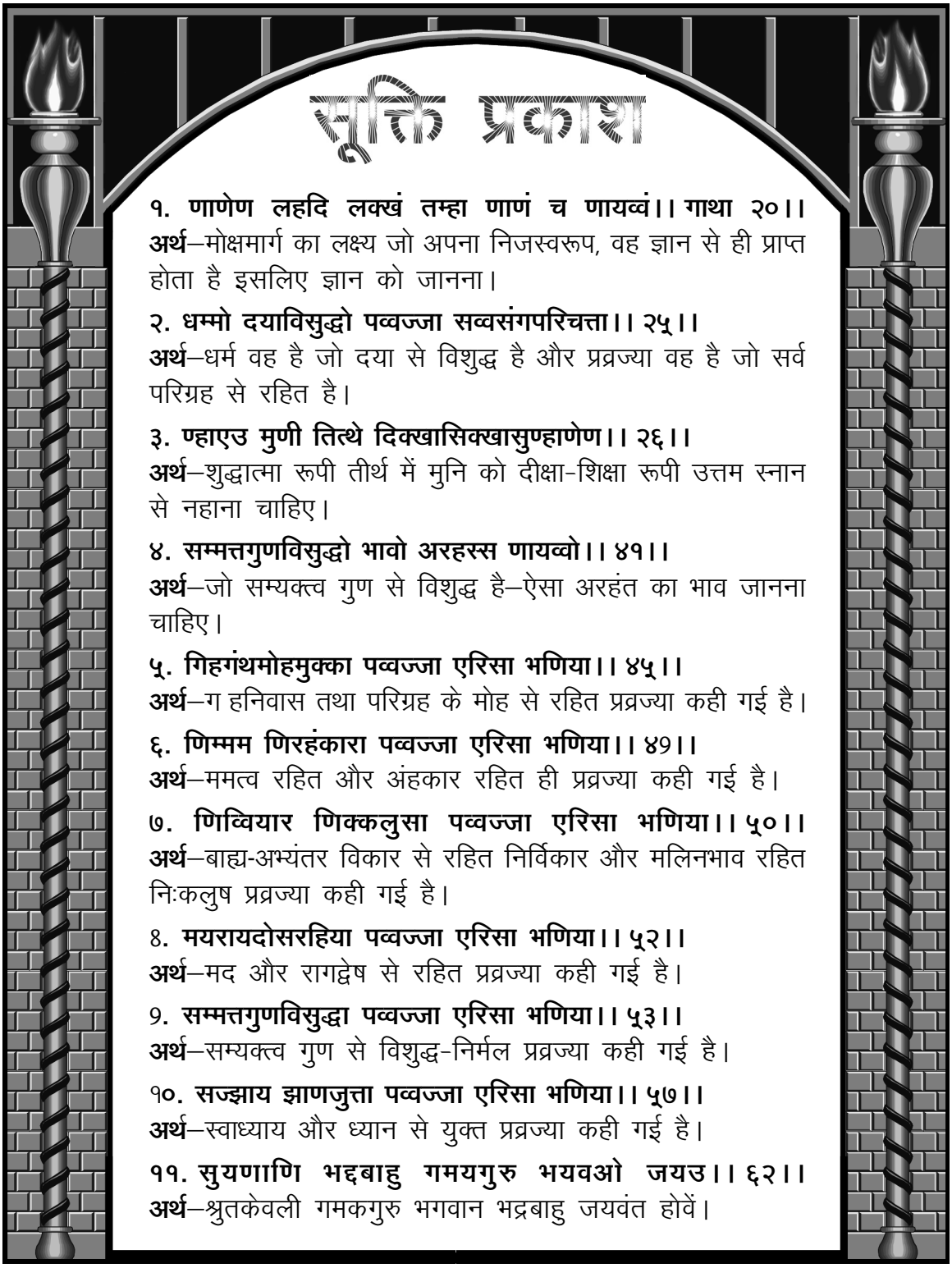
गा० ४9–'णिग्गंथा....' **अर्थ**–जो परिग्रह से, स्त्री आदि परद्रव्यों के संसर्ग से, मान से, भोगों की आशा से, राग से, द्वेष से, ममता से तथा अहंकार से रहित है–ऐसी जिनदीक्षा कही है।।8।।

गा० ५०–'णिण्णेहा....' **अर्थ**–जो स्नेहरहित, लोभरहित, मोहरहित, विकाररहित, कलुषता रहित, भयरहित तथा आशा के भावों से रहित है–ऐसी जिनदीक्षा कही है।।9।।

गा० ५१–'जहजायरूवसरिसा....' **अर्थ**–जिसमें सद्योजात बालक के समान नग्न रूप है, लम्बायमान भुजाएँ हैं, जो शस्त्ररहित है, शान्त है तथा जिसमें दूसरे के द्वारा बनाई गई वसतिका में निवास किया जाता है–ऐसी प्रव्रज्या कही है।।१०।।

गा० ५२–'उवसमखमदमजुत्ता....' **अर्थ**–जो उपशम, क्षमा और इन्द्रियदमन से युक्त है, शरीर के संवारने से रहित है, रूक्ष है तथा मद, राग व द्वेष से रहित है–ऐसी प्रव्रज्या कही है।।११।।

गा० ६१–'सद्दवियारो हूओ ' **अर्थ**–शब्द के विकार से उत्पन्न हुए भाषासूत्रों में जैसा जिनदेव ने कहा सो ही भद्रबाहु आचार्य के शिष्य ने जाना, सो ही अर्थ आचार्य कहते हैं कि हमने यहाँ कहा है।।१२।।



सूक्ति प्रकाश

१. णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।। गाथा २०।।
अर्थ–मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो अपना निजस्वरूप, वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान को जानना।

२. धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।। २५।।
अर्थ–धर्म वह है जो दया से विशुद्ध है और प्रव्रज्या वह है जो सर्व परिग्रह से रहित है।

३. ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण।। २६।।
अर्थ–शुद्धात्मा रूपी तीर्थ में मुनि को दीक्षा-शिक्षा रूपी उत्तम स्नान से नहाना चाहिए।

४. सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो।। ४१।।
अर्थ–जो सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध है–ऐसा अरहंत का भाव जानना चाहिए।

५. गिहगंथमोहमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४५।।
अर्थ–ग हनिवास तथा परिग्रह के मोह से रहित प्रव्रज्या कही गई है।

६. णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४७।।
अर्थ–ममत्व रहित और अंहकार रहित ही प्रव्रज्या कही गई है।

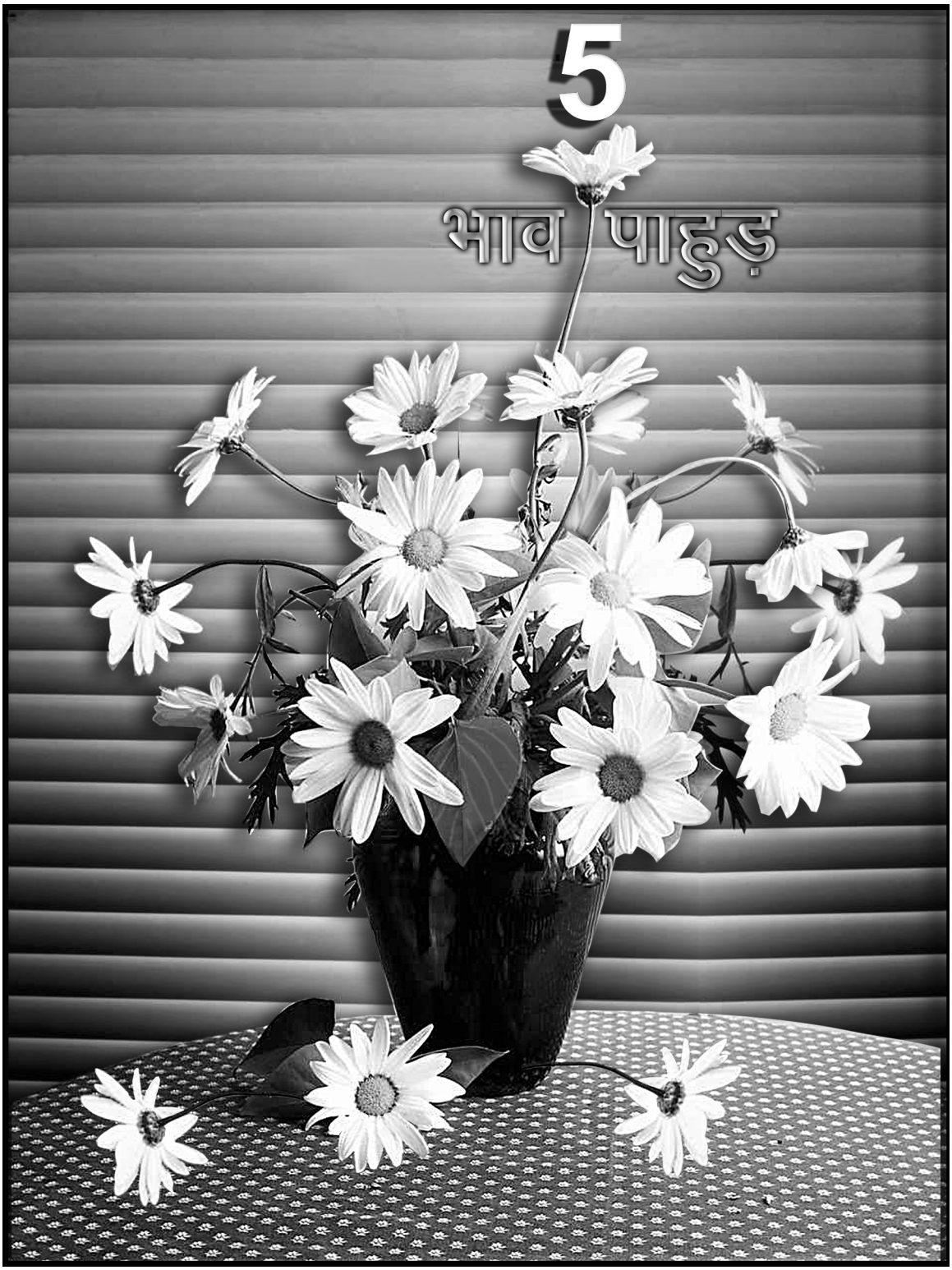
७. णिव्वियार णिक्कलुसा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५०।।
अर्थ–बाह्य-अभ्यंतर विकार से रहित निर्विकार और मलिनभाव रहित निःकलुष प्रव्रज्या कही गई है।

८. मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५२।।
अर्थ–मद और रागद्वेष से रहित प्रव्रज्या कही गई है।

९. सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५३।।
अर्थ–सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध-निर्मल प्रव्रज्या कही गई है।

१०. सज्झाय झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५७।।
अर्थ–स्वाध्याय और ध्यान से युक्त प्रव्रज्या कही गई है।

११. सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयउ।। ६२।।
अर्थ–श्रुतकेवली गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवंत होवें।


5
भाव पाहुड़

प्रारम्भिक सूक्ति

यह 'भावपाहुड' है सो सर्वज्ञ की परम्परा से अर्थ लेकर आचार्य ने कहा है इसलिए सर्वज्ञ ही के द्वारा उपदिष्ट है, केवल छद्मस्थ ही का कहा हुआ नहीं है और इसके पढ़ने-सुनने का फल मोक्ष है क्योंकि इसके पढ़ने से शुद्ध भाव होता है और शुद्ध भाव से मोक्ष होता है- ऐसे परम्परा से मोक्ष का कारण इसका पढ़ना-सुनना, धारना एवं भावना भाना है अतः भव्य जीव इसको पढ़ो और सुनो-सुनाओ तथा भाओ और निरंतर अभ्यास करो जिससे शुद्ध भाव होकर मोक्ष को पाकर वहाँ परम आनन्द रूप जो शाश्वत सुख उसको भोगो।



अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	पंच परमेष्ठी की वंदना रूप मंगलाचरण एवं भावपाहुड़ के निरूपण की प्रतिज्ञा	५–१४
२.	भावलिंग ही प्रमुख है द्रव्यलिंग नहीं, गुण दोषों का कारण भाव ही है	५–१५
३.	भावविशुद्धिनिमित्तक बाह्य त्याग अभ्यंतर परिग्रह के त्याग बिना निष्फल है	५–१८
४.	करोड़ों भवों में तप करने पर भी भावरहित के सिद्धि नहीं होती	५–१८
५.	भावविहीन के बाह्य त्याग क्या करता है, कुछ भी तो नहीं	५–१९
६.	भाव ही को परमार्थ जानकर उसे ही अंगीकार करने की प्रेरणा	५–२०
७.	भावरहित जीव के द्वारा निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करने की निष्फलता	५–२१
८.	भावरहित को चारों गतियों के तीव्र दुःखों का स्मरण कराके जिनभावना भाने का उपदेश	५–२१
९.	भाव के बिना सातों नरकों में दारुण, भीषण व असहनीय दुःखों को निरन्तर भोगा	५–२२
१०.	भावरहित होकर तिर्यंच गति के छहों काय में चिरकाल तक दुःख भोगे	५–२३
११.	भाव के बिना मनुष्य गति में चार प्रकार के दुःख अनंतकाल पर्यन्त प्राप्त किये	५–२३
१२.	शुभ भावना से रहित देवगति में भी तीव्र मानसिक दुःख पाये	५–२४
१३.	द्रव्यलिंगी मुनि की कान्दर्पी आदि अशुभ भावनाओं के कारण हीन देवों में उत्पत्ति	५–२६
१४.	अनादिकाल से लेकर अनेक बार पार्श्वस्थ आदि खोटी भावनाओं से दुःख ही पाया	५–२७
१५.	स्वर्ग में हीन देव होकर अन्य महर्द्धिक देवों की विभूति, ऋद्धि आदि से बहुत मानसिक दुःखों की प्राप्ति	५–२८

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१६.	अशुभभाव से अनेक बार कुदेवत्व की प्राप्ति	५–२६
१७.	भावरहित होकर कुदेव योनि से चयकर अनेक माताओं के वीभत्स गर्भ में चिरकाल तक निवास	५–२६
१८.	भावरहित अनंत जन्मों में अनेक माताओं का समुद्र जल से भी अधिक दूध पिया	५–३०
१९.	जन्म लेकर मरने पर अनेक जननीजनों के नयनों का नीर सागर जल से भी अधिक है	५–३१
२०.	अनंत भवसागर में काटकर छोड़े हुए केश, नख, नाल व अस्थि की राशि मेरु से भी अधिक है	५–३१
२१.	अनात्मवश होकर त्रिभुवन में जल, स्थल, अग्नि, पर्वत आदि में सर्वत्र चिरकाल तक निवास	५–३२
२२.	लोक में वर्तते सारे पुद्गलों का भक्षण भी अतृप्तिकारक है	५–३३
२३.	तीन भुवन का जल भी तृष्णाछेदक नहीं अतः भव के नाश के लिए भाव को भाने की प्रेरणा	५–३३
२४.	अनंत भवसागर में अपरिमित शरीर ग्रहण किये और छोड़े	५–३४
२५-२७.	भाव के बिना तिर्यंच एवं मनुष्य जन्म में बहुत बार उपजकर विषादि द्वारा अपमृत्यु के तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ	५–३४
२८-२९.	भाव के बिना निगोदवास में एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण के दुःख	५–३६-३७
३०.	रत्नत्रय को पाये बिना दीर्घ संसार में भ्रमण अतः उसके आचरण करने की प्रेरणा	५–३८
३१.	निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप निरूपण	५–३८
३२.	अनेक जन्मों में कुमरण मरण से मरा, अब सुमरण मरण को भाने का उपदेश	५–३९
३३.	भावलिंग बिना तीन लोक प्रमाण सर्व क्षेत्रों में जन्म-मरण का क्लेश भोगा	५–४३
३४.	भावरहित द्रव्यलिंग प्राप्त करके अनन्त काल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण से पीड़ित हो दुःख ही पाया	५–४४

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
३५.	अनंत भवसागर में जीव ने पुद्गलों को बहुत बार ग्रहण किया और छोड़ा	५–४५
३६.	भाव के बिना समस्त लोक में यह जीव घूमा	५–४६
३७.	शरीर व्याधियों का मन्दिर है	५–४७
३८.	हे महायश ! परवश होकर उन समस्त व्याधियों का दुःख पूर्व भवों में तूने सहा है और सहेगा	५–४८
३९-४०.	अपवित्र गर्भवास में बहुत काल बसा, वहाँ माता के द्वारा खाये हुए भोजन के रस से पला	५–४८-४९
४१.	गर्भ से निकलकर बालपने में अशुचि के बीच लोटा व अशुचि वस्तु ही खाई	५–४९
४२.	अत्यन्त दुर्गन्धमय इस देह कुटी का स्वरूप विचारकर इससे प्रीति छोड़	५–५०
४३.	भाव विमुक्त ही मुक्त होता है, बांधवादि से मुक्त मुक्त नहीं होता-ऐसा जानकर अभ्यंतर की वासना को छोड़	५–५१
४४.	महंत पुरुषों के भी भाव की शुद्धि व अशुद्धि से सिद्धि की संभवता व असंभवता–**कुछ दृष्टान्त**–प्रथम ही **बाहुबलि** का उदाहरण	५–५१
४५.	**मधुपिंग मुनि** निदानमात्र से भावश्रमणत्व को प्राप्त नहीं हुए	५–५२
४६.	अन्य भी **वशिष्ठ मुनि** ने निदान के दोष से दुःख ही दुःख पाया	५–५३
४७.	भावरहित जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता है	५–५५
४८.	भावलिंग से ही लिंगी होता है, द्रव्यलिंग मात्र से कुछ साध्य नहीं	५–५६
४९.	जिनलिंगी भी **बाहु मुनि** अभ्यंतर के दोष से दुर्गति को प्राप्त हुए	५–५७
५०.	**द्वीपायन** नामक द्रव्यश्रमण रत्नत्रय से भ्रष्ट होकर अनंत संसारी हुए	५–५९
५१.	विशुद्धमति **शिवकुमार** नामक भावश्रमण परीत संसारी हुए	५–६०

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
५२.	एकादशांग पाठी पूर्ण श्रुतज्ञानी भी **अभव्यसेन** को भावश्रमणपने का अलाभ	५–६१
५३.	शास्त्र के अपाठी भी भावविशुद्ध **शिवभूति मुनि** को केवलज्ञान का लाभ	५–६२
५४.	बाह्य नग्नलिंग से क्या कार्य होता है, भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मसमूह का नाश होता है	५–६३
५५.	भावरहित कोरा नग्नत्व अकार्यकारी अतः आत्मभावना को भाने का उपदेश	५–६४
५६.	निःसंग, निर्मान एवं आत्मरत साधु ही भावलिंगी होता है	५–६५
५७.	भावलिंगी साधु का ममत्वपरिहार एवं आत्माभिमुखता	५–६५
५८.	भावलिंगी के ज्ञान, दर्शन, संयम व त्यागादि सब भावों में आत्मा ही है	५–६६
५९.	भावलिंगी साधु की अकिंचनता	५–६७
६०.	शाश्वत सुख के लाभ के लिए सुविशुद्ध व निर्मल आत्मा को भाने का उपदेश	५–६८
६१.	आत्मस्वरूप की भावना से निर्वाण की प्राप्ति	५–६८
६२.	सर्वज्ञ प्रतिपादित जीव का स्वरूप-ज्ञानस्वभाव व चेतनसहितता	५–६९
६३.	जीव का सद्भाव मानने वाले ही सिद्ध होते हैं	५–७०
६४.	जीव का स्वरूप-अरस, अरूप व अगंध इत्यादि	५–७१
६५.	पाँच प्रकार के ज्ञान की भावना करने की प्रेरणा	५–७२
६६.	भावरहित पढ़ना-सुनना भी कार्यकारी नहीं	५–७३
६७.	भावशुद्धि बिना नग्नता निष्प्रयोजन है	५–७४
६८.	जिनभावनावर्जित नग्न दुःख पाता है	५–७५
६९.	पैशुन्यादि दोषपूरित द्रव्यलिंगी की अकीर्तिपात्रता	५–७७
७०.	अभ्यंतर भावदोषों का त्याग करके बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग को प्रकट करने की प्रेरणा	५–७६
७१.	सदोष मुनि निर्गुण एवं निष्फल है, नटश्रमण है	५–७७

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
७२.	जिनभावना रहित रागयुक्त द्रव्यलिंगी मुनि बोधि-समाधि को नहीं पाते	५–७८
७३.	पहले भाव शुद्ध करके फिर बाह्य मुनिपना प्रकट करने का उपदेश	५–७८
७४.	भावलिंगी स्वर्ग-मोक्ष सुख का भाजन व भाववर्जित श्रमण तिर्य च गति का भाजन	५–७९
७५.	विशुद्ध भाव से केवल चक्रवर्ती की लक्ष्मी का ही नहीं, बोधि का लाभ भी होता है	५–८०
७६.	भावों के अशुभ, शुभ व शुद्ध-ये तीन प्रकार और उनके लक्षण	५–८१
७७.	तीन प्रकार के भावों में से श्रेयरूप भाव को अंगीकार करने का उपदेश	५–८१
७८.	जिनशासन का माहात्म्य–त्रिलोक श्रेष्ठ रत्नत्रय की प्राप्ति	५–८२
७९.	विषयविरक्त श्रमण ही सोलहकारण भावनाओं से तीर्थंकर नामकर्म को बाँधता है	५–८२
८०.	तपश्चरण व क्रियादि सहित ज्ञान रूप अंकुश से मदोन्मत्त मन हस्ती को वश में करने का उपदेश	५–८३
८१.	द्रव्य–भाव रूप जिनलिंग का स्वरूप	५–८४
८२.	भाविभवमथन जिनधर्म की उदाहरणपूर्वक श्रेष्ठता	५–८६
८३.	पुण्य और धर्म की परिभाषाएँ	५–८७
८४.	पुण्य को ही धर्म जानकर श्रद्धान करने वालों के वह पुण्य केवल भोग का निमित्त है, कर्मक्षय का नहीं	५–८८
८५.	आत्मा की आत्मा में लीनता ही संसार से तिरने का हेतु है–ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है	५–८९
८६.	जो आत्मा का तिरस्कार और पुण्य का सत्कार करता है वह संसारस्थ ही कहा गया है	५–८९
८७.	मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा का श्रद्धान और उसे प्रयत्नपूर्वक जानने का उपदेश	५–९०
८८.	बाह्य हिंसादि क्रिया बिना सिर्फ अशुद्ध भाव से तंदुल मत्स्य जैसा अल्प जीव भी सातवें नरक गया अतः जिनभावना को भाने का उपदेश	५–९१

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
८९.	भावरहित के बाह्य परिग्रह की त्यागादि क्रिया निरर्थक है	५–६२
९०.	इन्द्रियादि को वश करने का और जनमनरंजन के लिए साधुवेश को ग्रहण न करने का उपदेश	५–६३
९१.	मिथ्यात्व व नोकषायवर्ग के त्याग की और चैत्य, प्रवचन व गुरु की भक्ति करने की प्रेरणा	५–६४
९२.	अतुल श्रुतज्ञान को निरन्तर विशुद्ध भाव से भाने की प्रेरणा	५–६४
९३.	ज्ञान सलिल से त ष्णा की दाह मिटाकर शिवालयवास की प्राप्ति	५–६५
९४.	काय योग से बाईस परीषहों को सहने का और ज्ञान योग से प्रमाद व असंयम के परिहार का साधु को उपदेश	५–६५
९५.	परिषहों को सहने में द ढ़ हो तो उपसर्ग में भी साधु अचलित रहता है–पत्थर के समान	५–६६
९६.	भावरहित बाह्य वेष की अप्रयोजकता अतः बारह अनुप्रेक्षा और पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं को भाने का उपदेश	५–६७
९७.	सर्वविरत होकर ध्यान योग्य ध्येय-सात तत्त्व, नौ पदार्थ, जीवसमास व गुणस्थानों के चिंतवन का उपदेश।	५–६७
९८.	मैथुन संज्ञा की आसक्ति से भयानक संसार समुद्र में परिभ्रमण अतः ब्रह्मचर्य को धारण करने की प्रेरणा	५–६८
९९.	भावसहित आराधना चतुष्क को और भावरहित दीर्घ संसार में परिभ्रमण को पाता है	५–६६
१००.	भावश्रमण के कल्याण परम्परापूर्वक सुखों का और द्रव्यश्रमण के नर, तिर्यंच व कुदेव योनि में दुःखों का लाभ	५–१००
१०१.	अशुद्धभाव से दोषदूषित आहार करने से तिर्यंच गति में महान कष्ट की प्राप्ति	५–१०१
१०२.	ग द्धि व दर्प से सचित्त भोजन-पान करने से तीव्र दुःखों का सहन	५–१०२
१०३.	गर्व से कन्दमूलादि सचित्त वस्तुओं के भक्षण के फल में अनंत संसार में भ्रमण	५–१०२
१०४.	त्रियोग से पंच प्रकार की विनय को पालन करने का उपदेश	५–१०३

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१०५.	दस प्रकार की वैयाव त्ति करने का उपदेश	५–१०४
१०६.	लगे हुए दोषों को मान व माया तजकर गुरु के सन्मुख प्रकाशित करने का कर्तव्य	५–१०४
१०७.	कर्म मल नाश के लिए दुर्जन के निष्ठुर व कटुक वचनों को सह लेने का उपदेश	५–१०५
१०८.	क्षमा से परिमंडित मुनि समस्त पापों का नाशक और विद्याधर, देव एवं मनुष्यों से प्रशंसनीय होता है	५–१०६
१०९.	क्षमा सलिल से चिरसंचित क्रोध अग्नि को शमन करने की प्रेरणा	५–१०७
११०.	उत्तम बोधि के लिए दीक्षाकालादि की भावना का उपदेश	५–१०७
१११.	भावरहित के प्रकट रूप से बाह्य लिंग अकार्यकारी अतः अंतरंग शुद्धिपूर्वक ही बाह्य लिंग के सेवन का उपदेश	५–१०६
११२.	चार संज्ञाओं से मोहित जीव का पराधीन होकर अनादि से संसार भ्रमण	५–११०
११३.	पूजा-लाभ की आकांक्षा के बिना भावशुद्धिपूर्वक उत्तर गुणों के पालन का उपदेश	५–१११
११४.	त्रिकरण शुद्धि से तत्त्व की भावना करने की प्रेरणा	५–११२
११५.	तत्त्व की भावना के बिना जरा–मरण विवर्जित मोक्ष स्थान का लाभ नहीं	५–११४
११६.	परिणाम ही पाप–पुण्य रूप बंध और उनके अभाव रूप मोक्ष का कारण है	५–११५
११७.	जिनवचन से पराङ्मुख जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम व योग के द्वारा अशुभ कर्म को **बाधता** है	५–११६
११८.	भावशुद्धि को प्राप्त जिनाज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्द ष्टि शुभ कर्म बाँधता है	५–११७
११९.	ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को जलाने के लिए अनंत ज्ञानादि गुण रूप चेतना को प्रगट करने की ज्ञानी की भावना	५–११८
१२०.	चौरासी लाख उत्तर गुण सहित अठारह हजार शील के भेदों की भावना निरन्तर भाने का उपदेश	५–११९

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१२१.	चिरकाल से ध्याये हुए आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़कर धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याने की प्रेरणा	५–१२३
१२२.	भावश्रमण की ध्यान कुठार द्वारा संसार व क्ष छेदन में शक्यता और द्रव्यश्रमण की इन्द्रिय सुख आकुलता के कारण अशक्यता	५–१२४
१२३.	राग रूपी पवन से रहित मनग ह में ध्यान दीपक जलता है- गर्भग ह के दीपक समान	५–१२४
१२४.	ध्यान में आराधना के नायक पंच परमेष्ठी को ध्याने का उपदेश	५–१२५
१२५.	ज्ञानमय निर्मल शीतल जल के पान से व्याधि, जरा और मरण वेदना की दाह शांत होती है	५–१२६
१२६.	भावश्रमण के कर्म बीज के दग्ध होने पर भवांकुर की अनुत्पत्ति	५–१२७
१२७.	भावश्रमण सुखों को व द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है–ऐसे गुण दोषों को जानकर तू भावश्रमण हो।	५–१२८
१२८.	भावश्रमण ही अभ्युदय सहित तीर्थंकर, गणधरादि पदवी के सुख पाते हैं	५–१२६
१२९.	दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शुद्ध व निर्माय (माया रहित) भावश्रमण धन्य हैं उन्हें मन-वचन-काय से सदा नमस्कार हो	५–१२६
१३०-१३१.	धीर श्रमण देव-विद्याधरों की अतुल ऋद्धियों से ही अहं को प्राप्त नहीं होते तो मनुष्य व देवों के सुखों की क्या कथा	५–१३०-१३१
१३२.	जब तक जरा, रोग एवं इन्द्रियबल की क्षीणता न हो तब तक आत्महित कर लेने की प्रेरणा	५–१३१
१३३.	छह अनायतन का परिहार करके जीव का स्वरूप जानकर षट्काय के जीवों की दया करने का उपदेश	५–१३२
१३४.	अनंत भवसागर में भ्रमते हुए भोग सुख के निमित्त सकल जीवों के दशविध प्राणों के आहार की प्रव त्ति	५–१३३
१३५.	प्राणिवध का फल–कुयोनियों में जन्म-मरण करके निरंतर दुःखों ही की प्राप्ति	५–१३४
१३६.	कल्याण व सुख लाभ के लिए जीवों को मन-वचन-काय से अभयदान देने का उपदेश	५–१३५

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१३७.	चार प्रकार के मिथ्याद ष्टियों के भेदों का वर्णन	५–१३५
१३८.	अभव्य जीव भली प्रकार जिनधर्म को सुनकर भी अपनी मिथ्याभाव रूप प्रकृति नहीं छोड़ता-सर्प के समान	५–१३७
१३९.	मिथ्यात्व से आच्छादित द ष्टि वाले अभव्य को जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता	५–१३८
१४०.	कुत्सित पाखंडि भक्ति, तप व धर्म में रत जीव कुगति का भाजन होता है	५–१३९
१४१.	कुनय और कुशास्त्रों से मोहित जीव का अनंत संसार में भ्रमण होता है–ऐसा विचारने की प्रेरणा	५–१३९
१४२.	तीन सौ तरेसठ पाखंडियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में प्रवर्तने का उपदेश	५–१४०
१४३.	सम्यग्दर्शन रहित प्राणी चलशव है, शव लोक में अपूज्य है–चलशव लोकोत्तर मुनियों में अपूज्य है	५–१४१
१४४.	मुनि और श्रावक-दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व वैसे ही अधिक है जैसे ताराओं में चन्द्रमा व पशु कुल में सिंह	५–१४२
१४५.	विमल दर्शनधारी जीव जिनप्रवचन में वैसे ही शोभायमान है जैसे मध्य में रक्त माणिक्य युक्त सहस्त्र फण वाला धरणेन्द्र	५–१४२
१४६.	जिनशासन में दर्शनविशुद्ध जिनलिंग, आकाश में तारागण सहित चन्द्रबिम्ब समान सुशोभित होता है	५–१४३
१४७.	गुणरत्नों में सारभूत एवं मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यक्त्व रत्न को भावपूर्वक धारण करने का उपदेश	५–१४३
१४८.	सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीव पदार्थ का कर्ता, भोक्ता आदि छह विशेषणों द्वारा स्वरूप निरूपण	५–१४४
१४९-१५०.	जिनभावना युक्त जीव के चार घातिया कर्मों का नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है	५–१४६-१४७
१५१.	अनंतचतुष्टयधारी परमात्मा के अनेक नामों में से शिव, परमेष्ठी आदि कुछ नामों का प्रकटीकरण	५–१४८

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१५२.	त्रिभुवन भवन के प्रकाशने को दीपक तुल्य अरिहंत देव से उत्तम बोधि दान की प्रार्थना	५–१५०
१५३.	परम भक्ति से जिनवर के चरण कमलों को नमने वाले के जन्मलता के मूल–मिथ्यात्व का छेद	५–१५१
१५४.	सम्यग्द ष्टि पुरुष अपने भाव से विषय-कषाय से नहीं लिपते-कमलिनी के पत्र के समान।	५–१५१
१५५.	शील-संयमादि गुणों वाले मुनि ही मुनि हैं, दोषों से मलिन मुनि तो श्रावक समान भी नहीं हैं	५–१५२
१५६.	क्षमा व इन्द्रियदमन रूपी खड्ग से कषाय रूपी योद्धाओं को जीतने वाले ही धीर–वीर हैं	५–१५३
१५७.	विषय रूपी समुद्र से तारने वाले भगवंतों को धन्यवाद	५–१५४
१५८.	ज्ञान शस्त्र से मोह व क्ष पर आरूढ़ माया बेल का छेदन	५–१५५
१५९.	मुनि चारित्र खड्ग से पाप रूप स्तम्भ को काटते हैं	५–१५५
१६०.	जिनमत रूपी गगन में गुणपूरित मुनिवर की चन्द्रमा के समान शोभायमानता	५–१५६
१६१.	विशुद्ध भाव के धारकों के ही चक्रवर्ती, गणधर आदि पद के सुखों की प्राप्ति	५–१५७
१६२.	जिनभावना भावित मुनिवरों को उत्कृष्ट सिद्धि सुख का लाभ	५–१५८
१६३.	त्रिभुवनमहित सिद्ध भगवान से उत्कृष्ट भावशुद्धि को देने की प्रार्थना	५–१५९
१६४.	चारों पुरुषार्थों व अन्य सारे व्यापारों का शुद्ध भाव में ही समावेश है	५–१५९
१६५.	भावपाहुड़ को सम्यक् प्रकार पढ़ने, सुनने व भावने का फल– अविचल स्थान मोक्ष की प्राप्ति	५–१६०

2. विषय वस्तु ५–१६४-१७२ **5. गाथा चित्रावली** ५–१८२-२२६

3. गाथा चयन ५–१७३-१७६ **6. अंतिम सूक्ति चित्र**

4. सूक्ति प्रकाश ५–१७७-१८१ **भाव पा० समाप्त** ५–२३०



दोहा

परमातम कूं वंदि करि, शुद्धभाव करतार।
करूं भावपाहुड तणी, देशवचनिका सार।।१।।

अर्थ

शुद्ध भाव के कर्ता परमात्मा की वंदना करके 'भावपाहुड़' की सारभूत देशभाषामय वचनिका करता हूँ।।१।।

इस प्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यक त 'भावपाहुड़' ग्रंथ की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :-



उत्थानिका

प्रथम ही आचार्य इष्ट को नमस्कार रूप मंगल करके **ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा** का सूत्र कहते हैं :–

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा।। १।।

सुर-असुर-नरपति वंद्य जिनवर, सिद्ध अवशिष्ट साधु को।
सिर से नमन कर सभी को, कहूँ भावपाहुड़ शास्त्र को।।१।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि मैं 'जिनवरेन्द्र' अर्थात् तीर्थंकर परमदेव, 'सिद्ध' अर्थात् अष्टकर्म का नाश करके जो सिद्धपद को प्राप्त हुए तथा 'अवशेष संयत' अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु–ऐसे इन पंच परमेष्ठियों की मस्तक से वंदना करके 'भावपाहुड़' नामक ग्रंथ को कहूँगा। कैसे हैं पंच परमेष्ठी–'नर' अर्थात् मनुष्य, 'सुर' अर्थात् स्वर्गवासी देव और 'भुवन' अर्थात् पातालवासी देवों के इन्द्रों के द्वारा वंदन करने योग्य हैं।

भावार्थ

आचार्य 'भावपाहुड़' ग्रंथ की रचना करते हैं सो भावप्रधान **पंच परमेष्ठी** को आदि में नमस्कार करना युक्त है। क्योंकि **'जिनवरेन्द्र'** तो ऐसे हैं-'जिन' अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरा से युक्त अविरत सम्यग्द ष्टि आदि में 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ गणधरादि और उनमें 'इन्द्र' तीर्थंकर परमदेव हैं। गुणश्रेणी निर्जरा शुद्ध भाव ही से होती है, सो तीर्थंकर ने भाव के फल को प्राप्त करके घातियाकर्म का नाश कर केवलज्ञान पाया; वैसे ही सिद्ध भगवान सब कर्मों का नाश करके परम शुद्ध भाव को पाकर **सिद्ध** हुए। **आचार्य एवं उपाध्याय** शुद्ध भाव के एकदेश को पाकर पूर्णता को स्वयं साधते हैं और अन्य को शुद्धभाव की शिक्षा-दीक्षा देते हैं तथा **साधु** भी वैसे ही शुद्धभाव को स्वयं साधते हैं और शुद्ध भाव ही के माहात्म्य से तीन लोक के प्राणियों के द्वारा पूजने योग्य एवं वंदने योग्य हुए हैं इसलिए 'भावप्राभ त' की आदि में इनको नमस्कार युक्त है। पुनश्च मस्तक से नमस्कार करने में सब अंग आ गये

क्योंकि मस्तक सब अंगों में उत्तम है तथा स्वयं नमस्कार किया तब अपने भावपूर्वक हुआ ही अतः मन-वचन-काय तीनों ही आ गए-ऐसा जानना।।१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'द्रव्य एवं भाव के भेद से लिंग दो प्रकार का है, उनमें भावलिंग परमार्थ है'[1]:–

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति।। २।।

लिंगों में भाव ही प्रथम है, जो द्रव्य वह परमार्थ नहिं।
गुण-दोष का कारण कहा है, भाव ही जिनदेव ने।।२।।

अर्थ

भाव ही प्रथम लिंग है इस कारण हे भव्य! तू द्रव्यलिंग को परमार्थ रूप मत जान क्योंकि गुण और दोषों का कारणभूत भाव ही है-ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

भावार्थ

गुण जो स्वर्ग–मोक्ष का होना और दोष जो नरकादि संसार का होना[2]–इनका कारण भगवान ने भाव ही को कहा है। क्योंकि जो कारण होता है वह कार्य के पहले प्रवर्तता है सो यहाँ भी मुनि-श्रावक के द्रव्यलिंग के पहले यदि भावलिंग हो

टि0-1. **मोक्षमार्ग में द्रव्य व भाव दोनों लिंगों की स्वीकारता की परन्तु भावलिंग को परमार्थ रूप, प्रथम व प्रधान कहा। द्रव्यलिंग परमार्थ नहीं परन्तु उसका व्यवहार है। व्यवहार परमार्थ के लिए होता है वा किया जाता है इसलिए परमार्थ ही तो प्रधान हुआ।**

2. यहाँ **शंका** होती है कि 'स्वर्ग तो संसार की ही एक गति है तो उसे गुण में और मोक्ष के साथ क्यों कहा, दोष में नरकादि संसार के साथ क्यों नहीं कहा?'
समाधान यही प्रतीत होता है कि 'स्वर्ग और नरक दोनों ही यद्यपि संसार हैं परन्तु परस्पर में तुलना करने पर नरक की अपेक्षा स्वर्ग को भला भी कहा।' इसी ग्रंथ में 'मोक्षपाहुड़' में पच्चीसवीं गाथा में कहा गया है कि **'व्रत और तप से होने वाला स्वर्ग श्रेष्ठ है परन्तु**

तो सच्चा मुनि-श्रावक होता है इसलिए भावलिंग ही प्रधान है और जो प्रधान है सो ही परमार्थ है अतः द्रव्यलिंग को परमार्थ नहीं जानना-ऐसा उपदेश किया है।

यहाँ कोई पूछता है–भाव का स्वरूप क्या है ?

उसका समाधान–भाव का स्वरूप तो आचार्य आगे कहेंगे ही तथापि यहाँ भी कुछ कहते हैं-'इस लोक में छह द्रव्य हैं जिनमें जीव और पुद्गल का प्रवर्तन प्रकट देखने में आता है। उनमें जीव तो चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण रूप जड़स्वरूप है, इनका अवस्था से अवस्थांतर रूप होना-ऐसे परिणाम को भाव कहते हैं। सो दर्शन–ज्ञान तो जीव का स्वभाव परिणाम रूप भाव है और पुद्गल कर्म के निमित्त से ज्ञान में मोह-राग-द्वेष होना विभाव भाव है तथा पुद्गल का स्पर्श से स्पर्शान्तर और रस से रसांतर इत्यादि गुण से गुणांतर होना तो

अव्रत व अतप से होने वाले नरक के दुःख नहीं होने चाहिएं, वे श्रेष्ठ नहीं। इन दोनों में बड़ा भेद है।' पं0 जी ने गाथा का आ□ाय स्पष्ट किया है कि 'निर्वाण होने तक व्रत-तप आदिक □ाुभ में ही प्रवर्तना, इनसे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाण के साधने में भी ये सहकारी हैं। अव्रत और अतप-इन दुःखों के कारणों को सेवना तो बड़ी भूल है।'

इसी प्रकार स्वर्ग और नरक के कारण □ाुभ व अ□ाुभ उपयोग को यद्यपि अ□ाुद्धता व बंध के कारण की अपेक्षा सिद्धान्त में समान दिखाया गया है परन्तु दोनों का परस्पर विचार करने पर अ□ाुभ की अपेक्षा □ाुभ उपयोग को भला भी कहा है। □ाुद्धोपयोग का निमित्त व सहचारी होने से □ाुभोपयोग का सम्बन्ध तो □ाुद्धोपयोग के साथ बैठता भी है परन्तु अ□ाुभोपयोग का एकदम नहीं बैठता अतः □ाुभोपयोग के फल स्वर्ग को मोक्ष के साथ कहा।

पं0 टोडरमल जी ने भी 'मोक्षमार्ग प्रका□ाक' के सातवें अधिकार में 'नि□चयाभासी मिथ्याद□ाष्टि' के प्रकरण में □ाुभोपयोग व उससे होने वाले स्वर्ग और अ□ाुभोपयोग व उससे होने वाले नरक में इस प्रकार भेद कहा है –

'□ाुभोपयोग से स्वर्गादि होते हैं व भली वासना व भले निमित्तों से कर्म का स्थिति-अनुभाग घट जाए तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाती है और अ□ाुभोपयोग से नरक-निगोदादि होते हैं व बुरी वासना व बुरे निमित्तों से कर्म का स्थिति-अनुभाग बढ़ जाए तो सम्यक्त्वादि महा दुर्लभ हो जाते हैं अर्थात् □ाुभोपयोग से स्वर्ग में जाने वाला जीव स्वयं में भली वासना लेकर वहाँ गया और मोक्ष के भले निमित्त भी उसे वहाँ मिले तो कर्म के स्थिति-अनुभाग घटने पर सम्यक्त्वादि की वहाँ तो सम्भावना है पर नरक में तो सम्यक्त्वादि के दुर्लभ ही होने की सम्भावना है अतः इस रूप में भी स्वर्ग का तो मोक्ष के साथ सम्बन्ध बैठा पर नरक का नहीं।'

स्वभाव भाव है और परमाणु से स्कंध होना, एक स्कंध से अन्य स्कंध होना तथा जीव के भाव के निमित्त से कर्म रूप होना विभाव भाव हैं-इस प्रकार इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव प्रवर्तता है।

इनमें पुद्गल तो क्योंकि जड़ है अतः उसे नैमितिक भाव से कुछ सुख-दुःख आदि नहीं होता परन्तु जीव चेतन है अतः उसमें पुद्गल के निमित्त से जो भाव होते हैं उनसे उसे सुख-दुःख आदि प्रवर्तता है इसलिए जीव को स्वभाव भाव रूप रहने का और नैमित्तिक भाव रूप न प्रवर्तने का उपदेश है। पुनश्च जीव के पुद्गल कर्म के संयोग से देहादि द्रव्य का जो सम्बन्ध है उस बाह्य रूप को द्रव्य कहते हैं और भाव से द्रव्य की प्रव त्ति होती है। द्रव्य और भाव का ऐसा स्वरूप जानकर जो स्वभाव में प्रवर्ते और विभाव में न प्रवर्ते उसे परमानंद सुख होता है तथा जो विभाव अर्थात् राग-द्वेष-मोह रूप प्रवर्ते उसके संसार से सम्बन्धित दुःख होता है। और जो द्रव्य रूप है सो पुद्गल का विभाव है उससे सम्बन्धित जीव को जो दुःख-सुख होता है उसमें भाव ही प्रधान है, यदि ऐसा न हो तो केवली भगवान को भी सांसारिक सुख-दुःख की प्राप्ति का प्रसंग आवे परन्तु ऐसा है नहीं।

इस प्रकार जीव के तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव और राग-द्वेष-मोह विभाव हैं और पुद्गल के स्पर्शादि स्वभाव और स्कंधादि विभाव हैं, इनमें जीव का हित-अहित भाव ही प्रधान है, पुद्गल द्रव्य से सम्बन्धित भाव प्रधान नहीं है। बाह्य द्रव्य निमित्त मात्र है परन्तु उपादान के बिना निमित्त कुछ करता नहीं है[1]। यह तो सामान्य रूप से स्वभाव-विभाव का स्वरूप है तथा इसी का विशेष जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप जीव के स्वभाव भाव हैं, उनमें सम्यग्दर्शन भाव प्रधान है, उसके बिना सब बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया मिथ्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं जो कि विभाव हैं और संसार की कारण हैं-ऐसा जानना।।२।।

टि0-1. इन पंक्तियों में उपादान-निमित्त सम्बन्धी वस्तु व्यवस्था का सम्यक् विवेचन है। **निमित्त की निमित्तवत् स्वीकृति करते हुए जहाँ उसके कत□त्व का निराकरण है वहाँ उपादान कारण की मुख्यता स्थापित की गई है कि उसके बिना निमित्त कुछ भी नहीं करता।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'बाह्य द्रव्य निमित्त मात्र है और उसका अभाव जीव के भाव की विशुद्धि का निमित्त है अतः उसका त्याग किया जाता है' :–

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स।। ३।।

बाहिर परिग्रह त्याग जो, वह भावशुद्धि निमित्त है।
अन्तर परिग्रहयुक्त के सो, बाह्य त्याग विफल कहा।।३।।

अर्थ

बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है सो भाव की विशुद्धि के लिए किया जाता है अतः रागादि रूप अभ्यंतर परिग्रह से जो युक्त है उसका बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है[1]।

भावार्थ

अंतरंग भाव के बिना बाह्य त्यागादि की प्रवत्ति निष्फल है-यह प्रसिद्ध है।।३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'करोड़ों भवों तक तप करे तो भी भाव के बिना सिद्धि नहीं[2] है':–

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो।। ४।।

टि0-1. बाह्य त्याग की कीमत है क्योंकि वह भावविशुद्धि का निमित्त है परन्तु भाव विशुद्धि उसके निमित्त से न हुई तो वह निष्फल ही तो ठहरा। **बाह्य व अन्तरंग दोनों त्याग की तुलना में बाह्य की अपेक्षा अन्तरंग त्याग दुर्लभ है।** 'श्रु0 टी0' में इस सम्बन्ध में संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है-**'दरिद्र मनुष्य अपने पाप के कारण बाह्य परिग्रह के त्यागी तो स्वयं है परन्तु जो अन्तरंग का त्यागी है ऐसा साधु लोक में दुर्लभ है।'**

2. निश्चय बिना व्यवहार मात्र से सिद्धि नहीं होती।

निर्वस्त्र लम्बे हाथ कर यदि, तप करे जन्मान्तरों।
अरु कोड़ाकोड़ी काल तक पर, भाव रहित न सीझता।।४।।

अर्थ

यदि बहुत जन्मान्तरों तक अर्थात् कोड़ाकोड़ी भी संख्या मात्र काल तक हाथ लम्बे लटकाकर और वस्त्रादि का त्याग करके तपश्चरण करे तो भी भावरहित के सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ

भाव में यदि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र रूप विभाव भाव रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप स्वभाव में प्रव त्ति न हो तो कोड़ाकोड़ी भव तक कायोत्सर्ग कर नग्न मुद्रा धारण करके तपश्चरण करे तो भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। **इस प्रकार भाव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भाव प्रधान हैं और उनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि उसके बिना ज्ञान एवं चारित्र मिथ्या कहे गए हैं-ऐसा जानना।।४।।**

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करते हैं :–

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहिरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।। ५।।

परिणामों के होते अशुद्ध जो, बाह्य परिग्रह त्यागे यदि।
वह बाह्य परिग्रह त्याग भाव विहीन मुनि का क्या करे।।५।।

अर्थ

परिणामों के अशुद्ध रहते हुए यदि मुनि होकर बाह्य परिग्रह को छोड़े तो वह बाह्य परिग्रह का त्याग भावरहित मुनि के क्या करेगा अर्थात् कुछ भी नहीं करेगा।

भावार्थ

यदि बाह्य परिग्रह को छोड़कर मुनि हो जाए और परिणाम अशुद्ध हों अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रह को न छोड़े तो बाह्य का त्याग कुछ **कल्याण रूप फल** नहीं कर सकता क्योंकि सम्यग्दर्शनादि भावों के बिना **कर्म की निर्जरा रूप कार्य** नहीं होता[1]। पहली गाथा से इसमें यह विशेष है कि यदि मुनिपद भी ले और परिणाम उज्ज्वल नहीं रहें अर्थात् आत्मज्ञान की भावना नहीं रहे तो कर्म कटते नहीं।।५।।

उत्थानिका

आगे उपदेश करते हैं कि 'भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो':–

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय! सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण।। ६।।

जो भाव वही परमार्थ है, उस रहित लिंग से क्या तुझे ।
वही शिवपुरी का मार्ग है, हे पथिक ! जिनवर ने कहा।।६।।

अर्थ

हे मुनि! क्योंकि जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट भाव ही मोक्षपुरी का मार्ग है इसीलिए हे शिवपुरी के पथिक अर्थात् मार्ग में चलने वाले! तू भाव ही को प्रथम अर्थात् परमार्थभूत जान, भावरहित मात्र द्रव्यलिंग से तुझे क्या साध्य है अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थ

आत्मस्वभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जिनेश्वरदेव ने परमार्थ से मोक्षमार्ग कहा है इसलिए इसी को परमार्थ जानकर अंगीकार करना, केवल द्रव्य मात्र लिंग से क्या साध्य है–ऐसा उपदेश है।।६।।

टि0-1. भाव बिना बाह्य क्रिया व त्यागादि के लिए **'निष्फल व अकार्यकारी'**-ये दो □ाब्द आते हैं जिनका खुलासा यहाँ किया है। 'निष्फल' का अर्थ है-'कल्याण रूप फल रहित' और 'अकार्यकारी' का अर्थ है-'उससे कर्म निर्जरा रूप कार्य का न हो सकना।'

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'द्रव्यलिंग तूने अनादि से बहुत धारण किए परन्तु उनसे कुछ सिद्धि नहीं हुई' :–

भावरहिएण सपुरिस ! अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहि उज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं।। ७।।

सत्पुरुष काल अनादि, अन्त विहीन इस संसार में ।
बहु बार भाव रहित दिगम्बर, रूप धारे औ तज दिए।।७।।

अर्थ

हे सत्पुरुष ! अनादि काल से लगाकर इस अनन्त संसार में तूने भावरहित निर्ग्रंथ रूप बहुत बार ग्रहण किए और छोड़े।

भावार्थ

निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भाव के बिना बाह्य निर्ग्रंथ रूप द्रव्यलिंग तूने संसार में अनादिकाल से लगाकर बहुत बार धारण किये और छोड़े फिर भी कुछ सिद्धि नहीं हुई, चारों गतियों में भ्रमण ही करता रहा।।७।।

उत्थानिका

वही कहते हैं :–

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुयगइए।
पत्तोसि तीव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव !।। ४।।

भीषण नरक तिर्यंच गति, मानुष्य और कुदेव गति।
पाये जो दुःख हैं तीव्र अब, जिनभावना भा जीव रे।।४।।

अर्थ

हे जीव ! तूने भीषण-भयकारी नरक, तिर्यंच, कुदेव एवं कुमनुष्य गति में तीव्र

दुःख पाए अतः अब तू 'जिनभावना' अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना भा जिससे तेरे संसार का भ्रमण मिटे।

भावार्थ

चार गति के दुःख अनादि काल से संसार में परमात्मा की भावना के बिना पाए अतः हे जीव! अब तू जिनेश्वर देव का शरण ले और शुद्धस्वरूप का बार-बार भावना रूप अभ्यास कर जिससे तुझे संसार के भ्रमण से रहित मोक्ष की प्राप्ति हो—यह उपदेश है।।8।।

उत्थानिका

आगे **चार गति के दुःखों को** विशेष रूप से कहते हैं जिनमें प्रथम ही **नरक के दुःख** कहते हैं :—

सत्तसु णरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं हि सहियाइं।। 9।।

सातों ही नरकावासों में, दारुण सुतीव्र अशुद्ध जो।
दुःखों को भोगा निरन्तर, जिस काल तक थे वे सहे।।9।।

अर्थ

हे जीव ! तूने सात नरक भूमियों के 'नरक आवास' अर्थात् बिलों में दीर्घ काल तक दारुण अर्थात् तीव्र, भयानक और असहनीय अर्थात् सहे न जाएं-ऐसे दुःखों को निरन्तर ही भोगा और सहा।

भावार्थ

नरक की सात प थ्वी हैं जिनमें बहुत बिल हैं, उनमें एक सागर से लगाकर तेतीस सागर तक की उत्क ष्ट आयु है, वहाँ यह जीव अनंत काल से आयु पर्यन्त अति तीव्र दुःख सहता आया है।।9।।

उत्थानिका

आगे **तिर्यंच गति के दुःख** कहते हैं :–

खणणुत्तावण वालण वेयण विच्छेयणा णिरोहं च।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं।। १०।।

रे ! खनन-उत्तापन-ज्वलन औ, व्यजन-छेदन-रोकना ।
चिरकाल दुःख तिर्यंच में , पाए हो भाव से रहित तू।।१०।।

अर्थ

हे जीव ! तूने तिर्यंच गति में खनन (खोदा जाना), उत्तापन (तपाया जाना), ज्वलन (जलाया जाना), व्यजन (पंखे द्वारा डुलाया जाना), व्युच्छेदन (छेदा जाना) एवं निरोधन (रोका जाना) इत्यादि के दुःख बहुत काल पर्यन्त पाये। कैसा होते हुए पाए–भावरहितता के द्वारा अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि भावरहित होते हुए पाए।

भावार्थ

इस जीव ने सम्यग्दर्शनादि भाव के बिना **तिर्यंचगति में** चिरकाल अर्थात् असंख्यात अनंत काल पर्यन्त इस प्रकार दुःःख पाए–**पथ्वीकाय** में तो कुदाल आदि से खोदे जाने के द्वारा; **जलकाय** में अग्नि से तपाये जाने एवं ढोले जाने इत्यादि के द्वारा; **अग्निकाय** में जलाए व बुझाए जाने आदि से; **वायुकाय** में भारी से हलकी वायु के चलने एवं फटके जाने आदि से; **वनस्पति** में काटे जाने, छिदने व रांधे जाने आदि से; **विकलत्रय** में अन्य से रुकना एवं अल्प आयु से मरना इत्यादि से तथा **पंचेन्द्रिय** पशु, पक्षी एवं जलचर आदि में परस्पर घात तथा मनुष्यादि के द्वारा की हुई वेदना, भूख–प्यास, रोके जाने एवं बांधे जाने इत्यादि से दुःख पाए।।१०।।

उत्थानिका

आगे **मनुष्यगति के दुःख** कहते हैं :–

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं।। ११।।

वे सहज-शारीरिक-आगन्तुक, मानसिक हैं चार जो।
दुःखों को मानव जन्म में, पाया अनन्ते काल तक।।११।।

अर्थ

हे जीव ! तूने मनुष्यजन्म में अनन्त काल तक **१.'आगन्तुक'** अर्थात् अकस्मात् वज्रपातादि के आ पड़ने रूप, **२.'मानसिक'** अर्थात् मन ही में होने वाले तथा विषयों की वांछा हो परन्तु तदनुसार न मिलने रूप, **३.'सहज'** अर्थात् वातपित्तादि से सहज ही उत्पन्न होने वाले और रागद्वेषादि से वस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी होने रूप तथा **४.'शारीरिक'** अर्थात् व्याधि-रोगादि और परक त छेदन-भेदन आदि से होने वाले—ये चार प्रकार के और 'चकार' से इनको आदि लेकर अनेक प्रकार के दुःख पाए।।११।।

उत्थानिका

आगे **देवगति के दुःख** कहते हैं :—

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तोसि महाजस ! दुःक्खं सुहभावणारहिओ।। १२।।

हे महायश ! सुरलोक में, सुर अप्सरा के विरह में।
शुभ भावना बिन मानसिक दुःख, पाए जो कि तीव्र थे।।१२।।

अर्थ

हे महायश[1] ! तूने 'सुरनिलये' अर्थात् देवलोक में 'सुरच्छर' अर्थात् प्यारे देव तथा प्यारी अप्सरा के वियोग काल में उसके वियोग सम्बन्धी दुःख तथा इन्द्रादि बड़े ऋद्धिधारियों को देखकर अपने को हीन मानने रूप मानसिक दुःख-इस प्रकार के तीव्र दुःख शुभ भावना से रहित होते हुए पाए।

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में लिखा है-'महत्' अर्थात् त्रैलोक्यव्यापन□ील', 'य□ा' अर्थात् 'पुण्यगुणानुकीर्तन' होता है जिसका वह 'महाय□ा' कहलाता है। **यहाँ 'महाय□ा !' सम्बोधन देकर 'कुंदकुंद**

भावार्थ

यहाँ 'महायश' जो संबोधन किया उसका आशय यह है कि कोई मुनि निर्ग्रन्थ लिंग धारण करे और द्रव्यलिंगी मुनि की समस्त क्रिया करे परन्तु आत्मा का स्वरूप जो शुद्धोपयोग उसके सन्मुख न हो उसको यहाँ प्रधानता से उपदेश है कि 'तू जो मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया उससे तेरा यश लोक में प्रसिद्ध हुआ[1] परन्तु भली भावना जो शुद्धात्मतत्त्व का अभ्यास उसके बिना तपश्चरणादि करके तू स्वर्ग में देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयों का लोभी होने से मानसिक दुःख ही से तप्तायमान हुआ'।।१२।।

स्वामी' ने आगमानुकूल बाह्य आचरण सहित किन्तु भावरहित द्रव्यलिंगी मुनि की भी **कितनी प्र□ांसा की है।** इसी प्रकार उन्होंने इसी भावपाहुड़ की अन्य गाथाओं में भी मुनि योग्य समस्त क्रियाओं युक्त द्रव्यलिंगी मुनि के लिए अन्य महिमापूर्ण एवं प्रिय सम्बोधनों का भी प्रयोग किया है जैसे गाथा 6 में **'पंथिय !'** (□ावपुरी पथिक), गाथा 7 में **'सपुरिस !'** (सत्पुरुष), गाथा 17 में **'मुणिप्रवर !'** (मुनिप्रवर, मुनिश्रेष्ठ), गाथा 18, 38 व 135 में **पुनः 'महाजस !'**, गाथा 24, 41 व 133 में **'मुणिवर !'** (मुनिप्रधान), गाथा 24, 43, 55 व 141 में **'धीर !'**, गाथा 27 में **'मित्त !'** (मित्र) और गाथा 45 में **'भवियणुय !'** (सं0-भव्यनुत। अर्थ-भव्य जीवनि करि नमने योग्य मुनि) आदि-आदि।

टि0-1. माननीय 'पं0 जयचन्द जी' ने पाहुड़ की अनेक प्राकृत गाथाओं में श्री कुंदकुंद स्वामी द्वारा द्रव्यलिंगी मुनि को दिए हुए 'महाजस' एवं 'मुनिवर' आदि सम्बोधनों का आ□ाय बताते हुए इस भावार्थ में व इसी भावपाहुड की गाथा 41 के भावार्थ में बड़ी **वि□ाष बात** कही है कि 'द्रव्यलिंगी मुनि की समस्त क्रिया आदि सहित परन्तु भावरहित मुनि को यहाँ प्रधानपने उपदे□ा है कि ये बाह्य आचरण करके, मुनि होकर तूने बड़ा कार्य किया है, तेरा य□ा लोक में प्रसिद्ध हुआ है (अतः बाह्य लिंग का निषेध नहीं) परन्तु भाव बिना यह सब निष्फल ही गया, भाव बिना देव होने पर भी तू मानसिक दुःखों ही से तप्तायमान रहा है अतः भाव के सन्मुख रहना।' इस प्रकार बाह्य आचरण सहित द्रव्यलिंगी मुनि को भी **उसकी प्र□ांसापूर्वक** भावलिंग धारण करने के उपदे□ा का भाव 'पं0 जी' ने यहाँ पर व अन्य स्थान-स्थान पर दिया है। इसी भावपाहुड की गाथा 17 के भावार्थ में भी उन्होंने यही भाव दिया है।

नि□चयरहित व्यवहार पर बहुत अधिक प्रहार करके व उसका बहुत ज्यादा निषेध कर करके ही परमार्थ की प्रेरणा दी जा सके-ऐसा नहीं वरन् उसका निराकरण न करते हुए बल्कि उसकी प्र□ांसापूर्वक परमार्थ की प्रेरणा की □ाली अत्युत्तम है।

उत्थानिका

आगे शुभ भावना से रहित अशुभ भावना का निरूपण करते हैं :–

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाईया।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ।। १३।।

हो द्रव्यलिंगी साधु अशुभादि कांदर्पी भावना।
जो पांच विध हैं भा उन्हें, हुआ हीन देव तू स्वर्ग में।।१३।।

अर्थ

हे जीव ! तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कान्दर्पी को आदि लेकर पांच अशुभ शब्द हैं आदि में जिनके-ऐसी अशुभ भावना भाकर स्वर्ग में 'प्रहीणदेव' अर्थात् नीच देव उत्पन्न हुआ।

भावार्थ

कान्दर्पी, किल्विषी, संमोही, दानवी एवं आभियोगिकी–ये पाँच अशुभ भावनाएँ हैं[1] सो निर्ग्रन्थ मुनि होकर सम्यक्त्व भावना के बिना इन अशुभ भावनाओं को यदि भावे तो किल्विष आदि नीच देव होकर मानसिक दुःख को प्राप्त होता है।।१३।।

टि0- 1. इन **पांच भावनाओं का** स्वरूप '**भगवती आराधना जी**' ग्रंथ में इस प्रकार दिया है–

1. **कांदर्पी भावना**-जिसके वचन की प्रव□त्ति व काय की चेष्टा भांडपने को लिए नीच मनुष्य की सी हो, काम की उत्कटता से जिसका चल□ील हो, सदाकाल हास्यकथा के कहने में उद्यमी हो और अन्यजनों के विस्मय करने वाली चेष्टा करे वह 'कान्दर्पी भावना' संयुक्त होता है।
2. **किल्विषी भावना**-जो सत्यार्थ ज्ञान के, द□ालक्षण रूप धर्म के, केवली भगवान के और आचारांग की आज्ञा प्रमाण प्रवर्तने वाले आचार्य, उपाध्याय व साधुओं के मायाचार करके दूषण लगावे उसके 'किल्विषी भावना' होती है।
3. **संमोही भावना**-जो उन्मार्ग का उपदे□ाक हो अर्थात् हिंसा में धर्म बतावे, सम्यग्ज्ञान को दूषण लगाने वाला हो, रत्नत्रयरूप सम्यक् मार्ग से विरुद्ध प्रवर्तने वाला हो एवं मिथ्याज्ञान से मोहित हो उसके 'सम्मोही भावना' होती है।
4. **आसुरी (दानवी) भावना**-जिसके वैर द□ढ़ हो, कलह सहित तप हो, ज्योतिषादि निमित्त

उत्थानिका

आगे द्रव्यलिंगी पार्श्वस्थ आदि होते हैं उनको कहते हैं :–

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं।। १४।।

बहु बार काल अनादि से, पार्श्वस्थ आदि कुभावना।
भा करके पाया दुःखों को, वे भावना दुःख बीज हैं।।१४।।

अर्थ

हे जीव ! तू अनादि काल से लेकर अनंत बार पार्श्वस्थ आदि की भावनाओं को भाकर दुःख को प्राप्त हुआ। किनसे दुःख पाया–'कुभावना' अर्थात् खोटी भावनाओं के जो भाव, वे ही हुए दुःख के बीज, उनसे दुःख पाया।

भावार्थ

१. जो मुनि कहलावे और वसतिका बांधकर आजीविका करे वह **पार्श्वस्थ** वेषधारी कहा जाता है। **२.** जो कषायी होकर व्रतादि से भ्रष्ट रहे तथा संघ का

विद्या के द्वारा जीविका करने वाला हो, निर्दयी हो और पर जीवों को पीड़ित करने वाला हो उसके 'दानवी भावना' होती है।

5.**आभियोगिकी भावना**–अभियोग, कौतुक और भूतिकर्म आदि निंद्य कर्म करता हुआ साधु 'आभियोग्य भावना' को प्राप्त होता है। ऋद्धि, धन-सम्पदा के लिए अथवा मिष्ट भोजन के लिए वा इन्द्रियजनित सुख के लिए मंत्र-यंत्रादिक करना 'अभियोग कर्म' कहलाता है। व□ीकरण करना 'कौतुक कर्म' है और बालकादिक की रक्षा करने का मंत्र सो 'भूतिकर्म' है।

वहीं (ग्रंथ में) आगे लिखा है कि इन पांच भावनाओं से जिसने मुनिधर्म की विराधना की ऐसा जो साधु, सो कदाचित् परीषह सहने से वा तप□चरणादि करने से देव भी हो जाए तो भवनत्रिक में देव-दुर्गति को प्राप्त होता है।

'म0 टी0' में इन पांच भावनाओं के सम्बन्ध में संक्षेप से कहा है कि 'कांदर्पी भावना' कामचेष्टा के चिन्तन रूप, 'कैल्विषी' क्ले□ा चिंतन रूप और क्ले□ा उत्पन्न करने वाली, 'संमोही' कुटुम्ब मोहविषयक चिंतनात्मक, 'आसुरी' (दानवी) सर्व पदार्थ भक्षणविषयक चिंतनात्मक एवं 'आभियोगिकी' युद्धविषयक चिंतनात्मक होती है। इस प्रकार ये सारी भावनाएँ रागद्वेषमोहात्मक और संक्ले□ा परिणामात्मक अर्थात् विभावभावात्मक होती हैं।

अविनय करे–ऐसे वेषधारी को **कुशील** कहते हैं। **३.** जो वैद्यक, ज्योतिष, विद्या तथा मंत्र आदि की आजीविका करे और राजादि का सेवक हो–ऐसे वेषधारी को **संसक्त** कहते हैं। **४.** जो जिनसूत्र के प्रतिकूल, चारित्र से भ्रष्ट एवं आलसी हो–ऐसे वेषधारी को **अवसन्न** कहते हैं। **५.** जो गुरु का आश्रय छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्ते एवं जिन आज्ञा का लोप करे–ऐसे वेषधारी को **मृगचारी** कहते हैं। इनकी जो भावना भाता है वह दुःख ही को प्राप्त होता है।।१४।।

उत्थानिका

इस प्रकार देव होकर तूने मानसिक दुःख पाये-ऐसा कहते हैं :–

देवाण गुणविहूई इड्ढीमाहप्प बहुविहं दट्ठु।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं।। १५।।

सुर अन्य बहुविध गुण-विभूति, ऋद्धि महिमा देखकर।
तू मानसिक बहु दुःख पाए, हीन सुरगति प्राप्त कर।।१५।।

अर्थ

हे जीव ! तूने हीन देव होकर अन्य महर्द्धिक देवों की गुण, विभूति तथा ऋद्धि आदि का अनेक प्रकार का माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुःखों को प्राप्त किया।

भावार्थ

स्वर्ग में हीन देव होकर जब बड़े ऋद्धिधारी देव की अणिमा आदि गुण की विभूति, देवांगना आदि का बहुत परिवार तथा आज्ञा एवं ऐश्वर्य आदि का माहात्म्य देखता है तब मन में ऐसा विचारता है कि 'मैं पुण्यरहित हूँ और ये बड़े पुण्यवान हैं जो इनके ऐसी विभूति, माहात्म्य एवं ऋद्धियाँ हैं' सो ऐसे विचार से मानसिक दुःख होता है।।१५।।

उत्थानिका

आगे 'अशुभ भावना से नीच देव होकर ऐसे दुःख पाता है'—ऐसा कहकर इस कथन का संकोच करते हैं :—

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणंतवाराओ।। १६।।

आसक्त विकथा चतुर्विध, प्रकटार्थ अशुभ ही भाव है।
मदमत्त हो पाया अनेकों, बार हीन कुदेवपन।।१६।।

अर्थ

हे जीव! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होता हुआ, मद से मतवाला एवं अशुभ भावना ही का है प्रकट में प्रयोजन जिसके—ऐसा होकर अनेक बार कुदेवपने को प्राप्त हुआ।

भावार्थ

स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोरकथा एवं राजकथा—इन चार विकथाओं में आसक्त होकर परिणाम लगाया तथा जाति आदि आठ मदों से मतवाला हुआ—इस प्रकार अशुभ भावना ही का प्रयोजन धारण करके अनेक बार नीच देवपने को प्राप्त होकर मानसिक दुःख पाया। **यहाँ यह विशेष जानना कि विकथादि से तो नीच देव भी नहीं होता परन्तु यहाँ मुनि को उपदेश है सो मुनिपद धारण करके क्योंकि कुछ तपश्चरणादि भी करता है परन्तु ऐसे वेष में विकथादि में रत होता है तब नीच देव होता है-ऐसा जानना।।१६।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसी कुदेव योनि पाकर वहाँ से चयकर मनुष्य या तिर्यंच होके जब गर्भ में आता है तो उसकी ऐसी व्यवस्था है' :—

असुईवीहत्थेहिं य कलिमलबहुलाहिं गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीहिं मुणिपवर!।। १७।।

हे मुनिप्रवर! कलिमलबहुल, वीभत्स अशुचिपूर्ण जो।
माता अनेक के गर्भग ह, उनमें बसा चिरकाल तक।।१७।।

अर्थ

हे मुनिप्रवर! तू कुदेव योनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की वसतियों में बहुत काल बसा। **कैसी है गर्भ की वसती**–'अशुचि' अर्थात् अपवित्र है; 'वीभत्स'–घिनावनी है और 'कलिमलबहुल' अर्थात् पाप रूपी मलिन मल की उसमें अधिकता है।

भावार्थ

यहाँ 'मुनिप्रवर' ऐसा सम्बोधन है सो प्रधान रूप से मुनि ही को उपदेश है। जो मुनिपद लेकर मुनियों में प्रधान कहलाता है परन्तु शुद्धात्मस्वरूप रूप निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सन्मुख नहीं होता उसको कहते हैं कि 'बाह्य द्रव्यलिंग को तो बहुत बार धारण करके भी तूने चार गतियों में ही भ्रमण किया और यदि देव भी हुआ तो वहाँ से चयकर ऐसे मलिन गर्भवास में आकर वहाँ भी बहुत बार बसा।।१७।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं कि 'ऐसे गर्भवास से निकलकर जन्म लेकर अनेक माताओं का दूध पिया':–

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णण्णाण महाजस! सायरसलिलादु अहिययरं।। १8।।

जन्मों अनन्तों में हे महायश! अन्य-अन्य ही मात का।
स्तन दूध जो तूने पिया, सागर के जल से अधिक वो।।१8।।

अर्थ

हे महायश! पूर्वोक्त गर्भवास से निकलके अन्य–अन्य जन्मों में भिन्न-भिन्न माताओं के स्तनों का दूध तूने समुद्र के जल से भी अतिशय कर अधिक पिया।

भावार्थ

जन्मों–जन्मों में अन्य–अन्य माताओं के स्तनों का दूध इतना पिया कि उसको यदि एकत्रित करें तो समुद्र के जल से भी अतिशय कर अधिक हो जाए। यहाँ अतिशय का अर्थ अनन्तगुणा जानना क्योंकि अनन्त काल का एकत्रित किया हुआ अनंतगुणा हो जाएगा।।१८।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं कि 'जब जन्म लेकर मरण किया तब माताओं के रुदन के अश्रुपात का जल भी इतना हुआ' :–

तुह मरणे दुक्खेणं अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं।। १9।।

तेरे मरण से दुःखित जननी, अनेक अन्य के अन्य के।
रोने से नैनों का नीर जो, सागर के जल से अधिक वो।।१9।।

अर्थ

हे मुने! तूने माता के गर्भ में बसकर जन्म लेकर मरण किया सो तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्मों में अन्य-अन्य माताओं के नयनों के रुदन का नीर एकत्रित करें तो समुद्र के जल से भी अतिशय करके अधिक गुणा अर्थात् अनंत गुणा हो जाए।।१9।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं कि 'संसार में जो तूने जन्म लिये उनमें जितने केश, नख एवं नाल कटे उनको यदि एकत्रित करें तो मेरु से भी अधिक राशि हो जाए' :–

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केस णहर णालट्ठी।
पुंजइ जइ को वि जये ! हवदि य गिरिसमधिया रासी ।। २०।।

मुनि भवसमुद्र अनन्त छुटे, नख-नाल-अस्थि-केश जो।
यदि कोई एकत्रित करे तो, गिरि अधिक वह राशि हो।।२०।।

अर्थ

हे मुने ! इस अनन्त संसार सागर में तूने जो जन्म लिए उनमें जितने केश, नख, नाल एवं अस्थि कटे वा छोड़े उनका यदि कोई पु ज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जाए अर्थात् अनंत गुणी हो जाए।।२०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'हे आत्मन् ! तू जल एवं स्थल आदि सर्व स्थानों में बसा' :—

जल थल सिहि पवणंबर गिरि सरि दरि तरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो।। २१।।

जल थल अनल तरु अनिल अंबर, गिरिगुफा नदी वन में ही।
सर्वत्र परवश हो बसा, त्रय लोक में चिरकाल तक।।२१।।

अर्थ

हे जीव ! तू जल में, 'थल' अर्थात् भूमि में, 'शिखि' अर्थात् अग्नि में तथा पवन में, 'अंबर' अर्थात् आकाश में, 'गिरि' अर्थात् पर्वत में, 'सरित्' अर्थात् नदी में, 'दरी' अर्थात् पर्वत की गुफा में, 'तरु' अर्थात् व क्षों में तथा वनों में-और अधिक क्या कहें तीनों लोकों में सब ही स्थानों में बहुत काल तक 'अनात्मवश' अर्थात् पराधीन होते हुए बसा अर्थात् निवास किया।

भावार्थ

निज शुद्धात्मा की भावना के बिना कर्म के आधीन होकर तीन लोक में सर्वत्र दुःख सहित वास किया।।२१।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं कि 'हे जीव! तूने इस लोक में सारे पुद्गलों का भक्षण किया तो भी त प्त नहीं हुआ' :–

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुंजंतो।। २२।।

भोगे सकल पुद्गल जो वर्तते, लोक के ही उदर में।
फिर-फिर उन्हीं को भोगते भी, त प्ति तो पाई नहीं।।२२।।

अर्थ

हे जीव ! तूने इस लोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध उन सबको ग्रास बनाया अर्थात् भक्षण किया तथा उनको पुनरुक्त अर्थात् बार-बार भोगता हुआ भी त प्ति को प्राप्त नहीं हुआ।।२२।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

तिहुवणसलिलं सयलं पीयं तण्हाइ पीडिएण तुमं।
तो वि ण तण्हाछेओ जायउ चिंतेह भवमहणं।। २३।।

त ष्णा से पीड़ित हो पिया, त्रिभुवन के सारे नीर को।
फिर भी ना त ष्णा छिदी अब, भव मथन का चिंतन तू कर।।२३।।

अर्थ

हे जीव ! तूने इस लोक में त ष्णा से पीड़ित होकर तीन भुवन का समस्त जल पिया तो भी तेरी त ष्णा का विच्छेद नहीं हुआ इसलिए अब तू इस संसार का जैसे तेरे 'मथन' अर्थात् नाश हो वैसा चिन्तवन कर।

भावार्थ

संसार में किसी भी प्रकार से त प्ति नहीं है इसलिए जैसे अपने संसार का अभाव हो वैसा चिन्तवन करना अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना–ऐसा उपदेश है।।२३।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

गहिउज्झियाइं मुणिवर ! कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर !।। २४।।

हे धीर ! हे मुनिवर ! ग्रहे–छोड़े शरीर अनेक जो।
उनका नहीं परिमाण है, इस अनंत भवसागर विषैं।।२४।।

अर्थ

हे मुनिवर ! हे धीर[1] ! तूने इस अनन्त भवसागर में जो अनेक 'कलेवर' अर्थात् शरीर ग्रहण किए और छोड़े उनका परिमाण नहीं है।

भावार्थ

हे मुनिप्रधान ! तू इस शरीर से कुछ स्नेह करना चाहता है सो इस संसार में तूने इतने शरीर ग्रहण किए और छोड़े कि उनका कुछ भी परिमाण नहीं किया जा सकता अर्थात् अनंत ग्रहण किए और छोड़े इसलिए तू अब शुद्धात्मा की भावना को भा और शरीर से स्नेह का विचार मत कर-यह उपदेश है।।२४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि तू पर्याय को स्थिर जानता है तो वह स्थिर नहीं है, आयु कर्म के आधीन है सो आयु निम्न अनेक प्रकारों से क्षीण हो जाती है' :–

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में 'धीर' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे की है-'ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर।' अर्थ-'जो ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ की ओर बुद्धि को प्रेरित करे उसे धीर कहते हैं।'

विस वेयण रत्तक्खय भय सत्थग्गहण संकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ।। २५।।
हिम जलण सलिल गुरुयरपव्वय तरुरुहण पडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं[1]।। २६।।
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उवउज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त!।। २७।। तिकलं।।

विष वेदना से रक्तक्षय भय, शस्त्र से संक्लेश से।
आहार-श्वास निरोध से, आयुष्य का क्षय होय है।। २५।।
हिम-अग्नि-जल से उच्च पर्वत, तरु पे चढ़कर पतन से।
अन्याय रस विद्या के धारण, रूप विविध प्रसंग से।।२६।।
हे मित्र! इस विधि काल चिर, ले जन्म नर-तिर्यंच में।
बहु बार पाए दुःख महा, जो तीव्र थे अपम त्यु के।।२७।।

अर्थ

विष का भक्षण, वेदना—पीड़ा का निमित्त, 'रक्त' अर्थात् रुधिर का क्षय, भय, शस्त्र का घात, संक्लेश परिणाम एवं आहार तथा श्वास का निरोध—इन कारणों से आयु का क्षय हो जाता है तथा 'हिम' अर्थात् शीत पाला, अग्नि, जल, बड़े पर्वत पर चढ़ना व गिरना, बड़े व क्ष पर चढ़कर गिरना, शरीर का भंग होना, 'रस' अर्थात् पारे आदि की विद्या के संयोग से उसे धारण करना एवं भक्षण करना तथा अन्यायकार्य चोरी, व्यभिचार आदि का निमित्त—ऐसे अनेक प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद होकर कुमरण हो जाता है।

सो अब कहते हैं कि हे जीव! हे मित्र! इस प्रकार तिर्यंच तथा मनुष्य जन्म में बहुत काल तक बहुत बार उत्पन्न होकर तू 'अपम त्यु' अर्थात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महा दुःखों को प्राप्त हुआ।

टि0-**1**. 'श्रु0 टी0' में इस पंक्ति का अर्थ—'रसविद्या अर्थात् विष विज्ञान-उसके योग से अर्थात् अनेक औषधियों के मेल से और उनके धारण अर्थात् सेवन व आस्वादन से और नाना प्रकार के अनय प्रसंग से अर्थात् अन्याय करने से'-ऐसा किया है।

भावार्थ

इस संसार में प्राणी की आयु तिर्यंच एवं मनुष्य पर्याय में अनेक कारणों से छिदती है जिससे कुमरण होता है, उससे मरते समय तीव्र दुःख होता है तथा खोटे परिणामों से मरण करके फिर-फिर दुर्गति ही में पड़ता है-इस प्रकार यह जीव संसार में महादुःख पाता है इसलिए आचार्य दयालु होकर उन दुःखों को बार-बार प्रकट करके दिखाते हैं और संसार से मुक्त होने का उपदेश करते हैं-ऐसा जानना।।२५-२७।।

उत्थानिका

आगे **निगोद के दुःखों को** कहते हैं :—

छतीसं तिण्णि सया छावट्ठि सहस्सवारमरणाणि।
अंतोमहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयवासम्मि।। २४।।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल विषैं, निगोद के वास[1] में।
छियासठ सहस अरु तीन सौ, छत्तिस मरण पाए अरे।।२४।।

अर्थ

हे आत्मन्! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ।

भावार्थ

निगोद में एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण आयु पाता है, वहाँ एक मुहूर्त में 'सैंतीस सौ तिहत्तर' श्वासोच्छवास माने गए हैं, उनमें 'छत्तीस सौ पिचासी' श्वासोच्छवास और एक श्वास के तीसरे भाग में 'छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस'

टि0-1. आगम में 'निगोद' [illegible]ाब्द एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीवों के साधारण भेद में रूढ़ है परन्तु यहाँ पर 'निगोदवास' में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सम्मूर्च्छन लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के अन्तर्मुहूर्त में होने वाले जन्म-मरण का ग्रहण किया गया है।

बार निगोद में जन्म-मरण होता है, उसके दुःख यह प्राणी सम्यग्दर्शन भाव को पाए बिना मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत हुआ सहता है[1]।।२८।।

उत्थानिका

आगे इस ही **अन्तर्मुहूर्त के जन्म-मरण में क्षुद्रभव का विशेष** कहते हैं :—

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमहुत्तस्स।। २9।।

तू जान अस्सी-साठ-चालीस, क्षुद्र भव विकलेन्द्रि के।
पंचेन्द्रि के चौबीस हों, अन्तर्मुहूरत काल में।।२9।।

अर्थ

अन्तर्मुहूर्त के इन भवों में दो इन्द्रिय के अस्सी, तीन इन्द्रिय के साठ, चार इन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रिय के चौबीस—इतने हे आत्मन्! तू क्षुद्रभव जान।

भावार्थ

अन्य शास्त्रों में क्षुद्रभव ऐसे गिने हैं—प थ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण निगोद के सूक्ष्म-बादर की अपेक्षा से दस और सप्रतिष्ठित वनस्पति एक—ऐसे ग्यारह स्थानों के भव तो एक-एक के छह हजार बारह-छह हजार बारह सो 'छियासठ हजार एक सौ बत्तीस' हुए तथा जो इस गाथा में कहे वे भव दो इन्द्रिय आदि के 'दो सौ चार'-इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त में 'छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस' क्षुद्र भव कहे गए हैं।।२9।।

टि0-1. 'मु0 प्रति' में भावार्थ में आगे यह पंक्ति और मिलती है जो 'मूल प्रति' में नहीं है—'भावार्थ ऐसा-जो अंतर्मुहूर्तमैं 'छियासठि हजार तीन सौ छत्तीस' बार जन्म-मरण कह्या सो अठ्यासी □वास घाटि मुहूर्त-ऐसा अन्तर्मुहूर्तविषैं जाननां।'

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'हे आत्मन्! तूने इस दीर्घ संसार में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना ऐसे पूर्वोक्त प्रकार भ्रमण किया इसलिए अब रत्नत्रय को अंगीकार कर' :—

रयणत्तयसु अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तयं समायरह।। ३०।।

बिन पाये जिस त्रय रत्न को, भ्रमा दीर्घ इस संसार में।
उस रतनत्रय का आचरण कर, ऐसा जिनवर ने कहा।।३०।।

अर्थ

हे जीव! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय को न पाते हुए इस दीर्घ अनादि संसार में पूर्व में जैसा कहा वैसे भ्रमण किया ऐसा जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर-ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है।

भावार्थ

निश्चय रत्नत्रय को पाए बिना यह जीव मिथ्यात्व के उदय से संसार में भ्रमण करता है इसलिए रत्नत्रय के आचरण का उपदेश है।।३०।।

उत्थानिका

आगे **शिष्य पूछता है** कि 'वह रत्नत्रय कैसा है?' उसका **समाधान** करते हैं कि 'रत्नत्रय ऐसा है' :—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्त मग्गुत्ति।। ३१।।

आत्मा हो आत्मा में निरत सो, प्रकट समकिती होय है।
उसे जानना सज्ज्ञान, आचरना चरित ये मार्ग है।।३१।।

अर्थ

जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थ स्वरूप का अनुभव करके तद्रूप होकर श्रद्धान करता है वह प्रगट सम्यग्द ष्टि होता है, उस आत्मा को जानता है सो सम्यग्ज्ञान है तथा उस आत्मा का आचरण करता है अर्थात् रागद्वेष रूप नहीं परिणमता सो चारित्र है—ऐसे यह निश्चय रत्नत्रय है सो मोक्षमार्ग है।

भावार्थ

आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सो निश्चय रत्नत्रय है और बाह्य में इसका व्यवहार जीव-अजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना, जानना तथा परद्रव्य-परभावों का त्याग करना है इस प्रकार निश्चय-व्यवहार स्वरूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। इनमें निश्चय तो प्रधान है जिसके बिना व्यवहार संसारस्वरूप ही है तथा व्यवहार है सो निश्चय का साधनस्वरूप है, इसके बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती और निश्चय की प्राप्ति हुए पीछे व्यवहार कुछ रहता नहीं—ऐसा जानना[1]।।३१।।

उत्थानिका

आगे संसार में इस जीव ने जो जन्म-मरण किये वे कुमरण किये, अब सुमरण का उपदेश करते हैं :—

टि0-1. गाथा में 'कुन्दकुन्द स्वामी' ने नि□चय रत्नत्र्य को ही मोक्षमार्ग कहा परन्तु भावार्थ में 'पं0 जयचंद जी' ने नि□चय व्यवहारात्मक रत्नत्र्य को मोक्षमार्ग कहते हुए उसकी इस प्रकार से प्ररूपणा की है कि 'आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण नि□चय रत्नत्र्य है और सात तत्त्वों का श्रद्धान व ज्ञान नि□चय सम्यग्द□न ज्ञान का व्यवहार है व परद्रव्य-परभाव का त्याग करना नि□चय चारित्र का व्यवहार है। नि□चय और व्यवहार रत्नत्र्य में साध्य-साधन भाव होता है परन्तु साधन साध्य के लिए होता है, साध्य साधन के लिए नहीं अत: साध्य ही प्रधान होता है परन्तु उसकी प्रधानता होने पर भी साधन की भी कीमत होती है क्योंकि उसके बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती और साध्य की सिद्धि के बाद साधन की कुछ भी आव□यकता रहती नहीं।'

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावय सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव !।। ३२।।

जन्मान्तरों में अनेक में मरा, जीव ! तू कुमरणमरण।
जर-मरण का नाशक है ऐसा, भा तू अब सुमरणमरण।।३२।।

अर्थ

हे जीव ! तू इस संसार में अनेक जन्मान्तरों में अन्य कुमरणमरण जैसे होते हैं वैसे मरा, अब तू जिस मरण से तेरे जन्म-मरण का नाश हो ऐसे सुमरण को भा।

भावार्थ

अन्य शास्त्रों में मरण संक्षेप से इन सतरह प्रकार का कहा है—१. आवीचिकामरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आद्यन्तमरण, ५. बालमरण, ६. पंडितमरण, ७. आसन्नमरण, ८. बालपंडितमरण, ९. सशल्यमरण, १०. पलायमरण, ११. वशार्तमरण, १२. विप्राणसमरण, १३. ग द्धप ष्ठमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. इंगिनीमरण, १६. प्रायोपगमनमरण और १७. केवलिमरण।

इनका स्वरूप ऐसा है –

१. **आवीचिकामरण**—आयु का जो उदय प्रतिसमय आ—आकर घटता है वह समय-समय का मरण ही आवीचिकामरण है।

२. **तद्भवमरण**—वर्तमान पर्याय के अभाव का होना तद्भवमरण है।

३. **अवधिमरण**—जैसा मरण वर्तमान पर्याय का हो वैसा ही अगली पर्याय का जो होगा सो अवधिमरण है। इसके **दो भेद** हैं—**१.** जैसा प्रकृति, स्थिति एवं अनुभाग वर्तमान में उदय में आया वैसा ही अगली का बांधे एवं उदय आवे सो **सर्वावधिमरण** है और **२.** एकदेश बंध तथा उदय हो तो **देशावधिमरण** कहा जाता है।

४. **आद्यन्तमरण**—वर्तमान पर्याय में स्थिति आदि का जैसा उदय था वैसा अगली का सर्वतः अथवा देशतः बंध तथा उदय न हो सो आद्यन्तमरण है।

५. **बालमरण**—पाँचवां बालमरण है सो **बाल पाँच प्रकार के हैं—१. अव्यक्तबाल, २. व्यवहारबाल, ३. ज्ञानबाल, ४. दर्शनबाल एवं ५. चारित्रबाल।** इनमें **१.** जो धर्म, अर्थ व काम-इन कार्यों को नहीं जानता हो तथा इनके आचरण के लिए

समर्थ जिसका शरीर न हो वह **अव्यक्तबाल** है। २.जो लोक के और शास्त्र के व्यवहार को नहीं जानता हो तथा जिसकी बालक अवस्था हो वह **व्यवहारबाल** है। ३. तत्त्वश्रद्धान रहित मिथ्याद ष्टि **दर्शनबाल** है। ४. वस्तु के यथार्थ ज्ञान रहित **ज्ञानबाल** है। ५. चारित्र रहित प्राणी **चारित्रबाल** है। इनका मरण सो बालमरण है।

यहाँ प्रधान रूप से दर्शनबाल ही का ग्रहण है क्योंकि सम्यग्द ष्टि के अन्य बालपना होते हुए भी दर्शन पांडित्य के सद्भाव से उसके मरण को पंडितमरण में ही गिना है। **इनमें दर्शनबाल का संक्षेप से ये दो प्रकार का मरण कहा है– १. इच्छाप्रव त्त एवं २. अनिच्छाप्रव त्त।** सो अग्नि से, धुएँ से, शस्त्र से, विष से, जल से, पर्वत के किनारे पर से गिरने से, उच्छ्वास रोकने से, अति शीत-उष्ण की बाधा से, रस्से के बंधन से, क्षुधा से, त षा से, जीभ उखाड़ने से एवं विरुद्ध आहार के सेवन से जो बाल अज्ञानी चाहकर मरे उसका मरण **इच्छाप्रव त्त** है तथा जो जीने का इच्छुक हो और मर जाए उसका मरण **अनिच्छाप्रव त्त** है।

६. **पंडितमरण**–पंडित चार प्रकार के हैं–**१. व्यवहारपंडित, २. सम्यक्त्वपंडित, ३. ज्ञानपंडित तथा ४. चारित्रपंडित।** १. लोक शास्त्र के व्यवहार में जो प्रवीण हो वह **व्यवहारपंडित** है। **२.** जो सम्यक्त्व सहित हो वह **सम्यक्त्वपंडित** है। **३.** जो सम्यग्ज्ञान सहित हो वह **ज्ञानपंडित** है एवं **४.** जो सम्यक् चारित्र सहित हो वह **चारित्रपंडित** है। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित पंडित के मरण का ग्रहण है क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्याद ष्टि का मरण बालमरण में आ गया।

७. **आसन्नमरण**–मोक्षमार्ग में प्रवर्तने वाले साधु संघ से जो छूटा उसको 'आसन्न' कहते हैं उनमें पार्श्वस्थ, स्वच्छंद, कुशील एवं संसक्त भी लेने-ऐसे पाँच प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का मरण सो आसन्नमरण है।

8. **बालपंडितमरण**–सम्यग्द ष्टि श्रावक का मरण सो बालपंडितमरण है।

9. **सशल्यमरण**–यह दो प्रकार का है–मिथ्यादर्शन, माया व निदान-ये तीन शल्य तो भाव शल्य हैं और पांच स्थावर तथा त्रस में असैनी-ये द्रव्य शल्य सहित हैं-ऐसे सशल्यमरण है।

१०. **पलायमरण**–जो प्रशस्त क्रिया में आलसी हो, प्रमादी हो, व्रतादि में शक्ति को छिपावे एवं ध्यानादि से दूर भागे-ऐसे का मरण सो पलायमरण है।

११. **वशार्तमरण**–आर्त-रौद्र ध्यान सहित मरण को वशार्तमरण कहते हैं सो वह इन

चार प्रकार का है– **१.** पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग–द्वेष सहित मरना **इन्द्रिय वशार्तमरण** है। **२.** साता–असाता की वेदना सहित मरना **वेदना वशार्तमरण** है। **३.** क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के वश से मरना **कषाय वशार्तमरण** है और **४.** हास्यादि नोकषाय के वश से मरना **नोकषाय वशार्तमरण** है।

१२. विप्राणसमरण–अपने व्रत, क्रिया एवं चारित्र में कोई उपसर्ग आवे सो सहा भी न जावे और भ्रष्ट होने का भय आवे तब अशक्त हुआ अन्न-पानी का त्याग करके जो मरे सो ऐसे का मरण विप्राणसमरण है।

१३. गद्धप ष्ठमरण–शस्त्र ग्रहण करके मरना गद्धप ष्ठमरण है।

१४. भक्तप्रत्याख्यानमरण–आहार-पानी का अनुक्रम से यथाविधि त्याग करके मरना सो भक्तप्रत्याख्यानमरण है।

१५. इंगिनीमरण–संन्यास करे और अन्य के पास वैयाव त्य न करावे सो ऐसे का मरण इंगिनीमरण है।

१६. **प्रायोपगमनमरण**–जो प्रायोपगमन संन्यास करे, किसी के पास वैयाव त्य न करावे और अपने आप भी न करे, प्रतिमायोग से रहे सो ऐसे का मरण प्रायोपगमनमरण है।

१७. केवलिमरण–केवली का मुक्ति को प्राप्त होना सो केवलिमरण है।

ऐसे जो सतरह प्रकार कहे उनका संक्षेप ऐसा किया है–मरण पाँच प्रकार का है–१. पंडितपंडित, २. पंडित, ३. बालपंडित, ४. बाल एवं ५. बालबाल।

इनमें **१.** जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिशय सहित हो सो वह तो **पंडितपंडित** है, **२.** इनकी प्रकर्षता जिसके न हो वह **पंडित** है, **३.** सम्यग्द ष्टि श्रावक सो **बालपंडित** है **४.** पूर्व में जो चार प्रकार के पंडित कहे उनमें से एक भी भाव जिसके नहीं हो सो **बाल** है और **५.** जो सबसे न्यून हो वह **बालबाल** है। इनमें पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण–ये तीन तो प्रशस्त सुमरण कहे गये हैं और अन्य रीति हो सो कुमरण है। इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के एकदेश या सर्वदेश सहित मरे वह सुमरण है–इस प्रकार सुमरण करने का उपदेश है।।३२।।

उत्थानिका

आगे यह जीव संसार में जो भ्रमण करता है उस भ्रमण के परावर्तन का स्वरूप मन में धारण करके निरूपण करते हैं। उनमें प्रथम ही सामान्य रूप से लोक के प्रदेशों की अपेक्षा से कहते हैं :—

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो।। ३३।।

परमाणु सम स्थान भी, नहिं है कोई त्रैलोक्य में।
जहाँ हो के द्रव्यश्रमण ये जीव, मरा न हो-जनमा न हो।।३३।।

अर्थ

यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनि होते हुए भी ये जो तीन लोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणु प्रमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ जन्मा नहीं हो तथा मरा नहीं हो[1]।

भावार्थ

द्रव्यलिंग धारण करके भी सर्व लोक में यह जीव जन्मा-मरा, ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं रहा जिसमें जन्मा-मरा न हो। इस प्रकार भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग से मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ-ऐसा जानना[2]।।३३।।

टि0-1. **अहो। यह मिथ्यात्व भी जीव का कितना अहितकारक है कि समूचा तीन लोक द्रव्यलिंगी मुनि के उत्पन्न होने का स्थान है**। गाथार्थ में वर्णन है कि 'तीन लोक में ऐसा परमाणु प्रमाण भी स्थान नहीं है जहाँ द्रव्यलिंगी मुनि उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो।'

2. मोक्षमार्ग में द्रव्य व भाव दोनों ही लिंगो की आव□यकता है परन्तु दोनों में भावलिंग ही प्रधान है, परमार्थभूत है क्योंकि भावलिंग□ के बिना द्रव्यलिंग□ मात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इसी पाहुड़ की गाथा 5 के भावार्थ के अनुसार उससे 'कर्म निर्जरा रूप कार्य' और 'कल्याण रूप फल' नहीं होता।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करने के लिए भावलिंग को प्रधान करके कहते हैं :—

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण[1]।। ३४।।

हो जन्म-जरा-मरण से पीड़ित, काल अनन्त ही दुःख लहा।
जिनलिंग धारण कर परम्पर, भावलिंग रहित रहा।। ३४।।

अर्थ

यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा से भावलिंग नहीं हुआ ऐसे 'जिनलिंग' अर्थात् बाह्य दिगम्बर लिंग के द्वारा जन्म-जरा-मरण से पीड़ित होता हुआ अनन्त काल पर्यन्त दुःख ही को प्राप्त हुआ।

भावार्थ

द्रव्यलिंग धारण किया और उसमें परम्परा से भी भावलिंग की प्राप्ति नहीं हुई इस कारण द्रव्यलिंग निष्फल गया और मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई, संसार ही में भ्रमण किया। यहाँ आशय ऐसा है **कि 'जो द्रव्यलिंग है सो भावलिंग का**

टि0-1. 'श्रु0 सूरि' ने इस पंक्ति का जो अर्थ किया है वह 'पं0 जयचंद जी' द्वारा □कृत अर्थ से भिन्न हैं। उन्होंने लिखा है कि 'परम्परा-भाव से रहित होकर इस जीव ने अर्हद्रूप वि□ष्ट जिनलिंग धारण किया। 'परम्परा भाव से रहित होकर' का अर्थ है-परम्परा अर्थात् आचार्य प्रवाह के द्वारा उपदिष्ट □ास्त्रें में भावरहित होकर अर्थात् प्रतीति से वर्जित होकर। वहीं आगे **प्र□न** किया है कि 'वह परम्परा क्या है ?' **उत्तर** दिया है कि 'इस अवसर्पिणी के त□तीय काल के अन्त में श्री व□षभनाथ भगवान ने अर्थ रूप से □ास्त्र का उपेद□ा किया था और व□षभसेन गणधर ने उसे ग्रन्थ रूप से परिणत किया। उसी परम्परा में भगवान महावीर ने अर्थ का प्रका□ा किया और गौतम गणधर ने उसे ग्रन्थ रूप से परिणत किया। उसी अनुक्रम से पंचम काल में प्रमाणभूत दिगम्बर आचार्यों ने उपदे□ा दिया-यह ही आचार्य परम्परा है और उन्हीं आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट □ास्त्रें को हमें प्रमाण मानना चाहिए, अन्य मिथ्याद□ष्टि विसंघियों अर्थात् मूलसंघ से विरुद्ध संघियों द्वारा कृत □ास्त्र को प्रमाण नहीं मानना चाहिए।'

साधन है परन्तु काललब्धि के बिना द्रव्यलिंग धारण करने पर भी भावलिंग की प्राप्ति नहीं होती इस कारण द्रव्यलिंग निष्फल चला जाता है-इस प्रकार मोक्षमार्ग प्रधानता से भावलिंग ही है।'

यहाँ कोई कहता है **कि 'यदि ऐसा है तो द्रव्यलिंग को पहले क्यों धारण करना ?'**उसको कहते हैं **कि 'ऐसा मानने से तो व्यवहार का लोप होता है इसलिए ऐसा मानना कि 'द्रव्यलिंग पहले धारण करना परन्तु उसे ऐसा न जानना कि इसी से ही सिद्धि है। भावलिंग को प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना और द्रव्यलिंग को यत्न से साधना-ऐसा श्रद्धान भला है'[1]।।३४।।**

उत्थानिका

आगे पुद्गल द्रव्य को प्रधान करके भ्रमण कहते हैं :—

टि0-1. जो सही द□ष्टि व मान्यता रखके मात्र द्रव्यलिंग को भावलिंग के बिना धारण करता है, उसके परम्परा से भावलिंग की प्राप्ति हो जाती है परन्तु यदि कदाचित् किसी को न हो तो इसमें काललब्धि के अभाव को ही कारण समझना कि उस जीव की अभी काललब्धि नहीं आई है।

प्र□न-द्रव्य व भावलिंग के बारे में वह सही मान्यता क्या है ?

उत्तर-मोक्षमार्ग क्योंकि प्रधानता से भावलिंग ही है अत: वास्तव में तो भावलिंगपूर्वक ही द्रव्यलिंग धारण करना चाहिए परन्तु भावलिंग के बिना भी किसी जीव के यदि मुनि योग्य सारी क्रियाओं सहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करने की उग्र भावना बने तो उसे धारने का निषेध नहीं है और उसे धारकर यत्न से साधना भी चाहिए परन्तु उसी से साध्य की सिद्धि नहीं मान लेनी चाहिए, उसे धारकर भावलिंग को प्रधान मान उसके सम्मुख उपयोग रखकर उसकी प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा करने से कालांतर में भावलिंग की प्राप्ति हो जाएगी पर मात्र द्रव्यलिंग का धारण करना सफल भावलिंग के होने पर ही कहलाएगा।

गाथा 34 के इस भावार्थ में 'पं0 जयचन्द जी' ने आगम के बहुत सुन्दर सत्य उजागर किए हैं कि 'भावलिंग के बिना भी द्रव्यलिंग के पहले धारण करने का निषेध यदि करोगे तो व्यवहार के लोप का बड़ा दूषण आएगा अत: उसे धारना है, धारण करके वहाँ रुकना भी नहीं, भावलिंग धारने का सतत पुरुषार्थ करना है और द्रव्यलिंग की ओर भी विमुखता नहीं वर्तनी, उसे भी यत्न से साधना है।'

पडिदेस समय पुग्गल आउग परिणाम णाम कालट्ठं।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीवो।। ३५।।

प्रतिदेश-समय-आयुष्क में, परिणाम-नाम व काल में।
छोड़े-ग्रहे पुद्गल बहुत, इस अपार भवसागर विषैं।।३५।।

अर्थ

इस जीव ने इस अनन्त अपार भवसमुद्र में लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उनके प्रति समय-समय और पर्याय के आयु प्रमाण काल और अपने जैसा योग, कषाय के परिणमन स्वरूप परिणाम और जैसा गति, जाति आदि नामकर्म के उदय से हुआ नाम और जैसा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल, उनमें पुद्गल के परमाणु रूप स्कन्धों को बहुत बार-अनंत बार ग्रहण किया और छोड़ा।

भावार्थ

भावलिंग के बिना लोक में जितने पुद्गल स्कंध हैं उनको सबको ही ग्रहण किया और छोड़ा तो भी मुक्त नहीं हुआ[1]।।३५।।

उत्थानिका

आगे क्षेत्र को प्रधान करके कहते हैं :–

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखित्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ।। ३६।।

इस तीन सौ चालीस त्रय, राजू बराबर लोक में।
तज आठ कोई प्रदेश ना, यह जीव जहाँ घूमा न हो।।३६।।

टि0-1.'श्रु0 टी0' में इस गाथा का भाव इस प्रकार से दिया है-'हे जीव ! अनन्तानन्त संसार समुद्र में तूने जिनसम्यक्त्व के बिना प्रत्येक दे□ा, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक परिणाम, प्रत्येक नामकर्म और प्रत्येक काल में स्थित हो होकर अनन्त □ारीर धारण किये और छोड़े हैं। जिनसम्यक्त्व रूप भाव के द्वारा अनन्त संसार का छेद हो जाता है तथा अल्पकाल में जीव मुक्त हो जाता है।' गा0 35

अर्थ

यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र है उसके बीच मेरु के नीचे गोस्तन के आकार के आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य कोई प्रदेश ऐसा शेष नहीं रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा-मरा हो।

भावार्थ

यहाँ 'ढुरुढुल्लिओ' ऐसा प्राकृत में 'भ्रमण' अर्थ की धातु का आदेश है और क्षेत्र परावर्तन में मेरु के नीचे जो आठ प्रदेश लोक के मध्य में हैं, उनको जीव अपने प्रदेशों के मध्य में देकर उत्पन्न होता है और क्योंकि वहाँ से क्षेत्र परावर्तन का प्रारम्भ किया जाता है इसलिए उनको पुनरुक्त भ्रमण में नहीं गिना जाता।।३६।।

उत्थानिका

आगे यह जीव शरीर सहित उत्पन्न होता और मरता है, उस **शरीर में जो रोग होते हैं उनकी संख्या** दिखाते हैं :–

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भणि केत्तिया भणिया।। ३७।।

एकैक अंगुल क्षेत्र में, जब रोग होते छ्यानवे।
कहो रोग कितने होंगे फिर, सम्पूर्ण मानव देह में।।३७।।

अर्थ

इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छ्यानवे-छ्यानवे रोग होते हैं तब कहो ! अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग होंगे[1] !।।३७।।

टि0-1. आधुनिक मनुष्य का □ारीर साढ़े तीन हाथ का होता है। एक हाथ में चौबीस अंगुल होते हैं तो साढ़े तीन हाथ में चौरासी अंगुल हुए। यह तो लम्बाई की अपेक्षा संख्या आई, अब चौड़ाई व मोटाई के भी अंगुल ले लेने चाहिए और उन सबको आपस में गुणा करके 96 से गुणा कर देना चाहिए क्योंकि एक अंगुल में छ्यानवे रोग होते हैं तो पूरे □ारीर में रोगों की संख्या निकल आएगी। **आगम में पूरे □ारीर में 'पांच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पांच सौ चौरासी' रोग कहे हैं।** इस सम्बन्धित गाथा निम्न प्रकार है–

पंचेव य कोडीओ तह चेव अड़सट्ठि लक्खाणि।
णवणवदि य सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'हे जीव ! उन रोगों का दुःख तूने सहा' :–

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस! किं वा बहुएहिं लविएहिं।। ३८।।

हे महायश ! वे रोग सारे, सहे परवश पूर्व भव ।
आगे भी ऐसे ही सहेगा तू , बहुत कहने से क्या हो।।३८।।

अर्थ

हे महायश ! हे मुने ! बहुत कहने से क्या ! ये पूर्वोक्त सारे रोग पूर्व भव में तूने परवश सहे और ऐसे ही फिर भी सहेगा।

भावार्थ

यह जीव पराधीन हुआ तो सारे दुःख सहता है परन्तु यदि ज्ञानभावना करे और दुःख आने पर उससे न चिगे-ऐसे उन दुःखों को स्ववश सहे तो कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाये-ऐसा जानना।।३८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह जीव अपवित्र गर्भवास में भी बसा' :–

पित्तंत मुत्त फेफस कालिज्जय रुहिर खरिस किमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं।। ३९।।

पितान्त्र, फेफस, मूत्र, आंव, यक त, रुधिर, क मिजालयुत।
जननी उदर में तू रहा, चिरकाल नौ-दस मास तक।।३९।।

अर्थ

हे मुने ! तू स्त्री के मलिन अपवित्र उदर को प्राप्त करके नौ अथवा दस मास तक वहाँ बसा। कैसा है वह उदर–जो पित्त और आंतों से वेष्ठित है और जिसमें

मूत्र का स्रवण; 'फेफस' अर्थात् रुधिर के बिना मेद का फूलना; 'कालिज्ज'[२] अर्थात् कलेजा; रक्त; 'खरिस' अर्थात् अपक्व मल से मिला हुआ रुधिर, श्लेष्म (कफ) तथा 'कृमि' अर्थात् लट आदि जीवों के समूह—ये सब पाए जाते हैं। स्त्री के ऐसे उदर में तू बहुत बार बसा।।३9।।

उत्थानिका

फिर इसी को कहते हैं :—

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायमणुयभुत्तंते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए।। ४०।।

द्विजसंगस्थित अशन को खा, माँ मनुज भोगान्त में।
छर्दि खरिस के मध्य, जननी उदर में था तू बसा।।४०।।

अर्थ

हे जीव ! तू माता के गर्भ में बसा। वहाँ माता के और पिता के भोग के अन्त में 'छर्दि' अर्थात् वमन के अन्न और 'खरिस' अर्थात् रुधिर से मिले हुए अपक्व मल के मध्य में रहा। कैसे रहा—माता के दाँतों से चबाया हुआ और उन दाँतों में लगा हुआ-रुका हुआ जूठा भोजन जो माता के खाए पीछे उदर में गया उसके रस रूपी आहार से रहा।।४०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'गर्भ से निकलकर जीव ने ऐसा बालपना भोगा' :—

सिसुकाले य अयाणे असुइमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुइ असिया बहुसो मुणिवर ! बालत्तपत्तेण।। ४१।।

शिशुकाल में अज्ञान में, अशुचि विषैं लोट्या फिरा।
बहुबार अशुचि खाई मुनिवर ! प्राप्त कर बालत्व तू।।४१।।

अर्थ

हे मुनिवर ! तू बालपने के काल में अज्ञान अवस्था में अशुचि-अपवित्र स्थान में अशुचि के बीच लेटा तथा बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई। बालपने को पा करके तूने ऐसी चेष्टायें कीं।

भावार्थ

यहाँ 'मुनिवर' ऐसा संबोधन है सो पूर्ववत् जानना। जो बाह्य आचरण सहित मुनि हो उसी को यहाँ प्रधानता से उपदेश है कि 'जो बाह्य आचरण किया सो तो बड़ा कार्य किया परन्तु भाव के बिना यह निष्फल है इसलिए भाव के सन्मुख रहना, भाव के बिना ही ये अपवित्र स्थान मिले हैं'।।४१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह देह इस प्रकार का है-ऐसा विचारो' :–

मंसट्ठि सुक्क सोणिय पित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिस वस पूय खिब्भिस[1] भरियं चिंतेह देहउडं।। ४२।।

पल, अस्थि, शोणित, आंत से, दुर्गन्ध शव सम जो स्रवे।
है खरिस, चर्बी, राध पूरित, देह घट तू चिंत रे !।।४२।।

अर्थ

हे मुने ! तू देह रूपी घट को ऐसा विचार। कैसा है देह घट–मांस, हाड़, 'शुक्र' अर्थात् वीर्य, 'शोणित' अर्थात् रुधिर, 'पित्त' अर्थात् उष्ण विकार और 'अंत्र' अर्थात् आंतों से स्रवते हुए–झरते हुए मल आदि के द्वारा तत्काल के म तक के समान दुर्गन्धित है। **और कैसा है देह घट**–'खरिस' अर्थात् रक्त से मिला हुआ अपक्व मल,'वसा' अर्थात् मेद, 'पूति' अर्थात् बिगड़ा हुआ खून और राध आदि सारी मलिन वस्तुओं से पूर्ण भरा है। ऐसे देह रूपी घट का तू विचार कर।

टि0-1. 'म0 टी0' में इसके स्थान पर 'किव्विस' (सं0-किल्विष) पाठ देकर ऐसा कहा गया है कि 'साहित्य में व को□ा में 'खिब्भिस' □ाब्द मिलता नहीं है इसलिए 'किव्विस' पाठ स्वीकार किया गया है।'

भावार्थ

यह जीव तो पवित्र और शुद्ध ज्ञानमयी है और यह देह ऐसा है जिसमें रहना अयोग्य है—ऐसा बताया है।।४२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो कुटुम्ब से छूटा वह नहीं छूटा, भाव से छूटे हुए को ही छूटा कहते हैं' :—

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर!।।४३।।

वही मुक्त भाव से मुक्त जो, नहिं बन्धु-मित्र से मुक्त जो।
हे धीर ! ऐसा जानकर तू, त्याग अन्तर वासना।।४३।।

अर्थ

जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्रों आदि से जो मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते इसलिए हे धीर मुनि ! तू ऐसा जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़।

भावार्थ

जो बाह्य बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्रों को छोड़कर निर्ग्रन्थ हुआ परन्तु अभ्यन्तर की ममत्व भाव रूप वासना तथा इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष की वासना नहीं छूटी तो उसको निर्ग्रंथ नहीं कहते, अभ्यन्तर की वासना छूटने पर निर्ग्रंथ होता है इसलिए यह उपदेश है कि अंतरंग के मिथ्यात्व व कषायों को छोड़कर भाव मुनि होना।।४३।।

उत्थानिका

आगे पूर्व के जिन मुनियों ने भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई, उनके उदाहरण रूप नाम कहते हैं। उनमें **प्रथम ही बाहुबलि का उदाहरण** देते हैं :—

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीरो।
अत्तावणेण जादो बाहुबलि कित्तियं कालं।। ४४।।

देहादि संग के त्यागी, मान कषाय कलुषित भुजबलि।
आतापना की काल बहु, पर सिद्धि तो पाई नहिं।।४४।।

अर्थ

देखो ! श्री ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि देहादि परिग्रह को छोड़के धीर निर्ग्रंथ मुनि होकर कितने ही काल तक आतापन योग से स्थित रहे तो भी मान कषाय से कलुषित परिणाम रूप होते हुए उन्होंने सिद्धि नहीं पाई।

भावार्थ

भरत चक्रवर्ती ने बाहुबलि से विरोध करके युद्ध प्रारम्भ किया और वहाँ अपमान पाया, पीछे बाहुबलि विरक्त होकर निर्ग्रंथ मुनि हुए परन्तु मान कषाय की कुछ कलुषता रही कि 'भरत की भूमि पर मैं कैसे रहूँ !' तब कायोत्सर्ग योग से एक वर्ष तक स्थित रहे परन्तु केवलज्ञान नहीं पाया, पीछे कलुषता मिटी तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ इसलिए कहते हैं कि 'यदि इतनी बड़ी शक्ति के धारक ऐसे महान पुरुषों ने भी भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई तब अन्य की क्या कथा'! इसलिए भाव शुद्ध करना—यह उपदेश है।। ४४।।

उत्थानिका

आगे मधुपिंगल मुनि का उदाहरण कहते हैं :—

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय !।। ४५।।

तज देह-आहारादि में, व्यापार भी हे भव्यनुत ! ।
मधुपिंग मात्र निदान से, श्रमणत्व को पाया नहीं।।४५।।

अर्थ

देह और आहार आदि में छोड़ा है व्यापार जिन्होंने ऐसे मधुपिंगल नामक मुनि निदान मात्र से भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए उनको हे भव्य जीवों के द्वारा नमने योग्य मुनि ! तू देख।

भावार्थ

मधुपिंगल नामक मुनि की कथा पुराणों में है उसका संक्षेप ऐसा है—इस भरत क्षेत्र के सुरम्य देश में पोदनपुर का राजा त णपिंगल का पुत्र मधुपिंगल था। वह चारणयुगल नगर के राजा सुयोधन की पुत्री सुलसा के स्वयंवर में आया था और वहाँ ही साकेतपुरी का राजा सगर भी आया था सो सगर के मंत्री ने नवीन सामुद्रिक शास्त्र बनाकर कपट से मधुपिंगल को दूषण दिया कि 'इसके नेत्र पिंगल (पीत) हैं, मांजरे हैं सो इसको जो कन्या वरेगी वह मरण को प्राप्त होगी' ऐसा सुनकर कन्या ने सगर के गले में वरमाला डाल दी, मधुपिंगल का वरण नहीं किया तब मधुपिंगल ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली, पीछे कारण पाकर सगर के मंत्री के कपट को जानकर क्रोध से निदान किया कि 'मेरे तप का फल यह हो कि जन्मान्तर में मैं सगर के कुल को निर्मूल करूँ।'

तत्पश्चात् मधुपिंगल मरकर 'महाकालासुर' नामक असुर देव हुआ और फिर सगर को मंत्री सहित मारने का उपाय खोजने लगा, तब उसको क्षीरकदम्ब ब्राह्मण का पापी पुत्र पर्वत मिला, तब पशुओं की हिंसा रूपी यज्ञ का सहायी होकर उसने इसे कहा कि 'तू सगर राजा को यज्ञ का उपदेश देकर यज्ञ करवा, मैं तेरे यज्ञ का सहायक होऊँगा।' तब पर्वत ने सगर से यज्ञ करवाया और पशु होमे। उस पाप से सगर सातवें नरक गया और कालासुर सहायक हुआ सो यज्ञ के करने वालों को स्वर्ग गये दिखाये। इस प्रकार मधुपिंगल नामक मुनि ने निदान करके कालासुर देव होकर महापाप का उपार्जन किया इसलिए आचार्य कहते हैं कि 'मुनि होकर भी भाव बिगड़ जाएं तो वह सिद्धि को नहीं पाता।' इसकी कथा विस्तार से पुराणों से जानना।।४५।।

उत्थानिका

आगे **वशिष्ठ मुनि का उदाहरण** कहते हैं :—

अण्णं च वसिट्ठमुणि पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ।। ४६।।

एक अन्य साधु वशिष्ठ, पाया दुःख दोष निदान से।
है नहीं वास स्थान जहाँ पे, जीव यह घूमा न हो।।४६।।

अर्थ

'अन्य' और एक वशिष्ठ नामक मुनि निदान के दोष से दुःख को प्राप्त हुए अतः लोक में ऐसा कोई वास स्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्म-मरण सहित भ्रमण को प्राप्त नहीं हुआ हो।

भावार्थ

वशिष्ठ मुनि की कथा इस प्रकार है—गंगा और गंधवती इन दोनों नदियों का जहाँ संगम हुआ है वहाँ जठरकौशिक नामक तापसी की पल्ली थी। वहाँ एक वशिष्ठ नामक तापसी पंचाग्नि तप तपता था। वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नामक दो चारणमुनि आये। उन्होंने वशिष्ठ तापस से कहा कि 'तू अज्ञान तप करता है, इसमें जीवों की हिंसा होती है।' तब तापस ने प्रत्यक्ष हिंसा देखके विरक्त होकर जैन दीक्षा ली और मासोपवास सहित आतापन योग स्थापित किया। उसके तप के माहात्म्य से सात व्यन्तर देवों ने आकर कहा कि 'आप हमको जो आज्ञा दो सो ही करें।' तब वशिष्ठ ने कहा—'अभी तो मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, मैं जन्मान्तर में तुमको याद करूँगा।

'फिर वशिष्ठ ने मथुरापुरी आकर मासोपवास सहित आतापन योग स्थापित किया। उसको मथुरापुरी के राजा उग्रसेन ने देखकर भक्तिवश यह विचार किया कि 'इनको पारणा मैं कराऊँगा।' उसने नगर में यह घोषणा कराई कि 'इस मुनि को अन्य कोई और आहार न दे।' पीछे पारणा के दिन मुनि नगर में आये तो वहाँ अग्नि का उपद्रव देख अन्तराय जानकर वापिस चले गये और फिर मासोपवास स्थापित किया। फिर पारणा के दिन नगर मे आये तब हाथी का क्षोभ देख अन्तराय जानकर वापिस चले गये और फिर मासोपवास स्थापित किया। पीछे पारणा के दिन फिर नगर में आये तब जरासंध का पत्र आया था, उसके निमित्त से राजा व्यग्रचित्त था सो मुनि को पड़गाहा नहीं। तब अन्तराय करके वापिस वन

में जाते हुए उन्होंने लोगों के वचन सुने कि 'राजा मुनि को स्वयं तो आहार देता नहीं और दूसरों को देने से मना किया है।' लोगों के ऐसे वचन सुनकर मुनि ने राजा पर क्रोध करके निदान किया कि 'इस तप का मुझे यह फल हो कि मैं इस राजा का पुत्र होकर इसका निग्रह करके राज्य करूँ।'

इस प्रकार निदान करके वह मरा और राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती के गर्भ में आया, पूर्ण मास होने पर जन्म लिया तब इसको क्रूरद ष्टि देख कांसी की पेटी में स्थापित करके व त्तान्त के लेख सहित यमुना नदी में बहाया। तब कौशाम्बीपुर में मन्दोदरी नामक कलाली (मदिरा बेचने वाली) ने उसको लेकर पुत्रबुद्धि से पाला और कंस नाम दिया। वहाँ बड़ा हुआ तब बालकों के साथ कीड़ा करते समय यह सबको दुःख देता था। तब मंदोदरी ने उलाहनों के दुःख से इसको निकाल दिया तब यह कंस शौर्यपुर जाकर राजा वसुदेव के पयादा सेवक होकर रहा।

पीछे जरासंध प्रतिनारायण का पत्र आया कि 'पोदनपुर के राजा सिंहरथ को जो बाँधकर लायेगा उसके साथ आधे राज्य सहित पुत्री का विवाह करूँगा।' तब वसुदेव वहाँ कंस सहित जाकर युद्व करके सिंहरथ को बाँध लाया और उसे जरासंध को सौंप दिया। तब जरासंध ने उसे जीवंयशा पुत्री सहित आधा राज्य दिया। तब वसुदेव ने कहा कि 'सिंहरथ को कंस बाँधकर लाया है सो इसे इसको दो।' तब जरासंध ने इसका कुल जानने को मन्दोदरी को बुलाकर इसके कुल का निश्चय करके इसके साथ जीवंयशा पुत्री का विवाह किया तब कंस ने मथुरा का राज्य लेकर आकर पिता उग्रसेन राजा को और पद्मावती माता को बंदीखाने में डाला तथा पीछे क ष्ण नारायण से म त्यु को प्राप्त हुआ—इसकी कथा विस्तार से 'हरिवंशपुराण' आदि से जानना। इस प्रकार वशिष्ठ मुनि ने निदान से सिद्वि को नहीं पाया इसलिए भावलिंग से ही सिद्वि है।।४६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'भाव रहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है' :—

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि समणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ।। ४७।।

ऐसा न कोई प्रदेश लख, चौरासी योनि निवास में।
हो भाव विरहित श्रमण जहाँ पर, जीव यह घूमा न हो।।४७।।

अर्थ

इस संसार में जो चौरासी लाख योनियाँ हैं उनके वास में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्यलिंगी श्रमण होकर भी भाव रहित होते हुए भ्रमण न किया हो।

भावार्थ

द्रव्यलिंग धारण करके निर्ग्रंथ मुनि होकर शुद्धस्वरूप के अनुभव रूप भाव के बिना यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता ही रहा, ऐसा कोई स्थान नहीं रहा जिसमें नहीं जन्मा और नहीं मरा–ऐसा जानना।

चौरासी लाख योनियों के भेद इस प्रकार हैं-पथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद-ये तो सात-सात लाख हैं सो बयालिस लाख हुए तथा वनस्पति दस लाख हैं; दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय दो-दो लाख हैं; पंचेन्द्रिय तिर्यंच चार लाख, देव चार लाख, नारकी चार लाख और मनुष्य चौदह लाख-इस प्रकार चौरासी लाख हैं। ये जीवों के उत्पन्न होने के स्थान जानना।।४७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'द्रव्य मात्र से लिंगी नहीं होता है, भाव से लिंगी होता है' :–

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण।। ४४।।

हो भाव से ही लिंगी नहिं हो, लिंगी द्रव्य ही मात्र से।
इसलिए धारो भाव उस बिन, लिंग से क्या कीजिए।।४४।।

अर्थ

लिंगी होता है सो भावलिंग ही से होता है, द्रव्य मात्र से लिंगी नहीं होता-यह प्रकट है इसलिए भावलिंग ही धारण करना, द्रव्यलिंग से क्या सिद्ध होता है !

भावार्थ

आचार्य कहते हैं कि ''इसके सिवाय क्या कहें, भाव के बिना लिंगी नाम ही नहीं होता क्योंकि यह प्रकट है कि यदि भाव शुद्ध नहीं देखें तब लोक ही कहता है कि 'काहे का मुनि है, कपटी है' अतः द्रव्यलिंग से कुछ साध्य नहीं है, भावलिंग ही धारण करना योग्य है''।।४8।।

उत्थानिका

आगे इसी को द ढ़ करने के लिए द्रव्यलिंग धारक के उल्टा उपद्रव हुआ, इसका उदाहरण कहते हैं :–

दंडयणयरं सयलं दहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरयं णरयं ।। ४9।।

दंडक नगर सारा जलाकर, अन्तरंग के दोष से।
बाहू मुनि जिनलिंग धारी, नरक रौरव में गिरे।।४9।।

अर्थ

देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिनलिंग से सहित थे तो भी अभ्यंतर के दोष से समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध किया और सप्तम प थ्वी के रौरव नामक बिल में पड़े।

भावार्थ

द्रव्यलिंग धारण करके यदि कुछ तप करे और उससे कुछ सामर्थ्य बढ़े तब कुछ कारण पाकर क्रोध करके अपने और पर के उपद्रव करने का कारण बनावे **इसलिए द्रव्यलिंग भाव सहित धारण करना तो श्रेष्ठ है पर केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रव**

का कारण होता है[1]। इसका **उदाहरण बाहु मुनि का बताया जिनकी कथा इस प्रकार है**–दक्षिण दिशा में कुम्भकारकटक नगर में एक दंडक नामक राजा था, उसके बालक नाम मंत्री था, वहाँ अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि आये। उनमें एक खण्डक नामक मुनि थे जिन्होंने बालक नामक मंत्री को वाद में जीत लिया। तब मंत्री ने क्रोध करके एक भांड को मुनि का रूप धारण कराके राजा की रानी सुव्रता के साथ में रमते हुए राजा को दिखाया और कहा कि 'देखो, राजा के ऐसी भक्ति है जो अपनी स्त्री भी दिगम्बर को रमने के लिए दे दी है।' तब राजा ने दिगम्बरों पर क्रोध करके पाँच सौ मुनियों को घाणी में पिलवाया। वे मुनि उपसर्ग सहकर परम समाधि से सिद्धि को प्राप्त हुए।

पीछे उस नगर में बाहु नामक मुनि आये। उनको लोगों ने मना किया कि 'यहाँ का राजा दुष्ट है अतः तुम नगर में प्रवेश मत करो। पहिले भी उसने पाँच सौ मुनियों को घाणी में पेला है सो वह तुम्हारे साथ वैसा ही करेगा।' तब लोगों के वचनों से बाहु मुनि को क्रोध उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात से राजा और मंत्री सहित सारे नगर को भस्म किया। राजा और मंत्री सातवें नरक के रौरव नामक बिल में पड़े। बाहु मुनि भी मरकर वहाँ ही रौरव बिल में गिरे। इस प्रकार द्रव्यलिंग में भाव के दोष से उपद्रव होता है इसलिए भावलिंग का प्रधान उपदेश है।।४9।।

टि0-1. गाथा 34 में 'भावलिंग के बिना भी द्रव्यलिंग के पहले धारण करने की बात कही कि यदि इसका निषेध करोगे तो व्यवहार के लोप का दूषण आएगा।' यहाँ कह रहे हैं कि 'द्रव्यलिंग भाव सहित तो धारना श्रेष्ठ है और केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रव का कारण होता है।' तो अलग-अलग स्थल पर भिन्न-भिन्न विवक्षा होती है। यह विवेचन बाहु मुनि की कथा के प्रसंग में आया है अतः यहाँ यही विवेचन सही है कि 'द्रव्यलिंग धारकर कुछ तप करके सामर्थ्य बढ़ने पर क्रोध करके यह जीव अपना और पर का उपद्रव का कारण बना लेता है अतः द्रव्यलिंग भाव सहित ही धारना' पर गाथा 34 के अनुसार जो सही श्रद्धान करके द्रव्यलिंग धारकर भावलिंग सम्मुख उपयोग रख रहा है वह द्रव्यलिंग को धारण करके भावलिंग की सिद्धि करेगा न कि उपद्रव मचाएगा।
प्रकरण के व□ा से कहीं पर कोई कथन आचार्य करते हैं तो उसे सर्वथा किया गया नहीं समझना चाहिए। 'केवल द्रव्यलिंग उपद्रव का कारण होता है'-इस वचन से सर्वथा ऐसा न समह्ना कि इसलिए भावलिंग रहित द्रव्यलिंग धारना ही नहीं। गाथा 34 के भावार्थ को द□ष्टि में रखकर ही हमें इन कथनों का अर्थ समझना चाहिये।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ से सम्बन्धित **द्वीपायन मुनि का उदाहरण** कहते हैं :–

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणु त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ।। ५०।।

और एक दूजे द्रव्य साधु, थे द्वीपायन नाम के।
वर ज्ञान-दर्शन-चरण भ्रष्ट, अनन्त संसारी हुए।।५०।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि जैसे पहले बाहु मुनि का द ष्टान्त कहा वैसे ही एक और भी द्वीपायन नामक द्रव्यश्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हुए।

भावार्थ

पूर्व के समान द्वीपायन मुनि की कथा संक्षेप से इस प्रकार है–नौवें बलभद्र ने श्री नेमिनाथ तीर्थंकर से पूछा कि 'हे स्वामिन् ! यह द्वारिकापुरी समुद्र में है सो इसकी स्थिति कितने समय तक की है ?' तब भगवान ने कहा कि 'रोहिणी का भाई द्वीपायन, तेरा मामा, बारह वर्ष पीछे मद्य के निमित से क्रोध करके इस पुरी को दग्ध करेगा।' ऐसे वचन भगवान के सुनकर और निश्चय करके द्वीपायन दीक्षा लेकर पूर्व देश में चला गया तथा बारह वर्ष व्यतीत करने के लिए उन्होंने तप करना प्रारम्भ किया। बलभद्र नारायण ने द्वारिका में मद्य-निषेध की घोषणा कराई तब मद्य बनाने वालों ने मद्य के बर्तन तथा उसकी सामग्री बाह्य पर्वतादि में फैंक दी, तब बर्तन की तथा मद्य सामग्री की मदिरा जल के निवास स्थानों में फैली।

पीछे बारह वर्ष बीते जानकर द्वीपायन द्वारिका आकर नगर के बाहर आतापन योग से स्थित हुए, भगवान के वचन की प्रतीति नहीं रखी। फिर क्रीड़ा करते हुए शम्भव कुमार आदि ने प्यासे होकर कुण्डों में जल जानकर पिया तब उस मद्य के निमित्त से वे कुमार उन्मत्त हुए और वहाँ द्वीपायन मुनि को स्थित देखकर 'यह द्वारिका को दग्ध करने वाला द्वीपायन है' ऐसा कहकर उनका पाषाण आदि से

घात करने लगे तब द्वीपायन भूमि पर गिर पड़े और उन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ जिसके निमित्त से द्वारिका दग्ध हुई।

इस प्रकार द्वीपायन भावशुद्धि के बिना अनंत संसारी हुए।।५०।।

उत्थानिका

आगे भावशुद्धि सहित मुनि होकर जिन्होंने सिद्धि पाई उन जम्बूस्वामी पूर्व भवधारी शिवकुमार मुनि का उदाहरण कहते हैं :–

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेढिओ य सुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीतसंसारिओ जादो।। ५१।।

युवतिजनों से घिरे धीर, विशुद्धबुद्धी भावमुनि।
था नाम जिनका शिवकुमार, परीत संसारी हुए।।५१।।

अर्थ

विशुद्धबुद्धि और धीर-वीर शिवकुमार नामक भावश्रमण स्त्रीजनों से घिरे हुए होने पर भी संसार का पार पा गये।

भावार्थ

भाव की शुद्धता से ब्रह्म स्वर्ग में विद्युन्माली देव होकर और वहाँ से चयकर जम्बूस्वामी केवली होकर जिन्होंने मोक्ष पाया, उन **शिवकुमार की कथा इस प्रकार है**–इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के वीतशोकपुर में महापद्म राजा एवं वनमाला रानी के शिवकुमार नामक पुत्र हुआ सो वह एक दिन मित्र सहित क्रीड़ा करके नगर में आ रहा था। उसने मार्ग में पूजा की साम्रगी ले जाते हुए लोगों को देखा तब मित्र से पूछा कि 'ये कहाँ जा रहे है?' मित्र ने कहा कि 'ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनि को पूजने के लिए वन में जा रहे हैं।' तब शिवकुमार ने मुनि के पास जाके अपने पूर्व भव सुनकर संसार से विरक्त हो दीक्षा ले ली और द ढ़धर्म नामक श्रावक के घर प्रासुक आहार लिया। उसके बाद स्त्रियों के निकट परम ब्रह्मचर्य रूप असिधारा व्रत को पालते हुए बारह वर्ष तक तप कर

अन्त में संन्यासमरण करके वह ब्रह्म स्वर्ग में विद्युन्माली देव हुआ और वहाँ से चयकर जम्बूकुमार हुए सो दीक्षा ले केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गए।

इस प्रकार भावमुनि शिवकुमार ने मोक्ष पाया। इनकी विस्तार सहित कथा 'जम्बूचारित्र' में है सो वहाँ से जानना। **ऐसे भावलिंग प्रधान है**।।५१।।

उत्थानिका

आगे शास्त्र भी पढ़े परन्तु सम्यग्दर्शनादि रूप भावविशुद्धि न हो तो सिद्धि को नहीं पाता, इसका उदाहरण अभव्यसेन का कहते हैं :–

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसांग पुण्णसुदणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसमणत्तणं पत्तो[1]।। ५२।।

टि0- 1. 'श्रु0 टी0' में यह गाथा, उसकी सं0 छाया व टीकार्थ निम्न प्रकार हैं–

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो।। 52।।

अंगानि द□ा च द्वे च चतुर्द□ापूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठित□च भव्यसेन: न भावश्रमणत्वं प्राप्त:।। 52।।

टीकार्थ-भव्यसेन मुनि बारह अंग तथा चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुत का पाठी होने पर भी भावश्रमणत्व को प्राप्त न कर सका और जैन सम्यक्त्व के बिना अनन्त संसारी हुआ। भव्यसेन मुनि ने ग्यारह अंगों को तो □ाब्द तथा अर्थ दोनों रूप से पढ़ा तथा उसके बल से बारहवें अंग के चौदह पूर्वों को वह अर्थमात्र से जानता था, इसी से कुन्दकुन्द आचार्य ने उसे सकल श्रुत का पाठी कह दिया है-ऐसा जानना चाहिए, अन्यथा सकल श्रुत को पढ़ने वाला पुरुष संसार में नहीं पड़ता-ऐसा आगम है।

'म0 टी0' में 'श्रु0 टी0' के गाथा के प्रथम पंक्ति के पाठ को अनुचित जानकर स्वीकार न करके 'केवलिजिणपण्णत्तं एयारसअंग सयलसुदणाणं' पाठ को ही उचित जानकर लिया गया है।

इसके अतिरिक्त 'श्रु0 टी0' में मुनि का नाम जहाँ 'भव्यसेन' है वहाँ 'मूल प्रति' में 'अभव्यसेन' है। इस भेद का कारण बताते हुए 'म0 टी0' में लिखा है कि "उन मुनि को दीक्षाकाल में दिया गया मूल नाम तो 'भव्यसेन' था परन्तु उनका आगम विरुद्ध आचरण देखकर क्षुल्लक जी ने उनका नाम 'अभव्यसेन' रख दिया था। अत: दोनों ही पाठ उचित हैं।" परन्तु प्रकरण की द□ष्टि से दोनों पर विचार करने पर 'अभव्यसेन' पाठ ही उन्हें अधिक उत्तम लगा है अत: 'म0 टी0' में उन्होंने इसे ही स्वीकार किया है।

केवलि कथित एकादशांगमयी, सकल श्रुतज्ञान को।
पढ़के भी साधु अभव्यसेन, न पाया भावश्रमणपना।।५२।।

अर्थ

अभव्यसेन नामक द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान के द्वारा प्ररूपित ग्यारह अंग पढ़े तथा ग्यारह अंग को पूर्ण श्रुतज्ञान भी कहते हैं क्योंकि इतना पढ़ने वाले को अर्थ की अपेक्षा पूर्ण श्रुतज्ञान भी हो जाता है। अभव्यसेन ने इतना पढ़ा तो भी वे भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए।

भावार्थ

यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जानेगा कि 'बाह्य किया मात्र से तो सिद्धि नहीं होती परन्तु शास्त्र के पढ़ने से तो सिद्धि है' तो उसका यह भी जानना सत्य नहीं है क्योंकि शास्त्र पढ़ने मात्र से भी सिद्धि नहीं होती। अभव्यसेन द्रव्यमुनि भी हुए और ग्यारह अंग भी पढ़े तो भी उन्हें क्योंकि जिनवचनों की प्रतीति नहीं हुई अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई इसलिए भावलिंग नहीं पाया। अभव्यसेन की कथा पुराणों में प्रसिद्व है वहाँ से जानना।।५२।।

उत्थानिका

आगे शास्त्र पढ़े बिना शिवभूति मुनि ने 'तुषमाष' शब्द को घोखते हुए ही भाव की विशुद्धि को पाकर मोक्ष पाया, उनका उदाहरण कहते हैं :–

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।।५३।।

शिवभूति नामक श्रमण, भावविशुद्ध महानुभाव हो।
तुषमाष पद को घोखते, हुए प्रकट केवलज्ञानी वे।।५३।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'शिवभूति नामक मुनि हैं सो शास्त्र को पढ़े बिना ही

'तुषमाष' ऐसे शब्द को घोखते हुए भाव से विशुद्ध महानुभाव होकर केवलज्ञानी हुए-यह प्रकट है।'

भावार्थ

कोई जानेगा कि 'शास्त्र पढ़ने से ही सिद्धि है' तो ऐसा भी नहीं है। 'तुषमाष' ऐसा शब्द मात्र ही रटते हुए भाव की विशुद्धि से जिन्होंने केवलज्ञान पाया उन **शिवभूति मुनि की कथा इस प्रकार है**—कोई शिवभूति नामक मुनि थे, वे गुरु के पास शास्त्र पढ़ते थे पर धारणा होती नहीं थी तब गुरु ने 'मा रुष, द्वेष मा तुष' ये शब्द पढ़ाये सो वे इन शब्दों को घोखने लगे। इनका अर्थ यह है कि 'रोष मत कर और तोष मत कर अर्थात् राग-द्वेष मत कर', इससे सर्व सिद्धि है। फिर ये भी शब्द उन्हें शुद्ध याद नही रहे तब 'तुषमाष' ऐसा पाठ घोखने लगे, दोनों पदों के 'रुकार माकार' का विस्मरण हो गया और 'तुषमाष' ऐसा याद रहा। उसको घोखते हुए विचरण करने लगे तब कोई एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी, उससे किसी ने पूछा कि 'तू क्या कर रही है ?' तब उसने कहा-'तुष (छिलका) और माष (दाल) न्यारे-न्यारे कर रही हूँ।' **तब मुनि ने यह सुनकर 'तुषमाष' शब्द का भावार्थ ऐसा जाना कि 'यह शरीर तो तुष है और यह आत्मा माष है, दोनों भिन्न हैं, न्यारे-न्यारे हैं'-ऐसा भाव जान आत्मा का अनुभव करने लगे तथा चिन्मात्र शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीन हुए तब घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उपजाया। इस प्रकार भाव की विशुद्धि से सिद्धि हुई जानकर भाव शुद्ध करना-यह उपदेश है।।५३।।**

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को सामान्य से कहते हैं :—

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण।। ५४।।

हो भाव से ही नग्न, बाहिरी लिंग से क्या कार्य हो।
हो नाश कर्म प्रक ति समूह का, भाव एवं द्रव्य से।।५४।।

अर्थ

भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्नलिंग से क्या कार्य होता है अर्थात् नहीं होता क्योंकि भाव सहित द्रव्यलिंग से कर्मप्रक ति के समूह का नाश होता है।

भावार्थ

कर्मप्रक ति का नाश करके निर्जरा तथा मोक्ष प्राप्त करना आत्मा का कार्य है सो यह कार्य द्रव्यलिंग ही से तो नहीं होता[1]। भाव सहित द्रव्यलिंग के होने पर कर्म की निर्जरा नामक कार्य होता है, केवल द्रव्यलिंग से तो नहीं इसलिए भाव सहित द्रव्यलिंग धारण करना–यह उपदेश है।।५४।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करते हैं :–

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर!।। ५५।।

नग्नत्व भावविहीन के जिन, कार्यकारी ना कहा।
यह जानकर हे धीर ! तुम, आत्मा को भाओ नित्य ही।।५५।।

अर्थ

भावरहित नग्नपना है सो अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है–यह जिन भगवान ने कहा है, ऐसा जानकर हे धीर ! हे धैर्यवान मुनि ! तू निरन्तर नित्य आत्मा ही की भावना भा।

भावार्थ

आत्मा की भावना के बिना केवल नग्नपना कुछ कार्य करने वाला नहीं है इसलिए चिदानंदस्वरूप आत्मा ही की भावना निरन्तर करनी, इस सहित ही नग्नपना सफल होता है।।५५।।

टि0-**1.** 'श्रु0 टी0' में भी इसकी अच्छी विवेचना की है कि 'केवल बाह्य लिंग रूप नग्न मुद्रा ध ारण करने से कुछ भी मोक्ष लक्षण कार्य सिद्ध नहीं होता, वह तो भाव और द्रव्य-दोनों लिंगों के धारण करने से ही होता है।'

उत्थानिका

आगे **शिष्य पूछता है** कि 'भावलिंग को प्रधान करके निरूपण किया सो भावलिंग कैसा है ?' इसका **समाधान** करने के लिए भावलिंग का निरूपण करते हैं :–

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू।।५६।।

देहादि संग रहित सकल, मानादि से भी मुक्त है।
आत्मा में रत है आत्म जिसका, भावलिंगी साधु वह।।५६।।

अर्थ

भावलिंगी साधु ऐसा होता है कि देहादि समस्त परिग्रह से तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है वह आत्मा भावलिंगी है।

भावार्थ

आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को भाव कहते हैं, उसमयी लिंग अर्थात् चिन्ह, लक्षण तथा रूप का होना सो भावलिंग है। आत्मा अमूर्तिक चेतना रूप है, उसका परिणाम दर्शन-ज्ञान है, उसमें कर्म के निमित्त से बाह्य में तो शरीरादि मूर्तिक पदार्थों का सम्बन्ध है और अन्तरंग में मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि कषायों का भाव है इसलिए कहा है कि 'बाह्य में तो देहादि परिग्रह से रहित और अन्तरंग में रागादि परिणामों में अहंकार रूप मानकषाय अर्थात् परभावों में अपनापना मानने रूप भाव से रहित हो और अपने दर्शन-ज्ञान रूप चेतना भाव में लीन हो सो भावलिंग है और यह भाव जिसके होता है वह भावलिंगी साधु है'।।५६।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को स्पष्ट करके कहते हैं :–

अनुष्टुप छंद

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। ५७।।

हो विरत भाव ममत्व, निर्मम भाव में स्थित रहूँ ।
अवलम्बता हूँ आत्म को, अवशेष सबका त्याग है।।५७।।

अर्थ

भावलिंगी मुनि के ऐसे भाव होते हैं कि 'मैं परद्रव्यों और परभावों से ममत्व अर्थात् उन्हें अपना मानना छोड़ता हूँ तथा मेरा निजभाव जो कि ममत्व रहित है उसको अंगीकार करके स्थित होता हूँ। अब मुझे अपनी आत्मा ही का अवलंबन है, अवशेष परद्रव्य सम्बन्धी सारे ही आलम्बनों को मैं छोड़ता हूँ।

भावार्थ

सर्व परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर अपने आत्मस्वरुप में स्थित हो-ऐसा भावलिंग होता है।।५७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग, संवर और योग–ये जो भाव भावलिंगी मुनि के होते हैं वे अनेक हैं तो भी आत्मा ही हैं इसलिए इनसे भी अभेद का अनुभव करते हैं' :–

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।। ५८।।

मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन-चरित में आतमा।
आत्मा ही प्रत्याख्यान-संवर, योग में भी आतमा।।५८।।

अर्थ

भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि 'मेरे जो **१.ज्ञान** भाव प्रकट है उसमें आत्मा ही की भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है सो आत्मा ही है, ऐसे ही **२.दर्शन**

में भी आत्मा ही है, जो **३.चारित्र** है वह ज्ञान में स्थिरता का होना है सो इसमें भी आत्मा ही है, **४.प्रत्यारव्यान** आगामी परद्रव्य का सम्बन्ध छोड़ना है सो इस भाव में भी आत्मा ही है, **५.संवर** परद्रव्य के भाव रूप न परिणमना है सो इस भाव में भी मेरे आत्मा ही है तथा **६.योग** नाम एकाग्र चिंता रूप समाधि–ध्यान का है सो इस भाव में भी आत्मा ही है।'

भावार्थ

ज्ञानादि कुछ न्यारे पदार्थ तो हैं नहीं, आत्मा ही के भाव हैं, संज्ञादि के भेद से वे न्यारे कहे जाते हैं, वहाँ अभेद द ष्टि से देखें तो ये सारे भाव आत्मा ही हैं इसलिए भावलिंगी मुनि अपने को इनसे अभेद रूप अनुभव करते हैं। भेद रूप अनुभव में तो विकल्प हैं और निर्विकल्प अनुभव से सिद्धि है-यह जानकर वे ऐसा करते हैं।।५४।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करते हुए कहते हैं :–

अनुष्टुप छंद

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।। ५५।।

मेरा है शाश्वत एक दर्शन, ज्ञान लक्षण जीव जो।
संयोग लक्षण भाव शेष जो, सभी मुझसे बाह्य हैं।।५५।।

अर्थ

भावलिंगी मुनि विचार करते हैं कि 'ज्ञान-दर्शन है लक्षण जिसका ऐसा और शाश्वत-नित्य जो आत्मा है सो ही एक मेरा है अन्य शेष जो भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोगस्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।'

भावार्थ

'ज्ञान-दर्शन रूप नित्य एक आत्मा है सो तो मेरा रूप है, तादात्म्यस्वरूप है और अन्य जो परद्रव्य हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब संयोगस्वरूप हैं, भिन्न हैं'-यह भावना भावलिंगी मुनि के होती है।।५७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि मोक्ष चाहते हो तो ऐसी आत्मा की भावना करो' :–

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छइ सासयं सुक्खं।। ६०।।

तुम भावशुद्धि से भाओ रे, सुविशुद्ध निर्मल आत्म को ।
गति चार को यदि छोड़ शीघ्र ही, चाहते सुख शाश्वता।।६०।।

अर्थ

हे मुनिजनों ! यदि चार गति रूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत सुख रूप मोक्ष तुम चाहते हो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय से विशुद्ध निर्मल आत्मा को भाओ।

भावार्थ

यदि संसार से निव त्त होकर मोक्ष चाहते हो तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा को भाओ–ऐसा उपदेश है।।६०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो आत्मा के स्वभाव को जानकर उसकी भावना भाता है सो वह मोक्ष पाता है' :–

जो जीवं भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। ६१।।

जो जीव जीवस्वभाव को, भावे सुभाव से युक्त हो।
कर जरा-मरण का नाश वह, पावे प्रकट निर्वाण को।।६१।।

अर्थ

जीव की भावना करता हुआ जो भव्य पुरुष जीव का स्वभाव जानकर भले भाव से संयुक्त हुआ उसे भाता है वह जरा-मरण का विनाश करके प्रकट निर्वाण को पाता है।

भावार्थ

'जीव' ऐसा नाम तो लोक में प्रसिद्ध है परन्तु इसका स्वभाव क्या है-ऐसा लोक को यथार्थ ज्ञान नहीं है और मतान्तर के दोष से इसका स्वरूप विपरीत हो रहा है इसलिए इसका यथार्थ स्वरूप जानकर जो भाते हैं वे संसार से निर्वृत्त होकर मोक्ष पाते हैं।।६१।।

उत्थानिका

आगे जीव का स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है सो कहते हैं :–

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्ते।। ६२।।

जो चेतना से युक्त, ज्ञान स्वभावमय जिन ने कहा।
उस जीव को जानो करम का, नाशकरण निमित्त तुम।।६२।।

अर्थ

जिन सर्वज्ञदेव ने जीव का स्वरूप ऐसा कहा है कि 'जीव है सो चेतना सहित है तथा ज्ञान स्वभावी है।' ऐसे जीव की भावना भाना कर्म क्षय के निमित्त जानना।

भावार्थ

जीव के 'चेतना सहित' विशेषण से तो **चार्वाक्** जो कि 'जीव को चेतना सहित नहीं मानता है' उसका निराकरण है और 'ज्ञान स्वभाव' विशेषण से **सांख्यमती** जो

कि 'ज्ञान को प्रधान का धर्म और जीव को उदासीन नित्य चेतना रूप मानता है' उसका तथा **नैयायिकमती** जो कि 'गुण-गुणी का भेद मानकर जीव से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानता है' उसका निराकरण है। ऐसे जीव के स्वरूप का भाना कर्म के क्षय के निमित्त होता है, अन्य प्रकार से भाया हुआ मिथ्या भाव है।।६२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं' :–

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा।। ६३।।

है जीव का सद्भाव जिनके, नहिं अभाव है सर्वथा।
वे सिद्ध होते देहविरहित, वचनविषयातीत रे।।६३।।

अर्थ

जिन भव्य जीवों के जीव नामक पदार्थ सद्भाव रूप है और सर्वथा अभावस्वरूप नहीं है वे भव्य जीव देह से भिन्न सिद्ध होते हैं। कैसे हैं वे सिद्ध–वचन के अगोचर हैं।

भावार्थ

जीव है सो द्रव्यपर्याय स्वरूप है सो कथंचित् अस्तिरूप है, कथंचित् नास्ति रूप है, इनमें पर्याय अनित्य है। इस जीव के कर्म के निमित्त से मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्याय होती है,उसका कदाचित् अभाव देखकर जो जीव का सर्वथा अभाव मानता है उसे संबोधने को ऐसा कहा है कि जीव का द्रव्यद ष्टि से नित्य स्वभाव है। पर्याय का अभाव होने पर जो सर्वथा अभाव नही मानते हैं वे देह से भिन्न होकर सिद्ध होते हैं जो कि सिद्ध वचनगोचर नहीं हैं, और जो देह को नष्ट होते देखकर जीव का सर्वथा नाश मानते हैं वे मिथ्याद ष्टि हैं, वे सिद्ध कैसे होंगे अर्थात् नहीं होंगे।।६३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जीव का स्वरूप वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य है सो ऐसा है' :–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं[1]।। ६४।।

है अरस-रूप-अगंध-शब्द, अव्यक्त-चेतनगुणमयी।
औ अलिंगग्रहण है जीव अरु, संस्थान नहिं निर्दिष्ट है।।६४।।

अर्थ

हे भव्य ! तू **जीव का स्वरूप** ऐसा जान। कैसा है–**१.'अरस'** अर्थात् पाँच प्रकार के रस से रहित है, **२.'अरूप'** अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है, **३.अगंध** अर्थात् दो प्रकार की गंध से रहित है, **४.'अव्यक्त'** अर्थात् इन्द्रियों के गोचर व्यक्त नहीं है तथा **५.जिसमें चेतना गुण है, ६.'अशब्द'** अर्थात् शब्द से रहित है, **७.'अलिंगग्रहण'** अर्थात् स्त्री-पुरुष आदि किसी अन्य चिन्ह से ग्रहण में नहीं आता तथा **८.'अनिर्दिष्टसंस्थान'** अर्थात् चौकोर एंव गोल आदि जिसका कोई आकार कहा नहीं जाता–ऐसा जीव जानो।

भावार्थ

रस, रूप, गंध और शब्द ये तो पुद्गल के गुण हैं, इनका निषेध रूप जीव कहा तथा जो अव्यक्त, अलिंगग्रहण एवं अनिर्दिष्टसंस्थान कहा सो ये भी पुद्गल के

टि0-**1.** 'समयसार जी' में क्रमांक 49 व 'नियमसार जी' में क्रमांक 43 गाथा भी यही है। 'वी0 प्रति' में यह गाथा इसी भावपाहुड़ में क्रमांक 149 पर दोबारा आई है परन्तु वहाँ पर इस गाथा के 'चेयणागुणमसद्दं' पाठ के स्थान पर 'चेयणाइ णिहणो य' एवं 'जाणमलिंगग्गहणं' के स्थान पर 'दंसणणाणुवओगे' पाठ है। इसी प्रकार अगली 65 नं0 की गाथा भी 'वी0 प्रति' में इसी भावपाहुड में क्रमांक 98 पर दोबारा दी गई है पर वहाँ प्रथम पंक्ति में 'सिग्घं' की जगह 'खिप्पं' (सं0-क्षिप्रं) एवं दूसरी पंक्ति में 'सहियं' की जगह 'भविओ' पाठ है। इस प्रकार वहाँ यहाँ की यह चौंसठ व पैंसठवीं गाथा कुछ □ाब्दों की भिन्नता सहित दो बार दी जाने से उसमें भावपाहुड की कुल गाथाओं की संख्या 165 के स्थान पर 167 हो गई है।

स्वभाव की अपेक्षा से निषेध रूप ही जीव है और चेतनागुण कहा सो यह जीवका विधि रूप कहा। सो निषेध की अपेक्षा तो वचन के अगोचर जानना और विधि की अपेक्षा स्वसंवेदनगोचर जानना-इस प्रकार जीव का स्वरुप जानकर अनुभवगोचर करना। यह गाथा समयसार और प्रवचनसार ग्रंथ में भी है वहाँ इसका व्याख्यान टीकाकार ने विशेष रूप से कहा है सो जानना।।६४।।

उत्थानिका

आगे जीव का स्वभाव ज्ञानस्वरूप भाना कहा सो वह ज्ञान कितने प्रकार का भाना सो कहते हैं :–

भावह पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहियं दिवसिवसुहभायणो होइ।। ६५।।

अज्ञाननाशक ज्ञान पंच, प्रकार भाओ शीघ्र ही।
भावनाभावित भावयुत, सुर-मोक्ष सुख का पात्र हो।।६५।।

अर्थ

हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच प्रकार का भा। कैसा है यह ज्ञान-अज्ञान का नाश करने वाला है। **कैसा होकर भा**-भावना से भावित जो भाव उस सहित होकर भा। **और कैसे भा**-शीघ्र भा, जिससे तू 'दिव' अर्थात् स्वर्ग और 'शिव' अर्थात् 'मोक्ष' उसका भाजन हो।

भावार्थ

ज्ञान यद्यपि जाननस्वभाव से एक प्रकार का है तो भी कर्म के क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा पाँच प्रकार का हुआ है, उसमें भी मिथ्यात्व भाव की अपेक्षा से मति, श्रुत और अवधि-ये तीन मिथ्या कहे गये हैं सो मिथ्याज्ञान का अभाव करने के लिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वरूप इन पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान जानकर भाना। परमार्थ के विचार से ज्ञान एक ही प्रकार का है। यह ज्ञान की भावना स्वर्ग-मोक्ष की दाता है।।६५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पढ़ना–सुनना भी भाव के बिना कुछ है नहीं' :–

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं[1] ।। ६६।।

बिन भाव पढ़ने से किंवा, सुनने से क्या होता अरे !।
सागार-अनगारत्व का, कारणस्वरूप तो भाव है।।६६।।

अर्थ

भाव रहित पढ़ने और सुनने से क्या होता है अर्थात् वे कुछ भी कार्यकारी नहीं है क्योंकि श्रावकपने तथा मुनिपने का कारणभूत भाव ही है।

भावार्थ

मोक्षमार्ग में एकदेश और सर्वदेश व्रतों की प्रव त्ति रूप जो श्रावक-मुनिपना है उन दोनों का कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शनादि भाव हैं, सो भाव के बिना व्रत, क्रिया की केवल कथनी ही कुछ कार्यकारी नहीं है इसलिए ऐसा उपदेश है कि 'भाव के बिना पढ़ने और सुनने आदि से क्या किया जाये, केवल प्रयास मात्र है इसलिए भाव सहित ही कुछ करो तो सफल है।' **यहाँ ऐसा आशय है कि 'यदि कोई जाने कि पढ़ना-सुनना ही ज्ञान है तो ऐसा नहीं है, पढ़-सुनके अपने को ज्ञानस्वरूप जानकर अनुभव करने पर भाव जाना जाता है इसलिए बार-बार भावना करके भाव लगाने पर ही सिद्धि है'।।६६।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि बाह्य नग्नपने ही से सिद्धि हो तो नग्न तो सारे ही होते हैं' :–

टि0-1.'म0 टी0' में पंक्ति में आए हुए इस 'सायारणयारभूदाणं' पाठ की सं0 'साकारानाकारभूतानां' देकर पूरी पंक्ति का अर्थ किया है-'साकार अर्थात् ज्ञान परिणाम और अनाकार अर्थात् द□न परिणाम-इन दोनों ही गुणों की वि□ुद्धि का कारण श्रद्धानरूप वि□ुद्ध भाव अर्थात् परिणाम है।'

दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।। ६७।।

होते नगन तिर्यंच-नारक, द्रव्य से सब जीव ही।
पर भाव शुद्ध नहीं अतः, पाते न भावश्रमणपना।।६७।।

अर्थ

द्रव्य से बाह्य में तो सब प्राणी नग्न होते हैं जिनमें नारकी और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं तथा 'सकलसंघात' कहने से अन्य जो मनुष्य आदि वे भी कारण पाकर नग्न होते हैं वे भी परिणामों से अशुद्ध होते हैं इसलिए भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ

यदि नग्न रहने से ही मुनिलिंग होता होता तो नारकी और तिर्यंच आदि सकल जीवसमूह जो नग्न रहते हैं वे सब ही मुनि ठहरते परन्तु मुनिपना तो भाव शुद्ध होने पर ही होता है, जब तक भाव अशुद्ध रहते हैं तब तक द्रव्य से नग्न भी हो तो भी भावमुनिपना नहीं पाता।।६७।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए केवल नग्नपने को निष्फल दिखाते हैं :–

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।। ६८।।

जिनभावनावर्जित नगन, पाता न सम्यग्ज्ञान को।
संसार सागर घूमता, पाता दुःखों को सर्वदा।।६८।।

अर्थ

नग्न है सो सदा दुःख पाता है, नग्न है सो सदा संसार-समुद्र में भ्रमण करता है तथा नग्न है सो 'बोधि' अर्थात् सम्यग्ज्ञान को नहीं पाता। कैसा है वह

नग्न-जिनभावना से रहित है।

भावार्थ

'जिनभावना'[1] जो सम्यग्दर्शन भावना उससे रहित जो जीव है वह नग्न भी रहे तो भी 'बोधि' अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को क्योंकि नहीं पाता इसी कारण संसार–समुद्र में भ्रमता हुआ दुःख ही को पाता है तथा वर्तमान में भी जो मनुष्य नग्न होता है वह दुःख ही को पाता है, सुख तो जो भावमुनि नग्न हों वे ही पाते हैं।।६८।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि 'जो द्रव्यनग्न होकर मुनि कहलाता है उसका अपयश होता है' :–

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण[2]।
पेसुण्ण हास मच्छर मायाबहुलेण सवणेण[3]।। ६9।।

क्या साध्य है इस अयशभाजन, पापयुत नग्नत्व से।
बहु हास्य, मत्सर, पिशुनता, मायाभरित श्रमणत्व से।।६9।।

अर्थ

हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है ! कैसा है वह

टि0-1. 'म0टी0' में 'कर्मजयन□ीला रत्नत्र्यात्मक वि□ुद्धात्मस्वरूप चिन्तनरूप भावना' को 'जिनभावना' कहा है।

2. 'श्रु0 टी0' में इस पद का अर्थ 'पापवन्मलिन' करके कहा है कि 'तेरा यह नाग्न्य वेष पाप के समान मलिन है' **अथवा** 'पाप' को स्वतन्त्र सम्बोधन पद बनाकर यह भी अर्थ हो सकता है कि 'अरे पाप ! अरे पापमूर्ति ! तेरा यह नाग्न्य पद अतिचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम से सहित होने के कारण मलिन है, इससे तुझे क्या प्राप्त होगा !'

3. 'म0 टी0' में इस □ाब्द की सं0–'स्रवणेन' करके अर्थ किया है कि 'वह नग्नपणां–द्रव्यलिंग कर्मो के आस्रव का निमित्तकारण है अथवा भावास्रव रूप है।'

मुनिपना-'पैशुन्य' अर्थात् दूसरे के दोष कहने का स्वभाव, 'हास्य' अर्थात् अन्य की हँसी करना, 'मत्सर' अर्थात् अपनी समानता वाले से ईर्ष्या रखकर उसको नीचा गिराने की बुद्धि और 'माया' अर्थात् कुटिल परिणाम आदि भाव जिसमें बहुत प्रचुर हैं और इसी कारण से कैसा है-पाप से मलिन और 'अयश' अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है।

भावार्थ

पैशुन्य आदि पापों से मैले नग्नपने स्वरूप मुनिपने से क्या साध्य है, उल्टे अपकीर्ति का भाजन होकर व्यवहार धर्म की हँसी कराने वाला होता है इसलिए भावलिंगी होना योग्य है—यह उपदेश है।।६७।।

उत्थानिका

आगे 'ऐसा भावलिंगी होना'—यह उपदेश करते हैं :—

पयडय जिणवरलिंगं अब्भंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मइलियइ।।७०।।

हो शुद्ध अन्तर भावमल से, कर प्रकट जिनलिंग को।
हो बाहिरी संग से मलिन, यदि भावमल से युक्त हो।।७०।।

अर्थ

हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध 'जिनवरलिंग' अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग प्रकट कर। भावशुद्धि के बिना द्रव्यलिंग बिगड़ जायेगा क्योंकि भावमल सहित जीव बाह्य के परिग्रह से मलिन हो जाता है।

भावार्थ

यदि भावों को शुद्ध करके द्रव्यलिंग धारण करे तब तो भ्रष्ट नहीं होता और यदि भाव मलिन हों तो बाह्य में भी परिग्रह की संगति से द्रव्यलिंग को भी बिगाड़ लेता है इसलिए प्रधान रूप से भावलिंग ही का उपदेश है। भावशुद्धि

के बिना बाह्य वेष धारण करना योग्य नहीं है[1]।।७०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'भाव रहित नग्न मुनि हास्य का स्थान है' :–

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो[2] णडसवणो णग्गरूवेण।। ७१।।

है धर्म में नहीं वास, दोषावास इक्षुपुष्प सम।
नटश्रमण निष्फल निर्गुणी, है नग्नवेषी वह मुनि।।७१।।

अर्थ

'धर्म' अर्थात् अपना स्वभाव तथा दशलक्षणस्वरूप उसमें जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा उसमें दोष बसते हैं। वह ऐसे गन्ने के फूल के समान है जिसमें कोई भी फल और कुछ भी सुंगधादि गुण नहीं होते। ऐसा मुनि नग्न रूप में 'नटश्रमण' अर्थात् नाचने वाले भांड के स्वांग सारिखा होता है।

भावार्थ

जिसका धर्म में वास नहीं उसमें क्रोधादि दोष ही बसते हैं और यदि दिगम्बर रूप धारण करे तो वह मुनि इक्षु के फूल के समान निर्गुण और निष्फल है। ऐसे मुनि के मोक्ष रूपी फल नहीं लगता और सम्यग्ज्ञानादि गुण उसमें नहीं हैं अतः नग्न हुए भांड का सा स्वांग दीखता है। सो भी भांड यदि नाचे तो श्रं गारादि करके

टि0-1. यहाँ जो ऐसा कहा कि 'भाव □ुद्ध बिना बाह्य भेष धारना योग्य नहीं है।' यही भाव भावपाहुड़ में गाथा 49 भा0, 73 अर्थ, भा0 व 90 और 112 में भी दिया गया है पर इसके साथ हमें गा0 34 भा0 को नहीं भूलना चाहिये जिसके भावलिंग के बिना भी पहले द्रव्यलिंग धारने का निषेध करने को दोष बताया है। स्याद्वादी जैनागम की अलग-अलग स्थल की अलग-अलग विवक्षा को हमें यथावत् समझ कहीं पर भी एकान्त को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

2. 'म0 टी0' में णिप्फल णिग्गुणयारो-ऐसे दो पद दिए हैं एवं 'णिग्गुणयारो' की सं0-'निर्गुणचारः' देकर अर्थ किया है कि 'उस नटश्रमण का आचार निर्गुण है अर्थात् वह गुण□ून्य-परिणामवि□ुद्धि □ून्य बाह्य चारित्र का पालन करने वाला है।'

नाचे तब शोभा को पावे परन्तु यदि नग्न होकर नाचे तब तो हास्य को ही पावे वैसे केवल द्रव्य से नग्न हास्य का स्थानक है।।७१।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ के समर्थन रूप कहते हैं कि 'द्रव्यलिंगी जिनमार्ग में जैसी बोधि-समाधि कही है वैसी नहीं पाते हैं' :–

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले।।७२।।

जो राग परिग्रह युक्त जिनभावनाविरहित द्रव्यमुनि।
वे विमल जिनशासन विषैं, नहीं पाते बोधि-समाधि को।।७२।।

अर्थ

जो मुनि 'राग' अर्थात् अभ्यन्तर परद्रव्य से प्रीति रूप 'संग' अर्थात् परिग्रह से युक्त हैं तथा 'जिनभावना' अर्थात् शुद्ध स्वरूप की भावना से रहित हैं वे यद्यपि द्रव्य से निर्ग्रन्थ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में 'समाधि' अर्थात् धर्म-शुक्ल ध्यान और 'बोधि' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग को नही पाते हैं।

भावार्थ

द्रव्यलिंगी अभ्यन्तर का राग छोड़ते नहीं और परमात्मा की भावना भाते नहीं तब कैसे तो मोक्षमार्ग को पावें तथा कैसे समाधिमरण को पावें !।।७२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पहले मिथ्यात्व आदि दोष छोड़कर भाव से अन्तरंग नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि होवे-यह मार्ग है' :–

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।।७३।।

पहले हो भाव से नग्न मुनि, मिथ्यात्व आदिक दोष तज।
प्रकटावे पीछे द्रव्य लिंग, जिनेन्द्र की आज्ञा यही।।७३।।

अर्थ

पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अन्तरंग नग्न हो एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य लिंग जिन आज्ञा के अनुसार प्रकट करे-यह मार्ग है।

भावार्थ

भाव शुद्ध हुए बिना पहले ही दिगम्बर रूप धारण कर ले तो पीछे भाव बिगड़े तब भ्रष्ट हो जाये और भ्रष्ट होकर भी मुनि कहलाया करे तो मार्ग की हँसी करावे इसलिए जिन आज्ञा यह ही है कि 'भाव शुद्ध करके बाह्य में मुनिपना प्रकट करो'।।७३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'शुद्ध भाव स्वर्ग-मोक्ष का कारण है और मलिन भाव संसार का कारण है' :-

भावो वि दिव्वसिवसुखभायणो भाववज्जिओ समणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो।।७४।।

हो भाव से ही दिव्य-शिव सुख, भाववर्जित श्रमण जो।
तिर्यंच गति स्थान, पापी, कर्ममल से मलिन वो।।७४।।

अर्थ

जो भाव से युक्त है सो ही स्वर्ग-मोक्ष सुख का पात्र है तथा जो भाव से वर्जित श्रमण

है सो पापस्वरूप है, तिर्यंच गति का स्थानक और कर्ममल से मलिन चित्त वाला है।

भावार्थ

जो भाव से शुद्ध है वह तो स्वर्ग-मोक्ष का पात्र है और जो भाव से मलिन है वह तिर्यंचगति में निवास करता है।।७४।।

उत्थानिका

आगे फिर भाव के फल का माहात्म्य कहते हैं :–

खयरामरमणुयाणं अंजलिमालाहिं संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण[1]।।७५।।

नर-अमर-विद्याधर करांजलि, माला से संस्तुत विपुल।
पा चक्रवर्ती राज्य लक्ष्मी, बोधि पावे सुभाव से।।७५।।

अर्थ

'सुभाव' अर्थात् भले भाव से, मंद कषाय रूप विशुद्ध भाव से चक्रवर्ती आदि राजाओं की 'विपुल' अर्थात बड़ी लक्ष्मी प्राप्त होती है। कैसी है लक्ष्मी–'खचर' अर्थात् विद्याधर, 'अमर' अर्थात् देव और 'मनुज' अर्थात् मनुष्य-इनकी 'अंजलिमाला' अर्थात् हाथों की अंजुलि की पंक्ति से संस्तुत-नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य है तथा उससे केवल यह लक्ष्मी ही नहीं प्राप्त होती परन्तु 'बोधि' अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की भी प्राप्ति होती है।

भावार्थ

विशुद्ध भावों का यह माहात्म्य है।।७५।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में गाथा की द्वितीय पंक्ति में आए हुए इस 'सुभावेण' पद के स्थान पर 'ण भव्वणुआ' पाठ देकर पूरी गाथा का अर्थ एकदम भिन्न रूप से इस प्रकार किया है-'विद्याधर, देव और मनुष्यों के द्वारा संस्तुत चक्रवर्ती व अन्य राजाओं की लक्ष्मी तो इस जीव के द्वारा कई बार प्राप्त की जाती है परन्तु भव्यों के द्वारा स्तुत रत्नत्र्य की लक्ष्मी प्राप्त नहीं की जाती अर्थात् रत्नत्र्य की प्राप्ति दुर्लभ है।' 75

उत्थानिका

आगे भावों के विशेष को कहते हैं :–

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं।। ७६।।

शुभ-अशुभ एवं शुद्ध जानो, भाव तीन प्रकार के।
हैं अशुभ आरत-रौद्र शुभ हैं, धर्म जिनवर ने कहा।।७६।।

सुद्धं सुद्धसहावं[1] अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह।। ७७।।

जो शुद्ध भाव सो शुद्ध अपना, आपमें ही जानना।
इनमें जो श्रेष्ठ सो आचरो, यह जिनवरों का है वचन।।७७।।

अर्थ

जिनवर देव ने भावों को इन तीन प्रकार का कहा है–शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें अशुभ तो आर्त–रौद्र ध्यान हैं, शुभ है सो धर्मध्यान है तथा जो शुद्ध भाव है सो शुद्ध है जो कि अपना आपमें ही है–ऐसा जिनवर देव ने कहा है सो जानना। इनमें जो कल्याण रूप हो उसको अंगीकार करो।

भावार्थ

भगवान ने भाव तीन प्रकार के कहे हैं-शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें अशुभ तो आर्त-रौद्र ध्यान हैं सो तो अति मलिन हैं अतः त्याज्य ही हैं। शुभ है सो धर्मध्यान है सो यह कथंचित् उपादेय है क्योंकि मंद कषाय रूप विशुद्धता से शुद्ध भाव की प्राप्ति है तथा शुद्ध भाव है सो सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह

टि0-1. 'वी0 प्रति' में **सुक्कं सुद्धसहावं** (सं0-□ुक्लं □ुद्धस्वभावं) पाठ है जिसका अर्थ है कि **'□ुद्धभाव □ुक्लध्यान है।'** गाथा 76 में अ□ुभ को आर्त-रौद्र ध्यान व □ुभ को धर्मध्यान कहा और यहाँ □ुद्ध भाव को □ुक्लध्यान कहा सो **'वी0 प्रति0' का पाठ ऊपर के पाठ से ज्यादा प्रकरणसंगत है।**

आत्मा का स्वरूप ही है। इस प्रकार हेय-उपादेय को जानकर त्याग-ग्रहण करना अर्थात् जो कल्याणकारी हो उसे अंगीकार करना-यह जिनदेव का उपदेश है।।७६-७७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनशासन का ऐसा माहात्म्य है' :–

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीओ।।७४।।

गल गई मान कषाय, प्रगलित मोह से समचित्त जो।
वह जीव त्रिभुवनसार बोधि, पाता जिनशासन विषैं।।७४।।

अर्थ

यह जीव है सो जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी 'बोधि' अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है। कैसा होता हुआ पाता है–'प्रगलितमानकषाय' अर्थात् प्रकर्षता से गल गई है मानकषाय जिसकी अतः किसी परद्रव्य से अहंकार रूप गर्व नहीं करता है। **और कैसा होता हुआ पाता है**–'प्रगलित' अर्थात् गल गया है-नष्ट हुआ है मिथ्यात्व का उदय रूप मोह जिसका इसी कारण समचित्त है अर्थात् परद्रव्य में ममकार रूप मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रूप राग-द्वेष उसके नहीं है।

भावार्थ

मिथ्याभाव और कषायभाव का स्वरूप अन्य मतों में यथार्थ नहीं है, यह कथनी इस वीतराग रूप जिनमत में ही है इसलिए यह जीव तीन भुवन में सार मिथ्यात्व तथा कषाय के अभाव रूप मोक्षमार्ग को जिनमत के सेवन से ही पाता है, अन्यत्र नहीं।।७४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनशासन में ऐसा मुनि ही तीर्थंकर प्रक ति बाँधता है' :–

विसयविरत्तो सवणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयर णामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण।।७७।।

विषयों से विरत जो श्रमण भा, वह सोलहकारण भावना।
थोड़े ही काल में बाँधता, है तीर्थकर नामक प्रक ति ।।७७।।

अर्थ

जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयों से विरक्त है ऐसा 'श्रमण' अर्थात् मुनि है सो सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर नामक नामकर्म की प्रक ति को थोड़े ही काल में बाँधता है।

भावार्थ

विषयों से विरक्त भावयुक्त होकर यदि सोलहकारण भावनाओं को भावे तो अचिन्त्य है माहात्म्य जिसका-ऐसी तीन लोक से पूज्य तीर्थंकर नामक प्रक ति को बाँधता है और उसको भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है—यह भाव का माहात्म्य है **सोलहकारण भावनाओं के नाम ये हैं**—दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयाव त्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना। **इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और पन्द्रह भावना का व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं है और यह हो तो पन्द्रह भावना का कार्य यह ही कर ले-ऐसा जानना।।७७।।**

उत्थानिका

आगे भाव की शुद्धता निमित्त आचरण कहते हैं :—

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भावि तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरयं[1] णाणांकुसएण मुणिपवर !।। ४०।।

बारह प्रकार का तप क्रिया, तेरह भा मन-वच-काय से।
हे मुनिप्रवर ! मन मत्त गज को, ज्ञान अंकुश से वश करो।।४०।।

अर्थ

हे मुनिप्रवर अर्थात् मुनियों में श्रेष्ठ ! तू मन, वचन और काय से बारह प्रकार के तप और तेरह प्रकार की क्रियाओं को भा और ज्ञान रूप अंकुश से मन रूपी मतवाले हाथी को धारण कर अर्थात् अपने वश में रख।

भावार्थ

यह मन रूपी हाथी मदोन्मत्त के समान है सो तपश्चरण और क्रियादि सहित ज्ञान रूपी अंकुश ही से वश में होता है इसलिए यह उपदेश है। बारह तपों के नाम ये हैं—१. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. व त्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्तशय्यासन और ६. कायक्लेश—ये तो छह प्रकार का बाह्य तप है तथा १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयाव त्य, ४. स्वाध्याय ५. व्युत्सर्ग और ६. ध्यान—ये छह प्रकार का अभ्यन्तर तप है, इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना। **तेरह क्रियाएँ इस प्रकार हैं**—पंचपरमेष्ठी को नमस्कार रूप तो पाँच, छह आवश्यक क्रिया, एक निषेधिका और एक आसिका। इस प्रकार भाव शुद्ध होने के कारण कहे।।४०।।

उत्थानिका

आगे अब सामान्यता से द्रव्य-भाव रूप जिनलिंग का स्वरूप कहते हैं :—

टि0-**1.** 'मूल, मु0 व श्रु0टी0'-सबमें ही यहाँ 'दुरयं' □ाब्द की जगह 'दुरियं' (सं0-दुरितं) पाठ था परन्तु 'वी0 प्रति' में 'हस्ती' अर्थ वाचक 'दुरयं' (सं0-द्विरदं)-यह □ाुद्ध पाठ मिल गया अत: यहाँ उसे ही स्वीकार किया गया है। 'म0 टी0' में 'दुरयं' के स्थान पर 'दुरितं' पाठ देकर 'धरहि मणमत्त दुरितं' पद का अर्थ किया है-'मद से मतवाले हाथी की दुरित-दुर्गमन अर्थात् खोटी चाल के समान जिसकी चाल (परिणति) दूषित है-ऐसे मन को तू अपने व□ा में कर।'

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खं[1]।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं।। ४१।।

जो पाँचविध पट त्याग-भिक्षा, द्विविध संयम-भूशयन।
भावित है पूर्व में भाव जिसमें, शुद्ध जिनलिंग वह विमल।।४१।।

अर्थ

जिसमें पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग, भूमि पर शयन, दो प्रकार का संयम, और भिक्षाभोजन है तथा 'भावितपूर्व' अर्थात् पहिले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी शुद्ध आत्मा का रूप परद्रव्य से भिन्न भाया हुआ अर्थात् बार-बार भावना से अनुभव किया हुआ भाव है—ऐसा 'निर्मल' अर्थात् बाह्य मल रहित और 'शुद्ध' अर्थात् अन्तर्मल रहित जिनलिंग होता है।

भावार्थ

लिंग द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है उसमें द्रव्य में तो बाह्य त्याग की अपेक्षा है जिसमें ये चार बातें पाई जाती हैं—(१)'अंडज' अर्थात् रेशम से, 'बोडज' अर्थात् कपास से, 'रोमज' अर्थात् ऊन से, 'वल्कज' अर्थात् व क्ष की त्वचा-छाल से और 'चर्मज' अर्थात् म ग आदि के चर्म से उपजे हुए—ऐसे इन पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग। यहाँ ऐसा न जानना कि इनके सिवाय अन्य वस्त्र ग्राह्य हैं, ये उपरोक्त तो उपलक्षण मात्र कहे हैं, यहाँ तो सर्व ही वस्त्र मात्र का त्याग जानना, (२)भूमि में सोना-बैठना जिसमें काष्ठ-त ण भी गिन लेना, (३)इन्द्रिय और मन का वश करना और छह काय के जीवों की रक्षा करना—ऐसा दो प्रकार का संयम तथा (४)जिसमें क त-कारित-अनुमोदना का दोष नहीं लगे और छियालीस दोष एवं

टि0-1. 'मु0 प्रति' में यहाँ 'भिक्खू' पाठ पाया जाता है परन्तु 'मूल प्रति' का 'भिक्खं' पाठ ही उपयुक्त जंचता है।
'म0 व श्रु0 टी0' में सम्बोधन सूचक भिक्खू ! (सं-भिक्षो !) □ाब्द दिया गया है। 'श्रु0 टी0' में लिखा है-'भिक्खू' पद को 'सम्बोधनान्त' मानकर 'हे तपस्विन् !' अर्थ करना चाहिए अथवा 'प्रथमान्त' मानकर 'भिक्षा भोजन करता हुआ एवं उद्दण्ड चर्या से भ्रमण करता हुआ भिक्षु जिनलिंग कहलाता है'-ऐसा अर्थ करना चाहिए।

बत्तीस अंतराय टले-ऐसा यथाविधि विहार करके भिक्षाभोजन करना।

ऐसा तो बाह्य लिंग है तथा भाव पूर्व में जैसा कहा है वैसा होता है—ऐसा दो प्रकार का शुद्ध जिनलिंग कहा है। अन्य प्रकार जैसा श्वेताम्बरादि कहते हैं वैसा जिनलिंग नहीं होता है।।४१।।

उत्थानिका

आगे **जिनधर्म की महिमा कहते हैं** :—

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुवराण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं[1] ।। ४२।।

ज्यों श्रेष्ठ हीरा रत्न में, बावनां चंदन व क्ष में।
धर्मों में भावीभवमथन, जिनधर्म त्यों ही श्रेष्ठ है।।४२।।

अर्थ

जैसे रत्नों में प्रवर-श्रेष्ठ उत्तम 'वज्र' अर्थात् हीरा तथा 'तरुवर' अर्थात् बड़े व क्षों में प्रवर-श्रेष्ठ उत्तम 'गोसीर' अर्थात् बावन चन्दन होता है वैसे धर्मों में उत्तम, प्रवर-श्रेष्ठ जिनधर्म है। कैसा है जिनधर्म-'भाविभवमथनं' अर्थात् आगामी संसार का मथन करने वाला है जिससे कि मोक्ष होता है।

भावार्थ

'धर्म' ऐसा सामान्य नाम तो लोक में प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकार से क्रियाकांडादि को धर्म जानकर सेवन करता है परन्तु परीक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला जिनधर्म ही है, अन्य सब संसार के कारण हैं। वे क्रियाकांडादि

टि0-1. 'पं0 जयचंद जी' ने 'भावि' पद को 'भवमहणं' का वि□ाषण बनाकर 'भावि' का अर्थ 'आगामी' किया है जबकि 'श्रु0 टी0' में 'भावि भवमहणं' (सं0-भावय भवमथनम्)-ऐसे दो पद देकर अर्थ किया है-'भवमथनम्' अर्थात् 'संसार के विच्छेदक' ऐसे जिनधर्म की तुम 'भावय' अर्थात् 'भावना करो, रुचि-श्रद्धा करो।'

तो संसार ही में रखते हैं और कदाचित् यदि संसार के भोगों की प्राप्ति भी कराते हैं तो भी जीव फिर भोगों में लीन होकर एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरक को पाता है। ऐसे अन्य धर्म तो नाम मात्र हैं इसलिए उत्तम जिनधर्म को ही जानना।।४२।।

उत्थानिका

आगे शिष्य पूछता है कि 'जिनधर्म उत्तम कहा सो धर्म का क्या स्वरूप है ?' अब **आचार्य धर्म का स्वरूप कहते हैं** कि 'वह ऐसा है' :–

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ४३।।

हो पुण्य पूजादि में व्रत में, कहा जिन शासन विषैं।
जो मोह-क्षोभ विहीन आतम, भाव सो ही धर्म है।।४३।।

अर्थ

जिनशासन में जिनेश्वर देव ने ऐसा कहा है कि पूजा आदि में और व्रत सहित होने में तो 'पुण्य' है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है सो 'धर्म' है।

भावार्थ

लौकिकजन तथा कई अन्यमती कहते हैं कि 'पूजा आदि शुभक्रियाओं में और व्रत क्रिया सहित होने में धर्म होता है' सो ऐसा नहीं है। जिनमत में जिनभगवान ने ऐसा कहा है कि पूजादि और व्रतों सहित होना सो तो 'पुण्य' है, वहाँ पूजा और 'आदि' शब्द से दान, भक्ति, वंदना तथा वैयाव त्य आदि लेना सो ये तो देव-गुरु-शास्त्र के लिये होते हैं और जो उपवास आदि व्रत हैं वे शुभ क्रियाएँ हैं, इनमें जो आत्मा का राग सहित शुभ परिणाम होता है उससे क्योंकि पुण्य कर्म उत्पन्न होता है जिसका कि फल स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति है इसलिए उन्हें पुण्य कहते हैं।

मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम होता है उसे धर्म कहा है। यहाँ

मोह कहने से मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम लेने जिनमें मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थ श्रद्धान है; क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा-ये छह द्वेष प्रक ति हैं तथा माया, लोभ, हास्य, रति और पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन वेद विकार-ये सात प्रक ति राग रूप हैं, इनके निमित्त से आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव विकार सहित, क्षोभ रूप, चलाचल और व्याकुल होता है और वह आत्मस्वभाव यदि इन विकारों से रहित होकर शुद्ध दर्शन-ज्ञान रूप निश्चल हो सो आत्मा का धर्म होता है।

इस धर्म से आत्मा के आगामी कर्म का आस्रव रुककर संवर होता है, पूर्व में बंधे कर्मों की निर्जरा होती है और जब सम्पूर्ण निर्जरा हो तब मोक्ष होता है-ऐसे धर्म का स्वरूप कहा है। जीव के जब शुभ परिणाम होते हैं तब इस धर्म की प्राप्ति का भी अवसर होता है तथा मोह के क्षोभ की एकदेश हानि होती है इसलिए शुभ परिणाम को भी उपचार से धर्म कहते हैं परन्तु जो केवल शुभ परिणाम ही को धर्म मानकर संतुष्ट हो जाते हैं उनको धर्म की प्राप्ति नहीं होती-यह जिनमत का उपदेश है।।४३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो पुण्य ही को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं उनके वह केवल भोग का ही निमित्त होता है, कर्म के क्षय का नहीं' :–

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। ४४।।

श्रद्धा-प्रतीति-स्पर्श-रुचि, जो करें पुण्य में धर्म की।
हो पुण्य भोग निमित्त उनका, कर्मक्षय का निमित्त ना।।४४।।

अर्थ

जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं तथा स्पर्श करते हैं उनके वह पुण्य भोग का ही निमित्त होता है जिससे वे स्वर्गादि के भोग पाते हैं। उनका वह पुण्य कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता–यह प्रकट जानो।

भावार्थ

शुभ क्रिया रूप पुण्य को धर्म जानकर जो उसका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करता है उसके पुण्य कर्म का बंध होता है जिससे उसे स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति होती है परन्तु उससे कर्म का क्षय रूप संवर, निर्जरा एवं मोक्ष नहीं होता।।४४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो आत्मा का स्वभाव रूप धर्म है सो ही मोक्ष का कारण है-ऐसा नियम है' :–

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेउ धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो।। ४५।।

रागादि दोष समस्त तज के, आत्मा आत्मा में हो रत।
भवतरण कारण धर्म है यह, ऐसा जिनवर ने कहा।।४५।।

अर्थ

जिसमें आत्मा रागादि समस्त दोषों से रहित होता हुआ आत्मा में ही रत हो–ऐसा धर्म जिनेश्वर देव ने संसार से तिरने का कारण कहा है।

भावार्थ

पूर्व में कहा था कि मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है सो धर्म है सो ऐसा धर्म ही संसार से पार कराता है और उसे ही मोक्ष का कारण भगवान ने कहा है–यह नियम है।।४५।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि **'जो समस्त पुण्य का तो आचरण करता है परन्तु आत्मा को इष्ट नहीं करता वह भी सिद्धि को नहीं पाता'** :–

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। ४६।।

आत्मा को तो इच्छे नहीं, पर पुण्य करता अशेष जो।
वह सिद्धि को पाता नहीं, संसारी ही है कहा गया।।४६।।

अर्थ

जो पुरुष आत्मा को इष्ट नहीं करता अर्थात् उसका स्वरूप नहीं जानता और उसे अंगीकार नहीं करता परन्तु सब प्रकार के समस्त पुण्य को करता है तो भी उससे वह 'सिद्धि' अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता। वह पुरुष संसार ही में स्थित रहता है।

भावार्थ

आत्मिक धर्म को धारण किए बिना यदि सब प्रकार के पुण्य का आचरण करे तो भी उससे मोक्ष नहीं होता, संसारी ही रहता है। कदाचित् स्वर्गादि के भोगों को भी पावे तो वहाँ भोगों में आसक्त होकर उनका सेवन करता है और फिर वहाँ से चय एकेन्द्रियादि होकर संसार ही में भ्रमण करता है।।४६।।

उत्थानिका

आगे 'इस कारण से आत्मा ही का श्रद्धान करो और उसे प्रयत्न से जानो जिससे कि मोक्ष पाओ'-ऐसा उपदेश करते हैं :–

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। ४७।।

इन कारणों से करो आत्म, श्रद्धान मन-वच-काय से।
उसको ही जानो प्रयत्न से, जिससे कि मुक्ति प्राप्त हो।।४७।।

अर्थ

पूर्व में बताया था कि 'आत्मिक धर्म से मोक्ष है' इस ही कारण से अब कहते हैं कि 'हे भव्य जीवों ! तुम उस आत्मा को 'प्रयत्न' अर्थात् सब प्रकार के उद्यम से यथार्थ जानो, उस आत्मा ही का श्रद्धान और प्रतीति करो, रुचि करो तथा आचरण करो। मन, वचन और काय से तुम ऐसा करो जिससे कि मोक्ष को पाओ।'

भावार्थ

जिसको जानने और श्रद्धान करने से मोक्ष होता हो उसी का जानना और श्रद्धान करना मोक्ष की प्राप्ति कराता है इसलिए आत्मा का ज्ञान व श्रद्धान तुम सब प्रकार के उद्यम से करना। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए भव्य जीवों को बार-बार यही उपदेश है।।४७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'बाह्य हिंसादि किये बिना ही मात्र अशुद्ध भाव से तंदुल मत्स्य जैसा तुच्छ जीव भी सातवें नरक गया तब अन्य बड़े जीव की क्या कथा' :–

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावय जिणभावणा णिच्चं।। ४४।।

गया मत्स्य तंदुल नरक सातवें, भाव अशुद्धस्वरूप हो।
यह जान आतमज्ञान हित, जिन भावना भा नित्य ही।।४४।।

अर्थ

हे भव्य जीव ! तू देख, 'सालिसित्थ' अर्थात् तंदुल नामक मत्स्य है सो भी अशुद्ध भावस्वरूप हुआ होता 'महानरक' अर्थात् सातवें नरक गया, इस कारण तुझे उपदेश देते हैं कि 'अपनी आत्मा को जानने को तू निरन्तर जिनभावना भा।'

भावार्थ

अशुद्ध भाव के माहात्म्य से तंदुल मत्स्य जैसा तुच्छ जीव भी सातवें नरक गया तो अन्य बड़ा जीव नरक क्यों न जाय अर्थात् जाय ही जाय अतः भाव शुद्ध करने का उपदेश है। वे भाव शुद्ध अपने एवं **पर के स्वरूप को जानने से होते हैं और अपने-पर के स्वरूप का ज्ञान जिनदेव की आज्ञा की भावना निरन्तर भाने से होता है अतः जिन आज्ञा की भावना निरन्तर करनी योग्य है।**

तंदुल मत्स्य की कथा इस प्रकार है–काकंदीपुरी का जो राजा सूरसेन था वह माँसभक्षी हो गया। मांस का अत्यन्त लोलुपी वह निरन्तर उसके भक्षण का अभिप्राय रखता था। उसका 'पित प्रिय' नामक रसोइया था जो उसे अनेक जीवों

का माँस नित्य भक्षण कराता था। रसोइये को सर्प ने डसा सो वह मरकर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ और सूरसेन राजा मरकर उसके कान में तंदुल मत्स्य हुआ। वहाँ महामत्स्य के मुख में जब अनेक जीव आते और निकल जाते थे तब तंदुल मत्स्य उनको देखकर विचार करता था कि 'यह महामत्स्य निर्भागी है जो मुख में आये हुए जीवों का भक्षण नहीं करता है, मेरा शरीर यदि इतना बड़ा होता तो मैं इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता।'

ऐसे भावों के पाप से वह तंदुल मत्स्य जीवों को खाये बिना ही सातवें नरक गया और महामत्स्य तो खाने वाला था ही सो वह तो नरक जाता ही जाता इसलिए अशुद्ध भाव सहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही परन्तु बाह्य हिंसादि पाप किये बिना केवल अशुद्ध भाव भी उस ही के समान है इसलिए भावों में अशुभ ध्यान छोड़कर शुभ एवं शुद्ध ध्यान करना योग्य है। यहाँ ऐसा भी जानना कि 'पहले जो राज्य पाया था वह तो पूर्व में जो पुण्य किया था उसका फल था, पीछे कुभाव हुए तब नरक गया इसलिए आत्मज्ञान के बिना केवल पुण्य ही मोक्ष का साधन नहीं है'।।88।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'भावरहित जीवों का बाह्य परिग्रह का त्याग आदि सब निष्प्रयोजन है' :–

बाहिरसंगच्चाओ गिरिदरिसरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो[1] णिरत्थओ भावरहियाणं ।। 89।।

टि0-1.गाथा की इस पंक्ति में 'णाणज्झयणो' पद के स्थान पर अन्यत्र 'झाणज्झयणो' (सं0-ध्यानाध्ययनं) पाठ भी मिलता है और 'पं0 जयचंद जी' कृत 'ध्यान एवं अध्ययन करना' अर्थ की संगति इसी पाठ से बैठती है परन्तु क्योंकि उनकी मूल टीका में 'णाणज्झयणो' ही पाठ है अत: यहाँ वही दिया गया है।
'म0 टी0' में 'झाणज्झयणो' ही पाठ है और अर्थ भी पाठ के अनुसार ही है।
'श्रु0 टी0' में 'णाणज्झयणो' पद है और उसका अर्थ उन्होंने 'वाचनाप□च्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदे□ा' लक्षण ज्ञान एवं '□ास्त्रपठन' लक्षण अध्ययन किया है।

गिरिगुफा-नदितट-कंदरादि अवास-परिग्रहत्याग औ।
ध्यानाध्ययन सारा निरर्थक, भावविरहित पुरुषों का।।89।।

अर्थ

जो पुरुष भाव से रहित हैं अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना से रहित हैं और बाह्य आचरण से सन्तुष्ट हैं उनका बाह्य परिग्रह का त्याग है सो निरर्थक है; 'गिरि' अर्थात् पर्वत, 'दरि' अर्थात् पर्वत की गुफा, 'सरित्' अर्थात् नदी के निकट एवं 'कंदर' अर्थात् पर्वत के जल से विदारित हुए स्थान इत्यादि में 'आवास' अर्थात् बसना निरर्थक है तथा ध्यान करना, आसन से मन को रोकना और अध्ययन अर्थात् शास्त्र का पढ़ना आदि सब निरर्थक हैं।

भावार्थ

बाह्यक्रिया यदि आत्मज्ञान सहित हो तब तो सफल है अन्यथा सब निरर्थक है। मात्र बाह्य क्रिया का यदि पुण्य फल हो तो भी वह पुण्य संसार ही का कारण है, मोक्ष उसका फल नहीं है।।89।।

उत्थानिका

आगे उपदेश करते हैं कि 'भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादि को वश करो, भावशुद्धि के बिना बाह्य वेष का आडम्बर मत करो' :–

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस मा कुणसु।। 90।।

मुनि ! जीत इन्द्रिसेना मन, मर्कट को वश कर यत्न से।
मत धार जनरंजनकरण, बाहिर व्रतों का वेष तू।।90।।

अर्थ

हे मुने ! तू इन्द्रियों की जो सेना है उसका भंजन कर, उसे विषयों में मत रमा, मन रूप बंदर को प्रयत्न से अर्थात् बड़े उद्यम से भंजन कर-वशीभूत कर तथा लोक को रंजन करने वाला बाह्य व्रत का वेष मत धारण कर।

भावार्थ

बाह्य मुनि का वेष लोकरंजन करने वाला है और लोकरंजन से कुछ परमार्थ की सिद्धि नहीं है इसलिए यह उपदेश है कि इन्द्रियों और मन को वश में करने के लिए यदि बाह्य यत्न करे तब तो श्रेष्ठ है परन्तु इन्द्रिय-मन को वश में किए बिना केवल लोकरंजन मात्र वेष धारण करने में तो कुछ परमार्थ की सिद्धि नहीं है।।९०।।

उत्थानिका

आगे फिर उपदेश करते हैं :–

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए।। ९१।।

मिथ्यात्व अरु नव नोकषायों को, त्याग भाव की शुद्धि हित।
कर भक्ति जिन आज्ञानुसारी, चैत्य-प्रवचन-गुरुओं की।।९१।।

अर्थ

हे मुने ! तू भावशुद्धि के लिए 'नव' जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद-इस नोकषाय वर्ग को तथा मिथ्यात्व को छोड़ तथा जिन आज्ञा के अनुसार चैत्य, प्रवचन और गुरु की भक्ति कर।।९१।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिण अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं।। ९२।।

तीर्थंकरों ने भाषा गणधर देवों ने गूंथा जिसे।
प्रतिदिन तू भाव विशुद्ध से भा, उस अतुल श्रुतज्ञान को।।९२।।

अर्थ

पुनश्च हे मुने ! तू जिसे अरिहंत भगवान ने कहा और गणधर देवों ने गूंथा अर्थात् जिसकी शास्त्र रूप रचना की ऐसे श्रुतज्ञान की सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध करके प्रतिदिन निरन्तर भावना कर। कैसा है वह श्रुतज्ञान–अतुल है अर्थात् जिसके बराबर अन्य मत का भाषा हुआ श्रुतज्ञान नहीं है।।९२।।

उत्थानिका

ऐसा किये क्या होता है सो कहते हैं :–

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।।९३।।

पी ज्ञानजल निर्मथ्य त ष्णा, दाह शोष से रहित हो।
होते शिवालयवासी त्रिभुवन, चूड़ामणि वे सिद्ध प्रभु।।९३।।

अर्थ

पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञान रूपी जल को पीकर सिद्ध हो जाते हैं। कैसे हैं वे सिद्ध–'निर्मथ' अर्थात् जिसे मथा न जाय ऐसी त षा-त ष्णा एवं दाह, शोष से रहित हैं; 'शिवालय' अर्थात् मुक्ति रूपी महल के बसने वाले हैं तथा क्योंकि लोक के शिखर पर उनका वास है अतः तीन भुवन के चूड़ामणि अर्थात् मुकुटमणि हैं और तीन भुवन में जैसा सुख नहीं वैसे परमानंद अविनाशी सुख को भोगते हैं–इस प्रकार भी तीन भुवन के मुकुटमणि हैं। वे जो ऐसे सिद्ध होते हैं सो ज्ञान रूपी जल पीने का ही फल है।

भावार्थ

शुद्ध भाव करके ज्ञान रूपी जल पीने पर क्योंकि त ष्णा का दाह, शोष मिटता है इसलिए ऐसा कहा है कि उससे वे परमानंद रूप सिद्ध हो जाते हैं।।९३।।

उत्थानिका

आगे भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश करते हैं :–

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी ! सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघादं पमोत्तूण।। ७४।।

हे मुनि ! होकर अप्रमादी, घात संयम छोड़कर।
सूत्रानुसार बावीस परिषह, सह सदा तू काय से।।७४।।

अर्थ

हे मुने ! तू सदाकाल निरन्तर अपनी काया से 'सुपरीषह' अर्थात् अतिशय से सहने योग्य 'दस दस दो' अर्थात् बाईस परिषहों को 'सूत्रेण' अर्थात् जैसी जिनवचन में कही उस रीति से निष्प्रमादी होते हुए और संयम का घात निवारकर सह।

भावार्थ

जैसे संयम न बिगड़े और प्रमाद का निवारण हो वैसे क्षुधा एवं त षा आदि बाईस परीषहों को मुनि निरन्तर सहन करो। इसका प्रयोजन सूत्र में ऐसा कहा है कि इनके सहने से कर्मों की निर्जरा होती है, संयम के मार्ग से छूटना नहीं होता और परिणाम द ढ़ होते हैं।।७४।।

उत्थानिका

आगे 'परीषह सहने में यदि द ढ़ हो तो उपसर्ग आने पर भी द ढ़ रहता है और चिगता नहीं' इसका द ष्टान्त–दार्ष्टान्त कहते हैं :–

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो।। ७५।।

भिदता नहीं पाषाण ज्यों, चिरकाल जल में रह के भी।
त्यों परीषह–उपसर्गों से, साधु भी है भिदता नहीं।।७५।।

अर्थ

जैसे पाषाण जल में बहुत काल स्थित रहता हुआ भी भेद को प्राप्त नहीं होता वैसे साधु है सो भी उपसर्ग-परीषहों से भिदता नहीं है।

भावार्थ

पाषाण ऐसा कठोर होता है कि यदि वह जल में बहुत काल तक रहे तो भी उसमें जल प्रवेश नहीं करता वैसे ही साधु के परिणाम भी ऐसे दृढ़ होते हैं कि परीषह-उपसर्ग आने पर भी वे संयम रूप परिणमन से च्युत नहीं होते और पूर्व में ऐसा कहा था कि साधु जैसे संयम का घात न हो वैसे परीषह सहे और यदि कदाचित् संयम का घात होता जानें तो जैसे उसका घात न हो वैसा करे।।9५।।

उत्थानिका

आगे परीषह-उपसर्ग आने पर जैसे भाव शुद्ध रहें वैसा उपाय कहते हैं :–

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहरिलिंगेण कायव्वं।। ९६।।

भा भावना द्वादश व्रतों की, भावना पच्चीस को।
जो भावविरहित बाह्य लिंग, हो उससे क्या, कुछ भी नहीं।।9६।।

अर्थ

हे मुने ! तू 'अनुप्रेक्षा' अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षाओं को भा तथा 'अपर' अर्थात् पाँच महाव्रतों की और भी जो पच्चीस भावनाएँ कही हैं उनको भा। भाव रहित जो बाह्य लिंग उससे तुझे क्या कर्तव्य है अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थ

कष्ट आने पर बारह अनुप्रेक्षाओं और पच्चीस भावनाओं का भाना बड़ा उपाय है। इनका बार-बार चिंतवन करने से क्योंकि कष्ट में परिणाम बिगड़ते नहीं इसलिए ऐसा उपदेश है।।9६।।

उत्थानिका

आगे फिर भाव शुद्ध रखने के लिए ज्ञान के अभ्यास रूप उपाय को कहते हैं :–

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी! चउदसगुणठाणणामाइं।। ६७।।

है सर्वविरत तथापि भा, नौ पदार्थ-सातों तत्त्वों को।
गुणथान चौदह के नामादी, और जीवसमास मुनि!।।६७।।

अर्थ

हे मुने ! यद्यपि तू सब परिग्रहादि से विरक्त हुआ है और महाव्रतों से सहित है तो भी भावविशुद्धि के लिये नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानों के नाम, लक्षण एवं भेद इत्यादि की भावना कर।

भावार्थ

पदार्थों के स्वरूप का चिंतवन करना भावशुद्धि का बड़ा उपाय है इसलिए यह उपदेश है। इनका नाम एवं स्वरूप अन्य ग्रन्थों से जानना।।७७।।

उत्थानिका

आगे भावशुद्धि के लिये फिर अन्य उपाय कहते हैं :–

णवविहबंभं पयडदि अब्बंभं दसविहं पमुत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे।। ७८।।

कर प्रकट नवविध ब्रह्म को, अब्रह्म दशविध छोड़कर।
हो मिथुनसंज्ञासक्त भ्रमता, रहा भवार्णव भीम में।।७८।।

अर्थ

हे जीव ! तू दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रकट कर अर्थात् अपने भावों में प्रत्यक्ष कर। यह उपदेश तुझे इसलिए दिया है क्योंकि तू मैथुन संज्ञा अर्थात् कामसेवन की अभिलाषा में आसक्ति रूप अशुद्ध भाव से ही इस भीम-भयानक संसार रूपी समुद्र में भ्रमा है।

भावार्थ

यह प्राणी मैथुन संज्ञा में आसक्त हुआ ग हस्थपना आदि अनेक उपायों से स्त्रीसेवनादि अशुद्ध कार्यों में प्रवर्तता है और उससे इस भयानक संसार समुद्र में भ्रमण करता है इसलिए यह उपदेश है कि 'दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य को अंगीकार करो।'

उपरोक्त दस प्रकार का अब्रह्म तो इस प्रकार है—(१) प्रथम तो स्त्री का चिंतवन होता है, (२) फिर उसे देखने की इच्छा होती है, (३) पीछे फिर निश्वास डालता है, (४) फिर ज्वर उत्पन्न होता है, (५) फिर दाह उपजती है, (६)तत्पश्चात् काम की रुचि उत्पन्न होती है, (७) पीछे मूर्छा होती है, (8) फिर उन्माद उपजता है, (9) पीछे जीने का संदेह उत्पन्न होता है और (१०) तत्पश्चात् मरण हो जाता है।

पुनः नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य ऐसे है—जिन नौ कारणों से ब्रह्मचर्य बिगड़ता है उनके नाम ये हैं—**१.** स्त्रीसेवन की अभिलाष, **२.** स्त्री के अंग का स्पर्श, **३.** पुष्ट रस का सेवन, **४.** स्त्री से संसक्त शय्या आदि वस्तु का सेवन, **५.** स्त्री के मुख और नेत्र आदि का देखना, **६.** स्त्री का सत्कार-पुरस्कार करना, **७.** पूर्व में जो स्त्री का सेवन किया था उसको याद करना, **८.** आगामी स्त्रीसेवन की अभिलाषा करना और **६.** मनवांछित इष्ट विषयों का सेवना। ऐसे जो नौ कारण हैं उनका वर्जन करना सो नौ भेद रूप ब्रह्मचर्य है अथवा मन, वचन, काय एवं क त, कारित, अनुमोदना से ब्रह्मचर्य को पालना-ऐसे भी नौ प्रकार कहे जाते हैं। ऐसा करना भी भाव शुद्ध होने का उपाय है।।98।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो भाव सहित मुनि हैं वे आराधना के चतुष्क को पाते हैं और भाव रहित मुनि संसार में भ्रमण करते हैं' :—

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे।। 99।।

आराधना के चतुष्क को, पाते हैं भावसहित मुनि।
जो भावविरहित मुनी दीरघ, भव भ्रमें चिरकाल तक।।99।।

अर्थ

हे मुनिवर ! जो मुनि भाव सहित हैं वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-ऐसे आराधना के चतुष्क को पाते हैं और वे ही मुनियों में प्रधान है तथा जो भाव रहित मुनि हैं वे बहुत काल तक दीर्घ संसार में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ

निश्चय सम्यक्त्व जो शुद्ध आत्मा की अनूभूति रूप श्रद्धान है सो ही भाव है–ऐसे भाव सहित जो होता है उसके तो चारों आराधनाएँ होती हैं जिसका फल अरंहत और सिद्ध पद है तथा ऐसे भाव से जो रहित हो उसके आराधनाएँ नहीं होतीं और उसका फल संसार का भ्रमण है ऐसा जानकर भाव शुद्ध करना–यह उपदेश है।।99।।

उत्थानिका

आगे भाव ही के फल का विशेष कहते हैं :–

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए।। १००।।

युत परम्परकल्याण ऐसे, सुख को पाते भावमुनि।
तिर्यंच-मनुज-कुदेव योनि में, दुःक्ख पाते द्रव्यमुनि।।१००।।

अर्थ

जो भावश्रमण अर्थात् भाव मुनि हैं वे कल्याण की है परम्परा जिसमें ऐसे सुखों को पाते हैं तथा जो द्रव्यश्रमण अर्थात् वेष मात्र मुनि हैं वे तिर्यंच, मनुष्य और कुदेव योनि में दुःखों को पाते हैं।

भावार्थ

भावमुनि सम्यग्दर्शन सहित हैं वे तो सोलहकारण भावनाओं को भाकर गर्भ,

जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण-इन पंच कल्याणकों सहित तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष पाते हैं तथा जो सम्यग्दर्शन रहित द्रव्यमुनि हैं वे मनुष्य, तिर्यंच एवं कुदेव योनि पाते हैं—यह भाव के विशेष से फल का विशेष है।।१००।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'अशुद्ध भाव से अशुद्ध ही आहार किया जिससे दुर्गति ही पाई':—

छादालदोसदूसियमसणं गसिओ असुद्धभावेण।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो।। १०१।।

खाया अशन छियालीस दोषों, सहित भाव अशुद्ध से।
तिर्यंच गति में अतः भोगा, महादुःख हो अनात्मवश।।१०१।।

अर्थ

हे मुनि ! तूने अशुद्ध भाव से छियालीस दोषों से दूषित अशुद्ध 'अशन' अर्थात् आहार ग्रसा अर्थात् खाया, इस कारण से तिर्यंच गति में पराधीन होते हुए महान बड़े 'व्यसन' अर्थात् कष्ट को प्राप्त हुआ।

भावार्थ

मुनि आहार करते हैं सो छियालीस दोष रहित शुद्ध करते हैं, बत्तीस अन्तराय टालते हैं और चौदह मल दोष रहित करते हैं सो जो मुनि होकर के सदोष आहार करे तो ज्ञात होता है कि इसके भाव भी शुद्ध नहीं हैं, उसको यह उपदेश है कि 'हे मुने ! तूने दोष सहित अशुद्ध आहार किया और उससे तिर्यंच गति में पूर्व में भ्रमण किया और कष्ट सहे इसलिए अब भाव शुद्ध करके शुद्ध आहार कर जिससे फिर भ्रमण नहीं करे। **छियालीस दोषों में सोलह तो उद्गम दोष हैं जो आहार के उपजने के हैं वे श्रावक आश्रित हैं तथा सोलह उत्पादन दोष हैं वे मुनि के आश्रित हैं तथा दस दोष एषणा के हैं वे आहार के आश्रित हैं तथा चार प्रमाणादि हैं। इनके नाम तथा स्वरूप मूलाचार और आचारसार से जानना।।१०१।।**

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

सचित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेण धी पभुत्तूण।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत।। १०२।।

किया सचित्त भोजन-पान, ग द्धि-दर्प से अज्ञानी तू।
इसलिए पाए तीव्र दुःक्ख, अनादि से कर चिन्तवन।।१०२।।

अर्थ

हे जीव ! तूने दुर्बुद्धि अज्ञानी होते हुए अति चाह करके तथा अति गर्व-उद्धतपने से सचित्त भोजन तथा पान, जीवों सहित आहार्र-पानी लेकर अनादि काल से लगाकर तीव्र दुःख को पाया उसका चिन्तवन कर-विचार कर।

भावार्थ

मुनि को उपदेश करते हैं कि 'अनादि काल से लगाकर जब तक अज्ञानी रहा, जीव-अजीव का स्वरूप नहीं जाना तब तक सचित्त-जीवों सहित आहार-पानी करते हुए संसार में तीव्र नरकादि का दुःख पाया, अब मुनि होकर भाव शुद्ध कर और सचित्त आहार-पानी मत कर, नहीं तो फिर पूर्व समान दुःख भोगेगा'।।१०२।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

कंदं बीयं मूलं पुप्फं पत्तादि किंचि सचित्तं।
असिऊण माणगव्वे भमिओसि अणंतसंसारे।। १०३।।

हैं कंद-मूल व बीज-पुष्प अरु पत्र आदि सचित्त जो।
उन्हें खाके मान से, गर्व से, संसारानंत में तू भ्रमा ।।१०३।।

अर्थ

'कंद' अर्थात् जमीकंद आदि; 'बीयं' अर्थात् बीज, चना आदि अन्नादि; 'मूल' अर्थात् अदरक, मूली गाजर इत्यादि; 'पुष्प' अर्थात् फूल एवं 'पत्र' अर्थात् नागरवेलि आदि-इनको आदि लेकर जो कुछ सचित्त वस्तु उसका मान से-गर्व से भक्षण किया उससे हे जीव ! तू अनंत संसार में भ्रमा।

भावार्थ

कन्दमूलादि सचित्त अनन्त जीवों की काय है तथा अन्य वनस्पति बीजादि सचित्त हैं उनका भक्षण किया। वहाँ प्रथम तो मान से कि 'हम तपस्वी हैं, हमारे घरबार नहीं, वन के पुष्प-फलादि खा करके तपस्या करते हैं-ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वी होकर मान से खाया तथा गर्व से उद्धत होकर दोष गिना नहीं, स्वच्छंद हो सर्वभक्षी हुआ। **ऐसे इन कंदादि को खाकर यह जीव संसार में भ्रमा, अब मुनि होकर इनका भक्षण मत कर-ऐसा उपदेश है और अन्यमत के तपस्वी कंदमूलादि फल-फूल खाकर अपने को महंत मानते हैं उनका निषेध है।।१०३।।**

उत्थानिका

आगे विनय आदि का उपदेश करते हैं, वहाँ प्रथम ही विनय की गाथा है :-

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावंति।। १०४।।

अविनीत नर क्योंकि सुविहित, सुमुक्ति को पाते नहीं।
इसलिए पंच प्रकार विनय को, पाल मन-वच-काय से।।१०४।।

अर्थ

हे मुने ! जिस कारण से अविनयवान नर हैं वे भली प्रकार कथित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं, अभ्युदय तीर्थंकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं इसलिए हम उपदेश करते हैं कि हाथ जोड़ना, पैरो में पड़ना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना-यह पंच प्रकार विनय अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, और इनका धारक पुरुष-इनका विनय करना ऐसी पाँच प्रकार की विनय को तू मन, वचन, काय-इन तीनों योगों से पाल।



भावार्थ

विनय बिना मुक्ति नहीं है अतः विनय का उपदेश है। विनय में बड़े गुण हैं-ज्ञान की प्राप्ति होती है, मान कषाय का नाश होता है, शिष्टाचार का पालन है और कलह का निवारण है इत्यादि विनय के गुण जानने अतः सम्यग्दर्शनादि से जो महान हैं उनकी विनय करना-यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्ग से भ्रष्ट हुए वस्त्रादि सहित मोक्षमार्ग मानने लगे उनका निषेध है।।१०४।।

उत्थानिका

आगे भक्ति रूप वैयाव त्य का उपदेश है :–

णियसत्तीए महाजस ! भत्तिराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं।। १०५।।

निज शक्ति से हे महायश ! कर भक्ति राग से नित्य ही।
जिनभक्ति तत्पर होके वैयाव त्ति, जो दस भेद युत।।१०५।।

अर्थ

हे महायश ! हे मुने ! भक्ति के रागपूर्वक उस वैयाव त्य को तू सदा काल अपनी शक्ति से कर। कैसे कर-जैसे जिनभक्ति में तत्पर हो वैसे कर। कैसा है वैयाव त्य-'दशविकल्प' अर्थात् दस भेद रूप है। वैयाव त्य नाम दूसरे के दुःख या कष्ट आने पर सेवा चाकरी करने का है। उसके दस भेद हैं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ-ये दस भेद मुनियों के हैं इनका वैयाव त्य किया जाता है इसलिए वैयाव त्य के दस भेद कहे हैं।।१०५।।

उत्थानिका

आगे 'अपने दोष को गुरु के पास कहना'-ऐसी गर्हा का उपदेश करते हैं :–

किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मुत्तूण।। १०६।।

किया दोष जो कुछ भी अशुभ, भावों से मन-वच-काय से।
कर गर्हा उसकी गुरु समीप में, मान-माया छोड़कर।।१०६।।

अर्थ

हे मुने ! जो कुछ स्वयं मन-वचन-काय के द्वारा अशुभ भाव से प्रतिज्ञा में दोष किया हो उसको गुरु के पास अपना 'गौरव' अर्थात् महंतपना—गर्व छोड़कर और 'माया' अर्थात् कपट छोड़कर मन-वचन-काय को सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन से प्रकाशित कर।

भावार्थ

स्वयं को कोई दोष लगा हो और निष्कपट होकर गुरुओं को यदि न कहे तो वह दोष निव त्त नहीं होता तब आप शल्यवान रहता है तो मुनिपद में यह बड़ा दोष है इसलिए यह उपदेश है कि 'अपना दोष छिपाना नहीं, जैसा हो वैसा सरल बुद्धि से गुरुओं के पास कहना तब दोष मिट जायेगा।' काल के निमित्त से मुनिपद से भ्रष्ट हुए पीछे गुरुओं के पास प्रायश्चित नहीं लिया तब विपरीत होकर अलग संप्रदाय बनाया—ऐसे विपर्यय हुआ।।१०६।।

उत्थानिका

आगे क्षमा का उपदेश करते हैं :—

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा।। १०७।।

सत्पुरुष मुनि दुर्जन की निष्ठुर, कटूवचन चपेट को।
सहें कर्ममल नाशार्थ ममता, रहित होकर भाव से।।१०७।।

अर्थ

सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जन की वचन रूप चपेट जो 'निष्ठुर' अर्थात् कठोर-दया रहित और 'कटुक' अर्थात् सुनते ही कानों को कड़ी शूल के समान लगे-ऐसी जो चपेट है उसको सहते हैं। किसलिए सहते हैं–कर्मों के नाश होने के लिए सहते हैं। पूर्व में अशुभ कर्म बांधा था उसके उदय के निमित्त से दुर्जन ने कटुक वचन कहा, स्वयं ने सुना और उसको उपशम परिणाम से सहा तब अशुभ कर्म उदय देकर खिर गया, इस प्रकार कटुक वचन सहने से कर्मों का नाश होता है। **तथा वे मुनि सत्पुरुष कैसे हैं**–अपने भाव से वचनादि से निर्ममत्व हैं, उन्हें वचन से तथा मान कषाय से और देहादि से ममत्व नहीं है, यदि ममत्व हो तो दुर्वचन सहा न जाये, यह जानें कि 'यह वचन मुझको कहा' इसलिए ममत्व के अभाव से वे दुर्वचन सहते हैं। **अतः मुनि होकर किसी पर क्रोध नहीं करना-यह उपदेश है। लोक में भी जो बड़े पुरुष हैं वे दुर्वचन सुनकर क्रोध नहीं करते तो मुनि को तो सहना उचित ही है। जो क्रोध करते हैं वे कहने के तपस्वी हैं, सच्चे तपस्वी नहीं हैं।।१०७।।**

उत्थानिका

आगे क्षमा का फल कहते हैं :–

पावं खवइ असेसं खमाइ परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होई।। १०४।।

मुनिप्रवर परिमंडित क्षमा से, पाप सर्व ही क्षय करें।
नर-अमर-विद्याधरों से, निश्चित वे शंसा योग्य हों।।१०४।।

अर्थ

जो मुनिप्रवर–मुनियों में श्रेष्ठ अर्थात् प्रधान क्रोध के अभाव रूप क्षमा से मंडित हैं सो मुनि समस्त पापों का क्षय करते हैं तथा विद्याधर, देव और मनुष्यों से प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होते हैं।

भावार्थ

क्षमा गुण बड़ा प्रधान है जिससे सबके स्तुति करने योग्य पुरुष होता है। जो मुनि

हैं उनके उत्तम क्षमा होती है। वे तो सब मनुष्य, देव और विद्याधरों के द्वारा स्तुति योग्य होते ही होते हैं और उनके सब पापों का क्षय होता ही होता है इसलिए क्षमा करना योग्य है–ऐसा उपदेश है। क्रोधी सबके द्वारा निंदा करने योग्य होता है इसलिए क्रोध का छोड़ना श्रेष्ठ है।।१०८।।

उत्थानिका

आगे 'ऐसे क्षमा गुण को जानकर क्षमा करना एवं क्रोध छोड़ना'-ऐसा कहते हैं :–

इय णाऊण खमागुण ! खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह।। १०9।।

यह जान क्षमागुण ! कर क्षमा, सब जीव मन-वच-काय से।
चिरकाल संचित क्रोध अग्नी, क्षमा जल से सींच तू।।१०9।।

अर्थ

हे मुने ! हे क्षमागुण ! 'क्षमागुण' क्षमा है गुण जिसका ऐसे मुनि का संबोधन है। 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमा गुण को जान और सब जीवों पर मन–वचन–काय से क्षमा कर तथा बहुत काल से संचित की हुई जो क्रोध रूपी अग्नि उसे क्षमा रूपी जल से सींच अर्थात् बुझा।

भावार्थ

क्रोध रूपी अग्नि है सो पुरुष में जो भले गुण हैं उनको दग्ध करने वाली है और पर जीवों का घात करने वाली है इसलिए इसको क्षमा रूपी जल से बुझाना, अन्य प्रकार से यह बुझती नहीं और क्षमा गुण सब गुणों में प्रधान है इसलिए यह उपदेश है कि 'क्रोध को छोड़कर क्षमा ग्रहण करना'।।१०६।।

उत्थानिका

आगे दीक्षाकालादि की भावना का उपदेश करते हैं :–

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो[1]।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसंसार[2] मुणिऊण।। ११०।।

अविकार दर्शन से विशुद्ध हो, बोधि उत्तम के लिए।
तू असार भव को जानकर, दीक्षासमय आदि को भा।।११०।।

अर्थ

हे मुने ! तू दीक्षाकाल आदि की भावना कर[3]। कैसा होता हुआ कर-'अविकार' अर्थात् अतिचार रहित जो निर्मल सम्यग्दर्शन उससे सहित होता हुआ कर। **पूर्व में**

टि0-1.'श्रु0 टी0' में 'अवियार ! दंसणविसुद्धो' ऐसे दो पद दिए हैं जिसमें 'अवियार !' सम्बोधन सूचक पद है। विवेचना करते हुए वहाँ लिखा है कि 'अवियार' की सं0 छाया 'अविचार एवं अविकार' दोनों हो सकती है। अविचार अर्थात् 'हे निर्विवेक जीव !' और अविकार अर्थात् 'हे रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवर्जितजीव !'। वहीं आगे लिखा है कि 'अवियारदंसणविसुद्धो' ऐसा एक पद करने पर 'अविकार' अर्थात् 'पच्चीस दोष रहित', 'द□न' अर्थात् 'सम्यक्त्व रत्न से', 'वि□ुद्ध' अर्थात् 'अनन्त भव पाप रहित होता हुआ'-ऐसा अर्थ होता है।

2. अन्य प्रतियों में एक सौ दसवीं गाथा में 'असारसंसार' के स्थान पर 'असारसाराइं' वा 'असारसाराणि' पाठ है जिसकी सं0 छाया 'असारसाराणि' देकर अर्थ किया है-'असार व सार को जानकर।' 'श्रु0 टी0' में 'क्या असार है एवं क्या सार है'-इसकी चर्चा विस्तार से की है जैसे-'मिथ्याद□न असार है, सम्यग्द□न सार है; उन्मार्ग असार है, जिनमार्ग सार है; परनिन्दा असार है, निजनिन्दा सार है; परिग्रह असार है, नैर्ग्रन्थ्य सार है; ममत्व असार है, निर्ममत्व सार है आदि-आदि।'

3. 'श्रु0 टी0'-दीक्षा लेते समय इस जीव को परम वैराग्य होता है। उस समय यह सोचता है कि 'आज से लेकर अब मैं स्त्री का मुख नहीं देखूंगा क्योंकि स्त्रियों में रागी होकर ही मैं अनादि काल से संसार में भ्रमण करता हुआ अनचाहे दु:खों को प्राप्त हुआ हूँ और दिन-रात चाहता हुआ भी सुख के ले□ा मात्र को भी प्राप्त नहीं हो सका हूँ।'

'दीक्षाकाल आदि की भावना' का अर्थ है कि 'दीक्षा के समय की अत्यन्त उत्साहमय अपूर्व विरक्त द□ा को, किसी रोग आदि के समय प्रस्फुरित सद्विचारों को, किसी उपदे□ा या तत्त्वविचारादि के अवसर पर अंत:करण में जगी ज्ञान-वैराग्य भावना को और दरिद्रता या किसी दु:ख के समय प्रकट हुई उदासीन द□ा को जीव को भुला नहीं देना चाहिए, निरन्तर स्मरण रखना चाहिए, विचार□ून्य होकर उसे पुन: विषयों की ओर आकृष्ट नहीं हो जाना चाहिए।'

इस सम्बन्ध में 'श्रु0 टी0' में एक □लोक उद्ध□त किया है जिसका अर्थ है-'हे जीव ! मन के कुछ स्वस्थ होते ही तू दु:ख रूपी अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं को □ाीघ्र ही भूल जाता है। दु:ख के समय तेरी बुद्धि में जो सद्विचार प्रस्फुरित हुए थे वे यदि पीछे भी अर्थात् दु:ख दूर हो जाने के बाद भी स्थिर रहते तो तुझे दु:ख होता ही कैसे !'

क्या करके कर-संसार को असार जानकर कर। **किसके लिए कर**-'उत्तम बोधि' अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की जो प्राप्ति उसके निमित्त कर।

भावार्थ

दीक्षा लेते हैं तब संसार-देह-भोग को असार जानकर अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है वैसे ही 'दीक्षाकालादि' के 'आदि' शब्द से रोगोत्पत्ति एवं मरणकाल आदि जानना, उन कालों में जैसे भाव होते हैं वैसे ही संसार को असार जानकर विशुद्ध सम्यग्दर्शन सहित होते हुए उत्तम बोधि जो जिससे केवलज्ञान उत्पन्न हो उसके लिए दीक्षाकाल आदि की निरन्तर भावना करनी-ऐसा उपदेश है।।११०।।

उत्थानिका

आगे भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग के सेवन का उपदेश करते हैं :-

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं।। १११।।

कर प्राप्त अन्तर्लिंग शुद्धि, सेव बाहिर लिंग चतुः।
कारण अकार्य है बाह्य लिंग, प्रकट ही भावविहीन का।।१११।।

अर्थ

हे मुनिवर ! तू अभ्यन्तर लिंग की 'शुद्धि' अर्थात् शुद्धता को प्राप्त होता हुआ चार प्रकार का जो बाह्य लिंग है उसका सेवन कर क्योंकि जो भाव रहित हैं उनके प्रकटपने बाह्यलिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है।

भावार्थ

जो भाव की शुद्धता से रहित हैं अर्थात् अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण जिनके नहीं है उनके बाह्य लिंग कुछ भी कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ता है इसलिए यह उपदेश है कि 'पहले भाव की शुद्धता करके द्रव्यलिंग धारण करना।' सो यह द्रव्यलिंग चार प्रकार का कहा,

उसकी सूचना इस प्रकार है-'जो मस्तक के, डाढ़ी के और मूंछ के केशों का तो लोंच करना-तीन चिन्ह तो ये और चौथा-नीचे के केश रखना[1]। 'इस प्रकार सब बाह्य वस्त्रादि से रहित नग्न रहना-ऐसा नग्न रूप भावविशुद्धि के बिना हँसी का स्थान है और कुछ उत्तम फल भी नहीं है।।१११।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'भाव बिगड़ने की कारण चार संज्ञा हैं उनसे संसार भ्रमण होता है—यह दिखाते हैं' :—

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहिं मोहिओसि तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो।। ११२।।

आहार, भय, परिग्रह, मिथुन संज्ञा से मोहित हो के तू।
संसार वन में भ्रमा काल, अनादि से हो अन्यवश।।११२।।

अर्थ

हे मुनि ! तू आहार, भय, मैथुन और परिग्रह-ये जो चार संज्ञा इनसे मोहित हुआ अनादि काल से लगाकर पराधीन होता हुआ संसार रूपी वन में भ्रमा।

भावार्थ

संज्ञा नाम वांछा के बने रहने का है सो आहार की ओर, भय की ओर, मैथुन की ओर और परिग्रह की ओर प्राणी के निरन्तर वांछा जाग्रत रहती है, यह जन्मान्तर में चली जाती है, जन्म लेते ही तत्काल उघड़ती है और इसी के निमित्त से कर्मों का बंध करके जीव संसार में भ्रमण करता है इसलिए मुनियों को यह उपदेश हे कि 'अब इन संज्ञाओं का अभाव करो'।।११२।।

टि0-1. 'मूल प्रति' के सिवाय अन्य 'हस्तलिखित प्रतियों' में एवं 'मु0 प्रति' में एक यह पंक्ति और मिलती है-'अथवा वस्त्रका त्याग, के□ानिका लौंच करनां, □ारीरका स्नानादिक करि संस्कार न करनां, प्रतिलेखन मयूरपिच्छका राखनां-ऐसै भी च्यार प्रकार बाह्य लिंग कह्या है।'

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि बाह्य उत्तर गुणों की प्रव त्ति भी भाव शुद्ध करके करना :–

बाहिरसयणत्तावण तरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो।। ११३।।

बहिःशयन आतापन, तरूमूलादि उत्तरगुणों को।
तू पाल भावविशुद्धि से, पूजादि लाभ न चाहकर।।११३।।

अर्थ

हे मुनिवर ! तू भाव से विशुद्ध होते हुए अर्थात् पूजा-लाभादि को नहीं चाहते हुए बाह्य शयन, आतापन एवं व क्षमूल योग का धारण इत्यादि जो उत्तर गुण हैं उनका पालन कर।

भावार्थ

शीतकाल में तो बाहर खुले प्रदेश में सोना-बैठना, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सन्मुख आतापन योग धारण करना और वर्षाकाल में व क्ष के मूल में योग धारण करना अर्थात् जहाँ बूँद व क्ष पर पड़ें और पीछे एकत्रित होकर शरीर पर गिरें, इसमें कुछ प्रासुक का भी संकल्प है और बाधा बहुत है-इनको आदि लेकर जो उत्तरगुण हैं उनका पालन भी भाव शुद्ध करके करना।

यदि भावशुद्धि के बिना करे तो तत्काल **बिगड़े और फल कुछ नहीं है इसलिए भाव शुद्ध करके करने का उपदेश है। ऐसा तो न जानना कि इनका बाह्य में करने का निषेध किया है, इनको भी करना और भाव भी शुद्ध करना-ऐसा आशय है और केवल पूजा-लाभादि एवं अपनी महतंता दिखाने के लिए ही करे तो कुछ भले फल की प्रप्ति नहीं है[1]।।११३।।**

टि0-1. समस्त व्यवहार को बाह्य में करने की प्रेरणा दी, किसी का भी निषेध नहीं किया परन्तु उन्हें भाव□ुद्धिपूर्वक करने को कहा। 'यह भी करना और भाव□ुद्ध करना'-इस प्रकार दोनों को करने की बात कही। उत्तरगुणों के पालने आदि का निषेध करेंगे तो व्यवहार के लोप का दूषण आएगा और इन्हें भाव□ुद्धि के बिना केवल पूजालाभादि व अपनी महंतता दिखाने के लिए जीव करेगा तो एक तो इनमें तत्काल बिगाड़ होगा और फल उनका कुछ है नहीं। इसी प्रकार गाथा 54 के भावार्थ में भी भाव सहित द्रव्यलिंग का-दोनों को ही धारने का उपदे□ा दिया है कि 'भाव सहित द्रव्यलिंग भये कर्म की निर्जरा नामा कार्य होय है।'

उत्थानिका

आगे तत्त्व की भावना करने का उपदेश करते हैं :–

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थपंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं।। ११४।।

तू भाव प्रथम, द्वितिय, त तीय, चतुर्थ, पंचम तत्त्व अरु।
आद्यंत रहित त्रिवर्गहर, आत्मा को त्रिकरण शुद्धि से।।११४।।

अर्थ

हे मुनि ! तू **१.** प्रथम तत्त्व जो **जीवतत्त्व** उसको भा तथा **२.** दूसरे तत्त्व **अजीव तत्व** को भा तथा **३.** तीसरे तत्त्व **आस्रव तत्त्व** को भा तथा **४.** चौथे तत्त्व **बंध** को भा तथा **५.** पाँचवां तत्त्व जो **संवर तत्त्व** उसको भा तथा त्रिकरण अर्थात् मन-वचन-काय और क त-कारित-अनुमोदना से शुद्ध होते हुए आत्मा को भा। **कैसा है आत्मा**–अनदिनिधन है। **और कैसा है**–त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम–इनका हरने वाला है।

भावार्थ

(१) प्रथम तो जीव तत्त्व की भावना सामान्य से करनी कि 'जीव दर्शनज्ञानमयी चेतना स्वरूप है' और पीछे 'ऐसा मैं हूँ' ऐसे आत्मतत्त्व की भावना करनी।

(२) दूसरा अजीव तत्त्व है सो सामान्य अचेतन जड़ है। वे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं इनका विचार करना और पीछे ऐसी भावना करनी कि 'वे मैं नहीं हूँ।'

(३) तीसरा आस्रव तत्त्व है सो जीव–पुद्गल के संयोगजनित भाव हैं, उनमें जीव के भाव तो राग-द्वेष मोह हैं और अजीव पुद्गल के भाव कर्म के उदय रूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग–ये द्रव्य आस्रव हैं। इनकी भावना करनी कि 'ये मेरे लिये हेय हैं, मेरे ये जो राग-द्वेष-मोह भाव हैं उनसे कर्म का बंध होता है और उससे संसार होता है इसलिए उनका मुझे कर्ता नहीं होना।

(४) चौथा बंध तत्त्व है जो मैं राग-द्वेष-मोह रूप परिणमता हूँ सो तो मेरी चेतना

इनसे बंधती है और कर्म पुद्गल जो ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार होकर बंधते हैं वे प्रक ति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार के होकर बंधते हैं वे पुद्गल हैं सो मेरे प्रदेशों में एकक्षेत्र अवगाह रूप होकर बंधते हैं, वे मेरे भाव तथा पुद्गल कर्म सब हेय हैं, संसार के कारण हैं, मुझको राग-द्वेष-मोह रूप नहीं होना–इस प्रकार भावना करनी ।

(५) पाँचवां तत्त्व संवर है सो राग-द्वेष-मोह रूप जो जीव के भाव हैं उनका नहीं होना और दर्शन–ज्ञान रूप चेतना भाव में स्थिर होना–यह संवर है सो तो अपना भाव है और पुद्गल कर्म का आस्रव न होना वह पुद्गल का भाव है सो यह संवर तत्त्व उपादेय है, इससे कर्म की निर्जरा होकर मोक्ष होता है और संसार का भ्रमण मिटता है। इस प्रकार इन पाँच तत्त्वों की भावना करने में आत्मतत्त्व की भावना प्रध ाान है, उससे कर्म की निर्जरा होकर मोक्ष होता है तब आत्मा का भाव अनुक्रम से शुद्ध होना–**यह तो निर्जरा तत्त्व हुआ** और सारे कर्मों का अभाव होना–**यह मोक्ष तत्त्व हुआ। इस प्रकार सात तत्त्वों की भावना करनी ।**

इसी से आत्मतत्त्व का विशेषण किया कि **आत्मतत्त्व कैसा है**–धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का अभाव करता है, इसकी भावना से त्रिवर्ग से भिन्न जो चौथा पुरूषार्थ मोक्ष है वह होता है।

यह आत्मा ज्ञानदर्शनमयी चेतनास्वरूप अनादिनिधन है, इसका आदि भी नहीं है और 'निधन' अर्थात् नाश भी नहीं है। तथा भावना नाम बार-बार जो चिंतवन करना, अभ्यास करना इसका है सो मन से, वचन से, काय से तथा स्वयं करना, दूसरे से कराना तथा करते हुए को भला जानना-ऐसे त्रिकरण शुद्ध करके भावना करनी; माया, मिथ्या व निदान शल्य नहीं रखनी और ख्याति-लाभ-पूजा का आशय नहीं रखना-इस प्रकार तत्त्व की भावना करने से भाव शुद्ध होते हैं।

इसका उदाहरण इस प्रकार है कि जब स्त्री आदि इंद्रियगोचर हों तब उसमें तत्त्व का विचार करना कि 'यह स्त्री है सो क्या है ?' यह जीव नामक तत्त्व की एक पर्याय है और इसका शरीर है सो पुद्गल तत्त्व की पर्याय है और यह हाव–भाव चेष्टा करती है सो इस जीव के तो विकार हुआ है वह आस्रव तत्त्व है और बाह्य चेष्टा पुद्गल की है। इस विकार से इस स्त्री की आत्मा के कर्म का बंध होता है,

यह विकार यदि इसके न हो तो आस्रव–बंध इसके न हो तथा कदाचित् मैं भी इसको देख विकार रूप परिणमण करूँ तो मेरे भी आस्रव–बंध हो इसलिए मुझको विकार रूप नहीं होना–यह संवर तत्त्व है और बन सके तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार मेटूं–इस प्रकार तत्त्व की भावना से अपना भाव अशुद्ध नहीं होता इसलिए जो द ष्टिगोचर पदार्थ हों उनमें ऐसे तत्त्व की भावना रखनी–यह तत्त्व की भावना का उपदेश है।।११४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'तत्त्व की भावना जब तक नहीं है तब तक मोक्ष नहीं है' :–

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं।। ११५।।

भावे न जबतक तत्त्व, जबतक चिन्तनीय न चिंतवे।
तब तक न पाता जीव यह, जरमरणवर्जित थान को।।११५।।

अर्थ

हे मुने ! जब तक यह जीव जीवादि तत्त्वों को नहीं भाता है तथा चिंतवन करने योग्य वस्तुओं का चिंतवन नही करता है तब तक जरा और मरण से रहित जो स्थान मोक्ष उसको नहीं पाता है।

भावार्थ

तत्त्व की भावना तो जो पूर्व में कही वह और चिंतवन करने योग्य धर्म–शुक्ल ध्यान की विषयभूत ध्येय वस्तु जो अपना शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनाभाव और ऐसा ही अरहंत–सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप उसका चिंतवन–ये दोनों जब तक इस आत्मा के नहीं हैं तब तक संसार से निव त्त होना नहीं है इसलिए तत्त्व की भावना और शुद्ध स्वरूप के ध्यान का उपाय निरन्तर रखना–यह उपदेश है।।११५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पाप-पुण्य का और बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही है' :–

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो[1] ।। ११६।।

हो पाप सब व पुण्य सब भी, होता है परिणाम से।
परिणाम से ही बंध-मुक्ति, जिन के शासन में कही।।११६।।

अर्थ

जो कुछ पाप होता है तथा पुण्य होता है वह सब परिणाम ही से होता है तथा बंध और मोक्ष-ये भी परिणाम ही से होते हैं-ऐसा जिनेश्वर देव के शासन-उपदेश, मत में कहा है।

भावार्थ

पाप-पुण्य और बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा सो जीव के मिथ्यात्व, विषय-कषाय और अशुभ लेश्या रूप तीव्र परिणाम हों तो उनसे तो पाप का आस्रव-बंध होता है तथा परमेष्ठी की भक्ति एवं जीवों पर दया इत्यादि मंदकषाय शुभ लेश्या रूप परिणाम हों तो उनसे पुण्य का आस्रव–बंध होता है तथा दोनों भावों से रहित शुद्ध ज्ञान–दर्शन रूप परिणाम से मोक्ष होता है और शुद्ध परिणाम

टि0-1. 'श्रु0 टी0, म0 टी0 व वी0 प्रति' सबमें ही इस गाथा की प्रथम पंक्ति में आए हुए 'हवइ' पाठ के स्थान पर दोनों ही जगह 'पयइ' पाठ दिया है। 'पयइ-पचति' पद के 'निर्जरा करना व विस्तार करना'-ये दोनों अर्थ होते हैं। 'श्रु0 टी0' में एक अर्थ पाप के व एक अर्थ पुण्य के साथ लगाया है कि 'परिणाम ही समस्त पाप को पचाता है अर्थात् निर्जरित करता है और परिणाम ही समस्त पुण्य को पचाता है अर्थात् विस्त□त करता है, उसकी प्राप्ति कराता है।' 'म0 टी0' में दोनों ही अर्थों को पाप व पुण्य प्रत्येक ही पद के साथ लगाकर ऐसा अर्थ किया है कि 'मोहयुक्त परिणाम से सर्व पापों की व□द्धि व मोह रहित परिणामों से सर्व पापों का ना□ा होता है। ऐसे ही □ुभ रागयुक्त परिणाम से सर्व पुण्य की व□द्धि और राग रहित परिणामों से सर्व पुण्य का ना□ा होता है।' 116

रहित विभाव रूप परिणाम से बंध होता है। **इनमें शुद्ध भाव के सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना तथा अशुभ परिणाम सर्वथा मेटना-यह उपदेश है[1]।।११६।।**

उत्थानिका

आगे पाप–पुण्य का बंध जैसे भावों से होता है उनको कहते हैं। उनमें प्रथम ही पाप बंध के परिणाम कहते हैं :–

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरंमुहो जीवो।। ११७।।

मिथ्यात्व, अविरति अरु कषाय व योग युत लेश्या अशुभ।
जिनवच पराङ्मुख जीव जो, बाँधे अशुभ ही कर्म को।।११७।।

अर्थ

मिथ्यात्व तथा कषाय और असंयम और योग, वे कैसे–अशुभ है लेश्या जिनमें, ऐसे भावों से तो यह जीव अशुभ कर्म को बांधता है। कैसा जीव अशुभ कर्म को बांधता है–जो जिनवचन से पराङ्मुख है वह पाप बांधता है।

भावार्थ

(१) **मिथ्यात्व भाव** तो तत्त्वार्थ का श्रद्धान रहित परिणाम है, (२) **कषाय** क्रोधादि हैं, (३) **असंयम** परद्रव्य का जो ग्रहण रूप भाव है, त्याग रूप नहीं–ऐसा इन्द्रियों के विषयों से प्रीति और जीवों की विराधना सहित भाव है और (४) **योग** मन–वचन–काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का चलना है–ये भाव हैं वे जब तीव्र कषाय सहित क ष्ण, नील और कापोत इन अशुभ लेश्या रूप होते हैं तब इस जीव

टि0-1. यहाँ □ुद्ध भाव के सन्मुख रहने की प्रेरणा की, उसके अनुकूल □ुभ परिणाम रखने का अर्थ है-'सारे □ुभ परिणामों से □ुद्धभाव की पुष्टि और उसकी तरफ ढलाव होना चाहिए, भेदज्ञान व आत्मभावना की पुष्टि करते हुए समस्त □ुभभाव व क्रिया की जानी चाहिए' और अ□ुभ परिणाम तो सर्वथा हेय हैं ही अत: उन्हें सर्वथा मेटने का उपदे□ा दिया। 116

के पापकर्म का बंध होता है सो पाप बंध करने वाला जीव कैसा है–जिसके जिनवचन के श्रद्धा नहीं है।

इस विशेषण का यह आशय है कि 'अन्यमत के श्रद्धानी के जो कदाचित् शुभ लेश्या के निमित्त से पुण्य का बंध भी होता है तो उसको पाप ही में गिनते हैं क्योंकि एक भव में कुछ पुण्य का उदय भोगे पीछे वह पाप ही का कारण होता है इसलिए परम्परा से पाप ही में गिना जाता है और जो जिन आज्ञा में प्रवर्तता है उसके कदाचित्–किंचित् पाप भी बंधे तो भी वह जीव पुण्य जीवों ही की पंक्ति में गिना जाता है। मिथ्याद ष्टि को पाप जीवों में गिना है और सम्यग्द ष्टि को पुण्य जीवों में गिना है।'

इस प्रकार पापबंध के कारण कहे।।११७।।

उत्थानिका

आगे 'इससे उल्टा जो जीव है वह पुण्य बांधता है'–ऐसा कहते हैं :–

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेवजिणेण वज्जरियं।। ११४।।

विपरीत उससे भावशुद्धिवंत, बाँधे कर्म शुभ।
बाँधता द्विविध प्रकार ऐसे, जिन कहा संक्षेप से।।११४।।

अर्थ

उस पूर्वोक्त मिथ्यात्व रहित सम्यग्द ष्टि जीव है सो शुभ कर्म को बांधता है। कैसा है वह जीव–भावों की जो विशुद्धता उसको प्राप्त है। ऐसे दो प्रकार के भावों से दोनों सम्यग्द ष्टि और मिथ्याद ष्टि जीव शुभाशुभ कर्म को बांधते हैं–यह संक्षेप से जिनदेव ने कहा है।

भावार्थ

पूर्व में कहा जिनवचन से पराङ्.मुख जो मिथ्यात्व सहित जीव, उससे

विपरीत जिन आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्द ष्टि जीव है सो विशुद्ध भाव को प्राप्त हुआ शुभ को बांधता है क्योंकि इसके सम्यक्त्व के माहात्म्य से ऐसे उज्ज्वल भाव हैं जिससे मिथ्यात्व के साथ बंधने वाली पाप प्रक तियों का अभाव है, कदाचित्-किंचित् कोई पाप प्रक ति बंधती है उसका अनुभाग मंद होता है, कुछ तीव्र पाप फल का दाता नहीं है इसलिए सम्यग्द ष्टि शुभ कर्म ही का बांधने वाला है। इस प्रकार शुभ-अशुभ कर्मबंध का संक्षेप से विधान सर्वज्ञदेव ने कहा है सो जानना।।११४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि हे मुनि ! तू ऐसी भावना कर :–

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं।
दहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तं ।। ११9।।

वेष्ठित हूँ मैं ज्ञानावरण, आदी जिन आठों कर्म से।
कर दग्ध प्रकटाऊँ अमित, ज्ञानादि गुणमय चेतना।।११9।।

अर्थ

हे मुनिवर ! तू ऐसी भावना कर कि 'मैं ज्ञानावरण को आदि लेकर जो आठ कर्म हैं उनसे घिरा हुआ हूँ इसलिए उनको भस्म करके अनंत ज्ञानादि गुणस्वरूप चेतना को प्रकट करता हूँ।'

भावार्थ

स्वयं को कर्मों से ढका हुआ माने और उनसे अपने अनंत ज्ञानादि गुण आच्छादित माने तब उन कर्मों का नाश करने का विचार करे इसलिए कर्मों के बंध की और उनके अभाव की भावना करने का उपदेश है और कर्मों का अभाव शुद्धस्वरूपके ध्यान से होता है सो करने का उपदेश है। कर्म आठ हैं, उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय–ये तो घातिया कर्म हैं, इनकी प्रक ति सैंतालीस हैं। उनमें केवलज्ञानावरण से तो अनंत ज्ञान आच्छादित है,

केवलदर्शनावरण से अनंत दर्शन आच्छादित है, मोहनीय से अनंत सुख प्रकट नहीं होता और अन्तराय से अनंत वीर्य प्रकट नहीं होता सो इनका नाश करना। चार अघातिया कर्म हैं उनसे अव्याबाधत्व, अगुरूलघुत्व, सूक्ष्मता और अवगाहना–ये प्रकट नहीं होते। इन अघातिया कर्मों की प्रक ति एक सौ एक हैं, उनका घातिया कर्मों का नाश होने पर स्वयमेव अभाव होता है–ऐसा जानना।।११७।।

उत्थानिका

आगे इन कर्मों का नाश होने के लिये अनेक प्रकार का उपदेश है, उसको संक्षेप से कहते हैं :–

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा।। १२०।।

अठदस सहस तो शील, लख चौरासी गुण के समूह की।
कर भावना अनुदिन निखिल, प्रलपन निरर्थक बहु से क्या !।।१२०।।

अर्थ

शील तो अठारह हजार भेद रूप है तथा उत्तर गुण चौरासी लाख हैं, वहाँ आचार्य कहते हैं कि हे मुने ! बहुत झूठे प्रलाप रूप निरर्थक वचनों से क्या ! इन शीलों को और उत्तर गुणों को सबको तू निरन्तर भा; इनकी भावना, चिंतवन और अभ्यास निरन्तर रख तथा इनकी प्राप्ति हो वैसा कर।

भावार्थ

जो जीव नामक वस्तु है सो अनंत धर्मस्वरूप है, वहाँ संक्षेप से उसकी दो परिणति हैं–एक स्वभाव रूप और एक विभाव रूप। उसमें स्वाभाविक तो शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतना परिणाम है और विभाव परिणाम कर्म के निमित्त से हैं। वे प्रधानता से तो मोह कर्म के निमित्त से हुए संक्षेप से मिथ्यात्व और राग–द्वेष हैं, उनके विस्तार से अनेक भेद हैं तथा अन्य कर्मों के उदय से जो विभाव होते हैं उनमें पौरुष प्रधान नहीं है इसलिए उपदेश अपेक्षा वे गौण हैं। इस प्रकार ये शील

और उत्तर गुण स्वभाव एवं विभाव परिणति के भेद से भेद रूप करके कहे हैं।

शील की तो दो प्रकार से प्ररूपणा है–एक तो स्वद्रव्य–परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा है और दूसरी स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा है। उनमें परद्रव्य का संसर्ग (१) मन, वचन, काय से होता है और क त, कारित, अनुमोदना से होता है सो न करना। इनको परस्पर गुणा करने पर नौ भेद होते हैं तथा (२) आहार, भय, मैथुन और परिग्रह–ये चार संज्ञा हैं, इनसे परद्रव्य का संसर्ग होता है सो न होना–इस प्रकार नौ भेदों को इन चार संज्ञाओं से गुणा करने पर छत्तीस होते हैं तथा (३) पाँच इन्द्रियों के निमित्त से विषयों का संसर्ग होता है, उनकी प्रव त्ति के अभाव रूप पाँच इन्द्रियों से छत्तीस को गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते हैं तथा (४) प थ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक और साधारण–ये तो एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ऐसे दस भेद रूप जो जीव उनका संसर्ग, इनकी हिंसादि रूप प्रवर्तने से परिणाम विभाव रूप होते हैं सो न करना, ऐसे एक सौ अस्सी भेदों को दस से गुणा करने पर अठारह सौ होते हैं तथा (५) क्रोधादि कषाय और असंयम परिणाम से परद्रव्य सम्बन्धी विभाव परिणाम होते हैं, उनके अभाव रूप दसलक्षण धर्म है, उससे गुणा करने पर अठारह हजार होते हैं। **ऐसे परद्रव्य के संसर्ग रूप कुशील के अभाव रूप शील के अठारह हजार भेद हैं। इनके पलने से परम ब्रह्मचर्य होता है। 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा-उसमें प्रवर्तना, रमना उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं।**

स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा इस प्रकार है–स्त्री दो प्रकार की है, उनमें अचेतन स्त्री तो काष्ठ, पाषाण और 'लेप' अर्थात् चित्राम–इन तीन का मन और काय इन दो से संसर्ग होता है। यहाँ वचन नहीं है इसलिए दो से गुणा करने पर छह होते हैं। इनको क त, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर अठारह होते हैं, पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर नब्बे होते हैं, द्रव्य और भाव से गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते हैं और क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार कषायों से गुणा करने पर सात सौ बीस होते हैं।

तथा चेतन स्त्री देवी, मनुष्यनी और तिर्यंचनी ऐसे तीन, इन तीनों को मन, वचन और काय से गुणा करने पर नौ होते हैं। क त, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर सत्ताईस होते हैं। इनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस होते हैं। इनको द्रव्य और भाव–इन दो से गुणा करने पर दो सौ सत्तर होते हैं। इनको चार

संज्ञा से गुणा करने पर एक हजार अस्सी होते हैं। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ–इन सोलह कषायों से गुणा करने पर सतरह हजार दो सौ अस्सी होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस मिलाने पर अठारह हजार होते हैं। ऐसे स्त्री के संसर्ग से विकार परिणाम होते हैं सो कुशील हैं और उनके अभाव रूप परिणाम वे शील हैं, इनकी भी 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा है।

चौरासी लाख उत्तर गुण ऐसे हैं–आत्मा के विभाव परिणामों के बाह्य कारणों की अपेक्षा जो भेद होते हैं उनके अभाव रूप ये गुणों के भेद हैं। उन विभावों के भेदों की गणना संक्षेप से ऐसे है–**१.** हिंसा, **२.** अन त, **३.** स्तेय, **४.** मैथुन, **५.** परिग्रह, **६.** क्रोध, **७.** मान, **८.** माया, **९.** लोभ, **१०.** भय, **११.** जुगुप्सा, **१२.** अरति, **१३.** रति, **१४.** मनोदुष्टत्व, **१५.** वचनदुष्टत्व, **१६.** कायदुष्टत्व, **१७.** मिथ्यात्व, **१८.** प्रमाद, १९. पैशुन्य, **२०.** अज्ञान और **२१.** इन्द्रिय का अनिग्रह–ऐसे इक्कीस दोष हैं, इनको अतिकम, व्यतिकम, अतिचार और अनाचार–इन चार से गुणा करने पर चौरासी होते हैं। तथा प थ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक और साधारण–ये तो स्थावर एकेन्द्रिय जीव छह, विकलत्रय तीन और पंचेन्द्रिय एक–ऐसे जीवों के दस भेद, इनका परस्पर आरम्भ से घात होते आपस में गुणा करने पर एक सौ होते हैं, इनसे चौरासी को गुणा करने पर चौरासी सौ होते हैं। इनको दस शील की विराधना से गुणा करने पर चौरासी हजार होते हैं। उन दस के नाम ये है **१.** स्त्रीसंसर्ग **२.** पुष्टरसभोजन, **३.** गंधमाल्य का ग्रहण, **४.** सुन्दर शयन–आसन का ग्रहण, **५.** भूषण का मंडन, **६.** गीतवादित्र का प्रसंग, **७.** धन का संप्रयोग, **८.** कुशील का संसर्ग, **९.** राजसेवा और **१०.** रात्रिसंचरण–ये दस शील की विराधना हैं। इनको आलोचना के जो दस दोष हैं कि जो गुरु के पास लगे हुए दोषों की आलोचना करे सो सरल हो करके न करे, कुछ शल्य रखे, उसके दस भेद किए हैं, उनसे गुणा करने पर आठ लाख चालीस हजार होते हैं। तथा आलोचना को आदि देकर प्रायश्चित्त के दस भेद हैं, उनसे गुणा करने पर चौरासी लाख होते हैं। सो ये सब दोषों के भेद हैं, इनके अभाव से गुण हैं, इनकी भावना रखे, चिन्तवन और अभ्यास रखे और इनकी संपूर्ण प्राप्ति होने का उपाय रखे–इस प्रकार इनकी भावना का उपदेश है। **आचार्य कहते हैं कि 'बार-बार बहुत वचन के प्रलाप से तो कुछ**



साध्य नहीं है, जो कुछ आत्मा के स्वभाव की प्रव त्ति के व्यवहार के भेद हैं उनकी 'गुण' संज्ञा है, उनकी भावना रखना।'

यहाँ इतना और जानना कि गुणस्थान चौदह कहे हैं, उस परिपाटी से गुण–दोषों का विचार है। उनमें **मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र-इन तीन गुणस्थानों** में तो विभाव परिणति ही है, इनमें तो गुण का विचार ही नहीं है। अविरति, देशविरति आदि में गुण का एकदेश आता है। **अविरत** में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव रूप गुण का एकदेश सम्यक्त्व और तीव्र राग–द्वेष का अभाव रूप गुण आता है और **देशविरत** में कुछ व्रत का एकदेश आता है। **प्रमत्त** में महाव्रत रूप सामायिक चारित्र का एकदेश आता है क्योंकि संसार, देह सम्बन्धी तो राग–द्वेष वहाँ नहीं है परन्तु धर्म सम्बन्धी राग है और सामायिक राग–द्वेष के अभाव का नाम है इसलिए सामायिक का एकदेश ही कहलाता है और यहाँ स्वरूप के सन्मुख होने में क्रियाकांड के सम्बन्ध से प्रमाद है इसलिए प्रमत्त नाम दिया है। **अप्रमत्त** में स्वरूप के साधने में प्रमाद तो नहीं है परन्तु कुछ स्वरूप के साधने का व्यक्त राग है इसलिए वहाँ भी सामायिक का एकदेश ही कहलाता है। **अपूर्वकरण-अनिव त्तिकरण** में राग व्यक्त नहीं है, अव्यक्त कषाय का सद्भाव है इसलिये सामायिक चारित्र की पूर्णता कही है। तथा **सूक्ष्मसांपराय** है सो अव्यक्त कषाय भी सूक्ष्म रह गई इसलिए इसका नाम 'सूक्ष्मसांपराय' दिया तथा **उपशान्तमोह** और **क्षीणमोह** में कषाय का अभाव ही है इसलिए जैसा आत्मा का मोह के विकार रहित शुद्ध स्वरूप था उसका अनुभव हुआ अतः वहाँ 'यथाख्यात चारित्र' नाम पाया। ऐसे मोह कर्म के अभाव की अपेक्षा तो वहाँ ही उत्तर गुणों की पूर्णता कही जाती है परन्तु आत्मा का स्वरूप अनन्तज्ञानादि स्वरूप है सो घातिकर्म का नाश होने पर अनन्त ज्ञानादि प्रकट होते हैं तब **'सयोगकेवली'** कहे जाते हैं, वहाँ भी कुछ योगों की प्रव त्ति है इसलिए **'अयोगकेवली' चौदहवाँ गुणस्थान** है वहाँ योगों की प्रव त्ति मिटकर अवस्थित आत्मा हो जाती है तब चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता कही जाती है। ऐसे गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर गुणों की प्रव त्ति का विचार करना । ये बाह्य की अपेक्षा भेद हैं, अन्तरंग की अपेक्षा विचार करें तो संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं–ऐसा जानना।।१२०।।

उत्थानिका

आगे भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान करने का उपदेश करते हैः–

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं।। १२१।।

ध्याया है आरत-रौद्र को, इस जीव ने चिरकाल से।
अब ध्या धरम व शुक्ल तू , तज ध्यान आर्त व रौद्र को।।१२१।।

अर्थ

हे मुने ! तू आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़ और जो धर्म-शुक्ल ध्यान हैं उनको ध्या क्योंकि रौद्र और आर्त ध्यान तो इस जीव ने अनादि से लगाकर बहुत काल तक ध्याये हैं।

भावार्थ

आर्त–रौद्र ध्यान तो अशुभ हैं, संसार के कारण हैं। ये दोनों ध्यान तो जीव के बिना उपदेश ही अनादि से प्रवर्त रहे हैं इसलिए इनको तो छोड़ने का उपदेश है तथा धर्म–शुक्ल ध्यान हैं वे स्वर्ग–मोक्ष के कारण हैं, उनको कभी भी ध्याया नहीं इसलिए उनको ध्याने का उपदेश है। ध्यान का स्वरूप 'एकाग्रचिंतानिरोध' कहा है वहाँ धर्मध्यान में तो धर्मानुराग का सद्भाव है सो मोक्षमार्ग के कारणों में धर्म के राग सहित 'एकाग्रचिंतानिरोध' होता है इसलिए शुभ राग के निमित्त से पुण्यबंध भी होता है और विशुद्धि के निमित्त से पापकर्म की निर्जरा भी होती है। तथा शुक्ल ध्यान में आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में तो अव्यक्त राग है, वहाँ अनुभव की अपेक्षा उपयोग उज्ज्वल है इसलिए शुक्ल नाम पाया है और इससे ऊपर के गुणस्थानों में राग कषाय का अभाव ही है इसलिए सर्वथा ही उपयोग उज्ज्वल है, वहाँ शुक्ल ध्यान युक्त ही है। यहाँ इतना विशेष और है कि उपयोग के एकाग्रपने रूप ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कही है उस अपेक्षा तेरहवें–चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उपचार है और योग क्रिया के थंभने की अपेक्षा ध्यान कहा है। यह शुक्ल ध्यान कर्म की निर्जरा करके जीव को मोक्ष प्राप्त कराता है–इस प्रकार ध्यान का उपदेश जानना।।१२१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह ध्यान भावलिंगी मुनियों को मोक्ष प्राप्त कराता है' :–

जे केवि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।। १२२।।

इन्द्रिय सुखाकुल द्रव्यमुनि, भव व क्ष को छेदें नहीं।
छेदते भावमुनी ही उसको, ध्यान रूप कुठार से।।१२२।।

अर्थ

जो कोई द्रव्यलिंगी श्रमण हैं वे तो इन्द्रिय सुख में व्याकुल हैं, उनके यह धर्म-शुक्ल ध्यान होता नहीं, वे तो संसार रूपी व क्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं तथा जो भावलिंगी श्रमण हैं वे ध्यान रूपी कुल्हाड़े से संसार रूपी व क्ष को काटते हैं।

भावार्थ

जिन मुनियों ने द्रव्यलिंग को धारण किया है परन्तु परमार्थ सुख का अनुभव जिनके नहीं हुआ इसलिए इसलोक तथा परलोक में जो इन्द्रियों के सुख ही को चाहते हैं और तपश्चरणादि भी इस ही अभिलाषा से करते हैं उनको धर्म–शुक्ल ध्यान कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा तथा जिन्होंने परमार्थ सुख का आस्वाद लिया उनको इन्द्रिय सुख दुःख भासित हुआ इसलिए वे परमार्थ सुख का उपाय जो धर्म–शुक्ल ध्यान हैं उनको करके संसार का अभाव करते हैं सो भावलिंगी होकर ध्यान का अभ्यास करना।।१२२।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ष्टान्त से द ढ़ करते हैं :–

जह दीवो गब्भहरे मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ।। १२३।।

ज्यों गर्भग ह में वायु की, बाधा रहित दीपक जले।
त्यों राग रूपी पवन विरहित, ध्यान दीपक प्रज्ज्वले।।१२३।।

अर्थ

जैसे दीपक है वह 'गर्भग ह' अर्थात् जहाँ पवन का संचार नहीं—ऐसा जो मध्य का घर उसमें पवन की बाधा से रहित निश्चल हुआ प्रज्ज्वलित होता है अर्थात् प्रकाश करता है वैसे ही अन्तरंग मन में राग रूपी पवन से रहित ध्यान रूपी दीपक भी प्रज्ज्वलित हुआ, एकाग्र होकर ठहरता है और आत्मरूप को प्रकाशित करता है।

भावार्थ

पूर्व में कहा था कि जो इन्द्रिय सुख से व्याकुल हैं उनके शुभ ध्यान नहीं होता है, उसका यह दीपक का द ष्टान्त है। जहाँ इन्द्रियों के सुख में जो राग वह ही हुई पवन सो विद्यमान है उनके ध्यान रूपी दीपक कैसे निर्बाध उद्योत करे अर्थात् नहीं करता और जिनके यह राग रूपी पवन बाधा नहीं करता है उनके ध्यान रूपी दीपक निश्चल ठहरता है।।१२३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ध्यान में परमार्थ ध्येय शुद्ध आत्मा का स्वरूप है उस स्वरूप रूप तथा उस स्वरूप के आराधने में नायक अर्थात् प्रधान पंच परमेष्ठी हैं उनका ध्यान करना'—यह उपदेश करते हैं :—

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरण लोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे।। १२४।।

ध्या पंच गुरु जो लोक उत्तम, शरण, मंगल रूप हैं।
आराधना नायक व सुर-नर-खचर पूजित वीर हैं।।१२४।।

अर्थ

हे मुनि ! तू 'पंचगुरु' अर्थात् पंच परमेष्ठी हैं उनका ध्यान कर। यहाँ 'अपि' शब्द

है सो शुद्धात्मस्वरूप के ध्यान को सूचित करता है। वे पंच परमेष्ठी कैसे हैं–'मंगल' अर्थात् पाप का गालन अथवा सुख का देना और 'चउशरण' अर्थात अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म–ये चार शरण और 'लोक' अर्थात् लोक के प्राणी उनसे 'परिकरित' अर्थात् परिवारित हैं–युक्त हैं तथा नर, सुर और विद्याधरों से महित हैं–पूज्य हैं इसी कारण लोकोत्तम कहे गए हैं। तथा आराधना के नायक हैं तथा वीर हैं–कर्मों के जीतने को सुभट हैं तथा विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा उसे देते हैं–ऐसे पंच परम गुरु का ध्यान कर।

भावार्थ

यहाँ पंच परमेष्ठी का ध्यान करना कहा सो ध्यान में विघ्न का निवारण करने वाले चार मंगलस्वरूप कहे वे ये ही हैं तथा चार शरण और चार लोकोत्तम कहे हैं वे भी इन ही को कहे हैं, इनके सिवाय प्राणी को अन्य शरण–रक्षा करने वाला भी नहीं है और लोक में उत्तम भी ये ही हैं। तथा आराधना, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप–ये चार हैं उनके नायक–स्वामी भी ये ही हैं, कर्मों को जीतने वाले भी ये ही हैं इसलिए ध्यान के कर्ता को इनका ध्यान श्रेष्ठ है, शुद्धस्वरूप की प्राप्ति इन ही के ध्यान से होती है, इसलिए यह उपदेश है।।१२४।।

उत्थानिका

आगे ध्यान है वह ज्ञान का एकाग्र होना है सो ज्ञान के अनुभव करने का उपदेश करते हैं :–

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति।। १२५।।

पी विमल शीतल ज्ञानमय, जल को भविकजन भाव से।
जर-मरण-व्याधि वेदना की, दाह मुक्त हों शिवमयी।।१२५।।

अर्थ

भव्य जीव हैं वे ज्ञानमयी निर्मल, शीतल जल है उसको सम्यक्त्व भाव सहित

पीकर और व्याधिस्वरूप जो जरा और मरण उसकी वेदना-पीड़ा उसको भस्म कर 'मुक्त' अर्थात् संसार से रहित और 'शिव' अर्थात् परमानंद सुख रूप होते हैं।

भावार्थ

जैसे निर्मल और शीतल ऐसे जल को पी लेने पर पित्त की दाह रूप व्याधि मिटती है और साता होती है वैसे यह ज्ञान है सो जब रागादि मल से रहित निर्मल हो और आकुलता रहित शांत भाव रूप हो तो उसकी भावना करके उसे रुचि, श्रद्धा और प्रतीति से पीवे और उससे तन्मय हो तो जरा, मरण रूप दाह–वेदना मिट जाये और संसार से निव त्त हो तथा सुख रूप हो इसलिए भव्य जीवों को यह उपदेश है कि 'ज्ञान में लीन होओ।।१२५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस ध्यान रूपी अग्नि से संसार के बीज रूप आठ कर्म एक बार दग्ध हुए पीछे फिर संसार नहीं होता सो यह बीज भाव मुनियों के दग्ध होता है':–

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिबीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं।। १२६।।

ज्यों बीज जल जाने पे अंकुर, प थ्वीतल में ना उगे।
त्यों कर्म बीज जले भवांकुर, भाव मुनि का उगे नहीं।।१२६।।

अर्थ

जैसे प थ्वी के स्थल में बीज के जल जाने पर उसका अंकुर है सो फिर नहीं उगता है वैसे जो भावलिंगी श्रमण हैं उनके संसार का कर्म रूपी बीज दग्ध हो जाता है जिससे संसार रूपी अंकुर फिर नहीं होता है।

भावार्थ

संसार का बीज ज्ञानावरणादि कर्म है सो कर्म भावश्रमण के ध्यान रूपी अग्नि से

दग्ध हो जाता है इसलिए फिर संसार रूपी अंकुर किससे हो अर्थात् नहीं होता अतः भावश्रमण होकर धर्म-शुक्ल ध्यान से कर्मों का नाश करना योग्य है—यह उपदेश है। कोई सर्वथा एकांती अन्यवादी कहता है कि 'कर्म अनादि है, उसका अंत भी नहीं होता' उसका यह निषेध भी है। बीज अनादि है सो एक बार दग्ध हुए पीछे फिर नहीं उगता—वैसे जानना।।१२६।।

उत्थानिका

आगे संक्षेप से उपदेश करते हैं :—

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाऊ गुणदोसे भावेण य संजदो[1] होहि।। १२७।।

पाते सुखों को भावमुनि अरु द्रव्यमुनि दुःखों को रे।
गुण-दोष ऐसे जानकर, तू भाव से संयुक्त हो।।१२७।।

अर्थ

भावश्रमण तो सुखों को पाता है और द्रव्यश्रमण है सो दुःखों को पाता है-इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भाव से संयमी हो।

भावार्थ

भावश्रमण तो सम्यग्दर्शन सहित होता है, वह संसार का अभाव करके सुखों को पाता है और मिथ्यात्व सहित द्रव्यश्रमण वेष मात्र होता है, वह संसार का अभाव

टि0- 1. अन्य सब प्रतियों में इस 'भावेण य सजंदो' पाठ के स्थान पर 'भावेण य संजुदो' (सं0-भावेन च संयुतः) पाठ है। यह पाठ भी काफी उचित प्रतीत हो रहा है क्योंकि इसमें भाव श्रमण की सुखयुक्तता का वर्णन कर भाव से संयुक्त होने की प्रेरणा दी गई है। इसका अर्थ करते हुए 'श्रु0 टी0' में लिखा है कि 'भाव से' अर्थात् 'जिनभक्ति और निजात्मा की भावना से' सहित होता हुआ प□च गुरुओं की चरण रज से रि□जत ललाटतर से तू 'संयुत' अर्थात् 'संयुक्त' हो और ऐसा करने से ही तू '□ांयुक्त' (□ां सुखं, तेन युक्तो) अर्थात् 'सुख से सहित' हो सकेगा।

नहीं कर सकता है इसलिए दुःखों को पाता है अतः उपदेश करते हैं कि 'दोनों का गुण–दोष जानकर भावसंयमी होना योग्य है'–यह सारे उपदेश का संक्षेप है।।१२७।।

उत्थानिका

फिर भी इसी का अर्थ रूप भाव संक्षेप से कहते हैं :–

तित्थयरगणहराई अब्भुदयपरंपराइं सुक्खाइं।
पावंति भावसहिया संखेवेणेति वज्जरियं।। १२८।।

तीर्थेश, गणधर आदि के, अभ्युदययुत जो सौख्य हैं।
पाते हैं भावसहित मुनी, संक्षेप से ऐसा कहा।।१२८।।

अर्थ

जो भाव सहित मुनि हैं वे अभ्युदय सहित तीर्थंकर-गणधर आदि पदवी के जो सुख उनको पाते हैं–यह संक्षेप से कहा है।

भावार्थ

तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि पदों के सुख बड़े अभ्युदय सहित हैं उनको भाव सहित सम्यग्द ष्टि मुनि हैं वे पाते हैं–यह सब उपदेश का संक्षेप से सार कहा है इसलिये भावसहित मुनि होना योग्य है।।१२८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो भावश्रमण हैं वे धन्य हैं, उनको हमारा नमस्कार हो' :–

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं।। १२९।।

हैं धन्य वे उनको नमन हो, नित्य मन-वच-काय से।
वर ज्ञान-दर्शन-चरण शुद्ध जो, भावयुत मायारहित।।१२९।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'जो मुनि सम्यग्दर्शन, श्रेष्ठ-विशिष्ट ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं तथा इसी कारण भाव से सहित हैं और प्रणष्ट हुए हैं 'माया' अर्थात कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं, उनके लिए मेरा मन-वचन-काय से सदा नमस्कार हो।'

भावार्थ

भावलिंगियों में दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जो शुद्ध हैं उनके प्रति आचार्य के भक्ति उत्पन्न हुई है इसलिये उनको धन्य कहकर नमस्कार किया है सो युक्त है। जिनको मोक्षमार्ग में अनुराग है वे जिनकी मोक्षमार्ग की प्रव त्ति में प्रधानता दीखती है उनको नमस्कार करते ही करते हैं।।१२9।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो भावश्रमण हैं वे देवादि की ऋद्धि को देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते' :–

इड्ढिमतुलां विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहि वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो।। १३०।।

किम्पुरुष, किन्नर, सुर, खचर, विक्रिया से यदि विस्तरे।
ऋद्धि अतुल हों भावनायुत, धीर उनसे भी मुग्ध नहिं।।१३०।।

अर्थ

'जिनभावना' जो सम्यक्त्व भावना उससे वासित जो जीव है सो किन्नर, किंपुरुष देव, कल्पवासी देव और विद्याधर इनसे विक्रिया रूप विस्तार की गई जो अतुल ऋद्धि उनसे मोह को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि कैसा है सम्यग्द ष्टि जीव–धीर है, द ढ़बुद्धि है और निःशंकित अंग का धारक है।

भावार्थ

जिसके जिनसम्यक्त्व द ढ़ है उसके संसार की ऋद्धि त णवत् है, परमार्थ सुख ही की भावना है, विनाशीक ऋद्धि की वांछा क्यों हो !।।१३०।।

उत्थानिका

आगे इस ही का समर्थन है कि 'ऐसी ऋद्धि ही नहीं चाहता तो अन्य सांसारिक सुख की क्या कथा !' :–

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो।। १३१।।

फिर नर-सुरों के तुच्छ सुख से, क्या करेंगे मोह वे।
मुनिधवल जो जानें रु देखें, चिंतवें हैं मोक्ष को।।१३१।।

अर्थ

सम्यग्द ष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकार की ऋद्धि ही को नहीं चाहता है तो जो'मुनिधवल' अर्थात् मुनिप्रधान है वह अन्य जो मनुष्य और देवों के सुख–भोगादि जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोह को प्राप्त होगा ! कैसा है मुनिधवल–मोक्ष को जानता है, उस ही की तरफ द ष्टि है तथा उस ही का चिन्तन करता है।

भावार्थ

जो मुनिप्रधान हैं उनकी भावना मोक्ष के सुख में है। वे बड़ी-बड़ी देव और विद्याधरों की फैलाई हुई विकिया ऋद्धि में ही लालसा नहीं करते तो किंचित् मात्र विनाशीक जो मनुष्य और देवों के भोगादि का सुख उनमें वांछा कैसे करें अर्थात् नहीं करते।।१३१।।

उत्थानिका

आगे उपदेश करते हैं कि 'जब तक जरा आदि न आवें तब तक अपना हित कर लो' :–

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं[1] ।
इंदियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहिउं।। १३२।।

टि0-1. इस पंक्ति में दो जगह आए हुए 'जा' पाठ के स्थान पर 'जाव' पाठ अधिक उपयुक्त जंचता है।

जब तक जरा न आक्रमे, रोगाग्नि से दहे तन कुटी।
जब तक न इन्द्रिय बल घटे, तब तक तू कर ले आत्महित।।१३२।।

अर्थ

हे मुने ! जब तक तेरे जरा–व द्धपना नहीं आता तथा रोग रूपी अग्नि तेरी देह को दग्ध नहीं करती और जब तक तेरे इन्द्रियों का बल नहीं घटता तब तक अपने हित को कर।

भावार्थ

व द्ध अवस्था में रोगों से देह जर्जरित हो जाता है और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं तब असमर्थ हुआ इस लोक के कार्य उठना-बैठना भी नहीं कर सकता तो परलोक सम्बन्धी तपश्चरणादि तथा ज्ञानाभ्यास और स्वरूप का अनुभवादि कार्य कैसे करे इसलिए ये उपदेश है कि 'जब तक सामर्थ्य है तब तक अपना हित रूप कार्य कर लो'।।१३२।।

उत्थानिका

आगे अहिंसा धर्म का उपदेश करते हैं :–

छज्जीव छडायदणं[1] णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुण दय परिहर मुणिवर ! भावि अपुव्वं महासत्तं[2] ।। १३३।।

टि0- 1. यहाँ 'मूल प्रति' का ही अनुसरण करते हुए एवं उसके पाठ को न बदलते हुए 'छह आयतन' अर्थ वाचक 'छडायदणं' पाठ ही दिया गया है जबकि गाथार्थ में 'छह अनायतन' पद है, 'म0 टी0' का 'छह अनायतन' अर्थवाचक 'छणायदणं' पाठ ही उपयुक्त जंचता है।

टि0- 2. 'अन्य प्रतियों' में इस पंक्ति में आए हुए 'महासत्तं' ाब्द के स्थान पर सम्बोधन सूचक 'महासत्त !' ाब्द है।
'म0टी0' में 'महासत्त' ाब्द को सम्बोधन सूचक 'मुणिवर !' ाब्द का वि ाषण करके 'महासत्त मुणिवर' का अर्थ 'हे महाबल ालिन् मुनिवर !' किया है। इसके अतिरिक्त इसी पंक्ति के 'भावि अपुव्वं' पाठ को उन्होंने जुड़ा हुआ 'भाविअपुव्वं' (सं0-भावितपूर्वं)-ऐसा देकर उसे 'छणायदणं परिहर' का वि ाषण करते हुए अर्थ किया है कि 'पूर्व में भाए हुए अर्थात् ग्रहण किए हुए छह अनायतनों का तू परिहार कर।'

त्रय योग से षट् अनायतन तज, कर दया छहकाय नित।
मुनिवर ! तू भा महासत्त्व को, भाया न जिसको पूर्व में।।१३३।।

अर्थ

हे मुनिवर ! तू छह काय के जीवों की दया कर तथा छह अनायतन का परिहार कर-उन्हें छोड़, कैसे छोड़–मन, वचन, काय के योगों से छोड़ तथा अपूर्व अर्थात् जो पूर्व में नहीं भाया ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक महासत्त्व जो चेतनाभाव उसको भा।

भावार्थ

अनादि काल से इस जीव ने जीव का स्वरूप चेतनास्वरूप नहीं जाना इसलिए जीवों की हिंसा की अतः यह उपदेश है कि 'अब जीव आत्मा का स्वरूप जान और छह काय के जीवों की दया कर।' तथा अनादि ही से आप्त, आगम और पदार्थ का तथा इनका सेवन करने वालों का स्वरूप जाना नहीं इसलिए अनाप्त आदि छह अनायतन जो मोक्षमार्ग के स्थान नहीं हैं उनको भला जानकर सेवन किया इसलिए यह उपदेश है कि 'अनायतन का परिहार कर। जीव का स्वरूप और स्वरूप के उपदेशक इन दोनों को ही पूर्व में तूने जाना नहीं और भाया नहीं इसलिए अब भा'–ऐसा उपदेश है।।१३३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जीव का तथा उपदेश करने वाले का स्वरूप जाने बिना सब जीवों के प्राणों का आहार किया'–ऐसा दिखाते हैं :–

दसविहपाणाहारो[1] अणंतभवसायरे भमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं।। १३४।।

टि0- 1. 'म0 टी0' में इस प्राकृत पाठ की सं0 छाया 'द□विधप्राणानामपहार:' देकर गाथा का अर्थ किया है कि 'अनन्त भवसागर में भ्रमण करते हुए तूने सर्व जीवों के दस प्रकार के प्राणों का अपहरण अर्थात् घात किया है।'

भ्रमते अमित भव उदधि तूने, योग सुख के हेतु से।
सब जीव प्राणाहार दशविध, किया मन-वच-काय से।।१३४।।

अर्थ

हे जीव ! तूने अनन्त भवसागर में भ्रमते हुए सकल त्रस-स्थावर जीवों के दस प्रकार के प्राणों का आहार, भोग सुख के कारण के लिए मन-वचन-काय से किया।

भावार्थ

अनादि काल से जिनमत के उपदेश के बिना अज्ञानी हुए तूने त्रस-स्थावर जीवों के प्राणों का आहार किया इसलिए अब जीव का स्वरूप जानकर जीवों की दया पाल और भोगाभिलाष छोड़-यह उपदेश है।।१३४।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं कि 'इस प्रकार प्राणियों की हिंसा से संसार में भ्रमण करके दुःख पाया' :–

पाणिवहेहि महाजस ! चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पज्जंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं।। १३५।।

प्राणि के वध से हे महायश ! योनि लख चौरासी में।
पाया निरन्तर दुःख तूने, जनमते-मरते हुए।।१३५।।

अर्थ

हे मुने ! हे महायश ! तूने प्राणियों के घात से चौरासी लाख योनि के मध्य उपजते–मरते निरन्तर दुःख को पाया।

भावार्थ

जिनमत के उपदेश बिना जीवों की हिंसा से यह जीव चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता है-मरता है, हिंसा से कर्मबंध होता है, कर्मबंध के उदय से उत्पत्ति-मरण रूप संसार होता है, इस प्रकार जन्म-मरण का दुःख सहता है इसलिए जीवों की दया का उपदेश है।।१३५।।

उत्थानिका

आगे उस दया ही का उपदेश करते हैं :–

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी! पाण भूद सत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए।। १३६।।

तू भूत-प्राणि-जीव-सत्त्व को, त्रिविध शुद्धि से हे मुनि !।
दे अभयदान कि होवे जिससे, परम्परा कल्याण सुख।।१३६।।

अर्थ

हे मुने ! तू जीवों को और प्राणी, भूत और सत्त्व–इनको अपने परम्परा से कल्याण और सुख के निमित्त मन-वचन-काय की शुद्धता से अभयदान दे।

भावार्थ

जीव तो पंचेन्द्रियों को कहते हैं, प्राणी विकलत्रय को कहते हैं, भूत वनस्पति को कहते हैं और सत्त्व पथ्वी, अप्, तेज, वायु इनको कहते हैं[1]-इन सब जीवों को अपने समान जान अभयदान देने का उपदेश है, इससे शुभ प्रकतियों का बंध होने से अभ्युदय का सुख होता है और परम्परा से तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष पाता है-यह उपदेश है।।१३६।।

उत्थानिका

आगे यह जीव षट् अनायतन का प्रसंग करके मिथ्यात्व से जो संसार में भ्रमण करता है, उसका स्वरूप कहते हैं। वहाँ प्रथम ही **मिथ्यात्व के भेदों** को कहते हैं :–

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा।। १३७।।

टि0– 1. सम्बन्धित □लोक–

द्वित्रिचतुरिन्द्रिया: प्राणा:, भूतास्त तरव: स्म□ता:।
जीवा: प□चेन्द्रिया ज्ञेया:, □ाषा: सत्त्वा: प्रकीर्तिता:।।

अक्रियावादी चौरासी, किरियावादी शत अरु अस्सी हैं।
बत्तीस सड़सठ भेद हैं, वैनयिक अरु अज्ञानी के।।१३७।।

अर्थ

एक सौ अस्सी तो क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेद रूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं।

भावार्थ

वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्म रूप सर्वज्ञ ने कहा है सो प्रमाण-नयों से सत्यार्थ सधता है। वहाँ जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं तथा सर्वज्ञ का स्वरूप यथार्थ निश्चय करके उसका श्रद्धान नहीं किया ऐसे जो अन्यवादी उन्होंने वस्तु का एक–एक धर्म ग्रहण करके पक्षपात किया कि 'हमने ऐसे माना है सो ऐसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है' ऐसे विधि–निषेध से एक–एक धर्म के पक्षपाती हुए उनके ये संक्षेप से तीन सौ तरेसठ भेद हैं।

(१) **उनमें कई तो क्रियावादी हैं** जिन्होंने गमन करना–बैठना–खड़ा रहना, खाना–पीना–सोना, उत्पन्न होना–नष्ट होना, देखना–जानना, करना–भोगना, भूलना–याद करना, हर्ष करना–विषाद करना, द्वेष करना, जीना–मरना इत्यादि जो क्रिया हैं उनको जीवादि पदार्थों के देखकर किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है, किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है–ऐसे परस्पर क्रिया के विवाद से भेद हुए हैं, उनके संक्षेप से एक सौ अस्सी भेद का निरूपण किया है, विस्तार करने पर बहुत होते हैं।

(२) **कई अक्रियावादी हैं**, वे जीवादि पदार्थों में क्रिया का अभाव मान परस्पर विवाद करते हैं। कई कहते हैं कि 'जीव जानता नहीं है', कई कहते हैं-कुछ करता नहीं है, कई कहते हैं-भोगता नहीं है, कई कहते हैं-उपजता नहीं है, कई कहते हैं-विनशता नहीं है, कई कहते हैं-गमन नहीं करता है और कई कहते हैं कि 'स्थित नहीं होता' इत्यादि क्रिया के अभाव का पक्षपात करके सर्वथा एकान्ती होते हैं। उनके संक्षेप से चौरासी भेद किये हैं।

(३) **कई अज्ञानवादी हैं**, उनमें कई तो सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, कई कहते हैं कि 'जीव अस्ति है यह कौन जाने', कई कहते हैं–जीव नास्ति है यह कौन जाने,

कई कहते है–जीव नित्य है यह कौन जाने और कई कहते हैं कि 'अनित्य हैं यह कौन जाने' इत्यादि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप हुए विवाद करते हैं। उनके संक्षेप से सड़सठ भेद किये हैं।

(४) **कई विनयवादी हैं**, वे कई कहते हैं कि 'देव की विनय से सिद्धि है', कई कहते हैं-गुरु की विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं-माता की विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं-पिता की विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं-राजा की विनय से सिद्धि है और कई कहते हैं कि 'सबकी विनय से सिद्धि है' इत्यादि विवाद करते हैं। उनके संक्षेप से बत्तीस भेद किये हैं।

इस प्रकार सर्वथा एकान्तियों के तीन सौ तरेसठ भेद संक्षेप से कहे हैं, विस्तार करने पर बहुत होते हैं। उनमें कई ईश्वरवादी हैं, कई कालवादी हैं, कई स्वभाववादी हैं, कई नियमवादी हैं और कई आत्मवादी हैं, जिनका स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रंथों से जानना–ऐसे मिथ्यात्व के भेद हैं।।१३७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'अभव्य जीव अपनी प्रक ति को छोड़ता नहीं अतः उसका मिथ्यात्व मिटता नहीं' :–

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।१३४।।

भलीभाँति सुन जिनधर्म भी, प्रक ति अभव्य न छोड़ता।
गुड़दुग्ध भी पीते हुए, पन्नग नहीं निर्विष बने।।१३४।।

अर्थ

अभव्य जीव है सो जिनधर्म को भली प्रकार सुनकर भी जो अपनी प्रक ति–स्वभाव है उसको नहीं छोड़ता है। यहाँ द ष्टान्त–जो सर्प है वह गुड़ सहित दूध को पीता हुआ भी विष रहित नहीं होता।

भावार्थ

जो कारण पाकर भी नहीं छूटता उसको प्रक ति स्वभाव कहते हैं सो अभव्य का स्वभाव यह है कि अनेकान्तमयी है तत्त्व का स्वरूप जिसमें ऐसा जो वीतराग-विज्ञान स्वरूप जिनधर्म जो कि मिथ्यात्व को मेटने वाला है उसका भली प्रकार स्वरूप सुनकर भी उसका मिथ्यात्व रूप स्वभाव बदलता नहीं है सो यह वस्तुस्वरूप है, किसी का किया हुआ नहीं है। यहाँ उपदेश अपेक्षा ऐसा जानना कि 'अभव्य रूप प्रक ति तो सर्वज्ञगम्य है तथापि अभव्य की प्रक ति के समान प्रक ति न रखना, मिथ्यात्व को छोड़ना'-यह उपदेश है।।१३8।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करते हैं :–

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धिया दुम्मएहिं दोसेहिं[1]।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि।। १३9।।

मिथ्यात्व आव त द ष्टियुक्त, अभव्य दुर्मत दोष से।
दुर्बुद्धि से उसे जिनप्रणीत जो, धर्म वह रुचता नहीं।।१३9।।

अर्थ

जो अभव्य जीव है उसे जो जिनप्रणीत धर्म है वह नहीं रुचता है, उसकी वह श्रद्धा नहीं करता,रुचि नहीं करता क्योंकि कैसा है अभव्य जीव–दुर्मत जो सर्वथा एकान्तियों के द्वारा प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष उनसे और अपनी दुर्बुद्धि से मिथ्यात्व से आच्छादित है बुद्धि जिसकी ऐसा है।

टि0-1. 'म0टी0' में इस प्रथम पंक्ति में 'मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्ते हि' पाठ देकर उसका अर्थ किया है-'अभव्य जीव की **द□ष्टि अर्थात् श्रद्धा** (**द□ानगुण**) मिथ्यात्व कर्म के उदय से आव□त होती है। उसकी **बुद्धि** (**ज्ञानगुण**) दूषित अर्थात् मिथ्याज्ञान रूप परिणत होती है और उसका **चित्त** (**चारित्रगुण**) राग रूपी पि□ाच के द्वारा पछाड़ा हुआ होता है।'
इस पंक्ति के 'दुम्मएहिं दोसेहिं' पाठ के स्थान पर 'वी0प्रति' में 'रागदोसेहि य चित्तेहि' (सं0-रागद्वेषै: च चित्तै:। अर्थ-रागद्वेष युक्त चित्त वाला।) एवं 'श्रु0टी0' में रागगहगहिय चितेहि (सं0-रागग्रहग्रहीतचितै:। अर्थ-राग रूपी पि□ाच से ग्रहीत चित्त वाला।) पाठ है।

भावार्थ

मिथ्यामत के उपदेश से और अपनी दुर्बुद्धि से जिसकी मिथ्याद ष्टि है उसको जिनधर्म नहीं रुचता है तब ज्ञात होता है कि वह अभव्य जीव है। यथार्थ अभव्य जीव को तो सर्वज्ञ जानते हैं परन्तु ये अभव्य के चिन्ह हैं इनसे परीक्षा करके जाना जाता है।।१३9।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस प्रकार मिथ्यात्व के निमित्त से दुर्गति का पात्र होता है' :–

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ।। १४०।।

कुत्सित धरमरत भक्ति युत, पाखंडि कुत्सित की हो जो।
कुत्सित करे तप वह तो रे! कुत्सित गति भाजन बने।।१४०।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'कुत्सित निंद्य मिथ्याधर्म में जो रत है, लीन है और जो पाखण्डी निंद्यवेषी उनकी भक्ति से संयुक्त है तथा जो निंद्य मिथ्या अज्ञान तप करता रहता है वह जीव कुत्सित निंद्य गति का भाजन होता है।'

भावार्थ

जो मिथ्या धर्म का सेवन करता है, मिथ्याद ष्टि वेषधारियों की भक्ति करता है, मिथ्या अज्ञान तप करता है वह दुर्गति ही पाता है इसलिए मिथ्यात्व को छोड़ना-यह उपदेश है।।१४०।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हुए ऐसा कहते हैं कि 'इस प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव ने संसार में भ्रमण किया' :–

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहि मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर! चिंतेहि।। १४१।।

हे धीर ! कर चिंतवन कुनय, कुशास्त्र मोहित जीव यह।
भ्रमता अनादि काल से, संसार मिथ्यावास में।।१४१।।

अर्थ

'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्व का आवास–ठिकाना जो यह मिथ्याद ष्टियों का निवास संसार, उसमें कुनय जो सर्वथा एकान्त उन सहित जो कुशास्त्र उनसे मोहित हुआ अचेत हुआ जो यह जीव सो अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमा ऐसा हे धीर ! हे मुनि ! तू विचार।

भावार्थ

आचार्य कहते हैं कि 'पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ कुवादियों के द्धारा सर्वथा एकान्त पक्ष रूप कुनय से रचे शास्त्रों से मोहित हुआ यह जीव संसार में अनादि से भ्रमता है सो हे धीर मुनि ! अब ऐसे कुवादियों की संगति भी मत कर–यह उपदेश है'।।१४१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ पाखण्डियों के मार्ग छोड़ जिनमार्ग में मन लगाओ' :–

पासंडी तिण्ण सया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंभहि मण जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा।। १४२।।

उन्मार्ग पाखंडि त्रिशत, त्रेसठ प्रमित को छोड़कर।
जिनमार्ग में मन रोक, बहु प्रलपन निरर्थक से है क्या !।।१४२।।

अर्थ

हे जीव ! ये तीन सौ तरेसठ पाखण्डी कहे उनके मार्ग को छोड़कर और

जिनमार्ग के मध्य अपने मन को रोक–यह संक्षेप है और बहुत निरर्थक प्रलाप रूप कहने से क्या !

भावार्थ

इस प्रकार मिथ्यात्व का निरूपण किया वहाँ आचार्य कहते हैं कि 'बहुत निरर्थक वचनालाप से क्या ! इतना ही संक्षेप से कहते हैं–जो तीन सो तरेसठ कुवादी पाखंडी कहे उनका मार्ग छोड़कर और जिनमार्ग में मन को रोकना, अन्यत्र जाने न देना। यहाँ इतना विशेष और जानना–जो कालदोष से इस पंचम काल में अनेक पक्षपात करके मतातंर हुए है उनको भी मिथ्या जान उनका प्रसंग न करना, सर्वथा एकांत का पक्षपात छोड़ अनेकांत रूप जिनवचन का शरण लेना'।।१४२।।

उत्थानिका

आगे सम्यग्दर्शन का निरूपण करते हैं, वहाँ कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन रहित प्राणी है वह चलता म तक है' :–

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोय अपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ।। १४३।।

होता है जीवविमुक्त शव, दर्शनरहित चलशव अरे !।
शव लोक में है अपूज्य, चलशव होता लोकात्तर विषैं।।१४३।।

अर्थ

लोक में जो जीव से रहित हो उसको 'शव' अर्थात् म तक–मुरदा कहते हैं वैसे ही जो सम्यग्दर्शन रहित पुरुष है वह चलता म तक है तथा म तक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से दग्ध किया जाता है अथवा प थ्वी में गाड़ दिया जाता है और दर्शन रहित चलता मुरदा है सो लोकोत्तर जो मुनि सम्यग्द ष्टि उनमें अपूज्य है वे उसकी वंदनादि नहीं करते हैं, यदि मुनिवेष धारण करे तो भी संघ से बाहर रखते हैं अथवा वह परलोक में निंद्य गति पाकर अपूज्य होता है।

भावार्थ

सम्यग्दर्शन बिना पुरुष म तक तुल्य है।।१४३।।

उत्थानिका

आगे सम्यक्त्व का महानपना कहते हैं :–

जह तारायण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं।। १४४।।

ज्यों चन्द्र तारागणों में, म गराज सब म गकुलों में।
त्यों अधिक है सम्यक्त्व, ऋषि, श्रावक द्विविध ही धर्म में।।१४४।

अर्थ

जैसे ताराओं के समूह में चन्द्रमा अधिक है तथा 'म गकुल' अर्थात् पशुओं के समूह में जैसे 'म गराज' अर्थात् सिह सो अधिक है वैसे 'ऋषि' अर्थात् मुनि और श्रावक–ऐसे जो दो प्रकार के धर्म उनमें सम्यक्त्व है सो अधिक है।

भावार्थ

व्यवहार धर्म की जितनी प्रव त्ति है उनमें सम्यक्त्व अधिक है, इसके बिना सब संसार मार्ग हैं, बंध के कारण हैं।।१४४।।

उत्थानिका

फिर कहते हैं :–

जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणपरिप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो।। १४५।।

धरणेन्द्र सोहे फणमणि माणिक्य, किरण से दीप्त ज्यों।
प्रवचन में सोहे जीव त्यों, दर्शन विमल जिन भक्तियुत।।१४५।।

अर्थ

जैसे 'फणिराज' अर्थात् धरणेन्द्र है सो फण जो सहस्रफण उनमें जो मणि उनके बीच लाल माणिक्य उसकी किरणों से 'विस्फुरित' अर्थात् दैदीप्यमान शोभा पाता है वैसे निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव है सो जिनभक्ति सहित है इसलिए प्रवचन जो मोक्षमार्ग का प्ररूपण उसमें सुशोभित होता है।

भावार्थ

सम्यक्त्व सहित जीव की जिनप्रवचन में बड़ी अधिकता है। जहाँ-तहाँ शास्त्र में सम्यक्त्व ही की प्रधानता कही है।।१४५।।

उत्थानिका

आगे सम्यग्दर्शन सहित लिंग है उसकी महिमा कहते हैं :–

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।। १४६।।

ज्यों विमल नभमंडल में सोहे, चन्द्र तारागण सहित।
भावित विमल व्रत तप व दर्श विशुद्ध जिन का लिंग त्यों।।१४६।।

अर्थ

जैसे निर्मल आकाशमंडल में ताराओं के समूह सहित चन्द्रमा का बिम्ब शोभा पाता है वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किये जो तप और व्रत उनसे निर्मल जिनलिंग है सो सुशोभित होता है।

भावार्थ

जिनलिंग अर्थात् निर्ग्रंथ मुनिवेष है वह यद्यपि तप, व्रतों से सहित निर्मल है, निर्दोष है तो भी सम्यग्दर्शन बिना शोभता नहीं, यदि सम्यक्त्व सहित हो तब ही अत्यन्त शोभायमान होता है।।१४६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसा जान दर्शनरत्न को धारण करो'–ऐसा उपदेश करते हैं :–

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं च धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स।। १४७।।

गुण-दोष ऐसे जान धारो भाव से दर्शन रतन।
है सार गुण रत्नों में अरु सोपान प्रथम जो मोक्ष का।।१४७।।

अर्थ

हे मुनि ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के तो गुण और मिथ्यात्व के दोष उनको जानकर सम्यक्त्व रूपी रत्न है उसको भाव से धारण कर। कैसा है सम्यक्त्व रत्न–गुण रूपी जो रत्न हैं उन सबमें सार है, उत्तम है तथा कैसा है–मोक्ष रूपी मंदिर का प्रथम सोपान है, चढ़ने की पहली पैड़ी है।

भावार्थ

जितने भी व्यवहार मोक्षमार्ग के अंग हैं-ग हस्थ के तो दानपूजादि और मुनि के महाव्रत, शील संयमादि उनमें सबमें सार सम्यदर्शन है इससे सब सफल हैं इसलिए मिथ्यात्व को छोड़ सम्यग्दर्शन अंगीकार करना-यह प्रधान उपदेश है।।१४७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन होता है सो जो जीव पदार्थ का स्वरूप जान उसकी भावना करे, उसका श्रद्धान करे और आपको जीव पदार्थ जान अनुभव करके प्रतीति करे उसके होता है सो यह जीव पदार्थ कैसा है-उसका स्वरूप कहते हैं :–

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ।। १४४।।

कर्ता व भोक्ता अमूर्तिक है, अनादि निधन शरीरमित।
दग्-ज्ञान उपयोगी है जीव, यह जिनवरेन्द्रों ने कहा।।१४४।।

अर्थ

जीव नामक पदार्थ है सो कैसा है **१.** कर्ता है, **२.** भोगी है, **३.** अमूर्तिक है, **४.** शरीरप्रमाण है, **५.** अनादिनिधन है और **६.** दर्शन–ज्ञान है उपयोग जिसका–ऐसा जिनवरेन्द्र जो सर्वज्ञदेव, वीतराग देव उन्होंने कहा है।

भावार्थ

यहाँ जीव नामक पदार्थ के जो छह विशेषण कहे उनका आशय ऐसा है –

(१) **कर्ता**–कर्ता कहा सो **निश्चयनय** से तो अशुद्ध रागादि भाव उनका अज्ञान अवस्था में आप कर्ता है और **व्यवहारनय** से पुद्गल कर्म जो ज्ञानावरण आदि उनका कर्ता है और **शुद्धनय** से अपने शुद्ध भाव का कर्ता है।

(२) **भोगी**–भोगी कहा सो **निश्चयनय** से तो अपने ज्ञानदर्शनमयी चेतनभाव का भोक्ता है और **व्यवहारनय** से पुद्गल कर्म का फल जो सुख–दुःख आदि उसका भोक्ता है।

(३) **अमूर्तिक**–अमूर्तिक कहा सो **निश्चयनय** से तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द–ये पुद्गल के गुण–पर्याय हैं उनसे रहित अमूर्तिक है और **व्यवहार** से जब तक पुद्गल कर्म से बँधा है तब तक मूर्तिक भी कहते हैं।

(४) **शरीर परिमाण**–शरीर परिमाण कहा सो **निश्चयनय** से तो असंख्यात प्रदेशी लोक परिमाण है परन्तु संकोच–विस्तार शक्ति से शरीर से कुछ कम प्रदेश परिमाण आकार रहता है।

(५) **अनादिनिधन**-अनादिनिधन कहा सो **पर्यायद ष्टि** से देखो तब उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तो भी **द्रव्यद ष्टि** से देखो तब अनादिनिधन सदा नित्य–अविनाशी है।

(६) **दर्शन ज्ञान उपयोग सहित**–दर्शन ज्ञान उपयोग सहित कहा सो देखने–जानने रूप उपयोग स्वरूप चेतना रूप है।

तथा इन विशेषणों से अन्यमती अन्य प्रकार सर्वथा एकान्त से मानते हैं उनका निषेध भी जानना सो ऐसे–

(१) **कर्ता** विशेषण से तो सांख्यमती सर्वथा अकर्ता मानते हैं उनका निषेध है।

(२) **भोक्ता** विशेषण से बौद्धमती क्षणिक मान कहते हैं–'कर्म को करता और है, भोगता और है' उनका निषेध है। 'जो जीव कर्म करता है उसका फल वह ही जीव भोगता है' ऐसे बौद्धमती के कहने का निषेध है।

(३) **अमूर्तिक** कहने से मीमांसक आदि इस शरीर सहित मूर्तिक ही मानते हैं उनका निषेध है।

(४) **शरीरपरिमाण** कहने से नैयायिक, वैशेषिक और वेदान्ती आदि सर्वथा सर्वव्यापक मानते हैं, उनका निषेध है।

(५) **अनादिनिधन** कहने से बौद्धमती सर्वथा क्षणमात्र स्थायी मानते हैं उनका निषेध है।

(८) **दर्शन-ज्ञान उपयोगमयी** कहने से सांख्यमती तो ज्ञान रहित चेतना मात्र मानते हैं और नैयायिक, वैशेषिक गुण–गुणी का सर्वथा भेद मान ज्ञान और जीव का सर्वथा भेद मानते हैं और बौद्धमत का विशेष विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानमात्र ही मानते हैं और वेदान्ती भी ज्ञान का कुछ निरूपण नहीं करते हैं, उनका निषेध है।

इस प्रकार सर्वज्ञ का कहा जीव का स्वरूप जान अपने को ऐसा मान श्रद्धा-रुचि-प्रतीति करना। तथा जीव कहने ही से अजीव पदार्थ भी जाना जाता है। अजीव न हो तो जीव नाम कैसे कहें इसलिए अजीव का स्वरूप कहा है वैसा उसका श्रद्धान आगम के अनुसार करना। इस प्रकार जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप जान और इन दोनों के संयोग से अन्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-इन भावों की प्रव त्ति होती है, उनका आगम के अनुसार स्वरूप जान श्रद्धान किए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है–ऐसा जानना।।१४४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि यह जीव ज्ञानदर्शन उपयोगमयी है तो भी अनादि पुद्गल कर्म के संयोग से इसके ज्ञान-दर्शन की पूर्णता नहीं होती है इसलिए अल्प ज्ञान-दर्शन अनुभव में आता है और उसमें भी अज्ञान के निमित्त से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रूप राग-द्वेष-मोह भाव से ज्ञान, दर्शन में कलुषता रूप सुख-दुःखादि भाव अनुभव में आते हैं इसलिए यह जीव जब जिनभावना रूप सम्यदर्शन को प्राप्त होता है तब ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के घातक कर्मों का नाश करता है-ऐसा दिखाते हैं :–

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो।। १४६।।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण अरु मोहनी, अन्तराय का।
जिनभावना युत भव्य जीव, करे क्षपण सम्यक्पने ।।१४७।।

अर्थ

सम्यक् प्रकार जिनभावना से युक्त भव्य जीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय–ये जो चार घातिया कर्म हैं उनका निष्ठापन करता है, सम्पूर्ण अभाव करता है।

भावार्थ

दर्शन का घातक तो दर्शनावरण कर्म है, ज्ञान का घातक ज्ञानावरण कर्म है, सुख का घातक मोहनीय कर्म है और वीर्य का घातक अंतराय कर्म है, इनके नाश को सम्यक् प्रकार 'जिनभावना' अर्थात् जिन आज्ञा मान जीव–अजीव आदि तत्त्व का यथार्थ निश्चय कर श्रद्धावान हुआ हो सो जीव करता है इसलिये जिन आज्ञा मान यथार्थ श्रद्धान करना–यह उपदेश है।।१४७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इन घातिया कर्मों का नाश होने पर अनंत चतुष्टय प्रकट होता है' :–

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि य पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि।। १५०।।

बल-ज्ञान-दर्शन-सौख्य चारों, गुण प्रकट होते हैं तब।
जब नष्ट हो चउ घाति, हो परकाश लोकालोक का।।१५०।।

अर्थ

पूर्वोक्त घातिया कर्म के चतुष्क का नाश होने पर बल, सुख, ज्ञान और दर्शन–ये

चार गुण प्रकट होते हैं तथा जब ये गुण प्रकट होते हैं तब लोकालोक को प्रकाशते हैं।

भावार्थ

घातिया कर्मों का नाश होने पर अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य–ये अनंत चतुष्टय प्रकट होते हैं, वहाँ अनंतदर्शन–ज्ञान से तो छह द्रव्य से भरा हुआ जो यह लोक उसमें जीव अनंतानंत, पुद्गल उनसे भी अनन्तानंत गुणे और धर्म, अधर्म, आकाश–ये तीन द्रव्य और असंख्यात कालाणु–इन सब द्रव्यों की अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी अनंत पर्यायों को भिन्न–भिन्न को एक काल प्रत्यक्ष देखता–जानता है और अनंत सुख से अत्यन्त तप्ति रूप है और अनन्त शक्ति से अब किसी भी निमित्त से अवस्था पलटती नहीं है–इस प्रकार अनन्त चतुष्टय रूप जीव का निज स्वभाव प्रकट होता है इसलिये जीव के स्वरूप का ऐसा परमार्थ से श्रद्धान करना सो ही सम्यग्दर्शन है।।१५०।।

उत्थानिका

आगे जिसके अनंत चतुष्टय प्रकट होता है उस परमात्मा के जो अनेक नाम हैं उनमें से कुछ को प्रकट करके कहते हैं :–

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं।। १५१।।

है ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी अरु विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध है।
परमातमा, आत्मा प्रकट, सर्वज्ञ, कर्मविमुक्त है।।१५१।।

अर्थ

परमात्मा है सो ऐसा है–**१.** ज्ञानी है, **२.** शिव है, **३.** परमेष्ठी है, **४.** सर्वज्ञ है, **५.** विष्णु है, **६.** चतुर्मुख ब्रह्मा है, **७.** बुद्ध है, **८.** आत्मा है, **९.** परमात्मा है और **१०.** कर्म से विप्रमुक्त-रहित है–यह प्रकट जानो।



भावार्थ

परमात्मा के नाम ये हैं :–

(१) **ज्ञानी**–ज्ञानी कहने से तो जैसा सांख्यमती ज्ञान रहित उदासीन चैतन्य रूप मानता है उसका निषेध है।

(२) **शिव**–शिव कहने से सब कल्याणों से परिपूर्ण है, जैसा सांख्यमती तथा नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं वैसा नहीं है।

(३) **परमेष्ठी**–परमेष्ठी कहने से परम उत्कष्ट पद में स्थित है अथवा उत्कष्ट इष्ट स्वभाव है। जैसा अन्य कई अपना इष्ट कुछ स्थापित करके उसको परमेष्ठी कहते हैं वैसा नहीं है।

(४) **सर्वज्ञ**–सर्वज्ञ कहने से सब लोकालोक को जानता हैं। अन्य कई, यदि कोई किसी एक प्रकरण सम्बन्धी सब बातों को जानता हो तो उसको भी सर्वज्ञ कहते हैं, वैसा नहीं है।

(५) **विष्णु**–विष्णु कहने से उसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापक है। अन्यमती वेदान्ती आदि जो कहते हैं कि 'परमात्मा सब पदार्थों में व्यापक है' सो ऐसा नहीं है।

(६) **चतुर्मुख**–चतुर्मुख कहने से केवली अरहंत के समवसरण में चार मुख चारों दिशाओं में दिखने रूप अतिशय होने से चतुर्मुख कहलाता है। अन्यमती ब्रह्मा को चतुर्मुख कहते हैं सो ऐसा अन्य कोई ब्रह्मा नहीं है।

(७) **बुद्ध**–बुद्ध कहने से सबका ज्ञाता हैं। बौद्धमती क्षणिकवादी को बुद्ध कहते हैं वैसा नहीं है।

(८) **आत्मा**–आत्मा कहने से अपने स्वभाव ही में निरन्तर प्रवर्तता है। अन्यमती वेदान्ती आत्मा को जो सब में प्रवर्तता मानते हैं वैसा नहीं है।

(९) **परमात्मा**–परमात्मा कहने से आत्मा का पूर्ण रूप अनन्त चतुष्टय उसके प्रकट हुआ है इसलिए परमात्मा है।

(१०) **कर्मविप्रमुक्त**–कर्मविप्रमुक्त कहने से कर्म जो आत्मा के स्वभाव के घातक घातिकर्म उनसे रहित हुआ हैं इसलिए कर्मविप्रमुक्त है अथवा उन्से कुछ करने योग्य कार्य नहीं रहा इसलिए भी कर्मविप्रमुक्त है। सांख्यमती, नैयायिक जो सदा ही कर्म रहित मानते हैं वैसा नहीं है।

ऐसे परमात्मा के सार्थक नाम हैं। अन्यमती अपने इष्ट के नाम तो ये ही कहते हैं पर उनका सर्वथा एकांत के अभिप्राय से अर्थ बिगाड़ते हैं सो यथार्थ नहीं है। अरहंत के ये नाम नय विवक्षा से सत्यार्थ हैं–ऐसा जानना।।१५१।।

उत्थानिका

आगे आचार्य कहते हैं कि 'जो ऐसा देव है वह मुझे उत्तम बोधि देवे' :–

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।
तिहुवणभवणपईवो देओ मम उत्तमं बोहिं।। १५२।।

जो घातिकर्म रहित सकल, त्रिभुवन भवन दीपक हैं जो।
हैं दोष अष्टादश रहित, वे मुझे उत्तम बोधि दें।।१५२।।

अर्थ

'इति' अर्थात् ऐसा घातिया कर्मों से रहित, क्षुधा–त षा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों से वर्जित, 'सकल' अर्थात् शरीर सहित और तीन भुवन रूपी भवन के प्रकाशने को प्रक ष्ट दीपक तुल्य देव है सो मुझको 'बोधि' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दो–ऐसी आचार्य ने प्रार्थना की है।

भावार्थ

यहाँ और तो पूर्वोक्त प्रकार जानना परन्तु जो 'सकल' विशेषण है उसका यह आशय है कि मोक्षमार्ग की प्रव त्ति उपदेश के वचन प्रवर्ते बिना नहीं होती और वचन की प्रव त्ति शरीर बिना नहीं होती और अरहंत का आयु कर्म के उदय से शरीर सहित अवस्थान रहता है और स्वर आदि नामकर्म के उदय से वचन की प्रव त्ति होती है–इस प्रकार अनेक जीवों का कल्याण करने वाला उपदेश प्रवर्तता है। अन्यमतियों के ऐसा अवस्थान परमात्मा का संभव नही है इसलिए उपदेश की प्रव त्ति नहीं बनती और तब मोक्षमार्ग का उपदेश भी नहीं प्रवर्तता–ऐसा जानना ।।१५२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसे अरहंत जिनेश्वर के चरणों को नमन करते हैं वे संसार की जन्म रूप बेल को काटते हैं' :–

जिणवरचरणांबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण।। १५३।।

जिनवर चरण पंकज नमे, जो परम भक्ति राग से।
वे जन्म बेलि मूल काटें, भाव श्रेष्ठ के शस्त्र से।।१५३।।

अर्थ

जो पुरुष परम भक्ति–अनुराग से जिनवर के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे भाव रूप शस्त्र से 'जन्म' अर्थात् संसार सो ही हुई बेल उसके मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म उनका खनन करते हैं अर्थात् उन्हें खोद डालते हैं।

भावार्थ

अपना भाव जो श्रद्धा, रुचि, प्रतीति उससे जो जिनेश्वर देव को नमन करता है अर्थात् उनका सत्यार्थ स्वरूप सर्वज्ञ वीतरागपने को जान भक्ति के अनुराग से नमस्कार करता है तब उसके जानना कि जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई उसका यह चिन्ह है और उससे जाना जाता है कि इसके मिथ्यात्व का नाश हुआ, अब आगामी संसार की व द्धि इसके नहीं होगी–ऐसा बताया है।।१५३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिन सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ पुरुष है वह आगामी कर्मों से लिप्त नहीं होता' :–

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो।। १५४।।

ज्यों पत्र कमलिनी न लिपे, जल से प्रक ति स्वभाव से।
त्यों भाव से लिपता नहीं, सत्पुरुष विषय-कषाय से।।१५४।।

अर्थ

जैसे कमलिनी का पत्र है सो अपने प्रक ति स्वभाव से जल से लिप्त नहीं होता वैसे सत्पुरुष-सम्यग्द ष्टि पुरुष है वह अपने भाव से क्रोधादि कषायों और इन्द्रियों के विषयों से लिप्त नहीं होता।

भावार्थ

सम्यग्द ष्टि पुरुष के मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का तो सर्वथा अभाव ही है तथा अन्य कषायों का यथासंभव अभाव है। वहाँ मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी के अभाव से उसके ऐसा भाव होता है कि पर द्रव्यमात्र के तो कर्तापने की बुद्धि नहीं होती और अवशेष कषायों के उदय से जो कुछ राग-द्वेष प्रवर्तते हैं उनको कर्म के उदय के निमित्त से हुए जानता है इसलिए उनमें भी कर्तापने की बुद्धि नहीं होती तथा उन भावों को रोगवत् हुए जानकर भला नहीं जानता-इस भाव से उसे विषय-कषायों से प्रीति बुद्धि नहीं होती इसलिए उनसे लिप्त नही होता, जल कमलवत् निर्लेप रहता है, जिससे उसके आगामी कर्म का बंध और संसार की व द्धि नहीं होती-ऐसा आशय जानना।।१५४।।

उत्थानिका

आगे आचार्य कहते हैं कि 'जो पूर्वोक्त भाव से सहित सम्यग्द ष्टि पुरुष हैं वे ही सकल शील-संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं' :–

ते वि य भणामिहं जे सयलकला सीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो समलियचित्तो ण सावयसमो सो।। १५५।।

कहुँ उन्हें मुनि जो शील, संयम, गुण से सकल कला धरें।
जो मलिनमन बहु दोषग ह, वे तो ना श्रावक सम भी हैं।।१५५।।

अर्थ

पूर्वोक्त भाव से सहित जो सम्यग्द ष्टि पुरुष है और शील, संयम गुणों से 'सकलकला' अर्थात् सम्पूर्ण कलावान है उस ही को हम मुनि कहते हैं तथा जो सम्यग्द ष्टि नहीं है अर्थात् मलिन चित्त से सहित मिथ्याद ष्टि है और बहुत दोषों का आवास है–स्थान है, वह तो वेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है।

भावार्थ

जो सम्यग्द ष्टि है और 'शील' अर्थात् उत्तरगुण और 'संयम' अर्थात् मूलगुण उनसे सहित है सो मुनि है तथा जो मिथ्याद ष्टि है अर्थात् मिथ्यात्व से जिसका चित्त मलिन है और क्रोधादि विकार रूप बहुत दोष जिसमें पाये जाते हैं वह तो मुनि का वेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है। श्रावक सम्यग्द ष्टि हो परन्तु ग हस्थाचार के पापों से सहित हो तो भी उसके बराबर भी केवल वेषी मुनि नहीं है–ऐसा आचार्य ने कहा है।।१५५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सम्यग्द ष्टि होकर जिन्होंने कषाय रूपी सुभट जीते वे ही धीर–वीर हैं' :–

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जय पबलबलुद्धर कसायभड णिज्जिया जेहिं।। १५६।।

जीते जिन्होंने प्रबल बल उद्धत, कषाय सुभट अजय।
उज्ज्वल क्षमा दम खड्ग से, हैं धीर-वीर पुरुष वे ही।।१५६।।

अर्थ

जिनपुरुषों ने क्षमा और इन्द्रियों का दमन–सो ही हुआ 'विस्फुरंत' अर्थात् संवारा हुआ मलिनता रहित उज्ज्वल, तीक्ष्ण खड्ग उसके द्वारा जिनका जीतना कठिन–ऐसे दुर्जय और प्रबल बल से उद्धत कषाय रूप सुभटों को जीता वे ही धीर–वीर सुभट हैं, अन्य जो संग्रामादि में जीतते हैं वे तो कहने के सुभट हैं।

भावार्थ

युद्ध में जीतने वाले शूरवीर तो लोक में बहुत हैं परन्तु जो कषायों को जीतते हैं वे विरले हैं, वे मुनिप्रधान हैं और वे ही शूरवीरों में प्रधान हैं। यहाँ जो सम्यग्द ष्टि हो कषायों को जीत चारित्रवान होते हैं वे मोक्ष पाते हैं–ऐसा आशय है।।१५६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान होकर दूसरों को उन सहित करते हैं वे धन्य हैं' :–

धण्णा ते भयवंता[1] दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं।। १५७।।

जो विषय सागर में पतित, भव्यों को पार उतारते।
वर ज्ञान-दर्शन अग्र कर से, धन्य हैं भगवंत वे।।१५७।।

अर्थ

जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप 'मकरधर' जो समुद्र उसमें पड़े हुए भव्य जीवों को दर्शन और ज्ञान वे ही हुए अग्र मुख्य दो हाथ उनके द्वारा पार उतारा, वे मुनिप्रधान भगवान इन्द्रादि से पूज्य, ज्ञानी धन्य हैं।

भावार्थ

इस संसार समुद्र से आप तिरें और दूसरों को तारें वे मुनि धन्य हैं। धनादि सामग्री सहित को जो धन्य कहा जाता है वे तो कहने के धन्य हैं।।१५७।।

टि0–1. 'पं0 जयचंद जी' ने 'भयवंता' □ाब्द का अर्थ 'भगवंत' करते हुए 'धण्णा ते भयवंता' का अर्थ 'वे मुनिप्रधान-भगवान धन्य हैं'-ऐसा किया है। 'वी0 प्रति' में 'भयवंता' □ाब्द का अर्थ 'भयवांता:' (भय का वमन कर दिया है जिन्होंने) किया है तो 'धण्णा ते भयवंता' पद का अर्थ हुआ-'भय का वमन कर देने वाले वे मुनिप्रधान धन्य हैं।' 'भयवंता' (भयवान) □ाब्द को 'भविया' का वि□ाषण करने पर गाथा का अर्थ होता है कि 'विषय समुद्र में पड़े हुए भयवान भव्यों को जिन्होंने द□ान-ज्ञान रूप दो हाथों से पार उतारा वे मुनि धन्य हैं।'

उत्थानिका

आगे फिर ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं :–

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि[1] आरूढा।
विसयविसफुल्लफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेण।। १५४।।

आरूढ़ मोह महातरु, पुष्पित विषय विषपुष्प से।
ज्ञानास्त्र से मुनि काटें उस, सम्पूर्ण माया बेल को।।१५४।।

अर्थ

मुनि हैं वे 'माया' अर्थात् कपट रूपी जो बेल है उसको समस्त को ज्ञान रूपी शस्त्र से काटते हैं। **कैसी है माया बेल**–मोह रूपी जो महान बड़ा व क्ष उस पर आरूढ़ है–चढ़ी है। **और कैसी है**–विषय रूपी पुष्पों से फूल रही है।

भावार्थ

यह माया कषाय है सो गूढ़ है, इसका विस्तार भी बहुत है जो मुनियों तक फैलती है सो जो मुनि ज्ञान से इसको काट डालते हैं वे सच्चे मुनि हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं।।१५८।।

उत्थानिका

आगे फिर उन मुनियों की सामर्थ्य को कहते हैं :–

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण।। १५५।।

टि0-1. इस पद में आया हुआ 'महा' □ाब्द 'मु0 प्रति' व अन्य 'म0 व श्रु0 टी0' आदि सब ही प्रतियों में है और 'पं0 जयचन्द जी' ने भी गाथा के अर्थ में इसे देकर इसका अर्थ 'बड़ा' भी वहाँ दिया है अत: 'मूल प्रति' में लिखने में रह गया जानकर इसे यहाँ गाथा में दे दिया गया है।

मद, मोह, गारव मुक्त अरु, संयुक्त करुणा भाव से।
वे पापथंभ को सर्व को, चारित खडग से काटते।।१५७।।

अर्थ

जो मुनि मोह, मद एवं गारव–इनसे रहित हैं और करुणा भाव से सहित हैं वे चारित्र रूपी खड्ग से पाप रूपी जो स्तंभ है उसका हनन करते हैं अर्थात् उसे मूल से काट देते हैं।

भावार्थ

मोह तो परद्रव्य से ममत्व भाव को कहते हैं। मद जाति आदि परद्रव्य के सम्बन्ध से जो गर्व होता है उसको कहते हैं। गौरव इन तीन प्रकार का है– **१. ऋद्धि गौरव**–यदि कुछ तपोबल से अपनी महंतता लोक में हो तो उसका अपने को मद आवे और उसमें हर्ष माने, **२. सात गौरव**–यदि अपने शरीर में रोगादि न उपजे तब सुख माने और प्रमादयुक्त होकर अपना महंतपना माने तथा **३. रस गौरव**–यदि मिष्ट, पुष्ट एवं रसीला आहारादि मिले तो उसके निमित्त से प्रमत्त होकर शयनादि करे–ऐसे जो गौरव उनसे तो मुनि रहित हैं और पर जीवों की करुणा से युक्त हैं, ऐसा नहीं है कि क्योंकि पर जीव से मोह-ममत्व नहीं है इसलिए निर्दयी होकर उनका हनन करें, जब तक राग के अंश रहते हैं तब तक पर जीवों की करुणा ही करते हैं, उपकार बुद्धि ही रहती है–इस प्रकार मुनि ज्ञानी, पाप जो अशुभ कर्म, उसका चारित्र के बल से नाश करते हैं।।१५६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे मूलगुण व उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभते हैं' :–

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।। १६०।।

तारावली से परिकरित, पूर्णेन्दु शोभे नभ में ज्यों।
गुणगण मणीमाला से युत, जिनमत गगन मुनि चन्द्र त्यों।।१६०।।

अर्थ

जैसे पवनपथ जो आकाश उसमें ताराओं की पंक्ति से परिवारित पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभित होता है वैसे जिनमत रूपी आकाश में गुणों के जो समूह सो ही हुई मणियों की माला उससे मुनीन्द्र रूप चन्द्रमा सुशोभित होता है।

भावार्थ

अट्ठाईस मूलगुण, दशलक्षण धर्म, तीन गुप्ति और चौरासी लाख उत्तरगुण इत्यादि गुणों की माला से सहित जो मुनि हैं वे जिनमत में चन्द्रमा के समान सुशोभित होते हैं, ऐसे मुनि अन्यमत में नहीं हैं।।१६०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे जिनके विशुद्ध भाव हैं वे सत्पुरुष तीर्थंकर आदि पद के सुखों को पाते हैं' :–

चक्कहर राम केसव सुरवर जिण गणहराइसोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता।। १६१।।

जिन, गणधरादिक, राम, केशव, चक्री, सुरवर सौख्य अरु।
चारण मुनी ऋद्धी को पाया, विशुद्ध भावी नरों ने।।१६१।।

अर्थ

विशुद्ध हैं भाव जिनके ऐसे जो नर-मुनि हैं वे 'चक्रधर' अर्थात् चक्रवर्ती–षट् खण्ड का राजेन्द्र, 'राम' अर्थात् बलभद्र, 'केशव' अर्थात् नारायण–अर्द्धचक्री, 'सुरवर' अर्थात् देवों का इन्द्र, 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर-पंच कल्याण से सहित तीन लोक से पूज्य पदवी, 'गणधर' अर्थात् चार ज्ञान व सात ऋद्धि के धारक मुनि इनके सुखों को तथा 'चारणमुनि' अर्थात् आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ जिनके पाई जाती हैं उनकी ऋद्धियों को प्राप्त हुए।

भावार्थ

पूर्व में जो ऐसे निर्मल भाव के धारक पुरुष हुए वे ऐसी पदवियों के सुखों को

प्राप्त हुए और अब जो ऐसे होंगे वे ऐसे ही पाएंगे–ऐसा जानना।।१६१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'मुक्ति का सुख भी ऐसे ही पाते हैं' :–

सिवमजरामरलिंगं अणोवमं महग्घं विमलमतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा।। १६२।।

जिनभावनाभावित जो जीव वे, पाते वह वर सिद्धि सुख।
जो विमल, अतुल व शिव, अनूपम, अजर-अमर, महार्घ्य है।।१६२।।

अर्थ

जिनभावना से भावित, सहित जीव ही 'सिद्धि' अर्थात् मोक्ष के सुख को पाते हैं।
कैसा है सिद्धि सुख–शिव है अर्थात् कल्याण रूप है-किसी प्रकार के उपद्रव सहित नहीं है।
और कैसा है–'अजरामरलिंग' है अर्थात् व द्ध होना और मरना-इन दोनों से रहित जिसका चिन्ह है।
और कैसा है–अनुपम है अर्थात् जिसे सांसारिक सुख की उपमा लगती नहीं[1]।
और कैसा है–महार्घ्य है, महान् अर्घ्य, पूज्य, प्रशंसा के योग्य है।
और कैसा है–विमल है अर्थात् कर्म के मल तथा रागादि मल से रहित है।
और कैसा है–अतुल है अर्थात् इसके बराबर अन्य कोई सांसारिक सुख नहीं है, ऐसे सुख को जिनभक्त पाता है, अन्य का भक्त नहीं पाता है।।१६२।।

टि0-1. 'मु0 प्रति' में इस स्थल पर ये पंक्तियाँ और मिलती हैं–'बहुरि कैसा है-'उत्तम' कहिये सर्वोत्तम है। बहुरि 'परम' कहिये सर्वोत्कृष्ट है।' वहाँ पर सम्बन्धित गाथा की प्रथम पंक्ति में 'महग्घं' □ाब्द के स्थान पर 'उत्तमं परम' पाठ ही दिया गया है।

उत्थानिका

आगे आचार्य प्रार्थना करते हैं कि 'ऐसी सिद्धि के सुख को प्राप्त हुए जो सिद्ध भगवान वे मुझको भी भाव की शुद्धता को दें' :–

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य।। १६३।।

त्रिभुवनमहित वे सिद्ध शुद्ध हैं, अरु निरंजन नित्य हैं।
वे दें मुझे वरभावशुद्धि, ज्ञान-दर्शन-चरित में।।१६३।।

अर्थ

जो सिद्ध भगवान हैं वे मुझको दर्शन, ज्ञान में और चारित्र में श्रेष्ठ, उत्तम भाव की शुद्धता को दो।

कैसे हैं सिद्ध भगवान–तीन भुवन से पूज्य हैं।

और कैसे हैं–शुद्ध हैं अर्थात् द्रव्यकर्म एवं नोकर्म रूप मल से रहित हैं।

और कैसे हैं–निरंजन हैं अर्थात् रागादि भावकर्मों से रहित हैं, पुनः जिनके कर्म का उपजना नहीं है।

और कैसे हैं–नित्य हैं अर्थात् जिनके प्राप्त हुए स्वभाव का फिर नाश नहीं है।

भावार्थ

आचार्य ने शुद्ध भाव का फल सिद्ध अवस्था रूप निश्चय करके उस फल को प्राप्त हुए जो सिद्ध उनसे यह ही प्रार्थना की है कि 'शुद्ध भाव की पूर्णता हमारे होओ'।।१६३।।

उत्थानिका

आगे भाव के कथन का संकोच करते हैं :–

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सुद्धे।। १६४।।

जो धर्म, अर्थ व काम, मोक्ष अरु अन्य भी व्यापार हैं।
वे हैं परिस्थित शुद्धभाव में, बहुत कहने से क्या हो !।।१६४।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा अन्य जो कुछ व्यापार हैं वे सब ही शुद्ध भाव में समस्त रूप से स्थित हैं।

भावार्थ

पुरुष के अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार प्रयोजन प्रधान हैं तथा अन्य भी जो कुछ मंत्र साधनादि व्यापार हैं वे आत्मा के शुद्ध चैतन्य परिणाम स्वरूप भाव में स्थित हैं। शुद्ध भाव से सर्व सिद्धि है–ऐसा संक्षेप से कहा जानो, अधिक क्या कहें !।।१६४।।

उत्थानिका

आगे इस भावपाहुड़ को पूर्ण करते हुए इसको पढ़ने, सुनने व इसकी भावना करने का उपदेश करते हैं :–

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहिं देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं।। १६५।।

इस भाँति यह सर्वज्ञ देशित, 'भावपाहुड' है इसे।
पढ़ता व सुनता, भाता जो, वह पाता अविचल थान को।।१६५।।

अर्थ

'इति' अर्थात् इस प्रकार इस भावपाहुड़ का सर्वबुद्ध जो सर्वज्ञ देव उन्होंने उपदेश दिया है सो इसको जो भव्य जीव सम्यक् प्रकार पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना भाता है वह शाश्वत सुख का स्थान जो मोक्ष उसको पाता है।

भावार्थ

यह भावपाहुड़ ग्रन्थ है सो सर्वज्ञ की परम्परा से अर्थ ले आचार्य ने कहा है इसलिए सर्वज्ञ ही के द्वारा उपदेशा हुआ है, केवल छद्मस्थ ही का कहा हुआ नहीं

है इसलिए आचार्य ने अपना कर्तव्य प्रधान करके नहीं कहा है। इसके पढ़ने, सुनने व इसकी भावना भाने का फल जो मोक्ष कहा है सो युक्त ही है क्योंकि शुद्ध भाव से मोक्ष होता है और इसके पढ़ने से शुद्ध भाव होते हैं–इस प्रकार परम्परा मोक्ष का कारण इसका पढ़ना, सुनना, धारण करना और इसकी भावना करना है इसलिए जो भव्य जीव हैं वे इस भावपाहुड़ को पढो, सुनो, सुनाओ, भाओ और इसका निरन्तर अभ्यास करो जिससे शुद्ध भाव होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को पाकर मोक्ष पाओ और वहाँ परमानन्द रूप शाश्वत सुख को भोगो।।१६५।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द नामक आचार्य ने भावपाहुड़ ग्रन्थ पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसा है–जीव नामक वस्तु का एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतना स्वभाव है, उसकी शुद्ध व अशुद्ध रूप दो परिणतियाँ हैं जिसमें शुद्ध दर्शन -ज्ञानोपयोग रूप परिणमना सो तो शुद्ध परिणति है, इसे शुद्ध भाव कहते हैं तथा कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोहादि विभाव रूप परिणमना सो अशुद्ध परिणति है, इसे अशुद्ध भाव कहते हैं। वहाँ कर्म का निमित्त अनादि से है इसलिए वह अशुद्ध भाव रूप अनादि ही से परिणमन कर रहा है, उस भाव से शुभ–अशुभ कर्मों का बंध होता है और उस बंध के उदय से फिर अशुद्ध भाव रूप परिणमता है–इस प्रकार अनादि से सन्तान चली आ रही है।

वहाँ जब इष्ट देवतादि की भक्ति, जीवों की दया, उपकार एवं मंद कषाय रूप परिणमता है तब तो शुभ का बंध करता है और उसके निमित्त से देवादि पर्याय पाकर कुछ सुखी होता है तथा जब विषय–कषायों के तीव्र परिणाम रूप परिणमता है तब पाप का बंध करता है और उसके उदय से नरकादि पर्याय पाकर दुःखी होता है–इस प्रकार संसार में अशुद्ध भाव से अनादि से यह जीव भ्रमण कर रहा है।

तथा जब कोई काल ऐसा आता है जिसमें जिनेश्वर सर्वज्ञ वीतराग देव के उपदेश की प्राप्ति होती है और उसका श्रद्धान, रुचि, प्रतीति व आचरण करता है तब अपना और पर का भेदज्ञान करके शुद्ध–अशुद्ध भाव का स्वरूप जान अपने हित–अहित का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति और आचरण करता है तब शुद्ध दर्शनज्ञानमयी शुद्ध चेतना के परिणमन को तो हित जानकर उसका फल संसार की निव त्ति जानता है और अशुद्ध भाव का फल संसार है उसको जानता है तब शुद्ध भाव के अंगीकार और अशुद्ध भाव के त्याग का उपाय करता है। वहाँ उपाय का स्वरूप

जैसा सर्वज्ञ वीतराग के आगम में कहा है वैसा करता है। वहाँ उसका रूप निश्चय–व्यवहारात्मक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप मोक्षमार्ग कहा है, उसमें निश्चय तो शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान एवं चारित्र को कहा है और व्यवहार जिनदेव सर्वज्ञ वीतराग, उनके वचन तथा उन वचनों के अनुसार प्रवर्तने वाले जो मुनि-श्रावक, उनकी भक्ति, वंदना, वैयाव त्ति एवं विनय आदि करना सो है क्योंकि वे मोक्षमार्ग में प्रवर्ताने को उपकारी हैं। उपकारी का उपकार मानना न्याय है एवं लोपना अन्याय है[1]।

तथा स्वरूप के साधक जो अहिंसा आदि महाव्रत तथा यत्न रूप प्रव त्ति–समिति, गुप्ति रूप प्रवर्तना और इनमें दोष लगने पर अपनी निन्दा–गर्हादि करना, गुरुओं का दिया प्रायश्चित लेना, शक्ति के अनुसार तप करना, परीषह सहना और दशलक्षणधर्म में प्रवर्तना इत्यादि शुद्धात्मा के अनुकूल क्रिया रूप प्रवर्तना[2] आदि हैं, इनमें कुछ राग का अंश रहता है तब तक शुभकर्म का बंध होता है तो भी वह प्रधान नहीं है क्योंकि इनमें प्रवर्तने वाले को शुभ कर्म के फल की इच्छा नहीं है इसलिए अबंध तुल्य है इत्यादि प्रव त्ति आगमोक्त व्यवहार मोक्षमार्ग है। इसमें प्रव त्ति रूप जो परिणाम है उसमें निव त्ति प्रधान है इसलिए उसका निश्चय मोक्षमार्ग से विरोध नहीं है। इस प्रकार निश्चय–व्यवहार स्वरूप मोक्षमार्ग का संक्षेप है, इस ही को शुद्ध भाव कहा है, वहाँ भी इसमें सम्यग्दर्शन को प्रधानता से कहा है, सम्यग्दर्शन बिना सर्व व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है। और सम्यग्दर्शन के व्यवहार में जिनदेव की भक्ति प्रधान है, यह सम्यग्दर्शन को बताने का मुख्य चिन्ह

टि0-1. नि□चयव्यवहारात्मक रत्नत्र्य को मार्ग बताया क्योंकि नि□चय का लोप करेंगे तो तत्त्व का ही लोप होगा और व्यवहार देव, □ास्त्र, गुरु की भक्ति, वन्दना, विनय, वैयाव□त्ति आदि है, सो नि□चय मोक्षमार्ग में प्रवर्तावने को उपकारी है, उसे नहीं मानेंगे तो उपकारी के उपकार लोपने रूप अन्याय होगा।

2. ' □ुद्धात्मा के अनुकूल क्रिया रूप प्रवर्तनां' पद सुन्दर है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप प्रव□त्ति स्वरूप की साधक तभी है जब वह □ुद्धात्मा के अनुकूल हो। समस्त □ुभ क्रियाएँ ऐसे करनी हैं जैसे वे □ुद्धात्मभावना की पुष्टि करें और नि□चय रत्नत्र्य में साधन रूप हों। मान, लोभ रूप विपरीत अभिप्राय से की गई क्रियाएँ संसार की साधक होती हैं और सम्यक् अभिप्राय से की गई मोक्षमार्ग की साधक वा □ुद्धात्मा के अनुकूल होती हैं।

है इसलिए जिनभक्ति निरन्तर करनी और जिन आज्ञा मानकर आगमोक्त मोक्षमार्ग में प्रवर्तना–यह श्री गुरु का उपदेश है, जिन आज्ञा के सिवाय अन्य सब कुमार्ग हैं उनका प्रसंग छोड़ना–ऐसा करने से आत्मकल्याण होता है।

छप्पय

जीव सदा चिद्भाव, एक अविनाशी धारै।
कर्म निमित्त कूं पाय, अशुद्ध भावनि विस्तारै।।
कर्म शुभाशुभ बांधि, उदै भरमै संसारै।
पावै दुःख अनंत, च्यारि गति मैं डुलि सारै।।
सर्वज्ञ देशना पायकै, तजै भाव मिथ्यात जब।
निज शुद्धभाव धरि कर्म हरि, लहै मोक्ष भरमै न तब।। १।।

अर्थ

जीव स्वभाव से सदा एक अविनाशी चैतन्य भाव को धारण करता है और कर्म के निमित्त को पाकर अशुद्ध भावों का विस्तार करता है जिससे शुभाशुभ कर्मों को बांधकर उनके उदय से संसार में भ्रमण करता है तथा चार गतियों में भ्रमण करके अनंत दुःखों को पाता है। सर्वज्ञ भगवान की देशना को प्राप्त करके जब यह जीव मिथ्यात्व भाव को तज देता है तब निज शुद्ध भाव को धारण करके तथा कर्म हरके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और फिर संसार में नहीं घूमता।।१।।

दोहा

मंगलमय परमातमा, शुद्ध भाव अधिकार।
नमूं पांय पाऊं स्वपद, जांचूँ यहै करार।।२।।

अर्थ

मंगलमय परमात्मा जिनका कि शुद्ध भाव पर ही अधिकार है उनके चरणों को नमस्कार करके मैं उनकी यही स्वीकृति मांगता हूँ कि 'मैं निज पद को पा जाऊँ'।।२।।

विषयवस्तु

एक सौ पैंसठ गाथाओं में विस्त त यह भावपाहुड़ तो मोक्षमार्ग व रत्नत्रय का पोषक अत्यंत ही सुन्दर पाहुड़ है। पूरे पाहुड़ में सर्वत्र शुद्धभाव ही की महिमा है। भगवान ने जीव के अशुभ, शुभ व शुद्ध-ऐसे तीन प्रकार के भाव कहे हैं जिनमें से स्वभाव परिणाम रूप भाव होने से शुद्धभाव ही सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप ही है।

भावपाहुड़ के गाथा १ से ६० तक पहला और फिर गाथा ६१ से १६५ तक दूसरा–इस प्रकार दो विभाग हैं। प्रथम विभाग के मुख्य वर्ण्य विषय ये हैं–(१) शुद्धभाव की महिमा, (२) द्रव्य व भावलिंग का स्वरूप व मोक्षमार्ग में दोनों की उपयोगिता एवं (३) द्रव्यलिंग सम्बन्धित तीन द्रष्टव्य बिन्दु।

द्वितीय विभाग में शुद्ध भाव के प्राप्ति का मुख्य साधन भावविशुद्धि के लिए जीव को नाना प्रकार के शुभ आचरण करने का उपदेश है।

अब इन दोनों विभागों की विवेचना करते हैं :–

प्रथम विभाग–गाथा १ से ६० तक–

(१) शुद्ध भाव की शुद्ध भाव की अत्यंत महिमा है इसमें नम्नलिखित चार बिन्दु प्रमुख हैं :–

१. भाव बिना दुःख ही दुःख की प्राप्ति–भाव बिना इस जीव ने अनादिकाल से चार गति के भीषण दुःख संसार में परिभ्रमण करते हुए पाए हैं। नरकों में सागरों की आयु पर्यन्त अति तीव्र दुःख पाए, तिर्यंच गति में असंख्यात अनंत काल पर्यन्त दुःख, मनुष्य गति में आगंतुक एवं मानसिक और सहज एवं शारीरिक–ऐसे चार प्रकार के दुःख और देवलोक में विषयों के लोभी होते हुए मानसिक दुःख ही दुःख पाए। भाव बिना गर्भवास के, निगोद के, अपम त्यु

अर्थात् कुमरण के, अपवित्र शरीर में वास के, शरीर के रोगों के एवं बालपने के काल के अनंत दुःखों को प्राप्त किया अतः भाव को शुद्ध करने का उपदेश है।

२. भाव बिना अनादि काल से अनन्त संसार में परिभ्रमण—भाव के बिना इस जीव ने तीन सौ तेतालिस राजू प्रमाण लोक क्षेत्र में मेरु के नीचे के आठ प्रदेशों को छोड़कर एक भी प्रदेश जन्म लेने और मरण करने से नहीं छोड़ा और इस अनन्त भव समुद्र में पुद्गल के परमाणु रूप स्कन्ध भी अनन्त बार ग्रहण किये व छोड़े। अशुभ भावना युक्त होते हुए अनेक बार यह कुदेवपने को प्राप्त हुआ और फिर वहाँ से चयकर मनुष्य वा तिर्यंच होकर अनेक माताओं की गर्भ-वसतियों में भी यह बहुत काल तक बहुत बार बसा। जन्म-जन्म में इसने अनेक माताओं का समुद्र के जल से भी अधिक दूध पिया और जन्म लेकर मरने पर अनेक माताओं के अश्रुपात का जल भी समुद्र से भी अधिक हुआ। इस अनन्त संसार सागर में इसके कटे वा टूटे हुए केश, नख, नाल व अस्थि की राशि यदि एकत्रित करो तो सुमेरु पर्वत से भी अनन्तगुणी हो जाएगी।

भाव बिना इस जीव ने जल, स्थल, अग्नि, पवन, आकाश, पर्वत, नदी और वन आदि सब ही स्थानकों में निवास किया है, इस लोक के उदर में वर्तते सारे पुद्गलों का भक्षण किया है, तीन भुवन का सारा जल भी पिया है, इस भव समुद्र में अपरिमित शरीर ग्रहण कर-करके छोड़े हैं, सब शरीरों के अनेक रोगों को भी अनेक बार सहा है और बहुत बार उत्पन्न हो-होकर अनेक जन्मान्तरों में कुमरण ही किया है। भाव बिना ही द्रव्यलिंगी होकर इसने अनन्त बार पार्श्वस्थ आदि भावनाएँ भाईं और द्रव्यलिंग धारण करके परम्परा से भी भावलिंगी न होता हुआ अनन्त काल पर्यन्त संसार में ही घूमता रहा।

३. भावशुद्धि बिना मुनियों तक को भी सिद्धि नहीं—बड़े-बड़े मुनियों ने भी भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई। तद्भव मोक्षगामी दिव्य पुरुष बाहुबलि स्वामी के भी मान कषाय से कलुषित परिणाम रहे और केवलज्ञान न हो पाया। मधुपिंगल व वशिष्ठ मुनि निदान के दोष से नहीं सीझे। बाहु मुनि सातवें नरक के रौरव बिल में जाकर पड़े। द्वीपायन मुनि अनन्त संसारी हुए, अभव्यसेन नामक द्रव्यलिंगी मुनि ग्यारह अंग रूप पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़कर भी भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए परन्तु शिवभूति व शिवकुमार मुनि ने भाव की विशुद्धता से मोक्ष पाया।

४. भावलिंग बिना द्रव्यलिंग की अकार्यकारिता—भावरहित द्रव्यमात्र लिंग से साध्य की सिद्धि नहीं होती। भाव व द्रव्य दोनों लिंगों में भावलिंग ही परमार्थ, प्रधान और प्रथम है, द्रव्यलिंग नहीं। अनादिकाल से लेकर अनंत संसार में जीव ने भावरहित निर्ग्रंथ रूपों को बहुत बार ग्रहण कर-कर के छोड़ा परन्तु चतुर्गति में ही भ्रमता रहा। तीन लोक प्रमाण सारे स्थानकों में ऐसा एक प्रदेश मात्र भी स्थान नहीं बचा जिसमें द्रव्यलिंग का धारक मुनि होते हुए इसने जन्म-मरण न किया हो। भाव के बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है और भाव के बिना ही करोड़ों भवों में तप करने पर भी सिद्धि नहीं होती। भावरहित के पढ़ना-सुनना भी कुछ कार्यकारी नहीं है। मुनिपने तथा श्रावकपने का कारणभूत भाव ही है। भाव बिना गिरि-गुफा में व नदी के निकट आदि में आवास करना और सकल ध्यान-अध्ययन निरर्थक है। जीव ने बाह्य में बाधंव आदि मित्रों को तो छोड़ा, उनसे तो मुक्त हुआ परन्तु भीतर भावों से मुक्त नहीं हुआ, अभ्यन्तर की वासना नहीं छोड़ी। द्रव्यमात्र से लिंगी वास्तव में होता नहीं है, भाव से ही लिंगी होता है। भावरहित नग्नपना तो अकार्यकारी है। भावरहित बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो जाए तो द्रव्य से बाहर में तो नारकी, तिर्यंच आदि सारे ही प्राणी नग्न होते हैं परन्तु वे भावश्रमण तो नहीं हो जाते। मुनिपना तो भाव शुद्ध

होने पर ही होता है। निर्ग्रन्थ मुनिवेष यद्यपि तप व व्रतों से युक्त निर्मल भी हो तो भी भाव के बिना सुशोभित नहीं होता। जो सम्यग्द ष्टि है और मूलगुण व उत्तरगुणों से सहित है वही मुनि कहलाता है, मलिन चित्त से युक्त मिथ्याद ष्टि तो यद्यपि मुनिवेष भी धारे तो भी श्रावक समान भी नहीं है। भावरहित बाह्य लिंग से क्या कर्तव्य है, कुछ भी नहीं। भावरहित नग्न तो सदा दुःख ही पाता है और संसार समुद्र में ही घूमता है। विमल जिनशासन में राग के संग से युक्त व जिनभावना से रहित द्रव्यनिर्ग्रंथ बोधि व समाधि को नहीं पाते। भावसहित मुनि आराधना के चतुष्क को पाते हैं और भावरहित दीर्घ संसार में घूमते हैं। भावश्रमण सुखों को और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाते हैं। इन्द्रियसुख में आकुलित द्रव्यश्रमणों के धर्म-शुक्ल ध्यान नहीं होता अतः वे संसार व क्ष का छेदन करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु भावश्रमण ध्यान रूपी कुल्हाड़े से संसार व क्ष को काट देते हैं।

इस प्रकार जीव को और मुख्य रूप से बाह्य आचरण सहित द्रव्यलिंगी मुनि को भावरहित उसके द्रव्यलिंग का वास्तविक स्वरूप व स्थिति समझाकर उसे शुद्ध भाव की महिमा बताई है और शुद्ध भाव के धारण करने का उपदेश दिया है।

(२) **द्रव्य व भावलिंग का स्वरूप व मोक्षमार्ग में दोनों की उपयोगिता**—मुनिलिंग द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार है। आत्मा के पुद्गल कर्म के संयोग से देहादिक द्रव्य का सम्बन्ध है सो यह देह का बाह्य रूप द्रव्य कहलाता है तथा इसका लिंग द्रव्यलिंग है और आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को भाव कहते हैं, उसमय लिंग तथा रूप भावलिंग है। द्रव्यलिंग में बाह्य त्याग की और भावलिंग में अन्तरंग भाव की अपेक्षा होती है। द्रव्यलिंग में पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग, भूमि-शयन, दो प्रकार का संयम और भिक्षा-भोजन होता है और भावलिंग में देह आदिक परिग्रह एवं समस्त मान कषाय से रहितता

तथा आत्मा में लीनता होती है। भाव सहित द्रव्यलिंग से ही आत्मा के कर्मप्रक ति के समूह का नाश होता है, मोक्षमार्ग में दोनों ही चाहिए। द्रव्यलिंग रहित मात्र भावलिंग तो हो सकता ही नहीं और भावरहित द्रव्यमात्र लिंग कार्यकारी नहीं।

(३) द्रव्यलिंग सम्बन्धित तीन द्रष्टव्य बिन्दु–आ० कुन्दकुन्द की गाथाओं में व मान्य पं० जी क त टीका में वे तीन द्रष्टव्य बिन्दु ये हैं :–

१. जो भाव के बिना द्रव्यलिंग धारण किए हुए हैं, उन आगम के अनुकूल बाह्य आचरण से युक्त द्रव्यलिंगी मुनियों को उनके द्रव्यलिंग को निष्फल व अकार्यकारी बताकर, त्याग देने की प्रेरणा नहीं की वरन् १२, १७ एवं ४१ आदि गाथाओं में कुन्दकुन्द स्वामी ने तो उन्हें महाजस, मुनिप्रवर, मुनिवर आदि महिमापूर्ण शब्दों से सम्बोधित किया और उन्हीं गाथाओं के भावार्थ में पं० जयचन्द जी ने उन कुन्दकुन्द स्वामी के सम्बोधनों का आशय बताते हुए उनके बाह्य आचरण एवं द्रव्यलिंग के भी सम्यक् रूप से पालन करने की प्रशंसा करने के साथ-साथ उन्हें भावलिंग और धारण करने की प्रेरणा की क्योंकि मोक्षमार्ग में द्रव्य व भाव दोनों ही लिंगों की आवश्यकता है तो द्रव्यलिंग धारी तो यह है ही, यदि पुरुषार्थपूर्वक भावलिंग की प्राप्ति और हो गई तो अभीष्ट मोक्ष की सिद्धि होगी ही।

२. भावलिंग रहित द्रव्यलिंग धारण करना चाहिए या नहीं–ऐसा प्रश्न होने पर उसे भी धारण करने का निषेध नहीं किया। गाथा ३४ के भावार्थ में पं० जी कहते हैं कि यदि कोई कहे कि द्रव्यलिंग धारण करके परम्परा से भी यदि भावलिगं की प्राप्ति न हो और द्रव्यलिगं निष्फल चला जावे तो भावरहित उसे धारण करने का लाभ नहीं तो उसका उत्तर है कि ऐसी मान्यता से व्यवहार के लोप का दोष आएगा, अतः भावरहित भी द्रव्यलिंग पहले धारण करना चाहिए परन्तु उससे ही साध्य की सिद्धि मानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, उसे भी यत्न से साधने के साथ-साथ भावलिंग को प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना चाहिए।

३. गाथा ३४ में तो पं० जी ने भावरहित भी द्रव्यलिंग को पहले धारण करने की बात कही पर **गाथा ४८, ४९, ६६-७१, ७३ एवं १११, ११३ में** निम्न प्रकार ऐसा भी विवेचन पाया जाता है कि विशुद्ध भाव बिना बाह्य वेष धारना योग्य नहीं है, भाव शुद्ध नहीं देखते तो लोग ही कहते हैं कि काहे का मुनि है, कपटी है अतः वह व्यवहार धर्म की हंसी कराने वाला होता है। **गाथा ४९** का भावार्थ–द्रव्यलिंग भावसहित ही धारण करना श्रेष्ठ है, केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रव का कारण होता है। **गाथा ६६**–हे मुने! पैशुन्य, हास्य, मत्सर और माया आदि पापों से मलिन और अपयश के भाजन ऐसे मुनिपने से तुझे क्या साध्य है! **गाथा ७०**–हे आत्मन्! तू अभ्यन्तर भावदोषों से अत्यंत शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग प्रगट कर, भावशुद्ध बिना द्रव्यलिंग बिगड़ जायेगा क्योंकि भाव मल से जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है। **गाथा ७१**–धर्म में जिसका वास नहीं और दोषों का जो आवास है वह गन्ने के फूल के समान निष्फल व निर्गुण नटश्रमण नाचने वाले भांड के स्वांग सारिखा है, ऐसे मुनि में सम्यग्ज्ञानादि गुण नहीं होते अतः उसमें मोक्ष रूप फल नहीं लगता। **गाथा ७३**–मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर और भाव से अन्तरंग नग्न होकर एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य लिंग जिन आज्ञा से प्रकट करे। भाव शुद्ध हुए बिना पहले ही दिगम्बर रूप धार ले तो पीछे भाव बिगड़ें तब भ्रष्ट हो और भ्रष्ट होकर मुनि भी कहलावे तो मार्ग की हास्य करावे इसलिए भाव शुद्ध करके ही बाह्य मुनिपना प्रकट करो। **गाथा १११**–जो भाव की शुद्धता से रहित हैं, अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण जिनके नहीं है, उनके बाह्य लिंग कुछ कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ता है इसलिए यह उपदेश है कि पहले भाव की शुद्धता करके द्रव्यलिंग धारना। **गाथा ११३**–हे मुनिवर! तू भाव से विशुद्ध होता हुआ, पूजालाभादि को न चाहता हुआ बाह्य शयन, आतापन आदि उत्तरगुणों को पाल।

फिर इन सब कथनों का आशय गाथा ११३ के ही भावार्थ में पं० जी ने दिया है कि ऐसा तो न जानना कि इनका (शुद्धात्मा के अनुकूल समस्त व्यवहार का) बाह्य में करने का निषेध है। ये भी करने और भाव शुद्ध करना–यह आशय है और केवल पूजालाभादि के लिए, अपनी महंतता दिखाने के लिए करे तो कुछ फललाभ की प्राप्ति नहीं है।

इस प्रकार एक तो, जहाँ पर भी जिस भी प्रकरण में ग्रंथकार ने जिस अभिप्राय को लेकर वर्णन किया हो उसका यथावत् अर्थ हमें समझकर ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा अर्थ न लेना चाहिए नहीं तो हमें लाभ के स्थान पर हानि ही होगी। पं. जयचंद जी ने ही 'द्रव्यसंग्रह' की वचनिका करते हुए तीसरे अधिकार की तीसरी गाथा के भावार्थ में कहा है–'स्याद्वाद जैनागम की कथनी अनेकरूप अविरोध जानना। विवक्षा जहाँ जैसी हो वैसी समझ लेना।'

दूसरे, जिस भी अपेक्षा को लेकर जहाँ कथन किया गया हो उस अपेक्षा को हमें द ष्टि व ज्ञान में रखना चाहिए और उस आपेक्षिक कथन को एकान्तिक सत्य नहीं मान लेना चाहिए अन्यथा हम सत्य से भटक सकते हैं। अन्य कथनों के साथ संगति बैठाकर ही प्रत्येक कथन की यथार्थता को हमें जानना चाहिए।

द्वितीय विभाग–गाथा ६१ से १६५ तक–भीतर के दोषों को मिटाकर भाव विशुद्धि के लिए जीव को कैसा आचरण करना चाहिए इसका सविस्तार विवेचन गाथा ६० से आगे पूरे पाहुड़ में कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है। इसके लिए उन्होंने सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप को धारण करने का, धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याने का और भावनाओं को भाने का उपदेश दिया है।

सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा करते हुए वे कहते हैं कि मिथ्यात्व से मोहित, बेचेत जीव अनादि काल से संसार में

भ्रमण करके दुःख ही दुःख पा रहा है इसलिए तीन सौ तरेसठ पाखंडियों के मार्ग को छोड़कर अब जिनमार्ग में अपना मन स्थिर करना चाहिए। सम्यग्दर्शन रहित प्राणी चलता हुआ म तक है। मुनि व श्रावक दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व ही अधिक है, ऐसा जानकर गुण रूप रत्नों में सारभूत और मोक्ष मंदिर का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन भाव से धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व को छोड़ने का, छह अनायतन के त्याग का, जिनाज्ञा पालन कर चैत्य, प्रवचन व गुरु की भक्ति करने का और मन-वचन-काय शुद्ध करके जीवादि तत्त्वों की व नौ पदार्थ, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान आदि की भावना भाने का उपदेश है। **सम्यग्ज्ञान** के लिए श्रुतज्ञान को सम्यक् प्रकार भावशुद्धि से निरन्तर भाना चाहिए।

सम्यक्चारित्र के लिए छह काय के जीवों की दया करने का और उसके लिए अशुद्ध आहार के त्याग का, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य को भावों में प्रकट करने का, दुर्जनों के निष्ठुर व कटुक वचन रूपी चपेट को सहने का और चिरकाल से संचित क्रोध रूपी अग्नि को उत्तम क्षमा रूप जल से बुझाने का, मन–वचन–काय से विनय को पालने का, नौ नोकषाय के त्याग का, इन्द्रियों को जीतने का व ज्ञान रूपी अंकुश से मन रूपी मतवाले हाथी को वश में करने का, बाईस परिषहों को सहने का, चार संज्ञाओं के अभाव करने का, वैयाव त्ति का, गुरु के सामने दोषों की सरलता से गर्हा करने का और पूजा-लाभादिक को न चाहते हुए उत्तरगुणों के पालने का उपदेश है। साथ ही साथ बारह प्रकार के **तप** का भी आचरण करना चाहिए।

आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म-शुक्ल ध्यान को ध्याना और भावनाओं का भाना भावशुद्धि का बड़ा उपाय है। सर्व जीवों में व्यापक महासत्त्व चेतनाभाव को भाना चाहिए। अनित्य आदि बारह

अनुप्रेक्षाओं को, तेरह प्रकार की क्रियाओं को, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं को, अठारह हजार भेद रूप शील और चौरासी लाख उत्तरगुणों को निरन्तर भाना चाहिए। ऐसी भावना करनी चाहिए कि मैं ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से वेढ्या हूँ—आच्छादित हूँ, अब इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप निज चेतना को मुझे प्रकट करना चाहिए और जब तक शरीर में व द्धपना व रोग न आवे और इन्द्रियों का बल रहे तब तक अति शीघ्र अपना हित कर लेना चाहिए।

इस प्रकार इस पूरे भावपाहुड़ में जीव को जिनभावना अर्थात् सम्यक्त्व भावना भाने का, स्वभाव प्राप्ति का वा शुद्धभाव के सन्मुख होने का ही मुख्यतया उपदेश दिया गया है। आचार्य कहते हैं कि अशुद्ध भाव से तंदुल मत्स्य तुल्य जीव भी नरक चला जाता है और विशुद्ध भाव से यह जीव रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के सन्मुख हो जाता है—ऐसा जानकर जीव को विशुद्ध भावपूर्वक शुद्धभाव के, धर्म के सन्मुख होना चाहिए परन्तु पुण्य को धर्म मानकर सेवन नहीं करना चाहिए। पूजा आदि व व्रतादि तो पुण्य है और मोह-क्षोभ रहित आत्मा का शुद्ध परिणाम धर्म है। जो शुभ क्रिया रूप पुण्य को ही धर्म जानकर श्रद्धान करता है, रुचि करता है, प्रतीति करता है उसके वह पुण्य भोग का ही निमित्त होता है, कर्मक्षय का नहीं। कर्मक्षय के लिए, मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए तो शुद्ध आत्मा को ही इष्ट जानकर अंगीकार करना चाहिए, शुद्धभाव के अनुकूल शुभ परिणाम करने चाहिए और अशुभ परिणामों का सर्वथा परिहार करना चाहिए—यही सम्पूर्ण भावपाहुड़ का हार्द है।

समाप्त



गाथा २–'भावो हि पढमलिंगं....' **अर्थ**–भाव ही प्रथम अर्थात् प्रधान लिंग है, द्रव्यलिंग को तू परमार्थ मत जान। गुण और दोषों का कारणभूत भाव ही है–ऐसा जिन भगवान ने कहा है।।१।।

गा० ३–'भावविसुद्धिणिमित्तं....' **अर्थ**–बाह्य परिग्रह का त्याग भाव की विशुद्धि के लिए किया जाता है। अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त जीव के बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है।।२।।

गा० ४–'भीसणणरयगईए....' **अर्थ**–हे जीव! तूने भीषण नरक गति में, तिर्यंच गति में तथा कुदेव और कुमनुष्य गति में तीव्र दुःख पाये हैं अतः अब तू जिनभावना को भा।।३।।

गा० ३०–'रयणत्तयसु अलद्धे....' **अर्थ**–हे जीव! इस प्रकार रत्नत्रय की अप्राप्ति से तू इस दीर्घ संसार में भ्रमा है, ऐसा जानकर अब उस रत्नत्रय का आचरण कर-ऐसा जिनवरों ने कहा है।।४।।

गा० ४३–'भावविमुत्तो मुत्तो....' **अर्थ**–रागादि भावों से मुक्त ही मुक्त कहलाता है, जो बंधु-बांधव तथा मित्र आदि से मुक्त है उसको मुक्त नहीं कहते-ऐसा जानकर हे धीर मुनि! तू अभ्यन्तर की वासना को छोड़।।५।।

गा० ४७–'सो णत्थि तं....' **अर्थ**–इस संसार में चौरासी लाख योनि के निवास में ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्यलिंगी श्रमण होकर भी भ्रमण न किया हो।।६।।

गा० ४8–'भावेण होइ लिंगी....' **अर्थ**–भावलिंग ही से लिंगी होता है, द्रव्यमात्र से लिंगी नहीं होता इसलिए भावलिंग ही धारण करना, द्रव्यलिंग से क्या कार्य सिद्ध होता है!।।७।।

गा० ५४–'भावेण होइ णग्गो....' **अर्थ**–भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्न लिंग से क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता। भाव सहित द्रव्यलिंग से कर्म प्रक ति के समूह का नाश होता है।।8।।

गा० ५६–'देहादि संगरहिओ....' **अर्थ**–जो शरीरादि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत है वह साधु भावलिंगी होता है।।9।

गा० ६६–'पढिएण वि किं....' **अर्थ**–भावरहित पढ़ने और सुनने से क्या होता है अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है। श्रावक तथा मुनिपने का कारणभूत भाव ही है।।१०।।

गा० ६8–'णग्गो पावइ दुक्खं....' **अर्थ**–जिनभावना से रहित नग्न दीर्घ काल तक दुःख पाता है, संसार समुद्र में भ्रमण करता है और बोधि अर्थात् रत्नत्रय को नहीं पाता।।११।।

गा० ७३–'भावेण होइ णग्गो....' **अर्थ**–पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अन्तरंग से नग्न होकर, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य लिंग जिन आज्ञा से प्रकट करे-यह मार्ग है।।१२।।

गा० 8१–'पंचविहचेलचायं....' **अर्थ**–जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावितपूर्व अर्थात्

पहले शुद्धात्मा का स्वरूप परद्रव्य से भिन्न बारम्बार भावना से अनुभव किया ऐसा जिसमें भाव है ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्य मल रहित और शुद्ध अर्थात् अन्तर्मल रहित जिनलिंग है।।१३।।

गा० ४२–'जह रयणाणं....' **अर्थ**–जैसे रत्नों में हीरा और बड़े व क्षों में बावन चंदन प्रवर है-श्रेष्ठ है वैसे सब धर्मों में आगामी संसार का मथन करने वाला जिनधर्म प्रवर है-श्रेष्ठ है।।१४।।

गा० ४४–'सद्दहदि य....' **अर्थ**–जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके वह पुण्य भोग का ही निमित्त होता है, कर्मक्षय का नहीं।।१५।।

गा० ४9–'बाहिरसंगच्चाओ....' **अर्थ**–भावरहित मुनि का बाह्य परिग्रह का त्याग; गिरि, नदी निकट, गुफा व कंदरा आदि में आवास और ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन आदि सब निरर्थक है।।।१६।।

गा० १११–'सेवहि चउविहलिंगं....' **अर्थ**–हे मुनिवर! तू अभ्यंतर लिंग की शुद्धि को प्राप्त होता हुआ वस्त्र त्याग, केशलोंच, स्नान त्याग एवं पिच्छिका धारण-इन चार प्रकार के बाह्य लिंगों का सेवन कर क्योंकि भावरहित का बाह्य लिंग प्रकटपने अकार्यकारी होता है।।१७।।

गा० ११9–'णाणावरणादीहिं....' **अर्थ**–हे मुनि! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्ठित हूँ, अब मैं इनको भस्म करके अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप चेतना को प्रगट करता हूँ।।१8।।

गा० १२२–'जे केवि दव्वसवणा....' **अर्थ**–जो कोई इन्द्रिय सुख में व्याकुल द्रव्यलिंगी श्रमण हैं वे संसार रूपी व क्ष को नहीं काट पाते परन्तु जो भावलिंगी श्रमण हैं वे ध्यान रूपी कुल्हाड़े से संसार रूपी व क्ष को काट डालते हैं।।१9।।

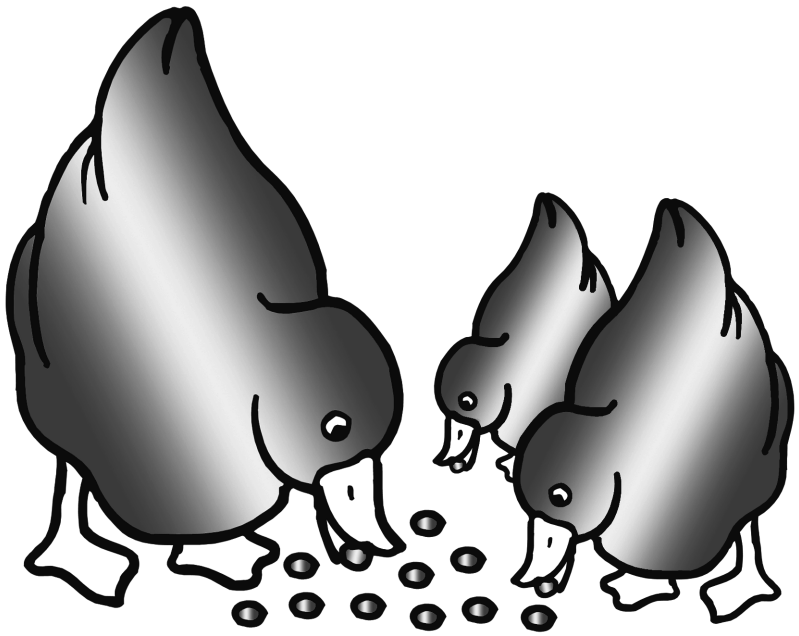
गा० १३२–'उत्थरइ जा ण....' **अर्थ**–जब तक तेरे व द्धपना आक्रमण न करे, जब तक रोग रूपी अग्नि तेरी देह रूपी कुटी को दग्ध न करे और जब तक इन्द्रियों का बल न घटे तब तक तू अपना हित कर ले।।२०।।

गा० १४१–'इय मिच्छत्तावासे....' **अर्थ**–इस प्रकार मिथ्यात्व के आवास इस संसार में कुनय सहित कुशास्त्रों से मोहित हुआ यह जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है-ऐसा हे धीर मुनि! तू विचार कर।।२१।।

गा० १४३–'जीव विमुक्को सवओ....' **अर्थ**–जीव रहित शरीर लोक में 'शव' कहलाता है, सम्यग्दर्शन से रहित प्राणी 'चलशव' अर्थात् चलता फिरता मुर्दा कहलाता है। इनमें से 'शव' तो इस लोक में अपूज्य है और 'चलशव' परलोक में।।२२।।

गा० १४४–'जह तारायण चंदो....' **अर्थ**–जैसे ताराओं के समूह में चन्द्रमा और पशुओं के समूह में सिंह अधिक अर्थात् प्रधान है वैसे मुनि और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व अधिक है।।२३।।

गा० १६४–'किं जंपिएण बहुणा....' **अर्थ**–बहुत कहने से क्या! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा अन्य जितने भी व्यापार हैं सो सर्व ही शुद्ध चैतन्य परिणाम स्वरूप भाव में ही समस्त रूप से स्थित हैं।।२४।।





सू क्ति प्र का श

१. भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।। गाथा २।।
अर्थ–भावलिंग ही प्रथम अर्थात् प्रधान लिंग है, द्रव्यलिंग को तू परमार्थ मत जान।

२. भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विन्ति।। २।।
अर्थ–गुण और दोषों का कारणभूत भाव ही है–ऐसा जिनभगवान ने कहा है।

३. बाहिरचाओ विहलो अब्भंतर- गंथजुत्तस्स।। ३।।
अर्थ–अभ्यंतर परिग्रह से युक्त जीव के बाह्य परिग्रह का त्याग विफल होता है।

४. भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।। ४।।
अर्थ–भावरहित जीव कोड़ाकोड़ी संख्या काल तक भी तप करे तो भी उसके सिद्धि नहीं होती।

५. बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।। ५।।
अर्थ–भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्याग क्या कर सकता है अर्थात् कुछ नहीं।

६. जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।। ६।।
अर्थ–भाव ही को प्रथम अर्थात् परमार्थभूत जान, भावरहित बाह्य लिंग से तेरे क्या साध्य है अर्थात् कुछ भी तो नहीं।

७. इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तयं समायरह।। ३०।।
अर्थ–दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का तू आचरण कर-ऐसा जिनवरों ने कहा है।

8. भावय सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव !।। ३२।।
अर्थ–हे जीव ! जरा-मरण का विनाश करने वाले सुमरण-मरण की तू भावना कर।

9. भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।। ४३।।
अर्थ–रागादि भावों से विमुक्त मुनि ही मुक्त है, जो बंधु-बांधव तथा मित्र आदि से मुक्त है वह मुक्त नहीं कहलाता।

१०. उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर !।। ४३।।
अर्थ–हे धीर मुनि ! तू अभ्यंतर की स्नेह रूप वासना को छोड़।

११. भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।। ४४।।



अर्थ–भावलिंग से ही मुनि लिंगी होता है, द्रव्यलिंग मात्र से लिंगी नहीं होता।

१२. भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।। ५४।।

अर्थ–भाव से ही नग्न होता है, बाह्य नग्न लिंग से क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं।

१३. कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण।। ५४।।

अर्थ–भावसहित द्रव्यलिंग से कर्म प्रक ति के समूह का नाश होता है।

१४. णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।। ५५।।

अर्थ–भावरहित नग्नपना अकार्यकारी है-ऐसा जिनभगवान ने कहा है।

१५. णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर !।। ५५।।

अर्थ–हे धीर मुनि ! तू नित्य ही आत्मा की भावना कर।

१६. अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू।। ५६।।

अर्थ–जिसका आत्मा आत्मा में रत है वह भावलिंगी साधु होता है।

१७. ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।। ५७।।

अर्थ–मैं निर्ममत्व भाव में स्थित होकर ममत्व को छोड़ता हूँ।

१8. आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। ५७।।

अर्थ–आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अवशेष सभी रागादिक परिणामो को मैं छोड़ता हूँ।

१9. एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।। ५9।।

अर्थ–मेरा आत्मा एक है, नित्य है और ज्ञान–दर्शन लक्षण वाला है।

२०. पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।। ६६।।

अर्थ–भावरहित पढ़ने और सुनने से क्या कीजिए अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

२१. भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं।। ६६।। **अर्थ**–श्रावकपना तथा मुनिपना-इनका कारणभूत भाव ही है।

२२. णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।। ६8।।



अर्थ–जिनभावना अर्थात् सम्यग्दर्शन भावना से वर्जित नग्न दीर्घ काल तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप बोधि को नही पाता।

२३. अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।। ६७।।

अर्थ–अपकीर्ति का भाजन और पाप से मलिन नग्नपने से तुझे क्या प्रयोजन!

२४. पयडय जिणवरलिंगं अब्भंतरभावदोस परिसुद्धो।। ७०।।

अर्थ–हे जीव! तू अभ्यन्तर भाव के दोषों से शुद्ध होकर जिनलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग को प्रकट कर।

२५. भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मइलियइ।। ७०।।

अर्थ–भावों की मलिनता से जीव बाह्यपरिग्रह में अपने आपको मलिन कर लेता है।

२६. धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं।। ४२।।

अर्थ–आगामी संसार का मथन करने वाला जिनधर्म सब धर्मों में प्रवर-श्रेष्ठ है।

२७. मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ४३।।

अर्थ–मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह धर्म है।

२8. पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। ४४।।

अर्थ–पुण्य को ही जो धर्म जाने उसके पुण्य भोग का ही निमित्त है, कर्मक्षय का नहीं।

२9. तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।। ४७।।

अर्थ–मन-वचन-काय से तुम उस आत्मा का श्रद्धान करो।

३०. जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। ४७।।

अर्थ–प्रयत्नपूर्वक उस आत्मा को तुम जानो जिससे कि मोक्ष को प्राप्त कर सको।

३१. भावय जिणभावणा णिच्चं।। ४8।।

अर्थ–तू नित्य ही जिनभावना को भा।

३२. सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं।। 89।।

अर्थ–भावरहित मुनि का ज्ञान के लिए सकल शास्त्रें का अध्ययन निरर्थक है।



३३. मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस मा कुणसु।। ९०।। **अर्थ**–हे मुनि! तू जनरंजन करने वाला बाह्य व्रत का भेष धारण मत कर।

३४. भावहि अणुदिण अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं।। ९२।। **अर्थ**–उस अनुपम श्रुतज्ञान की तू प्रतिदिन विशुद्ध भाव से भावना कर।

३५. भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं।। ९६।। **अर्थ**–शुद्धभाव रहित बाह्य लिंग से क्या कर्तव्य है अर्थात् कुछ भी नहीं।

३६. मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे।। ९८।। **अर्थ**–मैथुन संज्ञा में आसक्त होकर तू इस भयानक संसार समुद्र में भ्रमण करता रहा है।

३७. भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।। ९९।। **अर्थ**–भावसहित श्रेष्ठ मुनि आराधना के चतुष्क को पाता है।

३८. भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे।। ९९।। **अर्थ**–भावरहित मुनि दीर्घ संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

३९. पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।। १००।। अर्थ–भावश्रमण कल्याण की परम्परा सहित सुखों को पाते हैं।

४०. दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए।। १००।। अर्थ–द्रव्यश्रमण मनुष्य, तिर्यंच और कुदेवों की योनि में दुःखों को पाते हैं।

४१. विणयं पञ्चपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।। १०४।। अर्थ–मन-वचन-काय तीनों योगों से तू पाँच प्रकार की विनय का पालन कर।

४२. दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।। १०७।। अर्थ–सत्पुरुष दुर्जन मनुष्यों के निष्ठुर और कटुक वचन रूपी चपेट को सहते हैं।

४३. चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह।। १०९।। अर्थ–चिरकाल से संचित क्रोध रूपी अग्नि को उत्तम क्षमा रूपी जल से तू सींच अर्थात् शमन कर।

४४. बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं।। १११।। अर्थ–शुद्धभाव रहित जीवों का बाह्य लिंग प्रगटपने अकार्यकारी है।

४५. परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ११६।। अर्थ–बंध और मोक्ष परिणाम से ही होता है-ऐसा जिनशासन में कहा गया है।

४६. बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो।। ११७।। अर्थ–जिनवचन से पराङ्मुख जीव अशुभ कर्म को बांधता है।

४७. झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुत्तूण।। १२१।। अर्थ–आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर तू धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्या।

४8. छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।। १२२।। अर्थ–भावश्रमण ध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी व क्ष को छेद देते हैं।

४9. भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।। १२७।। अर्थ–भावश्रमण तो सुखों को और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है।

५०. भावेण य संजदो होहि।। १२७।। अर्थ–तू भावसहित संयमी बन।

५१. ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।। १२9।। अर्थ–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शुद्ध वे मुनि धन्य हैं, उनको नमस्कार हो।

५२. उत्थरइ जा ण जरओ ताव तुमं कुणहि अप्पहिउं।। १३२।। अर्थ–जब तक जरा का आक्रमण न हो तब तक तू आत्महित कर ले।

५३. रुंभहि मण जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा।। १४२।। अर्थ–निष्प्रयोजन बहुत कहने से क्या लाभ! जिनमार्ग में तू अपने मन को रोक अर्थात् स्थिर कर।

५४. जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।। १४३।। अर्थ–जीव रहित तो 'शव' और सम्यग्दर्शन से रहित 'चलशव' कहलाता है।

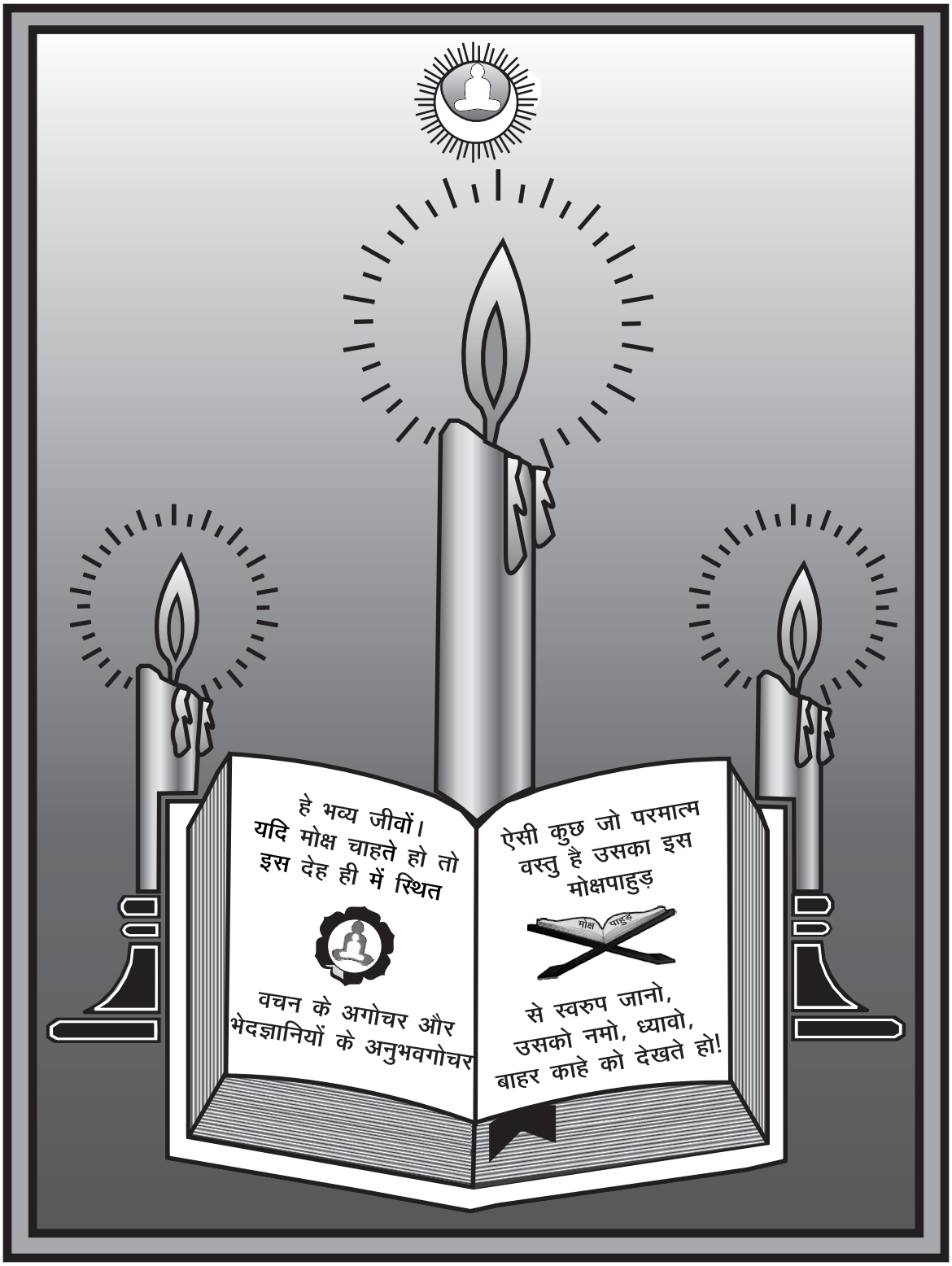
५५. अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं।। १४४।। अर्थ–ऋषि और श्रावक-इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है, वह अधिक है।

५६. दंसणरयणं धरेह भावेण।। १४७।। अर्थ–सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर।



५७. तिहुवणभवण पईवो देओ मम उत्तमं बोहिं।। १५२।। अर्थ–तीन लोक रूपी भवन को प्रकाशित करने के लिए प्रक ष्ट दीपक तुल्य अरहंत देव मुझे उत्तम बोधि प्रदान करो।


6
मोक्ष
पाहुड़


हे भव्य जीवों।
यदि मोक्ष चाहते हो तो
इस देह ही में स्थित
वचन के अगोचर और
भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर
ऐसी कुछ जो परमात्म
वस्तु है उसका इस
मोक्षपाहुड़
से स्वरुप जानो,
उसको नमो, ध्यावो,
बाहर काहे को देखते हो!

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१.	मंगल के लिए परमात्मा को नमस्कार	६–६
२.	नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा	६–६
३.	परमात्मा के ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति	६–१०
४.	आत्मा के तीन प्रकार और उनमें हेय, उपाय एवं उपेय का निर्णय	६–११
५.	त्रिविध आत्मा का स्वरूप	६–१२
६.	परमात्मा के विशेषण	६–१३
७.	बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा को ध्याओ	६–१३
८-११.	बहिरात्मा का लक्षण एवं परिणति	६–१४-१६
१२.	देह से निरपेक्ष एवं आत्मस्वभाव में सुरत ही निर्वाण पाता है	६–१७
१३.	परद्रव्य में रत बंधता है और विरत छूटता है–यह बंध-मोक्ष विषयक संक्षिप्त जिनोपदेश है	६–१८
१४.	स्वद्रव्यरत सो सम्यग्द ष्टि, उसके ही दुष्टाष्ट कर्मों का क्षपण	६–१८
१५.	परद्रव्यरत सो मिथ्याद ष्टि, उसके ही दुष्टाष्ट कर्मों का बंधन	६–१९
१६.	परद्रव्यरत की दुर्गति और स्वद्रव्यरत की सुगति	६–२०
१७.	परद्रव्यों का परिचयन	६–२१
१८.	स्वद्रव्य आत्मा ही है	६–२१
१९.	परद्रव्य से पराङ्मुख, स्वद्रव्य के ध्यानी को निर्वाण का लाभ	६–२२
२०.	शुद्धात्मा के ध्यान से मोक्ष मिलता है तो क्या स्वर्ग नहीं मिलेगा	६–२३
२१-२२.	उपर्युक्त कथन की दो द ष्टान्तों के द्वारा पुष्टि	६–२३-२४
२३.	तप की अपेक्षा ध्यान से स्वर्ग पाने वाले को मोक्ष का लाभ	६–२४
२४.	कालादि लब्धि से आत्मा ही परमात्मा होता है–द ष्टान्तपूर्वक कथन	६–२५
२५.	अव्रतादि की अपेक्षा व्रत, तप भला है	६–२६
२६.	संसार महा समुद्र से निकलने का उपाय–शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान	६–२७
२७–२८.	आत्मध्यान की विधि	६–२८-२९

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२९.	ध्याता के मौन के हेतु का सयुक्तिक कथन	६–३०
३०.	आत्मध्यान का माहात्म्य–कर्म का संवरपूर्वक नाश	६–३१
३१.	व्यवहार में सोने वाला स्वकार्य में जागता है	६–३१
३२.	योगी सर्व व्यवहार को छोड़कर परमात्मा को ध्याता है	६–३२
३३.	व्रत, समिति एवं गुप्ति से युक्त होकर ध्यान–अध्ययन करने का उपदेश	६–३३
३४.	आराधक का स्वरूप व आराधना का फल–केवलज्ञान	६–३४
३५.	सिद्ध, शुद्ध, सर्वज्ञ व सर्वलोकदर्शी आत्मा की केवलज्ञानरूपता	६–३४
३६.	रत्नत्रय के आराधक के आत्मा का ध्यान और पर का परिहार	६–३५
३७-३८.	रत्नत्रय का स्वरूप	६–३६
३९.	दर्शनशुद्धि से ही निर्वाण की प्राप्ति	६–३७
४०.	सम्यक्त्व का स्वरूप-रत्नत्रय के उपदेश को सार मानना	६–३८
४१.	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप-जीव व अजीव का भेदज्ञान	६–३८
४२.	सम्यक् चारित्र का स्वरूप-पुण्य एवं पाप का परिहार	६–४०
४३.	शक्ति के अनुसार तप के द्वारा संयत परम पद को पाता है	६–४१
४४.	परमात्मध्यान की पात्रता	६–४२
४५.	कषायरहित स्वभावयुक्त जीव उत्तम सुख पाता है	६–४३
४६.	विषय-कषाय से युक्त व परमात्मभाव से रहित जिनमुद्रा से पराङ्मुख जीव को सिद्धि का सुख नहीं	६–४३
४७.	जिनमुद्रा से अरुचि का फल-संसार में ही तिष्ठना	६–४४
४८.	परमात्मा को ध्याने वाला योगी नवीन कर्मों को ग्रहण नहीं करता	६–४५
४९.	दृढ़ सम्यक्त्व व चारित्रवंत आत्मध्यानी निर्वाण पाता है	६–४६
५०.	चारित्र का लक्षण	६–४७
५१.	स्वभाव से शुद्ध जीव रागादि से युक्त होने के कारण अन्य रूप होता है	६–४७
५२.	देव–गुरु का भक्त और साधर्मी एवं संयत में अनुरक्त ही ध्यानरत होता है	६–४८
५३.	ज्ञानी की महिमा	६–४९

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
५४.	अज्ञानी-ज्ञानी का लक्षण	६–५०
५५.	मोक्षनिमित्तक राग भाव भी आस्रव ही का कारण	६–५०
५६.	स्वभावज्ञान में दूषण देने वाले अज्ञानी की जिनशासन दूषकता	६–५१
५७.	चारित्रहीन ज्ञान एवं दर्शनहीन तपयुक्त लिंगग्रहण से क्या सुख	६–५२
५८.	अचेतन को चेतन मानने वाला अज्ञानी और चेतन को चेतन मानने वाला ज्ञानी होता है	६–५३
५९.	ज्ञान व तप की संयुक्तता मोक्ष की साधक है, ये दोनों पथक्-पथक् नहीं	६–५४
६०.	तीर्थंकर को भी तप से ही सिद्धि होती है अतः ज्ञानयुक्त होते भी तप करना योग्य है	६–५४
६१.	अभ्यंतर लिंग से रहित बहिर्लिंगी आत्मचारित्र से भ्रष्ट व मोक्षपथ का विनाशक है	६–५५
६२.	सुख से भाया हुआ ज्ञान दुःख आने पर नष्ट हो जाता है अतः तपश्चरणादि सहित आत्मा की भावना भाने का उपदेश	६–५६
६३.	आहार, आसन व निद्रा को जीतकर आत्मध्यान करने की प्रेरणा	६–५७
६४.	दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा ही ध्यान करने योग्य है	६–५७
६५.	आत्मा का जानना, भावना व विषयों से विरक्त होना उत्तरोत्तर दुःख साध्य है	६–५८
६६.	जब तक विषयों में प्रवत्ति है तब तक आत्मज्ञान नहीं हो सकता	६–५९
६७.	आत्मज्ञान के बाद भी विषयविमुग्धता का दुष्परिणाम-संसार भ्रमण	६–५९
६८.	विषयविरक्तियुत आत्मज्ञान सहित उसकी भावना का फल– चतुर्गति में भ्रमण का परिहार	६–६०
६९.	परद्रव्य में परमाणु मात्र भी मोहवश रति रखने वाला अज्ञानी है	६–६१
७०.	दर्शनविशुद्ध एवं विषयविरक्त आत्मध्यानियों की निर्वाणपात्रता	६–६१
७१.	परद्रव्य में राग से संसार होता है अतः योगी आत्मा ही की भावना करते हैं	६–६२
७२.	निंदा-प्रशंसा, सुख-दुःख एवं शत्रु-मित्र में समभाव ही चारित्र है	६–६३

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
७३-७५.	शुद्धभाव से भ्रष्ट, सम्यक्त्व-ज्ञान रहित व संसार सुख सुरत जीवों कथन–पंचम काल ध्यान के योग्य नहीं	६–६४-६५
७६.	पंचम काल में आत्मस्वभाव में स्थित साधु के धर्मध्यान की संभवता न मानने वाले अज्ञानी हैं	६–६६
७७.	आज भी रत्नत्रयधारी मुनि इन्द्र व लौकान्तिक देव होकर वहाँ से च्युत हो निर्वाण पाते हैं	६–६६
७८.	जिनलिंग को धारण करके पाप करने वाले मोक्षमार्गी नहीं हैं	६–६७
७९.	परिग्रहासक्त, याचनाशील और अधःकर्मरत लिंगी मोक्षमार्ग से च्युत हैं	६–६८
८०.	परिषहविजयी, जितकषाय, निर्ग्रन्थ व मोहमुक्त ही मोक्षमार्गस्थ है	६–६९
८१.	पर से अन्यत्व व आत्मा में एकत्व भावना वाला योगी शाश्वत स्थान को पाता है	६–७०
८२.	देव–गुरु के भक्त, निर्वेद भावनायुक्त व ध्यानरत योगी मोक्षमार्गस्थ हैं	६–७०
८३.	आत्मरत सुचारित्रवान योगियों को निर्वाण का लाभ	६–७१
८४.	ज्ञानदर्शन समग्र आत्मा को ध्याने वाला योगी पापहर व निर्द्वन्द्व होता है	६–७२
८५.	मुनियों को उपदेश के अनन्तर श्रावकों के लिये संसारनाशक एवं सिद्धि का कारण उपदेश कहने की प्रतिज्ञा	६–७३
८६.	श्रावकों का प्रथम कर्तव्य–सुनिर्मल एवं मेरुवत् निष्कम्प सम्यक्त्व की प्राप्ति	६–७४
८७.	सम्यक्त्व के ध्यान की महिमा–दुष्टाष्ट कर्मप्रक्षय	६–७५
८८.	अधिक कहने से क्या ! जो जीव सिद्ध हुए और होंगे उसे सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो	६–७५
८९.	स्वप्न में भी सम्यक्त्व को मलिन न करने वाले उसके धारकों की धन्यता, कृतार्थता एवं शूरता	६–७६
९०-९१.	सम्यक्त्व का स्वरूप	६–७७-७८

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
९२.	मिथ्याद ष्टि का लक्षण	६–७६
९३.	मिथ्याद ष्टि की ही स्वपरापेक्ष लिंग व रागी असंयत देव को वंदना, सम्यग्द ष्टि की नहीं	६–८०
९४.	सम्यग्द ष्टि के जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण, मिथ्याद ष्टि के नहीं	६–८०
९५.	मिथ्याद ष्टि का जन्म-मरण प्रचुर व दुःख सहस्त्राकुल संसार में संसरण	६–८१
९६.	सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों का विचार करके सम्यक्त्व में रुचि करने का संकेत	६–८२
९७.	बाह्य परिग्रहमुक्त पर मिथ्याभावयुक्त निर्ग्रन्थ के मौनादि बाह्य क्रियाओं की व्यर्थता	६–८२
९८.	जो मूलगुणों को छेदकर बाह्य कर्म करता है वह जिनलिंग का विराधक है	६–८३
९९.	आत्मस्वभाव से विपरीत उपवास व आतापनयोग आदि बाह्य कर्म मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं करता	६–८४
१००.	आत्मस्वभाव से विपरीत के श्रुत का बालश्रुतपना व चारित्र का बालचारित्रपना	६–८५
१०१-१०२.	उत्तम स्थान प्राप्ति की पात्रता–वैराग्य, परद्रव्यपराङ्मुखता आदि-आदि	६–८६
१०३.	तीर्थंकरादि भी जिसका ध्यान व स्तुति करते हैं ऐसे देहस्थ आत्मतत्त्व को जानने की प्रेरणा	६–८७
१०४-१०५.	अरिहंतादि पंच परमेष्ठी व चार आराधना का आराधन आत्मा ही की अवस्था हैं अतः आत्मा ही की मुझे शरण है	६–८८-८९
१०६.	जिनप्रणीत मोक्षपाहुड़ के पढ़ने-सुनने व भाने का फल–शाश्वत सुख का लाभ	६–९०

2. विषय वस्तु ६–९८-९९
3. गाथा चयन ६–१०१-१०२
4. सूक्ति प्रकाश ६–१०३-१०६
5. गाथा चित्रावली ६–१०७-१२१
6. अंतिम सूक्ति चित्र मोक्ष पा० समाप्त ६–१२२



दोहा

आठ कर्म का नाश करि, शुद्ध आठ गुण पाय।
भये सिद्ध निज ध्यान तैं, नमूं मोक्ष सुखदाय।। १।।

अर्थ

सुखदायक मोक्ष को देने वाले उन सिद्धों को मैं नमन करता हूँ जो निज आत्मा के ध्यान से आठ कर्मों का नाश करके शुद्ध आठ गुण पाकर सिद्ध हुए।।१।।

इस प्रकार मंगल के लिए सिद्धों को नमस्कार करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत 'मोक्षपाहुड़' ग्रंथ जो प्राकृत गाथाबद्ध है उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :-

उत्थानिका

वहाँ प्रथम ही आचार्य **मंगल के लिए परमात्मा देव को नमस्कार** करते हैं :—

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स।। १।।

निज ज्ञानमय आत्मा को पाया, कर्म सबका नाशकर।
अरु त्यागकर परद्रव्य को, मैं नमूँ-नमूँ उस देव को।। १।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'जिसने परद्रव्यों को छोड़कर 'झड़ितकर्म' अर्थात् खिरे हैं द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म जिसके ऐसा होकर ज्ञानमयी आत्मा को पाया—ऐसे देव के लिए हमारा नमस्कार हो,नमस्कार हो।' दो बार कहने से अति प्रीतियुक्त भावों का बोध कराया है।

भावार्थ

यहाँ मोक्षपाहुड़ का प्रारम्भ है सो जिसने समस्त परद्रव्यों को छोड़कर एवं कर्मों का अभाव करके केवल ज्ञानानंद स्वरूप मोक्षपद पाया उस देव को मंगल के लिए नमस्कार किया सो यह युक्त ही है क्योंकि जहाँ जैसा प्रकरण होता है वहाँ वैसी योग्यता होती है। यहाँ भावमोक्ष तो अरिहंत के है और द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार का मोक्ष सिद्ध परमेष्ठी के है इसलिए यहाँ दोनों को नमस्कार जानना।।१।।

उत्थानिका

आगे इस प्रकार नमस्कार करके **ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा** करते हैं :—

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं।। २।।

जो परमपदथित शुध, अनंत वर, ज्ञान-दर्शन युक्त प्रभु।
नम उन्हें परम योगीन्द्र हित, परमात्म का वर्णन करूं।। २।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'उस पूर्वोक्त देव को नमस्कार करके परमात्मा जो उत्कृष्ट शुद्ध आत्मा उसको, परम योगीश्वर जो उत्कृष्ट योग-ध्यान को धारण करने वाले मुनिराज उनके लिए कहूंगा। **कैसा है पूर्वोक्त देव**—(१) अनंत और श्रेष्ठ जो ज्ञान–दर्शन वे जिसके पाए जाते हैं तथा (२) शुद्ध है–कर्म मल से रहित है। **अथवा कैसा है परमात्मा**—(१) अनंत है वर अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन जिसमें, और **कैसा है**—(२) शुद्ध है, कर्ममल से रहित है। **तथा कैसा है**—(३) परम उत्कृष्ट है पद जिसका।'

भावार्थ

इस ग्रंथ में जैसा मोक्ष पद है और उसे जिस कारण से पाया जाता है उसका वर्णन करेंगे अतः उस रीति से उस ही की प्रतिज्ञा की है तथा 'योगीश्वरों के लिए कहेंगे' **इसका आशय यह है कि ऐसे मोक्षपद को शुद्ध परमात्मा के ध्यान से पाया जाता है सो उस ध्यान की योग्यता योगीश्वरों के ही प्रधान रूप से है, ग हस्थों के यह प्रधान नहीं है[1]।।२।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिस परमात्मा को कहने की प्रतिज्ञा की उसको योगी–ध्यानी मुनि जानकर उसका ध्यान करके परम पद को पाते हैं' :–

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं।। ३।।

योगस्थ योगी जान जिसको, अनवरत ध्याया करें।
उपमाविहीन असीम अव्याबाध, शिव पाया करें।। ३।।

अर्थ

आगे जिस परमात्मा को कहेंगे उसको जानकर योगी जो मुनि वे 'योग' अर्थात्

टि0-**1.** ग□हस्थों के ध्यान का निषेध नहीं किया, उसकी प्रधानता का निषेध किया है कि 'योगी□वरों के ही यह ध्यान प्रधान है, ग□हस्थों के नहीं।'

ध्यान में स्थित हुए निरन्तर उस परमात्मा को अनुभवगोचर करके निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

कैसा है निर्वाण—अव्याबाध है, जहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं है;

और कैसा है—अनन्त है, जिसका नाश नहीं है;

और कैसा है—अनुपम है, जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है।

भावार्थ

आचार्य कहते हैं कि 'ऐसे परमात्मा को आगे कहेंगे जिसको मुनि ध्यान में निरन्तर अनुभव करके और केवलज्ञान प्राप्त करके निर्वाण को पाते हैं।' यहाँ यह तात्पर्य है कि 'परमात्मा के ध्यान से मोक्ष होता है'।।३।।

उत्थानिका

आगे परमात्मा कैसा है—ऐसा ज्ञान कराने के लिए आत्मा को तीन प्रकार का दिखाते हैं :—

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पं।। ४।।

है प्राणियों के परम, अतंर, बहिर त्रिविध ही आत्मा।
बहिरात्म तज हो अन्तरात्मा, ध्याओ तुम परमात्मा।। ४।।

अर्थ

वह आत्मा प्राणियों के इन तीन प्रकार का है—अतंरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। सो अंतरात्मपने के उपाय से बहिरात्मपने को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना।

भावार्थ

बहिरात्मपने को छोड़कर अंतरात्मा रूप होकर परमात्मा का ध्यान करना-इससे मोक्ष होता है।।४।।

उत्थानिका

आगे **तीन प्रकार की आत्मा का स्वरूप** दिखाते हैं :–

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। ५।।

बहिरात्मा है इन्द्रि, चित्, संकल्प अन्तर आतमा।
जो कर्ममल से मुक्त वह, परमात्मा वही देव है।। ५।।

अर्थ

(१) अक्ष जो स्पर्शनादि इन्द्रियाँ—वे तो बाह्य आत्मा हैं क्योंकि इन्द्रियों से स्पर्श आदि विषयों का जब ज्ञान होता है तब लोग ऐसा ही जानते हैं कि 'जो ये इन्द्रियाँ हैं वे ही आत्मा हैं' इस प्रकार इन्द्रियों को बाह्य आत्मा कहते हैं। (२) अन्तरात्मा है सो अन्तरंग में आत्मा का प्रकट अनुभवगोचर संकल्प है। शरीर एवं इन्द्रियों से भिन्न, मन के द्वारा जो देखने-जानने वाला है सो मैं हूँ—ऐसा स्वसंवेदनगोचर संकल्प सो ही अन्तरात्मा है। (३) कर्म जो द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म राग-द्वेष-मोहादि और नोकर्म शरीरादि सो ही हुआ कलंक मल उससे विमुक्त-रहित एवं अनंतज्ञानादि गुण सहित सो परमात्मा है, वह ही देव है, अन्य को देव कहना उपचार है।

भावार्थ

बाह्य आत्मा तो इन्द्रियों को कहा और अंतरात्मा देह में स्थित और देखना—जानना जिसके पाया जाता है ऐसा मन के द्वारा जो संकल्प है सो है तथा परमात्मा कर्म कलंक से रहित कहा सो यहाँ ऐसा बताया है कि (१) यह जीव जब तक बाह्य शरीरादि ही को आत्मा जानता है तब तक तो बहिरात्मा है, संसारी है तथा (२) जब यह अन्तरंग में आत्मा को जानता है तब सम्यग्द ष्टि होता है तब अंतरात्मा है और (३) यह ही जीव जब परमात्मा का ध्यान करके कर्म कलंक से रहित होता है तब पहले तो केवलज्ञान प्राप्त कर अरिहंत होता है पश्चात् सिद्ध पद को पाता है—इन दोनों ही को परमात्मा कहते हैं। अरिहंत तो भाव कलंक से रहित हैं और सिद्ध द्रव्य एवं भाव रूप दोनों प्रकार के कलंक से रहित हैं—ऐसा जानना।।५।।

उत्थानिका

आगे उस परमात्मा का विशेषणों के द्वारा स्वरूप कहते हैं :–

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो[1]।। ६।।

है विशुद्वात्मा मलरहित, कल त्यक्त, अनिन्द्रिय, सिद्ध वह।
परमेष्ठी केवल, परम जिन, अरु है शिवंकर शाश्वता।। ६।।

अर्थ

परमात्मा ऐसा है—(१) प्रथम तो 'मलरहित' है—द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मल से रहित है, (२) 'कलत्यक्त' अर्थात् शरीर से रहित है, (३) 'अनिन्द्रिय' अर्थात् इन्द्रियों से रहित है अथवा अनिन्दित अर्थात् किसी भी प्रकार से निंदायुक्त नहीं है, सब ही प्रकार से प्रशंसा के योग्य है, (४) 'केवल' अर्थात् केवलज्ञानमयी है, (५) 'विशुद्धात्मा' अर्थात् विशेष रूप से शुद्ध है आत्मस्वरूप जिसका—ज्ञान में ज्ञेय के आकार प्रतिभासित होते हैं तो भी उन स्वरूप नहीं होता तथा उनसे रागद्वेष नहीं है, (६) 'परमेष्ठी' है—परम पद में स्थित है, (७) 'परमजिन' है—सब कर्मों को जीत लिया है, (८) 'शिवंकर' है—भव्य जीवों के परम मंगल तथा मोक्ष को करता है, (९) 'शाश्वत' है—अविनाशी है तथा (१०) 'सिद्ध' है—अपने स्वरूप की सिद्धि के द्वारा निर्वाण पद को प्राप्त है।

भावार्थ

परमात्मा उपरोक्त प्रकार का है। ऐसे परमात्मा का जो ध्यान करता है वह ऐसा ही हो जाता है।।६।।

उत्थानिका

आगे भी यही उपदेश कहते हैं :–

टि0-1. इस गाथा में दिये गए कुछ वि□षणों के श्रु0 टी0 में जो विभिन्न अर्थ दिये गए हैं उन पर टिप्पण पाठकगण ढूंढारी टीका में इसी स्थल पर देखें।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ७।।

तू अन्तरात्म का आश्रय ले, तज बहिर त्रिविध प्रकार से।
परमात्मा का ध्यान धर, है जिनवरेन्द उपदेश यह।। ७।।

अर्थ

बहिरात्मपने को मन-वचन-काय से छोड़कर और अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करो-यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेव ने उपदेश दिया है।

भावार्थ

परमात्मा के ध्यान करने का उपदेश प्रधान करके दिया है, इससे मोक्ष प्राप्त होता है।।७।।

उत्थानिका

आगे बहिरात्मा की प्रव त्ति कहते हैं :–

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।। ८।।

है फुरितमन बाह्यार्थ इन्द्रिय, द्वार से स्व स्वरूप च्युत।
निजदेह को जाने निजात्मा, मूढ़द ष्टि जीव वह।। ८।।

अर्थ

मूढ़द ष्टि-अज्ञानी मोही मिथ्याद ष्टि है सो बाह्य पदार्थ जो धन-धान्य एवं कुटुम्ब आदि इष्ट पदार्थ उनमें स्फुरायमान है-तत्पर है मन जिसका तथा इन्द्रिय द्वार से अपने स्वरूप से च्युत है-इन्द्रियों ही को अपना जानता है और ऐसा होता हुआ जो अपनी देह है उस ही को आत्मा जानता है, निश्चय करता है-ऐसा मिथ्याद ष्टि बहिरात्मा है।

भावार्थ

ऐसा जो बहिरात्मा का भाव है उसको छोड़ना।।8।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'मिथ्याद ष्टि अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर उसको दूसरे की आत्मा मानता है' :–

णियदेहं सारित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ मिच्छभावेण।। 9।।

निजदेह सद श देह पर की, देख अति ही प्रयत्न से ।
जड़ रूप है तो भी उसे, वह ध्यावे पर की आत्मा।। 9।।

अर्थ

मिथ्याद ष्टि पुरुष अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर, यह देह अचेतन है तो भी मिथ्याभाव के द्वारा उसे आत्मभाव से ग्रहण करके बड़े यत्न से उसे पर की आत्मा ध्याता है।

भावार्थ

बहिरात्मा मिथ्याद ष्टि के मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्याभाव है सो जैसे वह अपनी देह को आत्मा जानता है वैसे ही पर की देह अचेतन है तो भी उसको वह पर का आत्मा जानकर ध्याता है, मानता है और उसमें बड़ा यत्न करता है इसलिए ऐसे भाव को छोड़ना–यह तात्पर्य है।।9।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसी ही मान्यता से पर मनुष्यादि में मोह प्रवर्तता है' :–

सपरज्झवसाएण देहेसु य अविदियत्थ अप्पाणं।
सुअदाराईविसए मणुयाणं वट्टए मोहो।। १०।।

कर स्व-पर निश्चय तन में, वस्तुस्वरूप को नहीं जानकर।
सुत-दारा विषयक मोह बाढ़े, याही विधि इस मनुज के।। १०।।

अर्थ

इस प्रकार देह में जो स्व–पर का 'अध्यवसाय' अर्थात् निश्चय उसके द्वारा मनुष्यों के सुत–दारादि बाह्य जीवों में मोह प्रवर्तता है। **कैसे हैं मनुष्य**–अविदित अर्थात् नहीं जाना है अर्थ अर्थात् पदार्थ की आत्मा अर्थात् स्वरूप जिन्होंने।

भावार्थ

जिन मनुष्यों ने जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना उन्हें देह में स्व–पर अध्यवसाय है अर्थात् अपनी देह को वे अपनी आत्मा जानते हैं और पर की देह को पर की आत्मा जानते हैं, उनके पुत्र-स्त्री आदि कुटुम्ब में मोह–ममत्व होता है और **जब जीव-अजीव का स्वरूप जानते हैं तब देह को अजीव जानते हैं और आत्मा को अमूर्तिक चेतन जानते हैं, अपनी आत्मा को तो अपनी मानते हैं और पर की आत्मा को पर जानते हैं तब पर में ममत्व नहीं होता इसलिए जीव-अजीव आदि पदार्थ का स्वरूप भली प्रकार जानकर मोह नहीं करना-ऐसा बताया है।।१०।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'मोह कर्म के उदय से मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव होते हैं जिससे आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है' :–

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ।। ११।।

हो लीन मिथ्याज्ञान, मिथ्याभावों से भाया हुआ।
मोहोदय से पुनः देह को, सम्मान देता यह मनुज।। ११।।

अर्थ

यह मनुष्य है सो मोह कर्म के उदय से मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्याभावों से भाया

हुआ फिर भी आगामी जन्म में भी इस अंग का अर्थात् देह का आदर करता है, इसको भला मानकर चाहता है।

भावार्थ

मोह कर्म की प्रकृति जो मिथ्यात्व उसके उदय से ज्ञान भी मिथ्या होता है, परद्रव्य को अपना जानता है तथा उस मिथ्यात्व ही से मिथ्या श्रद्धान होता है जिससे परद्रव्य में निरन्तर यह भावना होती है कि 'यह मुझे सदा प्राप्त हो' और उससे यह प्राणी आगामी भी देह को भला जानकर चाहता है।।११।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो मुनि देह में ममत्व नहीं करता वह निर्वाण को पाता है' :–

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।। १२।।

है देह में निरपेक्ष, निर्मम, निरारम्भी योगी जो।
निर्द्वन्द्व आत्मस्वभाव में रत, मुक्ति की प्राप्ति करे।। १२।।

अर्थ

जो योगी–ध्यानी मुनि (१) देह में निरपेक्ष है–देह को नहीं चाहता है अर्थात् उदासीन है, (२) निर्द्वन्द्व है–रागद्वेष रूप इष्ट-अनिष्ट मान्यता से रहित है, (३) निर्ममत्व है–देहादि में 'ये मेरे हैं' ऐसी बुद्धि से रहित है, (४) निरारंभ है–इस देह के लिए तथा अन्य लौकिक प्रयोजन के लिए आरम्भ से रहित है तथा (५) आत्मस्वभाव में रत है–लीन है अर्थात् निरन्तर स्वभाव की भावना सहित है वह निर्वाण को पाता है।

भावार्थ

जो बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा में लीन होता है वह मोक्ष पाता है-यह उपदेश दिया है।।१२।।

उत्थानिका

आगे बंध के और मोक्ष के कारण का संक्षेप रूप आगम का वचन कहते हैं :–

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुंचेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।। १३।।

परद्रव्य में रत बंधे छूटे, विरत विध-विध कर्म से।
संक्षिप्त जिन उपदेश यह, है बंध का और मोक्ष का।। १३।।

अर्थ

जो जीव परद्रव्य में रत है–रागी है वह तो अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है अर्थात् कर्मों का बंध करता है और जो परद्रव्य से विरत है–रागी नहीं है वह अनेक प्रकार के कर्मों से छूटता है–यह बंध का और मोक्ष का संक्षेप से जिनदेव का उपदेश है।

भावार्थ

बंध-मोक्ष के कारण का कथन अनेक प्रकार से है उसका यह संक्षेप है कि परद्रव्य से रागभाव सो तो बंध का कारण है और विरागभाव सो मोक्ष का कारण है–ऐसा संक्षेप से जिनेन्द्र का उपदेश है।।१३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो स्वद्रव्य में रत है वह सम्यग्द ष्टि होता है और कर्मों का नाश करता है' :–

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं।। १४।।

स्वद्रव्य में रत साधु, सद्द ष्टि नियम से होय है।
सम्यक्त्व से परिणमित वह, दुष्टाष्ट कर्म का क्षय करे।। १४।।

अर्थ

जो मुनि स्वद्रव्य जो अपनी आत्मा उसमें रत है अर्थात् रुचि सहित है वह नियम से सम्यग्द ष्टि है तथा वह ही सम्यक्त्व भाव रूप परिणमित हुआ दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षपण करता है–नाश करता है।

भावार्थ

यह भी कर्म के नाश करने के कारण का संक्षिप्त कथन है। जो अपने स्वरूप की श्रद्धा, रूचि, प्रतीति एवं आचरण से युक्त है वह नियम से सम्यग्द ष्टि है। इस सम्यक्त्व भाव रूप से परिणमित मुनि आठ कर्मों का नाश करके निर्वाण पाता है।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो परद्रव्य में रत है वह मिथ्याद ष्टि हुआ कर्मों को बाँधता है' :–

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं।। १५।।

पुनः साधु जो परद्रव्यरत, वह मिथ्याद ष्टि होय है।
मिथ्यात्व से परिणमित वह, बंधता करम दुष्टाष्ट से।। १५।।

अर्थ

'पुनः' अर्थात् फिर जो साधु परद्रव्य में रत है–रागी है वह मिथ्याद ष्टि होता है तथा वह मिथ्यात्व भाव रूप परिणमित हुआ दुष्ट जो आठ कर्म उनसे बंधता है[1]।

भावार्थ

यह बंध के कारण का संक्षेप है। यहाँ साधु कहने से ऐसा बताया है कि कोई बाह्य परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ हो साधु कहलाता हो तो भी यदि उसे परद्रव्य से परमाणु मात्र–अंश मात्र भी राग हो तो वह मिथ्याद ष्टि होता हुआ दुष्ट जो संसार के देने वाले आठ कर्म उनसे बंधता है।।१५।।

टि0-1. 'श्रु0 टी0'-'परद्रव्यरत मिथ्याद□ष्टि साधु जिनलिंगोपजीवी है अर्थात् वह जिनलिंग धारण कर मात्र आजीविका करता है।' ।।15।।

उत्थानिका

आगे संक्षेप से कहते हैं कि 'परद्रव्य ही से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य ही से सुगति होती है' :–

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवई।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइइयरम्मि।। १६।।

परद्रव्य से हो दुर्गति, स्वद्रव्य से होती सुगति।
यह जान निज में करो रति, परद्रव्य से करो रे! विरति।। १६।।

अर्थ

परद्रव्य से तो दुर्गति होती है तथा स्वद्रव्य से सुगति होती है-यह प्रकट जानो इसलिए हे भव्य जीवों ! तुम ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति करो और अन्य जो परद्रव्य उनसे विरति करो।

भावार्थ

लोक में भी यह रीति है कि जो अपने द्रव्य से रति करके अपना ही भोगता है वह सुख पाता है और उस पर कोई आपत्ति नहीं आती है तथा जो पर के द्रव्य से प्रीति करके उसे जैसे–तैसे लेकर भोगता है उसे दुःख होता है और उस पर आपत्ति आती है इसलिए आचार्य ने संक्षेप में उपदेश दिया है कि 'अपने आत्मस्वभाव में तो रति करो इससे सुगति है, स्वर्गादि भी इसी से होते हैं और मोक्ष भी इसी से होता है तथा परद्रव्य से प्रीति मत करो, परद्रव्य की प्रीति से दुर्गति होती है तथा संसार में भ्रमण होता है।'

यहाँ कोई कहता है कि 'स्वद्रव्य में लीन होने से मोक्ष होता है और सुगति–दुर्गति तो परद्रव्य ही की प्रीति–अप्रीति से होती है ?'

उसे कहते हैं कि 'यह सत्य है परन्तु यहाँ इस आशय से कहा है कि जब परद्रव्य से विरक्त होकर स्वद्रव्य में लीन हो तब विशुद्धता बहुत होती है तथा उस विशुद्धता के निमित्त से शुभ कर्म भी बंधते हैं और जब अत्यन्त विशुद्धता हो तब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है इसलिए सुगति–दुर्गति का होना जैसा कहा है वैसा युक्त है–ऐसा जानना'।।१६।।

उत्थानिका

आगे **शिष्य पूछता है** कि 'परद्रव्य कैसा है और स्वद्रव्य कैसा है ?' इसका **उत्तर आचार्य कहते हैं** :–

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अविदत्थं सव्वदरसीहिं।। १७।।

चेतन-अचेतन-मिश्र जो, हैं भिन्न आत्मस्वभाव से।
सत्यार्थ यह परद्रव्य वे, सब सर्वदर्शी ने कहा।। १७।।

अर्थ

आत्मस्वभाव से अन्य जो कुछ सचित्त तो स्त्री-पुत्रादि जीव सहित वस्तु , अचित्त धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्णादि अचेतन वस्तु तथा मिश्र-आभूषणादि सहित मनुष्य और कुटुम्ब सहित ग हादि–ये सब परद्रव्य हैं इस प्रकार जिसने जीवाजीवादि पदार्थों का स्वरूप नहीं जाना उसको समझाने के लिए सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने कहा है अथवा 'अविदत्थं' अर्थात् सत्यार्थ कहा है।

भावार्थ

अपनी ज्ञानस्वरूप आत्मा के सिवाय अन्य जो चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तु हैं वे सब ही परद्रव्य हैं–इस प्रकार अज्ञानी को ज्ञान कराने के लिए सर्वज्ञदेव ने कहा है।।१७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिस आत्मस्वभाव को स्वद्रव्य कहा वह ऐसा है' :–

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।। १8।।

दुष्टाष्टकर्मविहीन अनुपम, ज्ञानविग्रह नित्य जो।
जिनदेव उस शुद्ध आत्मा को, ही कहें स्वद्रव्य है।। १8।।

अर्थ

आत्मा को जिनभगवान सर्वज्ञदेव ने **१.** दुष्ट जो संसार के दुःख देने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म उनसे रहित, **२.** जिसको किसी की उपमा नहीं है ऐसा अनुपम, **३.** ज्ञान ही है विग्रह अर्थात् शरीर जिसके ऐसा, **४.** नित्य अर्थात् जिसका नाश नहीं ऐसा अविनाशी और **५.** शुद्ध अर्थात् अविकार रहित केवलज्ञानमयी कहा है, वह स्वद्रव्य है।

भावार्थ

ज्ञानानंदमयी, अमूर्तिक एवं ज्ञानमूर्ति जो अपनी आत्मा है वह ही एक स्वद्रव्य है, अन्य सब चेतन, अचेतन और मिश्र परद्रव्य हैं।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसे निजद्रव्य का ध्यान करते हैं वे निर्वाण पाते हैं' :–

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहंति णिव्वाणं।। १9।।

होकर विमुख परद्रव्य से निज ध्या चरित से युक्त हो।
वे जिनवरों के मार्ग में, अनुलग्न शिव प्राप्ति करें।। १9।।

अर्थ

जो मुनि परद्रव्य से पराङ्मुख होते हुए स्वद्रव्य जो निज आत्मद्रव्य उसका ध्यान करते हैं वे प्रकट 'सुचरित्रा' अर्थात् निर्दोष चारित्रयुक्त हुए जिनवर तीर्थंकरों के मार्ग में अनुलग्न हुए अर्थात् उसमें लगते हुए निर्वाण को पाते हैं।

भावार्थ

परद्रव्य का त्याग करके जो अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं वे जिनमार्ग में लगे हुए मुनि निश्चय चारित्र रूप होकर मोक्ष पाते है[1]।।१9।।

टि0- 1. यहाँ नि□चय-व्यवहार की सुन्दर मैत्री कही गई है। परद्रव्य का त्याग सो तो व्यवहार और अपने स्वरूप को ध्याना सो नि□चय। व्यवहार नि□चय का साधनस्वरूप होता है, इसके बिना नि□चय की प्राप्ति नहीं होती और नि□चय प्रधान होता है, इसके बिना व्यवहार संसारस्वरूप ही होता है।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनमार्ग में लगा हुआ योगी शुद्धात्मा का ध्यान करके यदि मोक्ष पा लेता है तो क्या उसके द्वारा स्वर्ग नहीं पाएगा अर्थात् पाएगा ही' :–

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं।। २०।।

जिनवर के मत से योगी ध्यान में, ध्यावे आतम शुद्ध को।
जिससे मिले निर्वाण क्या, सुरलोक की प्राप्ति न हो।। २०।।

अर्थ

जो योगी–ध्यानी मुनि है वह जिनवर भगवान के मत से शुद्ध आत्मा को ध्यान में ध्याता है और उससे निर्वाण को पाता है तो उसके द्वारा क्या वह स्वर्गलोक को नहीं पाएगा अर्थात् पाएगा ही।

भावार्थ

कोई जानेगा कि 'जो जिनमार्ग में लगकर आत्मा का ध्यान करता है वह मोक्ष को पाता है पर स्वर्ग तो इससे होता नहीं' उसको कहा है कि 'जिनमार्ग में प्रवर्तने वाला शुद्ध आत्मा का ध्यान करके जब मोक्ष ही पा लेता है तो उससे स्वर्गलोक क्या कठिन है, वह तो इसके मार्ग में ही है'।।२०।।

उत्थानिका

आगे इस अर्थ को द ष्टान्त से द ढ़ करते हैं :–

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जादु भुवणयले।। २१।।

गुरुभार ले जो एक दिन में, गमन सौ योजन करे।
इस भुवनतल पर वह पुरुष, क्रोशार्ध नहीं क्या जा सके।। २१।।

अर्थ

कोई पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में यदि सौ योजन चला जाए तो वह इस भुवनतल में क्या आधा कोश नहीं जाएगा अर्थात् जाएगा ही–यह प्रकट जानो।

भावार्थ

जैसे कोई पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में यदि सौ योजन चल लेता है तो उसके लिए आधा कोस चलना तो अत्यंत सुगम ही है वैसे ही जिनमार्ग से यदि मोक्ष प्राप्त हो जाता है तो स्वर्ग पाना तो अत्यंत सुगम ही है।।२१।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ का अन्य द ष्टान्त कहते हैं :–

जो कोडि णरे जिप्पइ सुहडो संगम्मएहिं सव्वेहिं।
सो किं जिप्पइ एक्कं णरं ण संगम्मए सुहडो।। २२।।

संग्राम को युत कोटि नर को, जीते रण में जो सुभट।
वह सुभट क्या नर एक को, संग्राम में नहीं जीतेगा।। २२।।

अर्थ

यदि कोई सुभट संग्राम में सारे ही संग्राम करने वालों सहित करोड़ों मनुष्यों को सुगमता से जीत ले तो वह सुभट क्या एक नर को नहीं जीतेगा अर्थात् जीतेगा ही।

भावार्थ

जो जिनमार्ग में प्रवर्तता है वह सारे कर्मों का नाश कर देता है तो क्या स्वर्ग को रोकने वाले एक पापकर्म का नाश नहीं करेगा अर्थात् करेगा ही करेगा।।२२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'स्वर्ग तो तप से सब ही पाते हैं परन्तु जो ध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं वे उस ध्यान के योग से मोक्ष भी पाते हैं' :–

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तह वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं।। २३।।

तप से लहें सब स्वर्ग पर जो, ध्यान ही के योग से।
पाते उसे परलोक में, पाते वे शाश्वत सौख्य को।। २३।।

अर्थ

तप से तो स्वर्ग सब ही पाते हैं तथापि जो ध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं वे ही ध्यान के योग से परलोक में शाश्वत सुख को पाते हैं[1]।

भावार्थ

कायक्लेशादि तप तो सब ही मत के धारक करते हैं और वे सब ही तपस्वी मंद कषाय के निमित्त से स्वर्ग को पाते हैं परन्तु जो ध्यान से स्वर्ग पाते हैं वे जिनमार्ग में जैसा कहा वैसे ध्यान के योग से परलोक में शाश्वत है सुख जिसमें ऐसे निर्वाण को पाते हैं।।२३।।

उत्थानिका

आगे ध्यान के योग से मोक्ष पाते हैं उसको दृष्टान्त–दार्ष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं :–

अहसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।। २४।।

ज्यों शुद्धता पावे सुवर्ण, अतीव शोधन योग से।
परमातमा हो जीव त्यों, कालादि लब्धि प्राप्त कर।। २४।।

टि0-1. यह ज्ञान-वैराग्य की भारी महिमा है कि स्वर्ग तो तपस्वी व ध्यानी दोनों को ही मिला परन्तु परलोक में □ा□वत सुख का अधिकारी ज्ञान-वैराग्य का धनी होने के कारण ध्यानी ही हुआ, तपस्वी नहीं।

अर्थ

जैसे सुवर्ण पाषाण है वह सोधने की सामग्री के सम्बन्ध से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है वैसे ही काल आदि लब्धि अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री की प्राप्ति से यह आत्मा जो कर्म के संयोग से अशुद्ध है वह ही शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ

इसका भावार्थ सुगम है।।२४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि **'संसार में व्रत-तप से स्वर्ग होता है अतः व्रत-तप भला है परन्तु अव्रतादि से नरकादि गति होती है सो अव्रतादि श्रेष्ठ नहीं है'** :–

वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरए इयरेहिं।
छायातपट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।। २५।।

वर व्रत-तपों से स्वर्ग, इतर से नरक दुःख न हों कभी।
छायातपस्थित के प्रतीक्षा, करने में अन्तर बहुत।। २५।।

अर्थ

व्रत और तप से स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है तथा दूसरे जो अव्रत और अतप उनसे प्राणी को नरकगति में दुःख होता है सो मत होओ अर्थात् वह श्रेष्ठ नहीं है। छाया और धूप में बैठने वाले के जो प्रतिपालक कारण हैं उनमें बड़ा भेद है।

भावार्थ

जैसे छाया का कारण तो व क्षादि हैं उनकी छाया में जो बैठता है वह सुख पाता है और आताप का कारण सूर्य एवं अग्नि आदि हैं इनके निमित्त से आताप होता है इनमें जो बैठता है वह दुःख पाता है–इस प्रकार इनमें बड़ा भेद है वैसे जो व्रत-तप का आचरण करता है वह स्वर्ग का सुख पाता है और जो इनका आचरण नहीं करता है, विषय-कषायादि का सेवन करता है वह नरक के दुःख पाता है–इस प्रकार इनमें बड़ा भेद है। **इससे यहाँ कहने का यह आशय है कि जब तक**

निर्वाण न हो तब तक व्रत-तप आदि शुभ में प्रवर्तना श्रेष्ठ है, इससे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाण के साधने में भी ये सहकारी हैं तथा विषय-कषायों की प्रव त्ति का तो फल केवल नरकादि के दुःख हैं सो उन दुःखों के कारणों का सेवन करना यह तो बड़ी भूल है-ऐसा जानना[1]।।२५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि **'जब तक संसार में रहे तब तक व्रत-तप पालना श्रेष्ठ कहा परन्तु जो संसार से निकलना चाहता है वह आत्मा का ध्यान करे'** :–

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंद्दस्स।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं।। २६।।

जो चाहता है निकलना, संसार महार्णव रुद्र से।
वह कर्म ईंधन के दहन, हित ध्यावता शुद्धातमा।। २६।।

अर्थ

जो जीव 'रुंद्र' अर्थात् बड़ा विस्तार रूप जो संसार रूपी समुद्र उससे निकलना चाहता है वह जीव कर्म रूपी ईंधन का दहन करने वाला जो शुद्ध आत्मा उसको ध्याता है।

टि0-1. 'आचार्यकल्प पं0 टोडरमल जी' ने भी महान ग्रंथ 'मोक्षमार्ग प्रका□क' में 'नि□चयाभासी मिथ्याद□ष्टि' के प्रकरण में ऐसा ही लिखा है-'□ुद्धोपयोग न हो तो अ□ुभ से छूटकर □ुभ में प्रवर्तन करना युक्त है, □ुभ को छोड़कर अ□ुभ में प्रवर्तन करना युक्त नहीं है क्योंकि □ुभ व अ□ुभ का परस्पर में विचार करो तो □ुभ भावों में कषाय मंद होती है इसलिए बंध हीन होता है, अ□ुभ भावों में कषाय तीव्र होती है इसलिए बंध बहुत होता है-ऐसे विचार करने पर सिद्धांत में अ□ुभ की अपेक्षा □ुभ को भला भी कहते हैं। ऐसे यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ □ुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो □ुभ कार्य का निषेध ही है और जहाँ अ□ुभोपयोग होता जाने वहाँ □ुभ को उपाय करके अंगीकार करना युक्त है।'

भावार्थ

निर्वाण की प्राप्ति जब कर्म का नाश हो तब होती है और कर्म का नाश शुद्धात्मा के ध्यान से होता है सो संसार से निकलकर जो मोक्ष को चाहता है वह शुद्ध आत्मा जो कर्ममल से रहित और अनंत चतुष्टय सहित जो परमात्मा उसको ध्याता है, मोक्ष का उपाय इसके अतिरिक्त अन्य नहीं है।।२६।।

उत्थानिका

आगे आत्मा को कैसे ध्यावें उसकी विधि बताते हैं :–

सव्वे कसाय मुत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरओ अप्पा झाएह झाणत्थो।। २७।

व्यामोह गारव, राग, मद व द्वेष सकल कषाय तज।
वह छोड़ लोक व्यवहार, हो ध्यानस्थ ध्यावे आत्म को।। २७।।

अर्थ

मुनि है सो सब कषायों को छोड़कर तथा गारव, मद, राग, द्वेष और मोह को छोड़कर और लोकव्यवहार से विरक्त हुआ ध्यान में स्थित होकर आत्मा को ध्याता है।

भावार्थ

मुनि आत्मा को ध्यावे सो ऐसा हुआ ध्यावे—(१) प्रथम तो क्रोध, मान, माया और लोभ—ये जो कषाय हैं उन सभी को छोड़े, (२) गारव को छोड़े, (३) मद जाति आदि के भेद से आठ प्रकार का है उनको छोड़े, (४) राग-द्वेष को छोड़े, (५) मोह को छोड़े तथा (६) लोकव्यवहार जो संघ में रहने में परस्पर विनयाचार, वैयाव त्य, धर्मोपदेश और पढ़ना-पढ़ाना आदि है उसको भी छोड़कर ध्यान में स्थित होवे—इस प्रकार आत्मा को ध्यावे।

यहाँ कोई पूछता है कि 'सब कषायों का छोड़ना कहा उसमें तो गारव और मदादि सब आ गए फिर भिन्न क्यों कहे ?'

उसका समाधान ऐसा है कि 'ये सब कषायों में गर्भित हैं तो भी विशेष रूप से बोध कराने को भिन्न कहे हैं।

वहाँ कषाय की प्रव त्ति तो ऐसे है—(१) जो अपने को अनिष्ट हो उससे क्रोध करे, दूसरे को नीचा मानकर मान करे, किसी कार्य के लिए कपट करे और आहारादि में लोभ करे, (२) ये गारव हैं सो रस, ऋद्धि एवं सात—ऐसे तीन प्रकार के हैं सो यद्यपि ये मान कषाय में गर्भित हैं तो भी प्रमाद की बहुलता इनमें हैं इसलिए भिन्न कहे हैं तथा (३) मद जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य—इनका होता है सो न करे तथा (४) राग-द्वेष प्रीति-अप्रीति को कहते हैं। किसी से प्रीति करना तथा किसी से अप्रीति करना—इस प्रकार लक्षण के विशेष से भेद करके कहा तथा (५) मोह नाम पर से ममत्व भाव का है सो संसार का मोह तो मुनि के है ही नहीं परन्तु धर्मराग से शिष्य आदि में ममत्व का व्यवहार है सो ये भी छोड़े—इस प्रकार भेद विवक्षा से भिन्न कहे हैं। ये ध्यान के घातक भाव हैं, इनको छोड़े बिना ध्यान होता नहीं है इसलिए जैसे ध्यान हो वैसा करे'।।२७।।

उत्थानिका

आगे इसी को फिर विशेष रूप से कहते हैं :—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएइ तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।। २४।।

तज के मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप व पुण्य त्रिविध प्रकार से।
योगस्थ योगी मौन व्रत के, द्वारा आतम ध्यावता।। २४।।

अर्थ

योगी-ध्यानी मुनि है सो मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य इनको मन-वचन-काय से छोड़कर मौनव्रत के द्वारा ध्यान में स्थित हो आत्मा को ध्याता है।

भावार्थ

कई अन्यमती योगी-ध्यानी कहलाते हैं तथा जैनलिंगी भी यदि कोई द्रव्यलिंग

धारण किए हुए हों तो उनके निषेध के लिए ऐसा कहा है कि मिथ्यात्व और अज्ञान को छोड़कर आत्मा का स्वरूप यथार्थ जानकर जिसने श्रद्धान नहीं किया उसके मिथ्यात्व व अज्ञान तो लगा रहा तब ध्यान किसका हो तथा पुण्य-पाप दोनों बंधस्वरूप हैं इनमें प्रीति-अप्रीति जब तक रहे तब तक मोक्ष का स्वरूप जाना ही नहीं तब ध्यान किसका हो तथा यदि मन-वचन-काय की प्रव त्ति छोड़कर मौन न करे तो एकाग्रता कैसे हो इसलिए मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य-पाप एवं मन-वचन-काय की प्रव त्ति छोड़ना ध्यान में युक्त कहा है—इस प्रकार आत्मा का ध्यान करने से मोक्ष होता है।।२८।।

उत्थानिका

आगे ध्यान करने वाला मौन धारण करके स्थित होता है सो क्या विचार करके वह स्थित होता है सो कहते हैं :—

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केणहं।। २९।।

दिखता जो मुझको रूप वह, नहिं जानता कुछ सर्वथा।
ज्ञायक जो मैं नहिं द श्यमान, अतः मैं बोलूं किससे रे।।२९।।

अर्थ

जिस रूप को मैं देखता हूँ वह रूप तो मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ सो अमूर्तिक हूँ, यह जड़ रूपी मुझे देखता नहीं है इसलिए मैं किससे बोलूं।

भावार्थ

यदि दूसरा कोई अपने से बात करने वाला हो तब तो परस्पर में बोलना संभव है सो आत्मा तो अमूर्तिक है, उसके वचन का बोलना नहीं है और जो रूपी पुद्गल है सो अचेतन है वह कुछ जानता व देखता नहीं है इसलिए ध्यान करने वाला कहता है कि 'मैं किससे बोलूं अतः मेरे मौन है'।।२९।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस प्रकार ध्यान करते हुए मुनि सब कर्मों के आस्रव का निरोध करके संचित कर्मों का नाश करता है' :–

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं।। ३०।।

आस्रव समस्त निरोध, कर क्षय, पूर्व संचित कर्म का।
योगस्थ योगी जाने सब, जिनदेव ने भाषा है यह।। ३०।।

अर्थ

योग–ध्यान में स्थित हुआ योगी मुनि है सो सब कर्मों के आस्रव का निरोध करके संवरयुक्त हुआ पूर्व में बांधे हुए जो कर्म संचयरूप हैं उनका क्षय करता है–ऐसा जिनदेव ने कहा है सो जानो।

भावार्थ

ध्यान से कर्मों का आस्रव रूकता है, इससे आगामी बंध होता नहीं और पूर्व में संचित कर्मों की निर्जरा होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है–यह आत्मा के ध्यान का माहात्म्य है।।३०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं होता' :–

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।। ३१।।

व्यवहार सुप्त है योगी जो, वह जागता निज कार्य में।
जाग त है जो व्यवहार में, वह सुप्त आतम कार्य में।। ३१।।

अर्थ

जो योगी–ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप के कार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है वह अपने आत्मकार्य में सोता है।

भावार्थ

मुनि के सांसारिक व्यवहार तो कुछ है नहीं और यदि हो तो वह मुनि कैसा! वह तो पारवंडी है तथा धर्म का व्यवहार जो संघ में रहना और महाव्रतादि पालना-ऐसे व्यवहार में भी जो तत्पर नहीं है, सर्व प्रव त्तियों की निव त्ति करके ध्यान करता है वह व्यवहार में सोता हुआ कहलाता है और अपने आत्मस्वरूप में लीन हुआ देखता-जानता है सो अपने आत्मकार्य में जागता है तथा जो इस व्यवहार ही में तत्पर है, सावधान है और जिसे स्वरूप की द ष्टि नहीं है वह व्यवहार में जागता हुआ कहलाता है, ऐसा मुनि आत्मकार्य में सोता है ऐसा कहा जाता है।।३१।।

उत्थानिका

आगे यह कहते हैं कि 'योगी पूर्वोक्त कथन को जानकर व्यवहार को छोड़कर आत्मकार्य करता है' :–

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण।। ३२।।

यह जान योगी सर्वथा, व्यवहार सब ही छोड़कर।
परमात्म ध्यावे वैसे जैसा, जिनवरेन्द्रों ने कहा।। ३२।।

अर्थ

इस प्रकार पूर्वोक्त कथन को जानकर जो योगी–ध्यानी मुनि है वह सर्व ही व्यवहार को सब प्रकार से छोड़ता है और परमात्मा का ध्यान करता है। कैसे ध्यान करता है–जैसे जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है वैसे ध्यान करता है।

भावार्थ

सर्वथा सर्व व्यवहार का जो छोड़ना कहा उसका तो आशय यह है कि

लोकव्यवहार और धर्मव्यवहार सबको ही छोड़ने पर ध्यान होता है तथा जिस प्रकार से जिनदेव ने कहा उस प्रकार से परमात्मा का ध्यान करना कहा सो अन्यमती परमात्मा का स्वरूप अनेक प्रकार से अन्यथा कहते हैं और उसके ध्यान का भी अन्यथा उपदेश करते हैं उसका निषेध है। जिनदेव ने परमात्मा का तथा ध्यान का जो स्वरूप कहा सो सत्यार्थ है, प्रमाणभूत है वैसा ही जो योगीश्वर करते हैं वे ही निर्वाण को पाते हैं।।३२।।

उत्थानिका

आगे जिनदेव ने जैसी ध्यान–अध्ययन की प्रव त्ति कही है वैसा उपदेश करते हैं :–

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।। ३३।।

तू पाँच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति से युक्त हो।
औ रत्नत्रय संयुक्त हो कर, ध्यान-अध्ययन सर्वदा।। ३३।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि (१) पांच महाव्रतों से युक्त होकर, (२) पांच समिति व तीन गुप्ति इनसे युक्त होकर तथा (३) सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र जो रत्नत्रय उससे संयुक्त होकर हे मुनिजनों। तुम ध्यान और अध्ययन अर्थात् शास्त्र का अभ्यास उसको करो।

भावार्थ

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग–ये तो पांच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना–ये पांच समिति और मन-वचन काय के निग्रह रूप तीन गुप्ति–ये तेरह प्रकार का चारित्र जिनदेव ने कहा है उससे युक्त होकर और निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा है उससे युक्त होकर ध्यान और अध्ययन करने का उपदेश है। **उनमें प्रधान तो ध्यान है ही और उसमें यदि मन न रुके तो शास्त्र के अभ्यास में उसे**

लगावे-यह भी ध्यानतुल्य है क्योंकि शास्त्र में परमात्मा के स्वरूप का निर्णय है सो यह ध्यान ही का अंग है।।३३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है' :–

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणा विहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ।। ३४।।

जानो आराधक जीव उसको, रत्नत्रय आराधे जो।
आराधना का विधान जो, फल उसका केवलज्ञान है।। ३४।।

अर्थ

रत्नत्रय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसकी आराधना करता हुआ जो जीव है उसको आराधक जानना और आराधना का जो विधान है उसका फल केवलज्ञान है।

भावार्थ

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करता है वह केवलज्ञान को पाता है–यह जिनागम में प्रसिद्ध है।।३४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो शुद्ध आत्मा है वह केवलज्ञान है और जो केवलज्ञान है वह शुद्धात्मा है' :–

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं।। ३५।।

सब लोकदर्शी आतमा, सर्वज्ञ, सिद्ध व शुद्ध जो।
जानो उसे तुम ज्ञान केवल, जिनवरों ने यह कहा।। ३५।।

अर्थ

आत्मा जिनवर सर्वज्ञदेव ने ऐसा कहा है–(१) **सिद्ध है**–किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, स्वयंसिद्ध है, (२) **शुद्ध है**–कर्ममल से रहित है, (३) **सर्वज्ञ है**–सब लोकालोक को जानता है (४) **सर्वदर्शी है**–सब लोक–अलोक को देखता है–ऐसा आत्मा है सो हे मुने ! उस ही को तू केवलज्ञान जान अथवा उस केवलज्ञान ही को आत्मा जान, आत्मा में और ज्ञान में कुछ प्रदेश भेद तो है नहीं और जो गुण–गुणी भेद है वह गौण है। इस आराधना का फल पूर्व में जो केवलज्ञान कहा वही है।।३५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो योगी जिनदेव के मत से रत्नत्रय की आराधना करता है सो वह आत्मा ही का ध्यान करता है' :–

रयणत्तयं पि जोइ आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो।। ३६।।

जिनदेव मत से मुनि जो निश्चित, रत्नत्रय आराधता।
वह आतमा को ध्यावता, परिहरता पर संदेह ना।। ३६।।

अर्थ

जो योगी–ध्यानी मुनि जिनेश्वर देव के मत की आज्ञा से रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निश्चय से आराधना करता है वह प्रकट रूप से आत्मा ही का ध्यान करता है क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का गुण है और गुण-गुणी में भेद नहीं है। जो रत्नत्रय का आराधन है सो आत्मा ही का आराधन है और वह ही परद्रव्य को छोड़ता है इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ

इसका भावार्थ सुगम है।।३६।।

उत्थानिका

पहिले पूछा था कि 'आत्मा का रत्नत्रय कैसा है ?' **उसका उत्तर** अब आचार्य कहते हैं :–

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।। ३७।।

जो जानता वह ज्ञान, जो देखे सो दर्शन जानना।
परिहार पुण्य व पाप का जो, उसे चारित है कहा।। ३७।।

अर्थ

जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वह दर्शन है और जो पुण्य और पाप का परिहार है वह चारित्र है–ऐसा जानना।

भावार्थ

यहाँ जानने वाला, देखने वाला और त्यागने वाला दर्शन, ज्ञान, चारित्र को कहा सो ये तो गुणी के गुण हैं ये कर्ता होते नहीं। क्योंकि जानने, देखने और त्यागने की क्रिया का कर्ता आत्मा है इसलिए ये तीनों आत्मा ही हैं, गुण-गुणी में कुछ प्रदेश भेद है नहीं। इस प्रकार जो रत्नत्रय है सो आत्मा ही है–ऐसा जानना।।३७।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को अन्य प्रकार से कहते हैं :–

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चगहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं।। ३८।।

है तत्त्वरुचि सम्यक्त्व, तत्त्व का ग्रहण जो सज्ज्ञान वह।
परिहार वह चारित्र है, यह जिनवरेन्द्रों ने कहा।। ३८।।

अर्थ

तत्त्वरुचि है सो सम्यक्त्व है, तत्त्व का ग्रहण है सो सम्यग्ज्ञान है और परिहार है सो चारित्र है–ऐसा जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है।

भावार्थ

जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष–इन तत्त्वों का श्रद्धान, रुचि और प्रतीति सो सम्यग्दर्शन है तथा इन ही को जानना सो सम्यग्ज्ञान है तथा परद्रव्य का परिहार अर्थात् उस सम्बन्धी क्रिया की निव त्ति सो चारित्र है–ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है। इनको निश्चय-व्यवहार नय से आगम के अनुसार साधना।।३८।।

उत्थानिका

आगे सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहते हैं :–

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तह इच्छियं लाहं।। ३६।।

दर्शन से शुद्ध ही शुद्ध है, वह पाता है निर्वाण को।
दर्शन विहीन जो पुरुष, इच्छित लाभ को पाता नहीं।। ३७।।

अर्थ

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध है सो ही शुद्ध है क्योंकि जो दर्शनशुद्ध है वह निर्वाण को पाता है। जो दर्शन से हीन है वह पुरुष वांछित लाभ को नहीं पाता है–यह न्याय है।

भावार्थ

लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि यदि कोई पुरुष किसी वस्तु को चाहता है परन्तु उसे उसकी रुचि, प्रतीति और श्रद्धान नहीं है तो उसे उसकी प्राप्ति नहीं होती वैसे ही अपने स्वरूप रूप तत्त्व की रुचि, प्रतीति और श्रद्धा यदि नहीं होती तो उसकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सम्यग्दर्शन ही निर्वाण की प्राप्ति में प्रधान है।।३६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने का उपदेश सार है और उसको जो मानता है सो ही सम्यक्त्व है' :–

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि।। ४०।।

जरमरणहर अरु सार इस, उपदेश को जो मानता।
सम्यक्त्व वह यह है कहा, श्रावक-श्रमण सबके लिए।। ४०।।

अर्थ

'इति' अर्थात् ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो उपदेश है सो सार है एवं जरा-मरण को हरने वाला है और इसको जो मानता है–श्रद्धान करता है उसे ही सम्यक्त्व कहा है सो मुनियों को और श्रावकों को सब ही को ऐसा कहा है कि सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान एवं चारित्र को अंगीकार करो।

भावार्थ

जीव के जितने भाव हैं उनमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सार हैं, उत्तम हैं तथा जीव के हित हैं और उनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि इसके बिना ज्ञान व चारित्र मिथ्या कहलाते हैं इसलिए सम्यग्दर्शन को प्रधान जानकर पहले अंगीकार करना-यह उपदेश मुनि को तथा श्रावक को सब ही को है।।४०।।

उत्थानिका

आगे सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहते हैं :–

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं।। ४१।।

जिनवर के मत से योगी जाने, भेद जीव-अजीव का।
सज्ज्ञान वह यह सर्वदर्शी, का वचन सत्यार्थ है।। ४१।।

अर्थ

जो योगी मुनि जिनवर के मत से जीव-अजीव पदार्थ का भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञान है—ऐसा सर्वदर्शी अर्थात् सबको देखने वाले सर्वज्ञदेव ने कहा है और वह ही सत्यार्थ है, अन्य छद्मस्थ का कहा हुआ असत्यार्थ है।

भावार्थ

सर्वज्ञदेव ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छह द्रव्य कहे हैं उनमें जीव तो दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप कहा है और वह अमूर्तिक-स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनसे रहित है और पुद्गल आदि जो पाँच अजीव कहे हैं वे अचेतन हैं—जड़ हैं। उनमें पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द सहित मूर्तिक है और इन्द्रियगोचर है तथा अन्य अमूर्तिक हैं। सो आकाशादि चार तो जैसे हैं वैसे ही तिष्ठते हैं परन्तु जीव-पुद्गल का अनादि से सम्बन्ध है। छद्मस्थ के इंद्रियगोचर जो पुद्गल स्कंध हैं उनको ग्रहण करके जीव राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करता है, शरीरादि को अपना मानता है तथा इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष रूप होता है जिससे नवीन पुद्गल कर्म रूप होकर बंध को प्राप्त होते हैं—सो इसमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। इस प्रकार यह जीव अज्ञानी होता हुआ जीव-पुद्गल का भेद नहीं जानकर मिथ्याज्ञानी होता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिनदेव के मत से जीव-अजीव का भेद जानकर सम्यग्ज्ञान का स्वरूप जानना।

इस प्रकार यह जिनदेव ने कहा सो ही सत्यार्थ है, प्रमाण—नय से ऐसा ही सिद्ध होता है क्योंकि जिनदेव सर्वज्ञ हैं उन्होंने सब वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखकर कहा है। अन्यमती छद्मस्थ हैं उन्होंने अपनी बुद्धि में जैसा आया वैसा कल्पना करके कहा है सो प्रमाणसिद्ध नहीं है।

(१) वे कई वेदान्ती तो एक ब्रह्म मात्र कहते हैं और अन्य कुछ वस्तुभूत नहीं है, मायारूप अवस्तु है—ऐसा मानते हैं। (२) कई नैयायिक—वैशेषिक जीव को सर्वथा नित्य सर्वगत कहते हैं, जीव में और ज्ञानगुण में सर्वथा भेद मानते हैं और अन्य जितने कार्य मात्र हैं उनको ईश्वर करता है ऐसा मानते हैं। (३) कई सांख्यमती पुरुष को उदासीन चैतन्यस्वरूप मानकर सर्वथा अकर्ता मानते हैं, ज्ञान को प्रधान का धर्म मानते हैं। (४) कई बौद्धमती सब वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं, सर्वथा अनित्य मानते हैं, उनमें भी मतभेद अनेक हैं—**१.** कई विज्ञानमात्र तत्त्व मानते हैं,

२. कई सर्वथा शून्य मानते हैं तथा **३.** कई और अन्य प्रकार मानते हैं। (५) मीमांसक कर्मकांड मात्र ही तत्त्व मानते है, जीव को अणुमात्र मानते हैं तो भी कुछ परमार्थभूत नित्य वस्तु नहीं है इत्यादि मानते हैं। (६) चार्वाकमती जीव को तत्त्व ही नहीं मानते, पंचभूतों से जीव की उत्पत्ति मानते हैं इत्यादि बुद्धिकल्पित तत्त्व मानकर परस्पर विवाद करते हैं सो युक्त ही है क्योंकि वस्तु का पूर्ण रूप जब दीखता नहीं तब जैसे अंधे हस्ती का विवाद करें वैसे विवाद ही तो होगा और जिनदेव सर्वज्ञ हैं उन्होंने वस्तु का पूर्ण रूप जो देखा है सो ही कहा है वह प्रमाण और नयों से अनेकान्तस्वरूप सिद्ध होता है सो इनकी चर्चा हेतुवाद के जैन के न्याय शास्त्र हैं उनसे जानी जाती है इसलिए यह उपदेश है कि जिनमत में जीव-अजीव का स्वरूप सत्यार्थ कहा है उसको जानना सो सम्यग्ज्ञान है–ऐसा जानकर जिनदेव की आज्ञा मानकर सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करना, इसी से सम्यक् चारित्र की सिद्धि होती है–ऐसा जानना।।४१।।

उत्थानिका

आगे सम्यक् चारित्र का स्वरूप कहते हैं :–

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण।। ४२।।

यह जान योगी परिहरे, है पुण्य एवं पाप को।
वह निर्विकल्प चारित्र है, यह कर्मरहितों ने कहा।। ४२।।

अर्थ

योगी–ध्यानी मुनि है सो उस पूर्वोक्त जीव–अजीव के भेद रूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान को जानकर तथा पुण्य और पाप–इन दोनों का परिहार करता है, त्याग करता है उसे घातिया कर्म रहित सर्वज्ञदेव ने चारित्र कहा है। कैसा है वह–निर्विकल्प है, सर्व प्रव त्ति रूप जो क्रिया के विकल्प उनसे रहित है।

भावार्थ

चारित्र निश्चय-व्यवहार के भेद से दो भेद रूप है-(१) व्यवहार चारित्र—महाव्रत, समिति और गुप्ति के भेद से जो कहा है वह व्यवहार है। उन महाव्रतादि में जो प्रव त्ति रूप क्रिया है वह शुभ कर्म रूप बंध करती है और इन क्रियाओं में जितने अंश की निव त्ति है उसका फल बंध नहीं है, उसका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है। (२) निश्चय चारित्र—सब क्रियाओं से रहित अपने आत्मस्वरूप रूप होना सो निश्चय चारित्र है जिसका फल कर्म का नाश ही है सो वह पुण्य-पाप के परिहार रूप निर्विकल्प है। पाप का तो त्याग मुनि के है ही और पुण्य का त्याग इस प्रकार है-शुभ क्रिया का फल जो पुण्य कर्म का बंध है उसकी वांछा नहीं है, बंध के नाश के उपाय निर्विकल्प निश्चय चारित्र का प्रधान उद्यम है। इस प्रकार यहाँ निर्विकल्प पुण्य-पाप से रहित ऐसा निश्चय चारित्र कहा है। चौदहवें गुणस्थान के अंत समय में पूर्ण चारित्र होता है उससे लगता ही मोक्ष होता है-ऐसा सिद्धान्त है।।४२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे रत्नत्रय सहित होकर तप, संयम एवं समिति का पालन करता हुआ शुद्धात्मा का ध्यान करने वाला मुनि निर्वाण को प्राप्त करता है' :—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।। ४३।।

जो रत्नत्रय युत संयमी, निज शक्ति से तप को करे।
वह परमपद को प्राप्त हो, शुद्धात्मा का ध्यान धर।। ४३।।

अर्थ

रत्नत्रय संयुक्त हुआ जो मुनि संयमी होकर अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद निर्वाण को पाता है।

भावार्थ

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति–यह तेरह प्रकार का चारित्र है सो यही प्रव त्ति रूप व्यवहार चारित्र संयम है सो जो संयमी मुनि इसको अंगीकार करके पूर्वोक्त प्रकार निश्चय रत्नत्रय से युक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार उपवास एवं कायक्लेशादि बाह्य तप करता है वह मुनि अन्तरंग तप जो ध्यान उसके द्वारा शुद्ध आत्मा को एकाग्रचित्त से ध्याता हुआ निर्वाण को पाता है।।४३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ध्यानी मुनि ऐसा होकर परमात्मा का ध्यान करता है' :–

तिहिं तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झाइए जोई।। ४४।।

त्रिकरहित त्रिक परिकरित तीन को, तीन से नित धारकर।
दो दोषों से हो मुक्त योगी, ध्यान परमातम करे।। ४४।।

अर्थ

(१) **'त्रिभिः'** अर्थात् मन-वचन-काय से, (२) **'त्रीन्'** अर्थात् वर्षा, शीत एवं उष्ण–इन तीन काल योगों को धारण करके, (३) **'त्रिकरहित'** अर्थात् माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित हुआ, (४) **'त्रयेण परिकरितः'** अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मंडित होकर तथा (५) **दो जो राग-द्वेष** वे ही हुए दोष उनसे रहित हुआ जो योगी-ध्यानी मुनि है वह 'परमात्मा' जो सर्व कर्म रहित शुद्ध परमात्मा उसका ध्यान करता है।

भावार्थ

(१) तीन काल योग धारण करके मन-वचन-काय से परमात्मा का ध्यान करे सो ऐसे कष्ट में द ढ़ रहे तब जानना कि इसके ध्यान की सिद्धि है, कष्ट आने पर चलायमान हो जाए तब ध्यान की सिद्धि कैसी ! (२) चित्त में किसी प्रकार की शल्य रहे तब चित्त एकाग्र नहीं होता तब ध्यान कैसे हो इसलिए 'शल्यरहित' कहा। (३) श्रद्धान, ज्ञान, आचरण यथार्थ न हो तब ध्यान कैसा इसलिए

दर्शन-ज्ञान-चारित्र मंडित कहा तथा (४) राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहे तब ध्यान कैसे हो इसलिये परमात्मा का जो ध्यान करे वह इस उपरोक्त प्रकार का होकर करे–यह तात्पर्य है।।४४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसा होता है वह उत्तम सुख को पाता है' :–

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं।।४५।।

मद, क्रोध, माया से रहित, अरु लोभ वर्जित जीव जो।
निर्मल स्वभाव से युक्त हो, वह पाता उत्तम सौख्य को।।४५।।

अर्थ

जो जीव मद, माया एवं क्रोध से रहित हो तथा लोभ से विशेष रूप से रहित हो वह जीव निर्मल विशुद्ध स्वभाव युक्त हुआ उत्तम सुख को पाता है।

भावार्थ

लोक में भी ऐसा है कि जो जीव 'मद' अर्थात् अति मान तथा माया-कपट और क्रोध से रहित होता है और लोभ से विशेष रूप से रहित होता है वह सुख पाता है तथा तीव्र कषायी अति आकुलता से युक्त होकर निरन्तर दुःखी रहता है सो यह रीति मोक्षमार्ग में भी जानो कि यहाँ भी जब क्रोध, मान, माया व लोभ–इन चार कषायों से रहित होता है तब निर्मल भाव होते हैं और तब ही यथाख्यात चारित्र पाकर उत्तम सुख पाता है।।४५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो विषय-कषायों में आसक्त है, परमात्मा की भावना से रहित है और रौद्र परिणामी है सो जिनमत से पराङ्मुख है वह मोक्ष के सुख को नहीं पाता है' :–

विसयकसाएहिं जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।। ४६।।

परमात्मभावरहितमना है, रुद्र विषय-कषाय युत।
जिनमुद्रा से जो विमुख जीव, वो, सिद्धि सुख पाता नहीं।। ४६।।

अर्थ

जो जीव (१) विषय–कषायों से युक्त है, (२) रौद्र परिणामी है–हिंसादि एवं विषय-कषायादि पापों में हर्ष सहित प्रव त्ति करता है तथा (३) जिसका चित्त परमात्मा की भावना से रहित है वह जीव जिनमुद्रा से पराङ्मुख है वह ऐसा सिद्धिसुख जो मोक्ष का सुख उसकी नहीं पाता है।

भावार्थ

जिनमत में ऐसा उपदेश है कि १. जो हिसादि पापों से विरक्त हो, २. विषय-कषायों में आसक्त न हो और ३. परमात्मा का स्वरूप जानकर उसकी भावना सहित हो वह जीव मोक्ष पाता है अतः जिनमत की मुद्रा से जो पराङ्मुख है उसके कैसे मोक्ष हो, वह तो संसार ही में भ्रमण करता है। यहाँ गाथा में जो 'रुद्र' विशेषण दिया है उसका ऐसा भी आशय है कि ग्यारह जो रुद्र होते हैं वे विषय-कषायों में आसक्त होकर जिनमुद्रा से भ्रष्ट होते हैं, उनके मोक्ष नहीं होता। इनकी कथा पुराणों से जानना।।४६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनमुद्रा से मोक्ष होता है सो यह मुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती है वे संसार ही में रहते हैं' :–

जिणमुद्दा सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।। ४७।।

उपदेश जिनवर का है यह जिन मुद्रा शिवमुख नियम से।
रुचती न स्वप्न में भी जिन्हें, वे गहन भव-वन में रहें।। ४७।।

अर्थ

जिनमुद्रा है सो ही सिद्धिसुख है, वह मुक्ति सुख ही है—यह कारण में कार्य का उपचार जानना। जिनमुद्रा मोक्ष का कारण है, मोक्षसुख उसका कार्य है। **कैसी है जिनमुद्रा**—जिनभगवान ने जैसी कही है वैसी है। ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को साक्षात् तो दूर रहो, स्वप्न में भी कदाचित् नहीं रुचती है, उसका यदि स्वप्न आता है तो भी अवज्ञा आती है तो वह जीव संसार रूपी गहन वन में ही तिष्ठता है, मोक्ष के सुख को नहीं पाता है।

भावार्थ

जिनदेवभाषित जिनमुद्रा मोक्ष की कारण है सो मोक्ष रूप ही है क्योंकि जिनमुद्रा के धारक वर्तमान में भी स्वाधीन सुख को भोगते हैं और पीछे मोक्ष का सुख पाते हैं और जिस जीव को यह नहीं रुचती है वह मोक्ष को नहीं पाता है, संसार ही में रहता है।।४७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो परमात्मा का ध्यान करता है वह योगी लोभ रहित होकर नवीन कर्म का आस्रव नहीं करता है' :—

परमप्पा झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ४८।।

मलजनक लोभ से छूटे योगी, ध्यान से परमात्म के।
नव कर्म आस्रव न उसे, यह जिनवरेन्द्रों ने कहा।। ४८।।

अर्थ

जो योगी-ध्यानी मुनि परमात्मा का ध्यान करता हुआ वर्तता है वह मल के देने वाले लोभकषाय से छूट जाता है, उसके लोभ मल नहीं लगता है और इसी से नवीन कर्म का आस्रव उसके नहीं होता है-यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है।

भावार्थ

मुनि भी हो परन्तु परजन्म सम्बन्धी प्राप्ति का लोभ हो–निदान करे तो उसके परमात्मा का ध्यान नहीं होता क्योंकि जो परमात्मा का ध्यान करता है उसके इसलोक व परलोक सम्बन्धी परद्रव्य का कुछ भी लोभ नहीं होता और इसी कारण उसके नवीन कर्म का आस्रव नहीं होता–ऐसा जिनदेव ने कहा है। **यह लोभ कषाय ऐसी है कि दसवें गुणस्थान तक पहुंच कर अव्यक्त होकर भी आत्मा के मल लगाती है इसलिए इसका काटना ही युक्त है अथवा जहाँ तक मोक्ष की चाह रूप लोभ रहता है वहाँ तक मोक्ष नहीं होता इसलिए लोभ का अत्यन्त निषेध है।।४४।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसा निर्लोभी होकर दृढ़ सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्रवान हुआ परमात्मा का ध्यान करता है वह परम पद को पाता है' :–

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमदीओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई।। ४9।।

सम्यक्त्व दृढ़ भावितमति, चारित्र दृढ़ से युक्त हो।
ध्याते हुए आत्मा को वह, प्राप्ती परम पद की करे।।४9।।

अर्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार योगी-ध्यानी मुनि, दृढ़ सम्यक्त्व से भावित है मति जिसकी तथा दृढ़ है चारित्र जिसका–ऐसा होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद जो परमात्मपद उसको पाता है।

भावार्थ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप दृढ़ होकर परिषह आने पर भी न चिगे–इस प्रकार जो आत्मा का ध्यान करता है वह परमपद को पाता है–यह तात्पर्य है।।४६।।

उत्थानिका

आगे 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र से निर्वाण होता है—ऐसा जो कहते आए सो उनमें दर्शन, ज्ञान तो जीव का स्वरूप है उसको जाना पर यह चारित्र क्या है'—ऐसी **आशंका का उत्तर** कहते हैं :—

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रायदोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो।। ५०।।

चारित्र से निजधर्म है, वह धर्म निज समभाव है।
वह राग-द्वेष रहित ही जीव का, तन्मयी परिणाम है।। ५०।।

अर्थ

'स्वधर्म' अर्थात् आत्मा का जो धर्म है वह 'चरण' अर्थात् चारित्र है तथा धर्म है सो आत्मसमभाव है—सब जीवों में समान भाव है। जो अपना धर्म है सो ही सब जीवों में है अथवा सब जीवों को अपने समान मानना है तथा जो आत्म समभाव है सो राग-द्वेष से रहित है, किसी से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं है—ऐसा चारित्र है सो जैसे जीव के दर्शन ज्ञान हैं वैसे ही यह भी अनन्य परिणाम है, जीव ही का भाव है।

भावार्थ

चारित्र है वह ज्ञान में राग-द्वेष रहित निराकुल रूप स्थिरता भाव है सो जीव ही का अमेद रूप परिणाम है, कुछ अन्य वस्तु नहीं है।।५०।।

उत्थानिका

आगे जीव के परिणाम की स्वच्छता को द ष्टान्त से दिखाते हैं :—

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अण्णण्णविहो ।। ५१।।

जैसे स्फटिकमणि शुद्ध भी, परद्रव्ययुत हो अन्य हो।
रागादिसंयुत जीव वैसे, प्रकट हो अन्यान्यविध।। ५१।।

अर्थ

जैसे स्फटिक मणि विशुद्ध है–उज्ज्वल है सो परद्रव्य जो पीत, रक्त एवं हरित पुष्पादि से युक्त हुआ अन्य सा दीखता है, पीतादि वर्णमयी दीखता है वैसे जीव है सो विशुद्ध है–स्वच्छ स्वभाव है पर वह राग-द्वेष आदि भावों से युक्त होता हुआ अन्य-अन्य प्रकार हुआ दीखता है–यह प्रकट है।

भावार्थ

यहाँ ऐसा जानना कि रागादि विकार पुद्गल कर्म के जो भावकर्म उदय में आता है उसका कलुषता रूप परिणाम है सो तो पुद्गल का विकार है और यह जब जीव के ज्ञान में आकर झलकता है तब वह उससे उपयुक्त हुआ ऐसा जानता है कि ये भाव मेरे ही हैं सो जब तक उनका भेदज्ञान नहीं होता तब तक जीव अन्य-अन्य प्रकार रूप से अनुभव में आता है। यहाँ स्फटिक मणि का द ष्टान्त है, उसके अन्य द्रव्य पुष्पादि का डंक लगता है तब वह अन्य सा दीखता है–इस प्रकार जीव के स्वच्छ स्वभाव की विचित्रता जानना।।५१।।

उत्थानिका

इसी कारण आगे कहते हैं कि 'जब तक मुनि के राग का अंश होता है तब तक वह सम्यग्दर्शन को धारण करता हुआ भी ऐसा होता है' :–

देव गुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ।। ५२।।

जो देव-गुरु का भक्त है, सहधर्मी मुनि अनुरक्त है।
सम्यक्त्व को धरता वह योगी, ध्यान में रत होय है।। ५२।।

अर्थ

जो योगी–ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण किए हुए है वह जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तब तक वह देव जो अरहंत, सिद्ध और गुरु जो दीक्षा-शिक्षा का देने वाला इनका तो भक्त होता है अर्थात् इनकी भक्ति, वन्दना एवं विनय सहित होता है तथा अन्य जो संयमी मुनि अपने समान धर्म सहित हैं उनमें

अनुरक्त है—अनुराग सहित होता है सो ही मुनि ध्यान में प्रीतिवान होता है और **मुनि होकर भी यदि देव, गुरु तथा साधर्मियों में भक्ति एवं अनुराग सहित न हो तो उसको ध्यान में रुचिवान नहीं कहते क्योंकि जो ध्यानी होता है उसको ध्यान वालों से रुचि एवं प्रीति होती है, ध्यान वाले न रुचें तब ज्ञात होता है कि इसको ध्यान भी नहीं रुचता है—ऐसा जानना।।५२।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ध्यान सम्यग्ज्ञानी के होता है और वह ही तप से कर्मों का क्षय करता है' :—

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहिं बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमहुत्तेण।। ५३।।

जिस कर्म को तप उग्र से, अज्ञानी भव बहु क्षय करे।
त्रय गुप्ति से ज्ञानी मुहूरत, मध्य में नाशे उसे।। ५३।।

अर्थ

अज्ञानी है सो 'उग्र' अर्थात् तीव्र जो तप उसके द्वारा बहुत भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है उतने कर्मों का ज्ञानी मुनि तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है।

भावार्थ

जो ज्ञान की सामर्थ्य है वह तीव्र तप की भी सामर्थ्य नहीं है क्योंकि ऐसा वस्तुस्वरूप है कि अज्ञानी अनेक कष्टों को सहकर तीव्र तप को करता हुआ करोड़ों भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है उनका आत्मभावना सहित ज्ञानी मुनि अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है—यह ज्ञान की सामर्थ्य है।।५३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'अज्ञानी कैसा होता है ? जो इष्ट वस्तु के सम्बन्ध से परद्रव्य में राग-द्वेष करता है वह उस भाव से अज्ञानी होता है, ज्ञानी इससे उल्टा है' :–

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदोसा हु।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो।। ५४।।

शुभ योग से परद्रव्य प्रीति, प्रकट राग अरु द्वेष है।
अतएव वह अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है।। ५४।।

अर्थ

'शुभ योग' अर्थात् अपने जो इष्ट वस्तु का योग-सम्बन्ध उससे परद्रव्य में जो 'सुभाव' अर्थात् प्रीतिभाव का करना है सो प्रकट राग-द्वेष है, इष्ट में राग हुआ तब अनिष्ट वस्तु में द्वेष भाव होता ही है—इस प्रकार जो राग-द्वेष करता है वह उस कारण से रागी-द्वेषी, अज्ञानी है तथा जो इससे विपरीत-उल्टा है अर्थात् परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं करता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ

ज्ञानी सम्यग्द ष्टि मुनि के परद्रव्य में राग, द्वेष, मोह नहीं है क्योंकि राग उसे कहते हैं कि जो परद्रव्य को सर्वथा इष्ट मानकर राग करना वैसे ही द्वेष उसे कहते हैं कि जो उसे अनिष्ट मानकर द्वेष करना सो सम्यग्ज्ञानी परद्रव्य में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करता तब उसे राग-द्वेष क्यों हो ! चारित्रमोह के उदय से जो कुछ धर्मराग होता है उसको भी रोग जानकर वह भला नहीं जानता तब अन्य से कैसे राग हो ! परद्रव्य से जो राग-द्वेष करता है वह तो अज्ञानी ही है—ऐसा जानना।।५४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जैसे परद्रव्य में रागभाव होता है वैसे मोक्ष के निमित्त भी यदि राग हो तो वह भी राग आस्रव का कारण है, उसे भी ज्ञानी नहीं करता' :–

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। ५५।।

आसरवहेतु मोक्षविषयक, राग को क्योंकि करे।
वह इसलिए अज्ञानी है, स्व स्वभाव से विपरीत है।। ५५।।

अर्थ

जैसे परद्रव्य में राग को कर्म बंध का कारण पूर्व में कहा वैसे ही रागभाव यदि मोक्ष के निमित्त भी हो तो वह आस्रव ही का कारण है, कर्म का बंध ही करता है इस कारण से यदि मोक्ष को परद्रव्य की तरह इष्ट मानकर वैसा ही राग भाव करे तो वह जीव मुनि भी अज्ञानी है। सो कैसा है वह-आत्मस्वभाव से विपरीत है, उसने आत्मस्वभाव को जाना नहीं।

भावार्थ

मोक्ष तो सब कर्मों से रहित अपना स्वभाव था कि 'आपको सर्व कर्मों से रहित होना' सो यह भी रागभाव ज्ञानी के नहीं होता। यद्यपि चारित्रमोह के उदय से उसे राग होता है तो भी उस राग को यदि बंध का कारण जानकर रोगवत् छोड़ना ही चाहे तो वह ज्ञानी है ही परन्तु उस राग को यदि भला जानकर स्वयं आप करे तो अज्ञानी है क्योंकि आत्मा का स्वभाव जो सर्व रागादि से रहित है उसको इसने नहीं जाना। इस प्रकार रागभाव को जो मोक्ष का कारण और भला जानकर करे उसका निषेध जानना।।५५।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो कर्म ही मात्र सिद्धि मानता है उसने आत्मस्वभाव को जाना नहीं, वह अज्ञानी है, जिनमत से प्रतिकूल है' :–

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिओ।। ५६।।

कर्मोत्पन्न मति से युत, दूषक है केवलज्ञान का।
अतएव उसे अज्ञानी, जिनशासन का दूषक है कहा।। ५६।।

अर्थ

कर्म ही में उत्पन्न होती है बुद्धि जिसकी ऐसा जो पुरुष है सो स्वभावज्ञान जो केवलज्ञान उसको खंड रूप दूषण का करने वाला है। इन्द्रिय ज्ञान खंड-खंड रूप है, केवल अपने-अपने विषय को जानता है सो इतने मात्र ही ज्ञान को माना इस कारण से ऐसा मानने वाला अज्ञानी है, जिनमत का दूषक है।

भावार्थ

मीमांसकमती कर्मवादी है—सर्वज्ञ को मानता नहीं और इन्द्रियज्ञान मात्र ही ज्ञान को मानता है—केवलज्ञान को मानता नहीं, उसका यहाँ प्रतिषेध किया है क्योंकि जिनमत में आत्मा का स्वभाव सबको जानने वाला जो केवलज्ञान स्वरूप कहा है वह कर्म के निमित्त से आच्छादित होकर इन्द्रियों के द्वारा क्षयोपशम के निमित्त से खंड रूप हुआ खंड-खंड विषयों को जानता है और कर्म का नाश होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है तब आत्मा सर्वज्ञ होता है—ऐसा मीमांसकमती मानता नहीं सो वह अज्ञानी है, जिनमत से प्रतिकूल है, कर्म मात्र ही में उसकी बुद्धि गत हो रही है। ऐसा यदि कोई और भी मानते हों तो उन्हें भी ऐसा ही जानना।।५६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान तो चारित्र रहित हो, तप सम्यक्त्व रहित हो और अन्य भी क्रिया भावपूर्वक न हो तो ऐसे केवल लिंग-वेषमात्र ही से क्या सुख है अर्थात् कुछ भी नहीं' :—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगगहणेण किं सोक्खं।। ५७।।

चारित्रहीन तो ज्ञान हो, तपयुक्त दर्शनहीन जो।
है भावरहित जो अन्य में उस, लिंग से क्या सौख्य है।। ५७।।

अर्थ

जहाँ ज्ञान तो चारित्र रहित है तथा तप से तो युक्त है परन्तु दर्शन जो सम्यक्त्व उससे रहित है तथा अन्य भी आवश्यक आदि जो क्रिया हैं उनमें शुद्ध भाव नहीं है—ऐसे लिंग जो वेष उसके ग्रहण में क्या सुख है!

भावार्थ

कोई मुनि वेष मात्र तो निर्ग्रन्थ हुआ और शास्त्र भी पढ़ता है उसको कहते हैं कि शास्त्र पढ़कर ज्ञान तो किया परन्तु निश्चय चारित्र जो शुद्ध आत्मा का अनुभव रूप तथा बाह्य चारित्र निर्दोष नहीं किया; और तप का क्लेश बहुत किया परन्तु सम्यक्त्व भावना नहीं हुई; और आवश्यक आदि बाह्य क्रिया की पर भाव शुद्ध नहीं लगाये तो ऐसे बाह्य वेष मात्र में तो क्लेश ही हुआ कुछ शान्त भाव रूप सुख तो नहीं हुआ और यह वेष परलोक के सुख में भी कारण नहीं हुआ, इसलिए सम्यक्त्वपूर्वक वेष धारण करना श्रेष्ठ है।।५७।।

उत्थानिका

आगे सांख्यमती आदि के आशय का निषेध करते हैं :–

अचेयणम्मि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा।। ५८।।

जो मानता चेतन अचित को, वह अज्ञानी होय है।
ज्ञानी कहा है उसको जो, चेतन को चेतन मानता।। ५८।।

अर्थ

जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है तथा जो चेतन में ही चेतन को मानता है उसे ज्ञानी कहा है।

भावार्थ

(१) **सांख्यमती** ऐसा कहता है कि पुरुष तो उदासीन चेतनास्वरूप नित्य है और यह ज्ञान है सो प्रधान का है। उनके मत में जो पुरुष को उदासीन चेतनास्वरूप माना सो ज्ञान के बिना तो वह जड़ ही हुआ, ज्ञान बिना चेतन कैसा तथा ज्ञान को प्रधान का धर्म माना और प्रधान को जड़ माना तो अचेतन में चेतना मानी तब अज्ञानी ही हुआ। (२) **नैयायिक–वैशेषिकमती** गुण-गुणी में सर्वथा भेद मानते हैं तो चेतना गुण को जीव से भिन्न माना तब जीव तो अचेतन ही रहा–इस प्रकार अचेतन में चेतनपना माना। (३) **भूतवादी**–चार्वाक् भूत और पथ्वी आदि से

चेतनता उत्पन हुई मानता है वहाँ भूत तो जड़ है उसमें चेतनता कैसे उपजे इत्यादि अन्य भी कोई मानते हैं वे सारे अज्ञानी हैं अतः जो चेतन में ही चेतना मानता है वह ज्ञानी है–यह जिनमत है।।५४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'तप रहित तो ज्ञान और ज्ञान रहित तप–ये दोनों ही अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है' :–

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तओ वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।। ५५।।

तप से विहीन जो ज्ञान, ज्ञानवियुक्त तप अकृतार्थ है।
अतएव ज्ञान व तप से युक्त ही, पाता है निर्वाण को।।५५।।

अर्थ

ज्ञान यदि तप रहित है तथा जो तप है सो ज्ञान रहित है तो दोनों ही अकार्य हैं अतः ज्ञान और तप से जो संयुक्त है वह निर्वाण को पाता है।

भावार्थ

अन्यमती सांख्यादि कोई ज्ञान चर्चा तो बहुत करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान ही से मुक्ति है और तप करते नहीं, विषय-कषायादि को प्रधान का धर्म मानकर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं। कई ज्ञान को निष्फल मानकर उसको यथार्थ जानते नहीं और तप–क्लेशादि ही से सिद्धि मानकर उसके करने में तत्पर रहते हैं। **आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं, जो ज्ञान सहित तप करते हैं वे ही मोक्ष पाते हैं–यह अनेकान्त स्वरूप जिनमत का उपदेश है।।५६।।**

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को उदाहरण से दृढ़ करते हैं :–

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्ते वि।। ६०।।

चउ ज्ञान और ध्रुव सिद्धिधारक, तीर्थकर भी तप करे।
यह जान निश्चित ज्ञानयुत, होने पे भी तुम तप करो।। ६०।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि देखो, नियम से जिनकी मोक्ष होनी है और चार ज्ञान जो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इनसे युक्त हैं ऐसे तीर्थंकर हैं सो भी तपश्चरण करते हैं ऐसा निश्चय से जानकर ज्ञान से युक्त होने पर भी तप करना योग्य है।

भावार्थ

तीर्थंकर मति, श्रुति और अवधि–इन तीन ज्ञान सहित तो जन्म लेते हैं तथा दीक्षा लेते ही उनके मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है तथा मोक्ष उनके नियम से होनी है तो भी वे तप करते हैं इसलिए ऐसा जानकर ज्ञान होते हुए भी तप करने में तत्पर होना, ज्ञान मात्र ही से मुक्ति नहीं मानना।।६०।।

उत्थानिका

आगे जो बाह्य लिंग से युक्त है और अभ्यंतर लिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्ग का विनाश करने वाला है-ऐसा सामान्य से कहते हैं :-

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोखपहविणासगो साहू।। ६१।।

है सहित बाहिर लिंग, अन्तरलिंग रहित परिकर्मयुत।
वह स्वचारित्र से भ्रष्ट, शिव मारग विनाशक साधु है।। ६१।।

अर्थ

जो जीव बाह्य लिंग-वेष से संयुक्त है और अभ्यंतर लिंग जो परद्रव्यों से सर्व रागादि ममत्व भाव से रहित आत्मा का अनुभव, उससे रहित है परिकर्म अर्थात् परिवर्तन जिसमें ऐसा है वह मुनि 'स्व-चारित्र' अर्थात् अपने आत्मस्वरूप का आचरण स्वरूप जो चारित्र उससे भ्रष्ट है और इसी कारण मोक्षमार्ग का विनाश करने वाला है।

भावार्थ

यह संक्षेप से कहा जानो कि 'जो बाह्य लिंग संयुक्त है और अभ्यंतर भावलिंग से रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है'।।६१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो सुख से भाया हुआ ज्ञान है वह दुःख आने पर नष्ट हो जाता है इसलिए तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना' :–

सुहेण भाविदं णाणं दुक्खे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए।। ६२।।

सुख में जो भावित ज्ञान दुःख, आने पे नाश को प्राप्त हो।
अतएव यथाबल दुःख सहित, हे योगी ! भाओ आत्म तुम।। ६२।।

अर्थ

जो सुख से भाया हुआ ज्ञान है वह दुःख आने पर विनष्ट होता है इसलिए यह उपदेश है कि जो योगी-ध्यानी मुनि है सो तपश्चरणादि के कष्ट अर्थात् यथाशक्ति दुःख सहित आत्मा को भाओ।

भावार्थ

तपश्चरण का कष्ट अंगीकार करके यदि ज्ञान को भाता है तो परिषह आने पर ज्ञान भावना से चिगता नहीं इसलिए शक्ति के अनुसार दुःख सहित ज्ञान को भाना, यदि सुख ही में भावे तो दुःख आने पर व्याकुल हो जावे तब ज्ञान भावना न रहे इसलिए यह उपदेश है।।६२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'आहार, आसन और निद्रा–इनको जीतकर आत्मा का ध्यान करना' :–

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णिय अप्पा णाऊणं गुरुपसाएण।। ६३।।

जिनवर के मत से अशन, आसन, निद्रा तीनों जीतकर।
धरो आतमा का ध्यान उसको, गुरु प्रसाद से जानकर।। ६३।।

अर्थ

आहार, आसन व निद्रा-इनको जीतकर और जिनवर के मत से तथा गुरु के प्रसाद से जानकर निज आत्मा का ध्यान करना।

भावार्थ

आहार, आसन और निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना तो अन्य मतों में भी कहते हैं परन्तु उनके यथार्थ विधान नहीं है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जैसे जिनमत में कहा है उस विधान को गुरूओं के प्रसाद से जानकर और ध्यान करने पर सफल है अतः जैसा जैन सिद्धान्त में आत्मा का स्वरूप तथा ध्यान का स्वरूप और आहार आसन व निद्रा–इनको जीतने का विधान कहा है वैसा जानकर इनमें प्रवर्तना।।६३।।

उत्थानिका

आगे जिस आत्मा का ध्यान करना कहा वह आत्मा कैसा है सो कहते हैं :–

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण।। ६४।।

चारित्रवंत है आतमा और, ज्ञानदर्शन युक्त है।
वह नित्य ही ध्यातव्य है, श्री गुरु प्रसाद से जानकर।। ६४।।

अर्थ

आत्मा है सो चारित्रवान है तथा दर्शन व ज्ञान से सहित है–ऐसा आत्मा गुरु के प्रसाद से जानकर और ध्यान करना।

भावार्थ

आत्मा का रूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी है सो इसका स्वरूप जैन गुरूओं के प्रसाद से जाना जाता है, अन्यमती अपनी बुद्धिकल्पित जैसा तैसा मानकर ध्यान करते हैं उनके यथार्थ सिद्धि नहीं है इसलिए जैनमत के अनुसार ध्यान करना–ऐसा उपदेश है।।६४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'आत्मा को जानना, उसकी भावना भाना और विषयों से विरक्त होना–ये उत्तरोत्तर दुःख से प्राप्त होते हैं' :–

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं।। ६५।।

दुःखों से जानके आतमा, फिर भावना हो दुःख से।
भावितस्वभाव जो पुरुष उसे हो, विषय विरक्ति दुःख से।। ६५।।

अर्थ

प्रथम तो आत्मा को जो जाना जाता है सो दुःख से जाना जाता है तथा आत्मा को जानकर भी उसकी भावना करना अर्थात् फिर-फिर उसी का अनुभव करना दुःख से होता है और कदाचित् भावना भी किसी प्रकार से हो जाये तो भाया है निज भाव जिसने ऐसा पुरुष विषयों से विरक्त बड़े दुःख से होता है।

भावार्थ

आत्मा को जानना, उसकी भावना भाना और विषयों से विरक्त होना-उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है इसलिए यह उपदेश है कि योग मिलने पर प्रमादी नहीं होना।।६५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जब तक विषयों में यह मनुष्य प्रवर्तता है तब तक आत्मज्ञान नहीं होता' :–

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।। ६६।।

जब तक रहे नर विषयरत, तब तक न जाने आत्म को।
हो चित्त विषयविरक्त तब, वह योगी आतम जानता।। ६६।।

अर्थ

जब तक यह मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्मा को नहीं जानता इसलिए जो योगी-ध्यानी मुनि है वह विषयों से विरक्त है चित्त जिसका ऐसा होता हुआ आत्मा को जानता है।

भावार्थ

जीव के स्वभाव के उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि वह जिस ज्ञेय पदार्थ से उपयुक्त होता है वैसा ही हो जाता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जब तक विषयों में चित्त रहता है तब तक वह उन रूप रहता है, आत्मा का अनुभव नहीं होता सो योगी मुनि जब ऐसा विचारकर विषयों से विरक्त हो आत्मा में उपयोग लगाता है तब आत्मा को जानता है, अनुभव करता है इसलिए विषयों से विरक्त होना–यह उपदेश है।।६६।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हैं कि 'आत्मा को जानकर भी उसकी भावना के बिना जीव संसार ही में रहता है' :–

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।। ६७।।

नर कोई निज को जान, आतम भावना से भ्रष्ट हो।
हो विषयविमोहित मूढ़ वह, भ्रमे चतुर्गति संसार में।। ६७।।

अर्थ

कई अज्ञानी–मूर्ख मनुष्य आत्मा को जानकर भी अपने स्वभाव की भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए विषयों में विमोहित होकर चार गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ

पहिले कहा था कि 'आत्मा को जानना, उसकी भावना भाना और विषयों से विरक्त होना–ये उत्तरोत्तर दुर्लभता से पाये जाते हैं।' वहाँ विषयों में लगा हुआ जीव प्रथम तो आत्मा को जानता नहीं–ऐसा कहा था, अब इस प्रकार कहा है कि 'आत्मा को जानकर भी विषयों के वशीभूत हुआ यदि उसकी भावना नहीं करता तो संसार ही में भ्रमण करता है' इसलिये आत्मा को जानकर विषयों से विरक्त होना–यह उपदेश है।।६७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसे भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं':–

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। ६८।।

युत तप व गुण से युक्त हो, इस बात में संदेह ना।
होकर विषय से विरत आतम जान भावना सहित हो।। ६८।।

अर्थ

'पुनः' अर्थात् फिर जो पुरुष-मुनि विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसे भाते हैं, बारम्बार भावना के द्वारा उसका अनुभव करते हैं वे 'तप गुण' अर्थात् बारह प्रकार के तप और मूलगुण व उत्तरगुणों से युक्त हुए संसार को छोड़ते हैं, मोक्ष पाते हैं।

भावार्थ

विषयों से विरक्त हो आत्मा को जानकर उसकी भावना करो जिससे संसार से छूटकर मोक्ष पाओ-यह उपदेश है।।६४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिसके परद्रव्य में लेश मात्र भी राग हो तो वह पुरुष अज्ञानी है, अपना स्वरूप उसने जाना नहीं' :–

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। ६9।।

परद्रव्य में अणु मात्र भी, रति होय जिसको मोह से।
विपरीत आत्मस्वभाव से वह, मूढ़ है, अज्ञानी है।। ६9।।

अर्थ

जिस पुरुष के परद्रव्य में परमाणु प्रमाण भी–लेश मात्र भी मोह से 'रति' अर्थात् राग-प्रीति हो तो वह पुरुष मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है, आत्मस्वभाव से विपरीत है।

भावार्थ

भेदज्ञान हुए पीछे जीव-अजीव को भिन्न जाने तब परद्रव्य को अपना न जाने तब उससे राग भी नहीं हो और यदि राग हो तो जानना कि इसने स्व-परका भेद जाना नहीं-अज्ञानी है, आत्मस्वभाव से प्रतिकूल है और ज्ञानी होने के बाद जब तक चारित्रमोह का उदय रहता है तब तक कुछ राग रहता है पर उसको कर्मजन्य अपराध मानता है, उस राग से राग नहीं है इसलिये विरक्त ही है अतः ज्ञानी के परद्रव्य से राग नहीं कहलाता-ऐसा जानना।।६9।।

उत्थानिका

आगे इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं :–

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। ७०।।

चारित्र द ढ़ हो, शुद्ध दर्शन, आतमा का ध्यान हो।
विषयों से चित्त विरक्तियुत, निश्चित उन्हें निर्वाण हो।। ७०।।

अर्थ

पूर्वोक्त प्रकार १. विषयों से विरक्त है चित्त जिनका, २. आत्मा का ध्यान करते हुए जो वर्तते हैं, ३. बाह्य-अभ्यंतर दर्शन की शुद्धता जिनके है और ४. द ढ़ चारित्र जिनके है उनका निश्चय से निर्वाण होता है।

भावार्थ

पहिले कहा था कि विषयों से विरक्त हो आत्मा का स्वरूप जानकर जो आत्मा की भावना करते हैं वे संसार से छूटते हैं। उस ही अर्थ को अब यहा संक्षेप से कहा है कि जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर बाह्य–अभ्यंतर दर्शन की शुद्धता से द ढ़ चारित्र पालते हैं उनको नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है। **इन्द्रियों के विषयों में जो आसक्ति है सो सब अनर्थों का मूल है इसलिये उनसे विरक्त होने पर ही उपयोग आत्मा में लगता है और तब ही कार्य सिद्ध होता है।।७०।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'परद्रव्य में जो राग है वह संसार का कारण है इसलिये योगीश्वर आत्मा की भावना करते हैं' :–

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सुभावणा।। ७१।।

परद्रव्य में है राग जो, संसार का कारण है वो।
अतएव योगी नित्य ही, निज आत्मा भाया करें।। ७१।।

अर्थ

जिस कारण से परद्रव्य में जो राग है वह संसार ही का कारण है इस कारण से ही जो योगीश्वर मुनि हैं वे नित्य निरन्तर आत्मा की ही भावना करते हैं।

भावार्थ

कोई ऐसी आशंका करता है कि 'परद्रव्य में राग करने से क्या होता है ? जो परद्रव्य है वह तो पर है ही और अपने राग जिस काल हुआ उसी काल है पीछे मिट ही जाता है ?'

उसको उपदेश किया है कि '१. परद्रव्य से राग करने पर परद्रव्य अपने साथ लगता है-यह प्रसिद्ध है, २. अपने राग का संस्कार द ढ़ होता है जो परलोक तक भी चला जाता है-यह युक्तिसिद्ध है और ३. जिनागम में राग से जो कर्म का बंध कहा है उसका उदय अन्य जन्म का कारण है-इस प्रकार परद्रव्य में राग से संसार होता है इसलिये योगीश्वर मुनि परद्रव्य से राग छोड़कर आत्मा में निरंतर भावना रखते हैं'।।७१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसे समभाव से चारित्र होता है' :–

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु च।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो।।७२।।

दुःख में तथा सुख में, प्रशंसा और निन्दा के विषैं।
शत्रू में एवं बंधु में, समभाव से चारित्र हो।।७२।।

अर्थ

निन्दा में और प्रशंसा में तथा दुःख में और सुख में तथा शत्रु में और बन्धु-मित्र में समभाव जो समता परिणाम अर्थात् राग-द्वेष से रहितपना–ऐसे भाव से चारित्र होता है।

भावार्थ

चारित्र का स्वरूप यह कहा है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है सो कर्म के

निमित्त से ज्ञान में परद्रव्य से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है, उस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव से ज्ञान ही में जो उपयोग लगे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं और वह ही चारित्र है सो यह जहाँ होता है वहाँ निंदा-प्रशंसा, दुःख-सुख एवं शत्रु-मित्र आदि में समान बुद्धि होती है, निंदा-प्रशंसादि का जो द्विधाभाव है वह मोहकर्म के उदयजन्य है सो उसका अभाव ही शुद्धोपयोगरूप चारित्र है।।७२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'कई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि अभी जो यह पंचम काल है सो आत्मध्यान का काल नहीं है।' अब उनका निषेध करते हैं :–

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।।७३।।

आव त चरित व्रतसमितिवर्जित, शुद्ध भाव प्रभ्रष्ट जो।
वे कई नर कहें प्रकट ही, नहिं ध्यान योग का काल यह।।७३।।

अर्थ

कई नर-मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचारक्रिया आवरित है, उनके चारित्रमोह का उदय प्रबल है जिससे चर्या प्रकट नहीं होती और इसी कारण वे व्रत एवं समिति से रहित हैं और मिथ्या अभिप्राय के कारण शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ही ऐसा कहते हैं कि 'अभी पंचमकाल है सो यह काल प्रकट ध्यान-योग का नहीं है'।।७३।।

उत्थानिका

वे प्राणी कैसे हैं सो आगे कहते हैं :–

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स।।७४।।

सम्यक्त्व-ज्ञान रहित अभव्य मोक्ष से परिमुक्त जे।
अरु सुरत भव सुख में कहें, नहिं ध्यान का है काल यह ॥७४॥

अर्थ

पूर्वोक्त ध्यान का अभाव कहने वाला जीव कैसा है—१. सम्यक्त्व और ज्ञान से हित है, २. अभव्य है इसी कारण मोक्ष से रहित है और ३. संसार के जो इन्द्रिय सुख हैं उन ही को भले जानकर उनमें रत है—आसक्त है इसलिये वह कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है।

भावार्थ

जिसको इन्द्रियों के सुख ही प्रिय लगते हैं और जीव-अजीव पदार्थ के श्रद्धान-ज्ञान से जो रहित है वह ऐसा कहता है कि 'अभी ध्यान का काल नहीं है।' इससे ज्ञात होता है कि ऐसा कहने वाला अभव्य है, इसका मोक्ष नहीं होगा॥७४॥



फिर कहते हैं कि 'जो ऐसा कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है उसने पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति का स्वरूप नहीं जाना' :—

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स॥७५॥

जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, गुप्ति त्रय में मूढ़ हैं।
अज्ञानी वे ऐसा कहें, नहिं ध्यान का है काल यह॥७५॥

अर्थ

जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति—इनमें मूढ़ है, अज्ञानी है अर्थात् इनका स्वरूप नहीं जानता और चारित्रमोह के तीव्र उदय से इनको पाल नहीं सकता वह ऐसा कहता है कि 'अभी ध्यान का काल नहीं है'॥७५॥

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है' :–

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।७६।।

इस भरत दुःषम काल में, निजभाव स्थित साधु के।
होता है धर्मध्यान यह नहिं, माने जो अज्ञानी वह।।७६।।

अर्थ

इस भरत क्षेत्र में दुःषमकाल जो यह पंचमकाल उसमें साधु मुनि के धर्मध्यान होता है सो यह धर्मध्यान जो आत्मस्वभाव में स्थित है उस मुनि के होता है। जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं है।

भावार्थ

जिनसूत्र में इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में आत्मभावना में स्थित मुनि के धर्मध्यान कहा है सो जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है।।७६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि होता है वह स्वर्ग में इन्द्रपना और लौकान्तिक देवपना प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है–ऐसा जिनसूत्र में कहा है' :–

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुया णिव्वुदिं जंति।।७७।।

अद्यापि शुद्धत्रिरत्न निज को, ध्या लहें इन्द्रत्व को।
अरु देव लौकान्तिक बनें च्युत हो, वहाँ से मुक्त हों।।७७।।

अर्थ

अभी इस पंचमकाल में भी जो मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता से युक्त होते हैं वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपना पाते हैं तथा लौकान्तिक देवपना पाते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ

कोई कहता है कि 'अभी इस पंचम काल में जिनसूत्र में मोक्ष होना नहीं कहा इसलिये ध्यान का करना तो निष्फल खेद है ?'

उसको कहते हैं कि 'हे भाई ! मोक्ष जाने का निषेध किया है और शुक्लध्यान का निषेध किया है परन्तु धर्मध्यान का तो निषेध किया है नहीं। अभी भी जो मुनि रत्नत्रय से शुद्ध होकर धर्मध्यान में लीन होते हुए आत्मा का ध्यान करते हैं वे मुनि स्वर्ग में इन्द्रपना पाते हैं अथवा जो लौकान्तिकदेव एक भवावतारी हैं उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं और वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्ष पाते हैं। इस प्रकार धर्मध्यान से परम्परा से मोक्ष होता है तब सर्वथा निषेध क्यों करते हो ! जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्याद ष्टि हैं, उनको विषय–कषायों में स्वच्छंद रहना है इसलिए ऐसा कहते हैं।।७७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो इस काल में ध्यान का अभाव मानकर और जो मुनिलिंग पहिले ग्रहण किया था उसको गौण करके पाप में प्रव त्ति करते हैं वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं' :–

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।७४।।

जो पापमोहितमती धरकर, जिनवरेन्द्र के लिंग को।
हैं पाप करते पापी हैं वे, मोक्षमग में त्यक्त हैं।।७४।।

अर्थ

जिनकी बुद्धि पाप से मोहित है वे जिनवरेन्द्र जो तीर्थंकर देव उनका लिंग ग्रहण करके भी पाप करते हैं, वे पापी हैं, मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

भावार्थ

जिन्होंने पहिले तो निर्ग्रंथ लिंग धारण किया पीछे ऐसी पापबुद्धि उत्पन्न हुई कि 'अभी ध्यान का तो काल है नहीं इसलिये क्यों प्रयास करें'—ऐसा विचारकर पाप में प्रव त्ति करने लग जाते हैं वे पापी हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं है।।७८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो मोक्षमार्ग से च्युत हुए वे ऐसे हैं' :—

जे पंचचेलसत्ता गंथगाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।७९।।

जो पंचचेलासक्त-परिग्रहग्राही-याचनशील हैं।
औ अधःकर्म में रक्त हैं, वे मोक्षमग में त्यक्त हैं।।७९।।

अर्थ

जो **१.** पाँच प्रकार के 'चेल'-वस्त्रों में आसक्त हैं अर्थात् अंडज, कर्पासज, वल्कज, चर्मज और रोमज—ऐसे पाँच प्रकार के वस्त्रों में से किसी एक वस्त्र को ग्रहण करते हैं, **२.** 'ग्रन्थग्राही' अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं, **३.** 'याचनाशील' अर्थात् याचना-मांगने ही का जिनका स्वभाव है[1] और **४.**'अधकर्म' जो पापकर्म उसमें रत हैं—सदोष आहार करते हैं वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

भावार्थ

यहाँ आशय ऐसा है कि 'जो पहिले तो निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि हुए थे पर पीछे कालदोष का विचारकर चारित्र पालने में असमर्थ हो निर्ग्रंथ लिंग से भ्रष्ट होकर

टि0- 1. 'श्रु0 टी0'-**जो मुनि जिनमुद्रा को दिखाकर धन की याचना करते हैं वे माता को दिखाकर भाड़ा ग्रहण करने वालों के समान है।**

जिन्होंने वस्त्रादि अंगीकार कर लिये, परिग्रह रखने लगे, याचना करने लगे और अधःकर्म औद्देशिक आहार करने लगे उनका निषेध है, वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं। वे पहिले तो भद्रबाहु स्वामी तक निर्ग्रंथ थे, पीछे दुर्भिक्षकाल में भ्रष्ट होकर साधु अर्द्धफालक कहलाते थे, पीछे उनमें श्वेताम्बर हुए, उन्होंने इस वेष को पुष्ट करने को सूत्र बनाये जिनमें कई कल्पित आचरण तथा उसकी साधक कथायें लिखीं तथा इनके सिवाय अन्य भी कई वेष बदले, इस प्रकार कालदोष से जो भ्रष्टों का संप्रदाय प्रवर्तन कर रहा है सो यह मोक्षमार्ग नहीं है–ऐसा बताया है इसलिए इन भ्रष्टों को देखकर ऐसा ही मोक्षमार्ग है–ऐसा श्रद्धान नहीं करना'।।७9।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'मोक्षमार्गी तो ऐसे मुनि हैं' :–

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।। ४०।।

निर्ग्रंथ मोहविमुक्त, विजित कषाय, बाइस परिषही।
हैं मुक्त पापारम्भ से, वे मोक्षमग में ग्रहीत हैं।।४०।।

अर्थ

जो मुनि १. निर्ग्रंथ हैं-परिग्रह से रहित हैं, २. मोह से रहित हैं-जिनके किसी भी परद्रव्य से ममत्वभाव नहीं है, ३. बाईस परीषहों का सहना जिनके पाया जाता है, ४. जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है और ५. पापारंभ से रहित हैं अर्थात् ग हस्थ के करने योग्य जो आरंभादि पाप हैं उनमें नहीं प्रवर्तते हैं-वे मुनि मोक्षमार्ग में ग्रहण किये गये हैं अर्थात् माने गये हैं।

भावार्थ

मुनि हैं वे लौकिक व त्ति से रहित हैं। जैसा जिनेश्वर ने बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित और नग्न दिगम्बररूप मोक्षमार्ग कहा है वैसे में ही प्रवर्तते हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं, अन्य मोक्षमार्गी नहीं हैं।।४०।।

उत्थानिका

आगे फिर मोक्षमार्गी की प्रव त्ति कहते हैं :–

उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावति हु सासयं सोक्खं।। ४१।।

पूरे ही इस त्रय लोक में, कोई न मम एकाकी मैं।
इस भावना से योगी पाते, प्रकट शाश्वत सौख्य को।।४१।।

अर्थ

मुनि ऐसी भावना करे कि 'उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक–इन तीनों लोकों में मेरा कोई भी नहीं है, मै एकाकी आत्मा हूँ'–ऐसी भावना से योगी मुनि प्रकटपने जो शाश्वत सुख है उसको पाता है[1]।

भावार्थ

मुनि ऐसी भावना करे कि 'त्रिलोक में जीव एकाकी है, इसका सम्बन्धी दूसरा कोई नहीं है'-यह परमार्थरूप एकत्व भावना है सो जिस मुनि के ऐसी भावना निरन्तर रहती है वह ही मोक्षमार्गी है, जो वेष लेकर भी लौकिकजनों से लालपाल रखता है वह मोक्षमार्गी नहीं है।।४१।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

टि0-1. यहाँ पर 'कुन्दकुन्द स्वामी' ने बताया है कि '**मैं एकाकी हूँ, मेरा कोई नहीं**'-यह परमार्थ रूप एकत्व भावना [illegible]वत सुख की प्राप्ति का कारण है सो **मोक्षमार्ग का गुरुमंत्र स्वरूप यह भावना अत्यन्त कीमती है।** 'गुणभद्र आचार्य' ने 'आत्मानु[illegible]ासन' में भी 'एक सौ दसवें' [illegible]लोक में '**मैं अकिंचन हूँ, कुछ भी मेरा नहीं**'-इसी भावना को तीन लोक का अधिपति बनने का योगिगम्य रहस्य कहा है। इसी भावना का भाव 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' के दसवें अध्याय के तेरहवें [illegible]लोक में भी व्यक्त किया गया है कि **'मम'** ये दो अक्षर तो कर्मबंध के कारण हैं और **'न मम'** इन तीन अक्षरों का चिन्तवन मोक्ष का कारण है।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।। ४२।।

जो देव-गुरु के भक्त एवं ध्यानरत सुचरित्र हैं।
चिन्तें विराग परम्परा, वे मोक्षमग में ग्रहीत हैं।।४२।।

अर्थ

जो मुनि **१.** देव और गुरुओं के भक्त हैं, **२.** 'निर्वेद' अर्थात् संसार-देह-भोगों से जो वैराग्य उसकी परम्परा का चिन्तवन करते हैं, **३.** ध्यान में रत हैं–रक्त हैं, तत्पर हैं और **४.** भला है चारित्र जिनके वे मोक्षमार्ग में ग्रहण किये गये हैं।

भावार्थ

१. जिनसे मोक्षमार्ग पाया ऐसे अरहंत सर्वज्ञ वीतराग जिनदेव और उनका अनुसरण करने वाले जो बड़े मुनि अर्थात् दीक्षा-शिक्षा को देनेवाले गुरु-उनकी तो भक्तियुक्त हैं, २. संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर मुनि हुए वैसे ही परम्परा से जिनके निरन्तर वैराग्य भावना है, ३. आत्मा का अनुभवरूप जो शुद्ध उपयोग रूप एकाग्रता वह ही हुआ ध्यान उसमें जो तत्पर हैं और ४. जिनके व्रत, समिति एवं गुप्ति रूप निश्चय-व्यवहारात्मक सम्यक् चारित्र पाया जाता है वे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, अन्य वेषी मोक्षमार्गी नहीं हैं[1]।।४२।।

उत्थानिका

आगे निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना–ऐसा कहते हैं :–

टि0-1. 'श्रु0 टी0' में इस गाथा का वि□लेषण करते हुए लिखा है कि 'जो अठारह दोष रहित, संसार समुद्र से पार करने वाले, भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य समान इत्यादि अनन्त गुणों से गरिष्ठ **अर्हन्त देव के** एवं □ास्त्र समुद्र के पारगामी, सम्यग्द□ान-ज्ञान-चारित्र से पवित्र □ारीर, भव्य जीवों के सम्बोधन करने में माता-पिता के समान हित का उपदे□ा देने वाले, पाप समूह को ग्रहण नहीं करने वाले इत्यादि गुणों के समूह से श्रेष्ठ तथा जगत के लिए इष्ट **गुरुओं के भक्त हैं**-उनके चरण कमलों में भ्रमर बनकर रहते हैं तथा जो नरकादि गर्त में गिराने वाले पापों से भयभीत मूर्ति हैं एवं □ाोभन जिनके आचार हैं वे भव्यवरपुण्डरीक मोक्षमार्ग में अगीकृत किए गए हैं।''

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।। ४३।।

परमार्थनय से आतमा, आत्मार्थ आत्मा में हो रत।
सम्यक् चरित से युक्त होकर, योगी वह मुक्ति लहे।।४३।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा, आत्मा ही में, अपने ही लिये भली प्रकार से रत हो–लीन हो सो योगी-ध्यानी मुनि सम्यक् चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।'

भावार्थ

निश्चयनय का स्वरूप ऐसा है कि एक द्रव्य की अवस्था जैसी हो उसी को कहता है सो आत्मा की दो अवस्थायें हैं-एक तो अज्ञान अवस्था और एक ज्ञान अवस्था।

१. जब तक अज्ञान रहता है तब तक तो बंध पर्याय को आत्मा जानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ; मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं मायावी हूँ, मैं लोभी हूँ; मैं पुण्यवान-धनवान हूँ, मैं निर्धन-दरिद्री हूँ; मैं राजा हूँ, मैं रंक हूँ तथा मैं मुनि हूँ, मैं श्रावक हूँ इत्यादि पर्यायों में अपनापना मानता है और उन पर्यायों में लीन रहता है तब मिथ्याद ष्टि है-अज्ञानी है, इसका फल संसार है उसको भोगता है।'

२. जब जिनमत के प्रसाद से जीव–अजीव पदार्थों का ज्ञान होता है तब स्व–पर का भेद जानकर ज्ञानी होता है और तब ऐसा जानता है कि 'मै आत्मा शुद्ध ज्ञानदर्शनमयी चेतनास्वरूप हूँ, अन्य मेरा कुछ भी नहीं है।' जब भावलिंगी निर्ग्रंथ मुनिपद की प्राप्ति करता है तब यह आत्मा आत्मा ही में, अपने ही द्वारा तथा अपने ही लिये विशेष लीन होता है तब निश्चय सम्यक् चारित्र स्वरूप होकर अपना ही ध्यान करता है तब सम्यग्ज्ञानी है जिसका फल निर्वाण है–ऐसा जानना।।४३।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हुए कहते हैं :–

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्वंदा।। ४४।।

वर ज्ञान दर्शन पूर्ण, पुरुषाकार, योगी आत्मा।
ध्याता उसे जो योगी, होता पापहर, निर्द्वन्द वह।।४४।।

अर्थ

यह आत्मा ध्यान के योग्य कैसा है—**१.** 'पुरुषाकार' है, **२.** 'योगी' है—मन, वचन, काय के योगों का जिसके निरोध है, सर्वांग निश्चल है और **३.** 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ सम्यक् रूप ज्ञान तथा दर्शन से समग्र है—परिपूर्ण है, केवलज्ञानदर्शन जिसके पाया जाता है—ऐसे आत्मा का जो योगी-ध्यानी मुनि ध्यान करता है वह मुनि पाप को हरने वाला है और 'निर्द्वन्द्व' है—रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित है।

भावार्थ

जो अरहंतस्वरूप शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसके पूर्व कर्म का नाश होता है और वर्तमान में राग-द्वेष से वह रहित होता है तब आगामी कर्म को नहीं बाँधता है।।४४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसा तो मुनियों को प्रवर्तन के लिए कहा, अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं' :—

एवं जिणेहिं कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं।। ४५।।

पूर्वोक्त जिन उपदेश मुनि को, श्रावकों को अब कहें।
वह भवविनाशक, सिद्धि का, कारण परम उसको सुनो।।४५।।

अर्थ

'एवं' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार तो उपदेश श्रमण जो मुनि उनको जिनदेव ने कहा है।

अब श्रावकों को कहते हैं सो सुनो। कैसा कहते हैं–संसार का तो विनाश करने वाला और सिद्धि जो मोक्ष उसको करने का उत्क ष्ट कारण–ऐसा उपदेश कहते हैं।

भावार्थ

पहिले जो उपदेश कहा वह तो मुनियों को कहा और अब आगे जो कहते हैं वह श्रावकों को कहते हैं, ऐसा कहते हैं जिससे संसार का विनाश हो और मोक्ष की प्राप्ति हो।।४५।।

उत्थानिका

आगे श्रावकों को प्रथम क्या करना सो कहते हैं :–

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए।। ४६।।

ग्रहकर सुनिर्मल अरु अचल, सुरगिरी सम सम्यक्त्व को।
हे श्रावकों ! दुःख क्षय के अर्थि, ध्यान में ध्याना उसे।।४६।।

अर्थ

प्रथम तो श्रावकों को 'सुनिर्मल' अर्थात् भली प्रकार अतिचार रहित निर्मल और मेरुवत् निःकंप एवं चल तथा अगाढ़ दूषण रहित अत्यंत निश्चल-ऐसे सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसको ध्यान में ध्याना। किसलिए ध्याना-दुःखों का क्षय करने के लिए ध्याना।

भावार्थ

श्रावक पहिले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करे। इस सम्यक्त्व की भावना से ग हस्थ के ग हकार्य संबंधी जो आकुलता, क्षोभ और दुःख होता है वह मिट जाता है, कार्य के बिगड़ने-सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आता है तब दुःख मिटता है। **सम्यग्द ष्टि के ऐसा विचार होता है कि 'वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है सो होता**

है, इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना निष्फल है।' ऐसा विचार करने से दुःख मिटता है-यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है इसलिए सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है।।४६।।

उत्थानिका

आगे सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा कहते हैं :–

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।। ४७।।

होता सुद ष्टि जीव वो, सम्यक्त्व को ध्याता है जो।
सम्यक्त्व परिणत हो के वह, दुष्टाष्ट कर्म का क्षय करे।।४७।।

अर्थ

जो श्रावक सम्यक्त्व को ध्याता है वह जीव सम्यग्द ष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणमित हुआ वह दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षय करता है।

भावार्थ

सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है-यदि पहिले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी उसका स्वरूप जानकर उसका ध्यान करे तो सम्यग्द ष्टि हो जाता है तथा सम्यक्त्व होने पर उसका परिणाम ऐसा है कि संसार के कारण जो दुष्ट अष्ट कर्म उनका क्षय होता है। सम्यक्त्व के होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होने लग जाती है और अनुक्रम से मुनि होता है तब चारित्र और धर्म-शुक्लध्यान इसके सहकारी होते हैं और तब सब कर्मों का नाश हो जाता है।।४७।।

उत्थानिका

आगे इसको संक्षेप से कहते हैं :–

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झहिहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।। 88।।

गतकाल सिद्ध हुए जो नरवर, होंगे भवि जो आगे भी।
जानो इसे समकित की महिमा, बहुत कहने से क्या हो !।।88।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि—'बहुत कहने से क्या साध्य है ! जो नरप्रधान अतीत काल में सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में जो सिद्ध होंगे सो सब सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।'

भावार्थ

इस सम्यक्त्व का ऐसा माहात्म्य है कि 'अष्ट कर्मों का नाशकर जो अतीत काल में मुक्ति को प्राप्त हुए हैं तथा आगामी में जो होंगे वे इस सम्यक्त्व से ही हुए हैं' इसलिए आचार्य कहते हैं कि 'बहुत कहने से क्या ! यह संक्षेप से कहा जानो कि मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा मत जानो कि ग हस्थ के क्या धर्म है, यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि धर्म के सब अंगों को सफल करता है'।।88।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करते हैं वे धन्य हैं' :—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं।। 89।।

वे धन्य हैं, सुकृतार्थ हैं, वे ही शूर, पंडित, मनुज हैं।
नहिं किया मलिन जिन स्वप्न में भी, सिद्धिकर सम्यक्त्व को।।89।।

अर्थ

जिन पुरुषों ने मुक्ति को करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया-अतिचार नहीं लगाया वे पुरुष धन्य हैं, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पंडित हैं।

भावार्थ

लोक में **१.** जो कुछ दानादि करें उनको 'धन्य' कहते हैं, **२.** विवाहादि यज्ञादि करते हैं उनको 'कृतार्थ' कहते हैं, **३.** युद्ध में पीछे न लौटे, जीते उसको 'शूरवीर' कहते हैं तथा **४.** बहुत शास्त्र पढ़े उसको 'पंडित' कहते हैं सो ये सब तो कहने के हैं। जो मोक्ष के कारण सम्यक्त्व को मलिन नहीं करते हैं—निरतिचार पालते हैं वे धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं और वे ही मनुष्य हैं, इसके बिना मनुष्य पशु के समान है—ऐसा सम्यक्त्व का माहात्म्य कहा।।89।।

उत्थानिका

आगे **शिष्य पूछता है** कि 'वह सम्यक्त्व कैसा है?' **उसका समाधान** करने के लिए सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह कहते हैं :—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारसदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। ९०।।

हिंसा रहित तो धर्म, अठारह दोष वर्जित देव अरु।
निर्ग्रंथ प्रवचन में जो श्रद्धा हो, तो समकित होय है।।९०।।

अर्थ

हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, 'निर्ग्रंथ प्रवचन' अर्थात् मोक्ष का मार्ग-इनमें श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ

लौकिकजन तथा अन्य मत वाले जीवों की हिंसा से धर्म मानते हैं और जिनमत में अहिंसा धर्म कहा है सो उसी का श्रद्धान करे और अन्य का श्रद्धान न करे वह सम्यग्द ष्टि है। लौकिक अन्यमती जिन्हें मानते हैं वे सब देव क्षुधादि तथा रागद्वेषादि दोषों से संयुक्त हैं और वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव सब दोषों से रहित हैं उनको जो देव माने—श्रद्धान करे वह सम्यग्द ष्टि है।

यहाँ जो अठारह दोष कहे वे प्रधानता की अपेक्षा से कहे हैं उनको उपलक्षण रूप जानना और इनके समान अन्य भी जान लेना तथा 'निर्ग्रंथ प्रवचन' अर्थात्

मोक्षमार्ग सो ही मोक्षमार्ग है, अन्यलिंग से अन्य मती तथा श्वेताम्बरादि जैनाभास मोक्ष मानते हैं वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्द ष्टि है–ऐसा जानना।।9०।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ को द ढ़ करते हुए कहते हैं :–

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं[1] ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं।। 9१।।

यथाजात रूप स्वरूप, संयत, सर्व संगविमुक्त अरु।
निरपेक्ष ऐसे लिंग को, श्रद्धे उसे सम्यक्त्व हो।।9१।।

अर्थ

मोक्षमार्ग का लिंग–वेष ऐसा है कि **१.** यथाजात रूप तो जिसका रूप है अर्थात् बाह्य परिग्रह वस्त्रादि किंचित् मात्र भी जिसमें नहीं है, **२.** 'सुसंयत' अर्थात् सम्यक् प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवों की दया जिसमें पाई जाये ऐसा जिसमें संयम है, **३.** 'सर्वसंग' अर्थात् सब ही परिग्रह तथा सब लौकिक जनों की संगति से रहित है और **४.** जिसमें पर की अपेक्षा कुछ नहीं है, मोक्ष के प्रयोजन के सिवाय अन्य प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है–ऐसे मोक्षमार्ग के लिंग को जो माने–श्रद्धान करे उस जीव के सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ

मोक्षमार्ग में ऐसा ही लिंग है, अन्य अनेक वेष हैं वे मोक्षमार्ग में नहीं हैं–ऐसा जो श्रद्धान करे उसके सम्यक्त्व होता है। 'यह परापेक्ष नहीं है'–ऐसा कहने से यह

टि0-1. 'म0 टी0' में 'लिंग' ाब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है-'लि' लीनं प्रच्छन्नं अर्थ 'ग' गमयतीति लिंग अर्थात् आत्मा का ज्ञानमात्र रूप ुद्धस्वभाव प्रच्छन्न है, कर्माव त है, उसकी प्राप्ति करने में जो साधन है वह 'लिंग' है। द्रव्य भावात्मक जिनेन्द्र मुद्रा ही मोक्ष प्राप्ति का साधन होने से वही 'जिनलिंग' है।

बताया है कि ऐसा निर्ग्रंथ रूप भी जो किसी अन्य आशय से धारण करे तो वह वेष मोक्षमार्ग नहीं है, वह ऐसा हो कि जिसमें केवल मोक्ष ही की अपेक्षा हो और उसको जो माने वह सम्यग्द ष्टि है–ऐसा जानना।।७१।।

उत्थानिका

आगे **मिथ्याद ष्टि के चिन्ह** कहते है :–

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।।७२।।

जो देव कुत्सित, धर्म कुत्सित लिंग का वंदन करे।
लज्जा से, भय से, गर्व से, है प्रकट मिथ्याद ष्टि वह।।७२।।

अर्थ

१. जो क्षुधादि और रागद्वेषादि दोषों से दूषित हो वह 'कुत्सित' देव है, **२.** जो हिंसादि दोषों से सहित हो वह 'कुत्सित धर्म' है और **३.** जो परिग्रहादि सहित वेष हो वह 'कुत्सित-लिंग' है–इनको जो वंदता है–पूजता है वह प्रकट मिथ्याद ष्टि है। यहाँ विशेष कहते हैं–जो इनको भला-हित करने वाले मानकर वंदता है-पूजता है वह तो प्रकट मिथ्याद ष्टि है ही परन्तु जो लज्जा, भय और गारव–इन कारणों से भी वंदता-पूजता है तो वह भी प्रकट मिथ्याद ष्टि है। यहाँ **लज्जा तो ऐसे है**–लोग इनको वन्दते–पूजते हैं, यदि हम नहीं पूजेंगे तो लोग हमको क्या कहेंगे, हमारी इस लोक में प्रतिष्ठा चली जायेगी–इस प्रकार तो लज्जा से वंदना व पूजा करे। **भय ऐसे है**–इनको राजादि मानते हैं, हम नहीं मानेंगे तो हमारे ऊपर कुछ उपद्रव आ जायेगा–इस प्रकार भय से वंदना व पूजा करे। **गारव ऐसे है**–हम बड़े हैं, महंत पुरुष हैं, सब ही का सन्मान करते हैं, इन कार्यों से ही हमारी बड़ाई है–इस प्रकार गारव से वंदना व पूजना होता है। ऐसे मिथ्याद ष्टि के चिन्ह कहे।।७२।।

उत्थानिका

आगे इस ही अर्थ को द ढ़ करते हुए कहते हैं :–

सवरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्ते।। 9३।।

देव रागयुक्त असयंमी अरु लिंग स्वपरापेक्ष को।
वंदे व माने कुद ष्टि, सद्द ष्टि शुद्ध न मानता।।9३।।

अर्थ

'स्वपरापेक्ष' तो लिंग–जो आप कोई लौकिक प्रयोजन मन में लेकर वेष धारण करे वह 'स्वापेक्ष' है और जो किसी पर की अपेक्षा से धारण करे, किसी के आग्रह तथा राजादि के भय से धारण करे वह परापेक्ष है तथा रागी देव–जिसके स्त्री आदिका राग पाया जाता है और असंयमी जो संयमरहित–इनको ऐसा कहे कि मैं वंदना करता हूं तथा इनको माने-श्रद्धान करे वह मिथ्याद ष्टि है। शुद्ध सम्यक्त्व होने पर इनको नहीं मानता-श्रद्धान नहीं करता और वंदना व पूजन नहीं करता।

भावार्थ

ये जो ऊपर कहे इनसे मिथ्याद ष्टि ही के प्रीति-भक्ति उत्पन्न होती है, जो निरतिचार सम्यक्त्ववान् है वह इनको नहीं मानता है।।9३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो जिन के द्वारा उपदेशित धर्म को करता है वह सम्यग्द ष्टि श्रावक है और जो इससे विपरीत करता है वह मिथ्याद ष्टि है' :–

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।। 9४।।

सम्यक्त्वयुत श्रावक करे, जिनदेवदेशित धर्म को।
करे अन्यमत उपदिष्ट, मिथ्याद ष्टि उसको जानना।।९४।।

अर्थ

जो जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्म को करता है वह सम्यग्द ष्टि श्रावक है और जो अन्यमत के द्वारा उपदेशित धर्म का करता है वह मिथ्याद ष्टि जानना।

भावार्थ

ऐसा कहने से **यहाँ कोई तर्क करता है** कि 'यह तो तुमने अपने मत को पुष्ट करने की पक्षपात मात्र वार्ता कही ?' **उसको कहते हैं** कि 'ऐसा नहीं है, जिससे सब जीवों का हित हो वह धर्म है सो ऐसे अहिंसारूप धर्म का जिनदेव ही ने प्ररूपण किया है, अन्यमत में ऐसे धर्मका निरूपण नहीं है'—ऐसा जानना।।९४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो मिथ्याद ष्टि जीव है वह संसार में दुःख सहित भ्रमण करता है' :—

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो।।९५।।

घूमे कुद ष्टि जीव होकर, दुःखी इस संसार में।
जो जन्मजरामरणप्रचुर अरु दुःख सहस्त्रों से आकुलित।।९५।।

अर्थ

जो मिथ्याद ष्टि जीव है वह जन्म-जरा-मरण से प्रचुर रूप से भरा हुआ और हजारों दुःखों से व्याप्त जो संसार उसमें सुख से रहित दुःखी हुआ भ्रमण करता है।

भावार्थ

मिथ्याभाव का फल संसार में भ्रमण करना ही है सो यह संसार जन्म, जरा, मरण आदि हजारों दुःखों से भरा है, इन दुःखों को मिथ्याद ष्टि भ्रमण करता

हुआ भोगता है। यहाँ दुःख तो अनन्त हैं, हजारों कहने से प्रसिद्धता की अपेक्षा बहुलता बताई है।।७५।।

उत्थानिका

आगे इस सम्यक्त्व–मिथ्यात्व कथन का संकोच करते हैं :–

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु।। ६६।।

सम्यक्त्व अरु मिथ्यात्व के, गुण-दोष मन से भायकर।
जो तेरे मन को रुचे कर और बहुत कहने से लाभ क्या !।।७६।।

अर्थ

'हे भव्य ! ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जो सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोष उनको अपने मन से भाकर अर्थात् भावना करके जो अपने मन को रुचे-प्रिय लगे वह करे, बहुत प्रलाप रूप कहने से क्या साध्य है'–ऐसा आचार्य ने उपदेश दिया है।

भावार्थ

आचार्य ने ऐसा कहा है कि 'बहुत कहने से क्या ! सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के पूर्वोक्त गुण-दोष जानकर जो मन में रुचे वह करो।' यहाँ उपदेश का आशय ऐसा है कि 'मिथ्यात्व को तो छोड़ो और सम्यक्त्व को ग्रहण करो जिससे संसार का दुःख मेटकर मोक्ष पाओ'।।७६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि मिथ्याभाव नहीं छोड़ा तो बाह्य वेष से कुछ नहीं है' :–

बाहरिसंगविमुक्को ण विमुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमोणं ण विजाणदि अप्पसमभावं।। ७७।।

निर्ग्रंथ बाह्य असंग पर नहिं मुक्त मिथ्याभाव से।
स्थान-मौन से उसके क्या, नहिं जानता समभाव निज।।९७।।

अर्थ

जिसने बाह्य परिग्रह से रहित और मिथ्याभाव से सहित निर्ग्रंथ वेष धारण किया है वह परिग्रह रहित नहीं है उसके 'ठाण' अर्थात् खड़े होकर कायोत्सर्ग करने से क्या साध्य है और मौन धारण करना उससे क्या साध्य है क्योंकि आत्मा का समभाव जो वीतराग परिणाम उसको वह नहीं जानता।

भावार्थ

जो आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानकर सम्यग्द ष्टि तो होता नहीं वह चाहे मिथ्याभाव सहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ भी हुआ हो और कायोत्सर्ग व मौन धारण करना इत्यादि बाह्य क्रियादि भी करता हो तो भी उसकी क्रिया मोक्षमार्ग में सराहने योग्य नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना बाह्य क्रिया का फल संसार ही है।।९७।।

उत्थानिका

आगे **आशंका** उत्पन्न होती है कि 'सम्यक्त्व के बिना बाह्य लिंग को निष्फल कहा पर जो बाह्यलिंग-मूलगुण को बिगाड़ता है उसके सम्यक्त्व रहता है या नहीं ?' उसके **समाधान** को कहते हैं :–

मूलगुणं छित्तूण य बाहरिकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णिच्चं।।९८।।

जो मूलगुण को छेद साधु, बाह्य कर्मों को करे।
जिनलिंग विराधक नित्य वह, पाता नहिं सिद्धि का सुख।।९८।।

अर्थ

कोई निर्ग्रंथ मुनि होकर मूलगुण धारण करता है फिर उनका छेदनकर, उन्हें बिगाड़कर अन्य बाह्य क्रियाकर्म करता है तो वह सिद्धि जो मोक्ष उसके सुख को

नहीं पाता है क्योंकि ऐसा मुनि जिनलिंग का विराधक है।

भावार्थ

जिन आज्ञा ऐसी है कि सम्यक्त्व सहित मूलगुण धारण करके साधु की जो अन्य क्रिया हैं उनको करे सो मूलगुण ये अट्ठाईस कहे हैं—**१-५.**पाँच महाव्रत,**६-१०.** पाँच समिति, **११-१५.**पाँच इन्द्रियों का निरोध,**१६-२१.**छह आवश्यक, **२२.**भूमिशयन, **२३.**स्नान का त्याग, **२४.**वस्त्र का त्याग, **२५.**केशलौंच, **२६.**एक बार भोजन, **२७.** खड़े होकर भोजन और **२8.**दंतधावन का त्याग—ऐसे अट्ठाईस मूलगुण हैं, इनकी विराधना करके यदि कायोत्सर्ग, मौन, तप, ध्यान और अध्ययन किए जाएं तो इन क्रियाओं से मुक्ति नहीं होती क्योंकि यदि कोई ऐसी श्रद्धा करता है कि 'हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगड़ें तो बिगडो, हम तो फिर भी मोक्षमार्गी ही हैं' तो ऐसी श्रद्धा से तो जिन आज्ञा भंग करने से सम्यक्त्व का भी भंग होता है तब मोक्ष कैसे होगा और कर्म के प्रबल उदय से यदि कोई चारित्र से तो भ्रष्ट हो परन्तु जैसी जिन आज्ञा है वैसा श्रद्धान रहे तो उसके सम्यक्त्व रहता है। **मूलगुण के बिना केवल सम्यक्त्व ही से मुक्ति नहीं है और सम्यक्त्व के बिना केवल क्रिया ही से मुक्ति नहीं है-ऐसा जानना।**

यहाँ कोई पूछता है—'मुनि के स्नान का त्याग कहा पर हम ऐसा सुनते हैं कि यदि चांडाल आदि का स्पर्श हो जाये तो वे दंडस्नान करते हैं?'

उसका समाधान—'जैसे ग हस्थ स्नान करता है वैसे स्नान करने का उनके त्याग है क्योंकि उसमें हिंसा की अधिकता है। मुनि के ऐसा स्नान है कि कमंडलु में जो प्रासुक जल रहता है उससे मंत्र पढ़कर मस्तक पर धारा मात्र देते हैं और उस दिन उपवास करते हैं, ऐसा स्नान है सो नाम मात्र स्नान है। यहाँ मंत्र और तप-स्नान प्रधान है, जल-स्नान प्रधान नहीं है—ऐसा जानना'।।9४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि **'आत्मस्वभाव से विपरीत जो बाह्य क्रियाकर्म है वह क्या करता है, मोक्षमार्ग में तो वह कुछ भी कार्य नहीं करता'** :—

किं काहदि बहिकम्मं किं काहदि बहुविहं च खवणं च।
किं काहदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो।। 99।।

क्या करे बाहिरी कर्म व उपवास बहुविध क्या करे।
अरु क्या करे आतापना, विपरीत आत्मस्वभाव जो।।99।।

अर्थ

आत्मस्वभाव से विपरीत-प्रतिकूल **१.**बाह्यकर्म जो क्रियाकांड वह क्या करेगा, मोक्ष का कुछ कार्य तो किचिन्मात्र भी नहीं करेगा, **२.** अनेक प्रकार का जो बहुत क्षपण अर्थात उपवासादि बाह्य तप वह भी क्या करेगा, कुछ भी नहीं करेगा और **३.** आतापनयोग आदि जो कायक्लेश वह क्या करेगा, कुछ भी नहीं करेगा।

भावार्थ

बाह्य क्रियाकर्म शरीराश्रित है और शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है सो जड़ की क्रिया तो चेतन को कुछ फल करती है नहीं, चेतन का जैसा भाव क्रिया में जितना मिलता है उसका फल चेतन को लगता है। चेतन का यदि अशुभ उपयोग मिले तब तो अशुभ कर्म बँधते हैं, शुभ उपयोग मिले तब शुभकर्म बँधते हैं और जब शुभ व अशुभ–दोनों से रहित उपयोग होता है तब उससे कर्म नहीं बँधते है, वे तो जो पहिले कर्म बँधे हुए हो उनकी निर्जरा करके मोक्ष करता है। इस प्रकार चेतन का उपयोग के अनुसार फल है, इसलिये ऐसा कहा है कि **'बाह्य क्रियाकर्म से तो कुछ मोक्ष होता है नहीं, शुद्ध उपयोग होने पर मोक्ष होता है। इसलिये दर्शन-ज्ञान उपयोग का विकार मेटकर शुद्ध ज्ञान चेतना के अनुभव का अभ्यास करना-मोक्ष का यह उपाय है'।।**99।।

उत्थानिका

आगे इसी अर्थ का फिर विशेष कहते हैं :–

जइ पढइ बहुसुयाणं जइ काहदि बहुविहं च चारित्तं ।
तं बालसुयं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं।। १००।।

यदि पढ़े बहुश्रुत और यदि चारित्र बहुविध भी करे।
वह बालश्रुत व बालचारित, आत्म से विपरीत जो।।१००।।

अर्थ

जो आत्मस्वभाव से विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रों को पढ़ेगा और बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करेगा तो वह सब ही बालश्रुत और बालचारित्र होगा।

भावार्थ

आत्मस्वभाव से विपरीत शास्त्र का पढ़ना और चारित्र का आचरण करना–ये सब ही बालश्रुत व बालचारित्र हैं, अज्ञानी की क्रिया हैं क्योंकि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक तो अभव्य जीव भी पढ़ता है और वह बाह्य मूलगुण रूप चारित्र भी पालता है तो भी मोक्ष के योग्य नहीं होता–ऐसा जानना।।१००।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ऐसा साधु मोक्ष पाता है' :–

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरंमुहो य सो होई।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेण अणुरत्तो।। १०१।।
गुणगणविभूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं।। १०२।। जुगमं।।

वैराग्य तत्पर साधु जो, हो पराङ्मुख परद्रव्य से।
निज शुद्ध सुख अनुरक्त हो, संसार सुख से हो विरत।।१०१।।
आदेय-हेय का निश्चयी, गुणगण विभूषित अंग युत।
हो सुरत ध्यानाध्ययन में, स्थान उत्तम पाता वह।।१०२।।

अर्थ

जो साधु ऐसा हो वह उत्तम स्थान जो लोकशिखर के ऊपर सिद्धक्षेत्र तथा

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों से परे शुद्ध सिद्धस्वभाव स्वरूप स्थान, उसे पाता है सो कैसा हुआ पाता है–**१.** प्रथम तो साधु वैराग्य में तत्पर हो, संसार–देह–भोगों से जो पहिले विरक्त होकर मुनि हुआ था उस ही भावनायुक्त हो, **२.** परद्रव्य से पराङ्मुख हो, जैसे वैराग्य हुआ था वैसे ही परद्रव्य का त्याग करके उससे पराङ्मुख रहे, **३.** इन्द्रियों के द्वारा विषयों से कुछ संसार सम्बन्धी सुख सा होता है उससे विरक्त हो, **४.** अपना आत्मीक शुद्ध सुख जो कषायों के क्षोभ से रहित, निराकुल एवं शांतभाव रूप ज्ञानानन्द उसमें अनुरक्त हो–लीन हो, बारम्बार उस ही की भावना रहे, **५.** गुण के गुण से विभूषित है आत्मप्रदेश रूप अंग जिसका अर्थात् मूलगुण व उतरगुणों से जो आत्मा को अलंकृत–शोभायमान किये हुए हो, **६.** हेय–उपादेय तत्व का जिसके निश्चय हो, निज आत्मद्रव्य तो उपादेय है तथा अन्य परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकार भाव वे सब हेय हैं, ऐसा जिसके निश्चय **७.** साधु हो–हो आत्मा के स्वभाव को साधने में भलीभाँति तत्पर हो तथा ८. धर्म–शुक्ल ध्यान और अध्ययन अर्थात् शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान की भावना में सुरत हो अर्थात् भली प्रकार से लीन हो–ऐसा साधु उत्तम स्थान जो मोक्ष उसको पाता है।

भावार्थ

मोक्ष को साधने का यह उपाय है, अन्य कुछ नहीं है।।१०१–१०२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सबसे उत्तम पदार्थ जो शुद्ध आत्मा है वह इस देह ही में स्थित है, उसको जानो' :–

णविएहिं जं णमिज्जइ झायज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किंपि तं मुणह।। १०३।।

प्रणमें प्रणतजन हैं जिसे, ध्यातव्य ध्यावें अनवरत।
थुतियोग्य जिसकी थुति करें, देहस्थ वह कुछ जान तू।।१०३।।

अर्थ

हे भव्य जीवों ! तुम इस देह में ही स्थित ऐसा कुछ जो है उसे जानो। कैसा है वह–**१.** लोक में जो नमने योग्य इन्द्रादि हैं उनके द्वारा तो नमने योग्य है, **२.** जो ध्यान करने योग्य तीर्थंकर आदि परमेष्ठी हैं उनके द्वारा निरन्तर ध्याने योग्य है और **३.** जो स्तुति करने योग्य तीर्थंकरादि हैं उनसे स्तुति करने योग्य है, ऐसा जो कुछ है सो इस देह ही में स्थित है उसको यथार्थ जानो।

भावार्थ

जो शुद्ध परमात्मा है वह यद्यपि कर्म से आच्छादित है तो भी वह भेदज्ञानियों के **१.** इस देह ही में स्थित, **२.** सर्व कर्म कलंक से रहित, **३.** शाश्वत देव, **४.** सत् चैतन्य आनन्दमयी और **५.** अनुभवगोचर तिष्ठता है और उस ही का ध्यान करके तीर्थंकरादि भी मोक्ष पाते हैं इसलिये ऐसा कहा है कि लोक में जो नमने योग्य इन्द्रादि हैं और ध्यान करने योग्य एवं स्तुति करने योग्य तीर्थंकरादि हैं वे भी जिसको नमस्कार करते हैं और जिसका ध्यान एवं स्तुति करते हैं ऐसा जो कुछ वचन के अगोचर और भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर पदार्थ–परमात्म वस्तु है, उसका स्वरूप जानो, उसको नमस्कार करो और उसका ध्यान एवं स्तवन करो, बाहर क्यों ढूंढते हो–ऐसा उपदेश है।।१०३।।

उत्थानिका

आगे आचार्य कहते हैं कि **'जो अरहंतादि पंच परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा ही में हैं इसलिये मुझे आत्मा ही की शरण है'** :–

अरुहा सिद्धायरिया उवज्झाय साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठइ आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०४।।

अर्हंत, सिद्धाचार्य, पाठक, साधु जो परमेष्ठी पण।
वे प्रकट स्थित आतमा में, अतः आत्मा मम शरण।।१०४।।

अर्थ

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु–ये जो पंच परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा

में ही चेष्टा रूप हैं–आत्मा की अवस्था हैं इसलिये मुझे आत्मा ही की शरण है, इस प्रकार आचार्य ने अभेदनय को प्रधान करके कहा है।

भावार्थ

ये पाँच पद आत्मा ही के हैं **१.** जब यह आत्मा घातिकर्म का नाश करता है तब अरहंत पद होता है, **२.** यह ही आत्मा अघाति कर्मों का भी नाशकर जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब सिद्ध पद कहलाता है, **३.** जब दीक्षा–शिक्षा देनेवाला मुनि होता है तब आचार्य कहलाता है, **४.** पठन–पाठन में तत्पर मुनि होता है तब उपाध्याय कहलाता है और **५.** जब रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को ही मात्र साधता है तब साधु कहलाता है–ऐसे ये पाँच पद आत्मा ही में हैं सो **आचार्य विचार करते हैं कि 'इस देह में आत्मा स्थित है सो यद्यपि कर्म से आच्छादित है तो भी पाँचों पदों के योग्य है। इस ही को शुद्धस्वरूप रूप ध्याने पर पाँचों पद का ध्यान होता है इसलिए मुझे इस आत्मा ही की शरण है'-ऐसी भावना की है और पंच परमेष्ठी का ध्यान रूप अंतमंगल बताया है।।१०४।।**

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'अंत समाधिमरण में जो चार आराधना का आराधन कहा है सो वह भी आत्मा ही की चेष्टा है इसलिये आत्मा ही की मुझे शरण है' :–

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०५।।

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सच्चारित्र, सत्तपचरण जो।
चारों ही स्थित आतमा में, अतः आत्मा मम शरण।।१०५।।

अर्थ

सम्यक्त्व और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप–ये जो चार आराधना हैं वे भी आत्मा में ही चेष्टा रूप हैं, ये चारों आत्मा ही की अवस्था हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि मुझे आत्मा ही की शरण है।

भावार्थ

१.आत्मा का निश्चय-व्यवहारात्मक तत्त्वार्थश्रद्धान रूप परिणाम सो तो सम्यक्त्व है, २.उन ही तत्त्वार्थों में श्रद्धानपूर्वक ज्ञान परिणाम सो सम्यग्ज्ञान है, ३.सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थों को जानकर रागद्वेषादि से रहित परिणाम सो सम्यक् चारित्र है तथा ४.अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्ज्ञानपूर्वक कष्ट का आदर करके स्वरूप को साधना सो सम्यक् तप है-इस प्रकार ये चारों ही परिणाम आत्मा के हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि मुझे आत्मा ही की शरण है, इस ही की भावना में चारों आ गये।

अंत सल्लेखना में जो चार आराधना का आराधन कहा है वहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप–इन चारों का उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण–ऐसे पांच प्रकार से आराधन कहा है सो आत्मा की भावना भाने में ये चारों आ गये और इस प्रकार अंत सल्लेखना की भी भावना इस ही में आ गई–ऐसा जानना तथा आत्मा ही परम मंगलस्वरूप है–ऐसा भी बताया है।।१०५।।

उत्थानिका

आगे यह 'मोक्षपाहुड' ग्रंथ पूर्ण किया सो इसको पढ़ने, सुनने तथा भाने का फल कहते हैं :–

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सुक्खं ।। १०६।।

जिनवरप्रणीत जो मोक्षपाहुड़ उसको भक्ति युक्त हो।
अध्ययन, श्रवण करे व भावे, पाता शाश्वत सौख्य वो।।१०६।।

अर्थ

'एवं' अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जो जिनदेव ने कहा ऐसा 'मोक्षपाहुड' ग्रंथ है उसको जो जीव भक्ति भाव से पढ़ते हैं, सुनते हैं और उसकी बारम्बार चिंतवन रूप भावना करते हैं वे जीव शाश्वत सुख जो नित्य, अतीन्द्रिय और ज्ञानानंदमय सुख उसको पाते हैं।

भावार्थ

इस 'मोक्षपाहुड' में मोक्ष का और मोक्ष के कारण का स्वरूप कहा है और जो मोक्ष का और मोक्ष के कारण का स्वरूप अन्य प्रकार से मानते हैं उनका निषेध किया है। इस ग्रंथ के पढ़ने और सुनने से उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण होता है और इसकी बारम्बार भावना करने से उसमें द ढ़ता होकर एकाग्र ध्यान की सामर्थ्य होती है तथा उस ध्यान से कर्म का नाश होकर शाश्वत सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इस ग्रंथ को पढ़ना, सुनना और इसकी निरंतर भावना रखना–यह आशय है।।१०६।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने यह मोक्षपाहुड़ ग्रंथ सम्पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसा है–यह जीव शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है तो भी अनादि ही से पुद्गल कर्म के संयोग से अज्ञान, मिथ्यात्व और रागद्वेषादि विभाव रूप परिणमता है और उससे नवीन कर्म बंध की संतान के द्वारा संसार में भ्रमण करता है। जीव की प्रव त्ति के सिद्धान्त में भावों के सामान्य रूप से निम्न चौदह गुणस्थान निरूपण किये हैं :–

(१) **मिथ्यात्व**–मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

(२) **सासादन**–मिथ्यात्व की सहकारिणी अनतानुबंधी कषाय है, मात्र उसके उदय से सासादन गुणस्थान होता है।

(३) **मिश्र**–सम्यक्त्व व मिथ्यात्व–इन दोनों के मिलाप रूप मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्र गुणस्थान होता है।

इन तीन गुणस्थानों में तो आत्मभावना का अभाव ही है।

(४) **अविरत**–जब काललब्धि के निमित्त से जीवाजीव पदार्थों का ज्ञान–श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है तब इस जीव को स्व–पर का, हित-अहित का तथा हेय–उपादेय का जानपना होता है और तब आत्मा की भावना होती है और तब ही अविरत नामक चौथा गुणस्थान होता है।

(५) **एकदेश चारित्र**–जब परद्रव्य से एकदेश निव त्ति का परिणाम होता है तब एकदेश चारित्ररूप जो पांचवां गुणस्थान होता है उसको श्रावकपद कहते हैं।

(६) **सकल चारित्र**–जब परद्रव्य से सर्वदेश निव त्ति रूप परिणाम होता है तब सकल चारित्र रूप छठा गुणस्थान कहलाता है, इसमें संज्वलन चारित्रमोह के कुछ तीव्र उदय से स्वरूप के साधने में प्रमाद होता है इसलिये इसका नाम प्रमत्त है।

यहाँ से लगाकर ऊपर के गुणस्थान वालों को साधु कहते हैं।

(७) **अप्रमत्त**—जब संज्वलन चारित्रमोह का मंद उदय होता है तब प्रमाद का अभाव होता है और तब स्वरूप के साधने में बड़ा उद्यम होता है, इसका नाम अप्रमत्त ऐसा सातवां गुणस्थान है, इसमें धर्मध्यान की पूर्णता है।

(८-१०) **अपूर्वकरण, अनिव त्तिकरण व सूक्ष्मसांपराय**—जब सातवें गुणस्थान में स्वरूप में लीन होता है तब सातिशय अप्रमत्त होकर श्रेणी का प्रारंभ करता है तब उससे ऊपर चारित्रमोह का अव्यक्त उदय रूप अपूर्वकरण, अनिव त्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय नाम धारक तीन गुणस्थान होते हैं। चौथे से लगाकर दसवें सूक्ष्मसांपराय तक कर्मों की निर्जरा विशेषता से गुणश्रेणी रूप होती है।

(११-१२) **उपशांतकषाय व क्षीणकषाय**—दसवें से ऊपर मोह कर्म के अभाव रूप ग्यारहवां और बारहवां उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान होते हैं।

(१३) **सयोगीजिन**—इसके पीछे जो तीन घातिया कर्म शेष रहे थे उनका नाश करके अनंत चतुष्टय प्रकट होकर जब अरहंत होता है तब सयोगीजिन नामक गुणस्थान है, यहाँ योग की प्रव त्ति है।

(१४) **अयोगीजिन**—योगों का निरोध करके जब अयोगीजिन नाम का चौदहवां गुणस्थान होता है तब अघातिया कर्मों का भी नाश करके निर्वाण पद को प्राप्त होता है और वहाँ संसार के अभाव से मोक्ष नाम पाता है।

इस प्रकार सब कर्मों का अभाव रूप जो मोक्ष है उसका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को कहा। इनकी प्रव त्ति चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व के प्रकट होने पर एकदेश कहलाती है। वहाँ से लगाकर आगे जैसे-जैसे कर्म का अभाव होता है वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन आदि की प्रव त्ति बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे इनकी प्रव त्ति बढ़ती है वैसे-वैसे कर्म का अभाव होता जाता है। जब घातिकर्म का अभाव होता है तब तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में अरहंत होते हैं तब वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं और चौदहवें गुणस्थान के अंत में रत्नत्रय की पूर्णता होती है उससे अघातिकर्म का अभाव होता है तब साक्षात् मोक्ष होता है और तब सिद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार मोक्ष का और मोक्ष के कारण का स्वरूप जिन आगम से जानकर और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो मोक्ष का कारण कहा है उसको निश्चय-व्यवहार रूप यथार्थ जानकर सेवन करना और तप भी मोक्ष का कारण

है उसे भी चारित्र में अंतर्भूत करके त्रयात्मक ही कहा है-इस प्रकार इन कारणों से प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होता है और जब तक कारण की पूर्णता नहीं होती उससे पहले यदि कदाचित् आयु कर्म की पूर्णता हो जाये तो स्वर्ग में देव होता है, वहाँ भी यह वांछा रहती है कि 'यह शुभोपयोग का अपराध है, यहाँ से चयकर मनुष्य होऊँगा तब सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्षमार्ग का सेवन करके मोक्ष को प्राप्त होऊँगा' ऐसी भावना रहती है तब वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्ष पाता है।

अभी इस काल में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की सामग्री का निमित्त नहीं है इसलिये तद्भव मोक्ष नहीं है तो भी यदि रत्नत्रय का शुद्धता से सेवन किया जाए तो यहाँ से देव पर्याय पाकर पीछे मनुष्य हो मोक्ष पाता है इसलिए **यह उपदेश है कि जैसे बने वैसे रत्नत्रय की प्राप्ति का उपाय करना और उसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, उसका उपाय तो अवश्य चाहिये इसलिये जिनागम को समझकर सम्यक्त्व का उपाय अवश्य करना योग्य है-ऐसा इस ग्रंथ का संक्षेप जानो।।१०६।।**

छप्पय

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण, शिव कारण जानूं।
ते निश्चय व्यवहार रूप, नीकै लखि मानूं।
सेवो निशदिन भक्ति भाव, धरि निज बल सारू।
जिन आज्ञा सिर धारि, अन्य मत तजि अधकारू।
इस मानुष भव कूं पायकै, अन्य चाव चित्त मति धरो।
भवि जीवनि कूं उपदेश यह, गहि करि शिव पद संचरो।।१।।

अर्थ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का कारण जानो तथा उसे भली प्रकार से निश्चय–व्यवहार रूप से देखकर मानो और पाप को करने वाले अन्य मतों को छोड़कर एवं जिन आज्ञा को शिरोधार्य करके भक्ति भाव को धारण कर निज बल के अनुसार उसका निशदिन सेवन करो। इस मनुष्य भव को पा करके अन्य कोई रुचि मन में मत धारण करो ऐसा भव्य जीवों को उपदेश है जिसे ग्रहण कर उन्हें मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिए।

दोहा

वंदौ मंगल रूप जे, अरु मंगल करतार।
पंच परम गुरु पदकमल, ग्रंथ अंत हितकार।।२।।

अर्थ

अब ग्रंथ के अंत में मंगल रूप और मंगल के कर्ता पंच परम गुरु के हितकारी चरण कमलों की मैं वंदना करता हूँ।।२।।

यहाँ कोई पूछता है–ग्रन्थों में जहाँ–तहाँ पंच णमोकार मंत्र की महिमा बहुत लिखी और मंगल कार्य में विघ्न को मिटाने को इसे ही प्रधान कहा, इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार है सो पंच परमेष्ठी की प्रधानता हुई और उन्हें परम गुरु कहा सो इस मंत्र की महिमा तथा मंगलरूपपना और इससे विघ्न का निवारण और पंच परमेष्ठी का प्रधानपना, गुरुपना तथा नमस्कार योग्यपना कैसे है सो कहो ?

उसका समाधान रूप कुछ संक्षेप लिखते हैं–प्रथम तो जो पंच णमोकार मंत्र है उसके पैंतीस अक्षर हैं सो ये मंत्र के बीजाक्षर हैं तथा इनका जोड़ सब मंत्रों से प्रधान है। इन अक्षरों का गुरु आम्नाय से यदि शुद्ध उच्चारण हो तथा यथार्थ साधन हो तब ये अक्षर कार्य में विघ्न को दूर करने में कारण हैं इसलिये मंगल रूप हैं। जो 'मं' अर्थात् पाप उसको गाले उसे मंगल कहते हैं तथा 'मंग' अर्थात् सुख उसको लावे, दे उसको मंगल कहते हैं सो इससे दोनों कार्य होते हैं– १. उच्चारण से विघ्न टलते हैं और **२.** अर्थ का विचार करने पर सुख होता है इसी कारण इसको मंत्रों में प्रधान कहा है–इस प्रकार तो मंत्र के आश्रय महिमा है।

इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार है, वे पंच परमेष्ठी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं सो इनका स्वरूप तो ग्रन्थों में प्रसिद्ध है तथापि कुछ लिखते हैं–यह अनादिनिधन, अकृत्रिम और सर्वज्ञ के आगम में कहा–ऐसा षट्द्रव्य स्वरूप लोक है। इसमें जीवद्रव्य अनंतानंत हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे अनंतानंत गुणे हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व आकाश द्रव्य एक–एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात द्रव्य हैं। उनमें जीव तो दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है और जो पाँच अजीव हैं वे चेतना रहित जड़ हैं। उनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल–ये चार द्रव्य तो जैसे हैं वैसे रहते हैं उनके विकार परिणति नहीं है परन्तु जीव व पुद्गल द्रव्य के परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव से विभाव परिणति है। उसमें भी पुद्गल तो जड़ है, उसके विभाव परिणति का दुःख–सुख का संवेदन नहीं है पर जीव चेतन है, उसके

सुख–दुःख का संवेदन है। जीव अनन्तानंत हैं उनमें कई तो संसारी हैं और कई संसार से निव त्त होकर सिद्ध हुए हैं। जो संसारी जीव हैं उनमें कई तो अभव्य हैं तथा कई अभव्य के समान भव्य हैं, वे दोनों ही जाति के जीव संसार से कभी निव त्त नहीं होते हैं, उनके संसार अनादिनिधन है। तथा कई भव्य हैं, वे संसार से निव त्त होकर सिद्ध होते हैं–इस प्रकार जीवों की व्यवस्था है।

अब इनके संसार की उत्पत्ति तथा प्रव त्ति कैसे है सो लिखते हैं–जीवों के ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की अनादि बंध रूप पर्याय है, उस बंध के उदय के निमित्त से जीव रागद्वेषमोहादि विभाव परिणति रूप परिणमता है और उस विभाव परिणति के निमित्त से नवीन कर्म का बंध होता है–इस प्रकार इसके संतान से जीव के चतुर्गति रूप संसार की प्रव त्ति होती है और उस संसार में चारों गतियों में वह अनेक प्रकार सुख–दुःख रूप हुआ भ्रमण करता है। **वहाँ कोई काल ऐसा आवे जब मुक्त होना निकट आवे तब सर्वज्ञ के उपदेश का निमित्त पाकर अपने स्वरूप को और कर्म बंध के स्वरूप को और अपने विभाव के स्वरूप को जाने-इनका भेदज्ञान हो तब परद्रव्यों को संसार का निमित्त जानकर उनसे विरक्त होकर, अपने स्वरूप के अनुभव का साधन करे, दर्शन-ज्ञान रूप स्वभाव में स्थिर होने का साधन करे और तब इसके बाह्य साधन हिंसादि पाँच पापों का त्याग रूप निर्ग्रंथ पद-सब परिग्रह का त्याग रूप दिगम्बर मुद्रा धारण करे, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप प्रवर्ते तब सब जोवों की दया करने वाले साधु कहलावे।**

साधु में तीन पदवी होती हैं–**१.** जो आप साधु होकर अन्य को साधु पद की शिक्षा–दीक्षा देते हैं वे तो आचार्य कहलाते हैं, **२.** साधु होकर जिनसूत्र को पढ़ते व पढ़ाते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं और **३.** जो अपने स्वरूप के साधन ही में रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। **४.** जो साधु होकर अपने स्वरूप के साधन से ध्यान के बल से चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को प्राप्त होते हैं वे अरहंत कहलाते हैं तब वे तीर्थंकर तथा सामान्य केवली जिन, इन्द्रादि से पूज्य होते हैं, उनकी वाणी खिरती है जिससे सब जीवों का उपकार होता है, अहिंसा धर्म का उपदेश होता है, सब जीवों की रक्षा कराते हैं और यथार्थ पदार्थों का स्वरूप बताकर मोक्षमार्ग दिखाते हैं–ऐसी अरहंत पदवी

होती है और **५.** जो चार अघातिया कर्मों का भी नाश कर सब कर्मों से रहित हो मुक्त होते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार ये जो पाँच पद हैं, वे अन्य सब जीवों से महान हैं इसलिये पंच परमेष्ठी कहलाते हैं, उनके नाम तथा स्वरूप के दर्शन, स्मरण, ध्यान, पूजन और नमस्कार से अन्य जीवों के शुभ परिणाम होते हैं जिनसे पाप का नाश होता है, वर्तमान के विघ्नों का विलय होता है तथा आगामी पुण्य का बंध होता है इसलिए स्वर्गादि शुभ गति पाते हैं और इनकी आज्ञानुसार प्रवर्तने से परम्परा से संसार से निव त्ति भी होती है इसलिये ये पांचों परमेष्ठी सब जीवों के उपकारी परम गुरु हैं, सब संसारी जीवों के द्वारा पूज्य हैं। इनके सिवाय जो अन्य संसारी जीव हैं वे राग–द्वेष–मोहादि विकारों से मलिन हैं वे पूज्य नहीं हैं, उनके महानपना, गुरुपना और पूज्यपना नहीं हैं, वे आप ही कर्मों के वश मलिन हैं तब अन्य का पाप उनसे कैसे कटे !

इस प्रकार जिनमत में इन पंच परमेष्ठी का महानपना प्रसिद्ध है और न्याय के बल से भी ऐसा ही सिद्ध होता है क्योंकि जो संसार के भ्रमण से रहित होते हैं वे ही अन्य के संसार का भ्रमण मिटाने में कारण होते हैं। जैसे जिसके पास धनादि वस्तु हो वह ही अन्य को धनादि देता है और आप ही दरिद्र हो तब अन्य का दारिद्र्य कैसे मेटेगा वैसे जानना। **इस प्रकार जिनको संसार के विघ्न-दुःख मेटने हों और संसार भ्रमण के दुःख रूप जन्म-मरण से रहित होना हो वे अरिहंतादि पंच परमेष्ठी का नाम मंत्र जपो, इनके स्वरूप का दर्शन, स्मरण और ध्यान करो, इससे शुभ परिणाम होकर पाप का नाश होता है, सब विघ्न टलते हैं, परम्परा से संसार का भ्रमण मिटता है और कर्मों का नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है-ऐसा जिनमत का उपदेश है सो भव्य जीवों को अंगीकार करने योग्य है।**

यहाँ कोई कहता है—'अन्यमत में ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि को इष्ट देव माना है, उनके भी विघ्न टलते देखे जाते हैं तथा उनके मत में राजादि बड़े–बड़े पुरुष भी देखे जाते हैं सो जैसे उनके वे इष्ट विघ्नादि को मिटाने वाले हैं वैसे ही तुम्हारे भी कहो, ऐसा क्यों कहते हो कि ये पंच परमेष्ठी ही प्रधान हैं, अन्य नहीं?'

उसको कहते हैं—'हे भाई ! जीवों के दुःख तो संसार भ्रमण का है और संसार

भ्रमण के कारण राग–द्वेष–मोहादि परिणाम हैं तथा वे रागादि वर्तमान में आकुलतामयी दुःखस्वरूप हैं, सो जो ये ब्रह्मादि इष्ट देव कहे वे तो रागादि तथा काम–क्रोधादि से युक्त हैं, अज्ञान तप के फल से कई जीव लोक में चमत्कार सहित राजादि की बड़ी पदवी पाते हैं सो उनको लोग बड़ा मानकर लोक के ब्रह्मादि भगवान कहने लग जाते हैं और कहते हैं कि यह परमेश्वर ब्रह्मा का अवतार है सो इस प्रकार का माने जाने से तो जीव कुछ मोक्षमार्गी तथा मोक्ष रूप होता नहीं है, संसारी ही रहता है। सो ऐसे ही पदवी वाले सब देव जानने, वे आप ही रागादि से दुःख रूप हैं और जन्म–मरण सहित हैं सो दूसरे का संसार का दुःख कैसे मेटेंगे !

उनके मत में जो विघ्न का टलना और राजादि बड़े पुरुषों का होना कहा सो ये तो उन जीवों के पूर्व में जो कुछ शुभ कर्म बंधे थे उनका फल है। पूर्व जन्म में किंचित् शुभ परिणाम किया था उससे पुण्य कर्म बंधा था, उसके उदय से कुछ विघ्न टलते हैं। और जो राजादि की पदवी पाता है वह पूर्व में कुछ अज्ञान तप किया हो उसका फल है **सो यह तो पुण्य-पाप रूप संसार की चेष्टा है, इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, बड़ाई तो वह है जिससे संसार का भ्रमण रूप दुःख मिटे सो वह तो वीतराग-विज्ञान भावों से ही मिटेगा और उन वीतराग-विज्ञान भावों से युक्त पंच परमेष्ठी हैं वे ही संसार भ्रमण का दुःख मिटाने में कारण हैं।**

वर्तमान में कुछ पूर्व के शुभ कर्म के उदय से पुण्य का चमत्कार देखकर भ्रम उत्पन्न नहीं करना। पुण्य-पाप दोनों संसार हैं, उनसे रहित मोक्ष है अतः जिससे संसार से छूटकर मोक्ष हो वैसा ही उपाय करना और वर्तमान का भी विघ्न जैसा पंच परमेष्ठी के नाम, मंत्र, ध्यान, दर्शन और स्मरण से मिटेगा वैसा अन्य के नामादि से तो नहीं मिटेगा क्योंकि ये पंच परमेष्ठी शांति रूप हैं, केवल शुभ परिणामों के ही कारण हैं तथा अन्य जो इष्ट के रूप हैं वे तो रौद्र रूप हैं उनका तो जो दर्शन–स्मरण है वह रागादि तथा भयादि का कारण है, उनसे तो शुभ परिणाम होते दीखते नहीं। किसी के कदाचित् कुछ धर्मानुराग के वश से यदि शुभ परिणाम हों तो वे उनसे तो हुए नहीं कहलाते, वे तो उस प्राणी के स्वाभाविक धर्मानुराग के वश से होते हैं सो अतिशयवान शुभ परिणाम का कारण तो शांत रूप पंच परमेष्ठी ही का रूप है अतः उस ही का आराधन करना, व था खोटी युक्ति सुनकर भ्रम उत्पन्न नहीं करना–ऐसा जानना।

विषय वस्तु

एक सौ छह गाथाओं में विस्तार को प्राप्त इस पाहुड़ में आचार्य देव ने मोक्ष और मोक्ष के कारण का स्वरूप कहा है। बहिरात्मा को मन-वचन-काय से छोड़कर, अन्तरात्मा का आश्रय लेकर, परमात्मा को ध्याना चाहिए-ऐसा जिनवरेन्द्रों का उपदेश है। दुष्ट आठ कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध आत्मस्वभाव तो स्वद्रव्य होता है और आत्मस्वभाव से भिन्न सचित्त, अचित्त व मिश्र अन्य सर्व द्रव्य परद्रव्य होते हैं। परद्रव्य में रत तो मिथ्यादृष्टि हुआ कर्मों से बंधता है और परद्रव्य से विरत सम्यग्दृष्टि हुआ कर्मों से छूट जाता है-यह बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप है। आगे स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है-ऐसा निर्देशन करके स्वद्रव्य में रति करने का और परद्रव्य से विरत होने का आचार्य देव ने उपदेश दिया है।

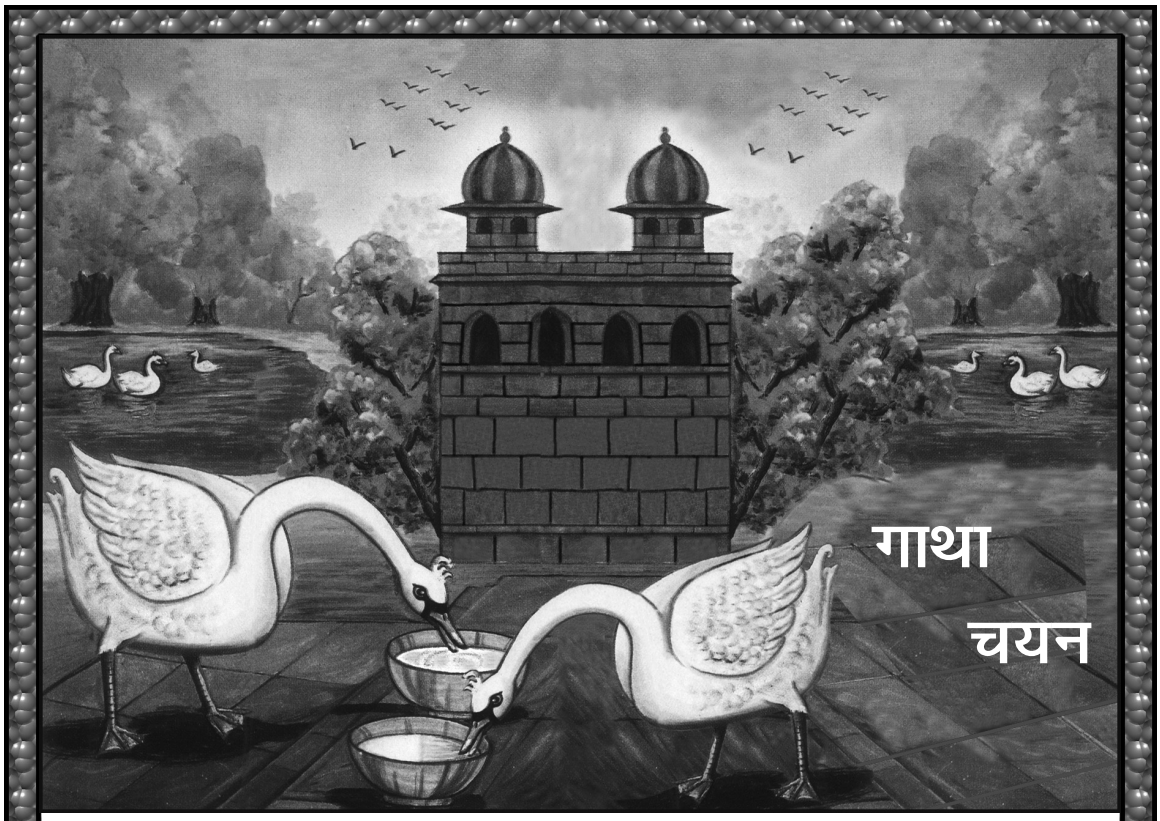
स्वर्ग तो तप से सब ही पाते हैं परन्तु जो ध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं वे उस ध्यान के योग से मोक्ष भी पाते हैं। व्रत और तप से जीव के जो स्वर्ग होता है वह तो श्रेष्ठ है परन्तु अव्रत और अतप से जो नरक गति में दुःख होता है वह नहीं होना चाहिए, श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् अव्रत व अतप की अपेक्षा व्रत और तप आदि शुभ में जीव के द्वारा प्रवर्तन अच्छा है।

आगे आत्मध्यान की विधि बताते हुए कहा है कि योगी-ध्यानी मुनि को सारी कषायों को छोड़कर; गारव, मद, राग-द्वेष तथा मोह को छोड़कर; मिथ्यात्व, अज्ञान तथा पाप-पुण्य को मन-वचन-काय से छोड़कर; लोकव्यवहार से विरत होकर और मौनव्रत से ध्यान में तिष्ठकर आत्मा को ध्याना चाहिए। तपरहित तो ज्ञान और ज्ञानरहित तप दोनों ही अकार्यकारी होते हैं, इन दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण होता है। देखो ! चार ज्ञान के धारी और नियम से जिनके

मोक्ष होगा ऐसे तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं–ऐसा निश्चय से जानकर ज्ञान से युक्त होने पर भी तप अवश्य करना चाहिए। जो सुख में भाया हुआ ज्ञान है वह दुःख आने पर नष्ट हो जाता है इसलिए योगी को तपश्चरणादिक के कष्ट सहित आत्मा की भावना करनी चाहिए। आहार, आसन व निद्रा को जीतकर व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर, जिनवर के मत के द्वारा आत्मा को ध्याना चाहिए।

सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित और संसार सुख में सुरत जो कोई जीव इस काल में ध्यान का निषेध करते हैं वे मूर्ख हैं। भरत क्षेत्र में इस पंचम काल में भी धर्मध्यान के द्वारा आत्मा को ध्याकर इंद्रपना व लौकांतिक देवपना पाकर वहाँ से च्युत होकर जीव निर्वाण को पाता है–ऐसा जिनसूत्र में कहा है। निर्ग्रन्थ, मोह से रहित, बाईस परिषह सहने वाले, जितकषाय और आरम्भादि पापों से विमुक्त मुनि मोक्षमार्ग में ग्रहण किए गए हैं और निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्मा ही में, आत्मा ही के लिए भली प्रकार लीन होता है वह योगी–ध्यानी मुनि निर्वाण को पाता है।

मुनियों के लिए इस प्रकार की प्रवृत्ति का उपदेश करके फिर श्रावकों के लिए आचार्य देव ने कहा है कि उन्हें प्रथम ही निर्मल और निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसे दुःखों के क्षय के लिए ध्यान में ध्याना चाहिए। बहुत कहने से क्या ! जो नरप्रधान अतीत काल में सिद्ध हुए और आगामी काल में सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो। सबसे उत्तम पदार्थ शुद्ध आत्मा ही है, वह इस देह ही में तिष्ठता है, अरहंतादि पाँचों परमेष्ठी भी आत्मा ही में हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप–ये चार आराधना भी आत्मा ही की अवस्था है अतः जीव को आत्मा ही की शरण है। ऐसे आत्मा की सिद्धि करके शाश्वत सुख पाने के लिए इस मोक्षपाहुड़ ग्रंथ को भक्ति भाव से पढ़ने, सुनने व इसकी भावना भाने की प्रेरणा करते हुए आचार्य देव ने पाहुड़ को समाप्त किया है।



गाथा १३–'परदव्वरओ बज्झइ....' **अर्थ**–परद्रव्य में रत जीव अनेक प्रकार के कर्मों से बंधता है और परद्रव्य से विरत छूट जाता है-यह बंध और मोक्ष का संक्षेप में जिनदेव का उपदेश है।।१।।

गा० १६–'परदव्वादो दुग्गई....' **अर्थ**–परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से निश्चित ही सुगति होती है-ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति और परद्रव्य से विरति करो।।२।।

गा० २३–'सग्गं तवेण सव्वो....' **अर्थ**–तप से स्वर्ग तो सब ही पाते हैं किन्तु जो ध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं वे परलोक में शाश्वत सुख को पाते हैं।।३।।

गा० २५–'वर वयतवेहिं....' **अर्थ**–व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना श्रेष्ठ है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आतप में स्थित होकर प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है।।४।।

गा० २६–'जो इच्छइ णिस्सरिदुं....' **अर्थ**–जो जीव रुंद्र अर्थात् बड़ा विस्तार

रूप संसार रूप महासमुद्र से निकलने की इच्छा करता है, वह कर्म रूप ईंधन के दहन करने वाले शुद्ध आत्मा को ध्याता है।।५।।

गा० ३9–'दंसणसुद्धो सुद्धो....' **अर्थ**–सम्यग्दर्शन से शुद्ध ही शुद्ध है। दर्शनशुद्ध ही निर्वाण को पाता है। दर्शनविहीन पुरुष वांछित लाभ को नहीं पाता।।६।।

गा० ४9–'होऊण दिढचरित्तो....' **अर्थ**–योगी द ढ़ चारित्रवान होकर और द ढ़ सम्यक्त्व से भावितमति होकर आत्मा को ध्याता हुआ परमपद को पाता है।।७।।

गा० ६०–'धुवसिद्धी तित्थयरो....' **अर्थ**–जिनका नियम से मोक्ष होना है और चार ज्ञानों से जो युक्त हैं ऐसे तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं-ऐसा जानकर ज्ञानयुक्त पुरुष को भी निश्चित ही तप करना चाहिए।।8।।

गा० ६२–'सुहेण भाविदं णाणं....' **अर्थ**–सुख से भाया हुआ ज्ञान दुःख आने पर विनष्ट हो जाता है इसलिए योगी को यथाशक्ति तप एवं क्लेश आदि दुःखों से आत्मा को भाना चाहिए।।9।।

गा० ६३–'आहारासणणिद्दाजयं....' **अर्थ**–आहार, आसन व निद्रा को जीतकर जिनेन्द्र देव के मतानुसार गुरु के प्रसाद से निज आत्मा को जानकर उसका ध्यान करना चाहिए।।१०।।

गा० ६५–'दुक्खे णज्जइ अप्पा....' **अर्थ**–प्रथम तो आत्मा दुःख से-कठिनाई से जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना दुःख से होती है, फिर भाया है निजभाव जिसने ऐसा पुरुष विषयों से विरक्त बड़े दुःख से होता है।।११।।

गा० ६६–'ताम ण णज्जइ....' **अर्थ**–जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्मा को नहीं जानता। विषयों से विरक्तचित्त योगी ही आत्मा को जानता है।।१२।।

गा० ४१–'उद्धद्धमज्झलोए....' **अर्थ**–'उर्ध्व, मध्य और अधोलोक में मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी हूँ'-ऐसी भावना से योगी निश्चय से शाश्वत सुख को पाते हैं।।१३।।

गा० ४६–'गहिऊण य.....' **अर्थ**–हे श्रावक! सुनिर्मल और मेरुवत् निष्कंप सम्यक्त्व को ग्रहण करके दुःखों का क्षय करने के लिए उसको ध्यान में ध्याना।।१४।।

गा० 89—'ते धण्णा....' **अर्थ**—जिन्होंने मुक्ति के करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया वे ही पुरुष धन्य हैं, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले क तार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पंडित हैं।।१५।।

गा० 9५—'मिच्छादिट्ठी जो सो....' **अर्थ**—जो मिथ्याद ष्टि जीव है वह जन्म-जरा-मरण से प्रचुर और हजारों दुःखों से व्याप्त इस संसार में सुख से रहित दुःखी हुआ भ्रमण करता है।।१६।।

गा० 99, १००—'किं काहदि....', 'जइ पढइ बहुसुयाणं....' **अर्थ**—आत्मस्वभाव से विपरीत बाह्य क्रियाकर्म, तप और कायक्लेश आदि मोक्षमार्ग में कुछ भी कार्य नहीं करता। बाह्य बहुत शास्त्रों का पढ़ना और बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करना सब ही आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण बालश्रुत और बालचारित्र होता है।।१७।।

गा० १०१, १०२—'वेरग्गपरो....' **अर्थ**—वैराग्य में तत्पर, परद्रव्य से पराङ्मुख, संसार सुख से विरक्त, स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त, गुणों के समूह से विभूषित, हेय-उपादेय पदार्थों का निश्चयवान और ध्यान-अध्ययन में सुरत ऐसा साधु उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है।।१8।।

गा० १०३—'णविएहिं जं....' **अर्थ**—लोक के द्वारा नमस्क त इन्द्रादि से तो नमने योग्य, ध्यान किये गये तीर्थंकरादि के द्वारा ध्याने योग्य तथा स्तुति किये गये तीर्थंकरादि से स्तुति करने योग्य ऐसा कुछ जो इस देह ही में स्थित है उसको तुम जानो।।१9।।





१. **तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पं।। गाथा ४।।**
अर्थ–बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

२. **आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।। १२।।**
अर्थ–आत्मस्वभाव में सुरत योगी निर्वाण को पाता है।

३. **परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुंचेइ विविहकम्मेहिं।। १३।।**
अर्थ–परद्रव्यों में रत जीव विविध प्रकार के कर्मों से बँधता है और विरत छूट जाता है।

४. **सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।। १४।।**
अर्थ–स्वद्रव्य में रत श्रमण नियम से सम्यग्द ष्टि होता है।

५. **जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।। १५।।**
अर्थ–जो साधु परद्रव्य में रत है वह मिथ्याद ष्टि होता है।

६. **परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवई।। १६।।**
अर्थ–परद्रव्य में रति से दुर्गति और स्वद्रव्य में रति से निश्चित ही सुगति होती है।

७. **सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि।। १६।।**
अर्थ–स्वद्रव्य में रति करो और इतर जो परद्रव्य उससे विरति करो।

८. **सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।। १८।।**
अर्थ–शुद्ध आत्मा स्वद्रव्य होता है-ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

९. **वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरए इयरेहिं।। २५।।**

अर्थ–व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है।

१०. लोयववहारविरओ अप्पा झाएह झाणत्थो।। २७।।

अर्थ–योगी मुनि धर्मोपदेश आदि लोकव्यवहार से विरत हो, ध्यान में स्थित होकर आत्मा को ध्याता है।

११. रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।। ३३।।

अर्थ–हे मुनिजनों! तुम रत्नत्रय से संयुक्त होकर सदा ध्यान और अध्ययन करो।

१२. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।। ३9।।

अर्थ–दर्शन से शुद्ध पुरुष ही वास्तव में शुद्ध है क्योंकि जो दर्शन से शुद्ध है वही निर्वाण को पाता है।

१३. दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तह इच्छियं लाहं।। ३9।।

अर्थ–दर्शन से विहीन पुरुष अपने इच्छित लाभ अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता।

१४. झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई।। ४9।।

अर्थ–आत्मा का ध्यान करता हुआ योगी परमपद को पाता है।

१५. अच्चेयणम्मि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।। ५४।।

अर्थ–जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है।

१६. सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा।। ५४।।

अर्थ–जो चेतन में ही चेतन को मानता है वह ज्ञानी कहा जाता है।

१७. णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।। ५9।।

अर्थ–ज्ञान और तप से संयुक्त आत्मा ही निर्वाण को पाता है।

१8. **धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।। ६०।। अर्थ**–जिनकी मोक्ष प्राप्ति निश्चित है ऐसे चार ज्ञान के धारी तीर्थंकर भी तप करते हैं।

१9. **जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए।। ६२।। अर्थ**–योगी को यथाशक्ति तप, क्लेश आदि दुःखों के द्वारा आत्मा को भाना चाहिए।

२०. **झायव्वो णिय अप्पा णाऊणं गुरुपसाएण।। ६३।। अर्थ**–गुरु के प्रसाद से निज आत्मा को जानकर उसका ध्यान करना चाहिए।

२१. **ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।। ६६।। अर्थ**–जब तक मनुष्य विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्मा को नहीं जानता है।

२२. **विसएविरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।। ६६।।**
अर्थ–विषयों से विरक्तचित्त योगी ही आत्मा को जानता है।

२३. **हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।। ६७।।**
अर्थ–विषयों में विमोहित मूढ़ प्राणी चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं।

२४. **सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। ६9।।**
अर्थ–आत्मस्वभाव से विपरीत जीव मूढ़ है, अज्ञानी है।

२५. **होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। ७०।। अर्थ**–जिनका चित्त विषयों से विरक्त है उनका निश्चित ही निर्वाण होता है।

२६. **संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स।। ७४।।**
अर्थ–संसार सुख में सुरत जीव कहता है कि यह काल ध्यान का नहीं है।

२७. **उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।। 8१।।**
अर्थ–उर्ध्व, मध्य एवं अधोलोक में कोई मेरा नहीं है, मैं एकाकी हूँ।



२८. **झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।। ४२।।**
अर्थ–जो ध्यान में रत हैं और जिनके भला चारित्र है वे मोक्षमार्ग में ग्रहण किए गए हैं।

२९. **सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।। ४७।।**
अर्थ–जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्द ष्टि हो जाता है।

३०. **लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं।। ७१।।**
अर्थ–पर की अपेक्षा से रहित ऐसे नग्न यथाजात लिंग का जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्द ष्टि होता है।

३१. **सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदसियं कुणदि।। ७४।।**
अर्थ–जो जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्म को करता है वह सम्यग्द ष्टि श्रावक है।

३२. **मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।। ७५।।**
अर्थ–जो मिथ्याद ष्टि जीव है वह सुख से रहित होता हुआ संसार में संसरण करता है।

३३. **किं तस्स ठाणमोणं ण विजाणदि अप्पसमभावं।। ७७।।**
अर्थ–जो आत्मा के समभाव अर्थात् वीतराग परिणाम को नहीं जानता है उसके खड़े होकर कायोत्सर्ग करने और धारण करने से क्या साध्य है अर्थात् कुछ भी नहीं।

३४. **झाणज्झयणे सुरदो**
सो पावइ उत्तमं
ठाणं।। १०२।।
अर्थ–ध्यान और अध्ययन में जो सुरत है वह उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है।

३५. **आदा हु मे सरणं।। १०४, १०५।।**
अर्थ–मेरे आत्मा ही का शरण है।


गाथा १-३०
जिसने परद्रव्यों का त्याग करके तथा कर्मों का नाश करके ज्ञानमयी आत्मा को पा लिया उस देव के लिए मेरा नमस्कार हो॥ मो०पा०गा०॥
अनन्त व श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन से युक्त, कर्म मल से रहित और उत्कृष्ट पद के धारी देव को मैं नमस्कार करके परम योगियों के लिए उस परमात्मा का कथन करूंगा जिसे जानकर योगी ध्यान में स्थित हो निरंतर उसका अनुभव करते हुए बाधा रहित, अविनाशी व अनुपम निर्वाण को प्राप्त करते हैं॥
गाथा २,३॥ वह आत्मा परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए॥ ४॥ स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तो बहिरात्मा हैं, अन्तरंग में आत्मा का प्रगट अनुभवगोचर संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म रूप कलंक से रहित आत्मा परमात्मा है॥ ५॥ कर्ममल रहित, शरीर रहित, अनिन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय रहित अथवा अनिंदित अर्थात् सर्व प्रकार प्रशंसा योग्य, केवलज्ञानमयी, विशुद्धात्मा, परमेष्ठी, परमजिन, जीवों के कल्याण अथवा निर्वाण को करने वाला, शाश्वत और सिद्ध परमात्मा है॥ ६॥ मन, वचन, काय से बहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा का आश्रय लेकर, परमात्मा का ध्यान करना चाहिए-ऐसा जिनवरेन्द्र ने उपदेश दिया है॥ ७॥ बाह्य पदार्थों में ही जिसका मन स्फुरायमान है और इन्द्रिय रूपी द्वार के द्वारा जो अपने स्वरूप से च्युत है-ऐसा मूढ़दृष्टि बहिरात्मा अपने शरीर को ही आत्मा जानता है॥ ८॥ मिथ्यादृष्टि जीव अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर, यह देह अचेतन है फिर भी भिन्नभाव से, आत्मभाव से ग्रहण करके, बड़े यत्न से दूसरे की आत्मा रूप ध्याता है, मानता है॥ ९॥ ऐसे देहों में ही स्व-पर की आत्मा का निश्चय करने से और पदार्थों के स्वरूप को नहीं जानने से मनुष्यों के सुत-दारादि बाह्य जीवों में मोह वर्तता है॥ १०॥ यह मनुष्य मोह के उदय से मिथ्याज्ञान में लीन हुआ और मिथ्याभाव से भावित होता हुआ फिर भी शरीर को आत्मा मानता है॥ ११॥ जो देह से निरपेक्ष है, रागद्वेषादि द्वन्द्व से रहित है, ममत्व तथा आरंभ से रहित है और निज आत्मस्वभाव में सुरत है वह योगी निर्वाण को प्राप्त होता है॥ १२॥ जो मुनि अपनी आत्मा में रत है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है और वही सम्यक्त्व भाव रूप परिणत हुआ दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है॥ १३॥ जो साधु परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्व रूप परिणत हुआ वह दुष्ट आठ कर्मों से बंधता है॥ १४॥ आत्मस्वभाव से अन्य जो कुछ सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य है वह सब परद्रव्य है-ऐसा पदार्थों का सत्यार्थ स्वरूप सर्वदर्शियों ने कहा है॥ १५॥ दुष्ट आठ कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान ने स्वद्रव्य कहा है॥ १६॥ जो मुनि परद्रव्यों से पराङ्मुख हुए निज आत्मद्रव्य को ध्याते हैं, वे निर्दोष चारित्रयुक्त होते हुए जिनवर तीर्थंकरों के मार्ग में लगे रहकर निर्वाण को पाते हैं॥ १७॥ योगी मुनि जिनवर भगवान के मत से शुद्ध आत्मा को ध्यान में ध्याता है और उससे निर्वाण को पाता है तो उससे क्या स्वर्गलोक को नहीं पाएगा ? पाएगा ही॥ २०॥ जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है वह क्या पृथ्वीतल पर आधा कोस भी नहीं जा सकता ? अवश्य ही जा सकता है॥ २१॥ जो कोई सुभट संग्राम में सब ही संग्राम करने वालों कर सहित करोड़ों नरों को सुगमता से जीतता है वह सुभट क्या एक नर को नहीं जीतेगा ? जीतेगा ही॥ २२॥ जैसे शोधने की सामग्री के सम्बन्ध से स्वर्ण पाषाण शुद्ध सोना हो जाता है वैसे ही कालादि लब्धियों से अशुद्ध आत्मा परमात्मा हो जाता है॥ २४॥ मुनि सब कषायों को छोड़कर ; गारव, मद, राग, द्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर तथा लोक व्यवहार से विरत होता हुआ ध्यान में स्थित होकर आत्मा को ध्याता है॥ गा०२७॥ योगी ध्यानी मुनि मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय से छोड़कर, मौनव्रत से ध्यान में ठहरा हुआ आत्मा को ध्याता है॥ २८॥ यद्यपि शरीरादि का जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह अचेतन होने से सब प्रकार से कुछ भी नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता अतः मैं किसके साथ बात करूं॥ २९॥ ध्यान में स्थित योगी सब कर्मों के आस्रव का निरोध करके संसर संकुल हुआ पूर्व संचित कर्मों का नाश करता है-ऐसा जिनदेव ने कहा है सो जानो॥ मोक्ष पाहुड का गाथानुवाद॥ गाथा संख्या ३०॥
शेष अगले पृष्ठ पर

गाथा ३१-६३

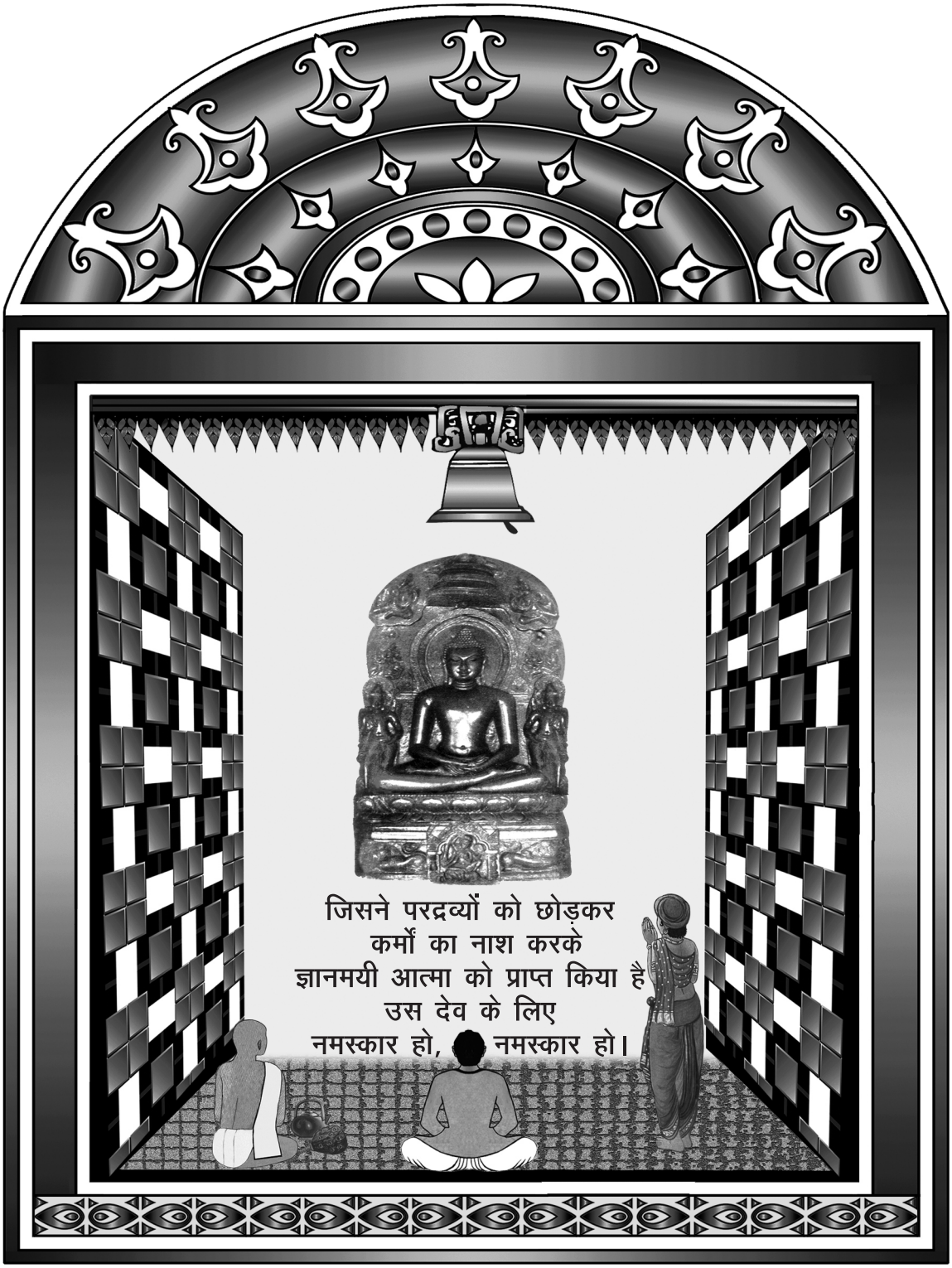
जो मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है॥ मोक्ष पाहुड गा०३१॥ ऐसा जानकर योगी सब प्रकार से सारे ही व्यवहार को छोड़ता है और जैसा जिनवरेन्द्र ने कहा है वैसा परमात्मा का ध्यान करता है॥गा०३२॥ हे मुनि! तू पाँच महाव्रतों से युक्त होकर, पांच समिति तथा तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से संयुक्त हो, सदा ध्यान और अध्ययन कर॥गा०३३॥ रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव को आराधक जानना चाहिए और जो आराधना का विधान है उसका फल केवलज्ञान है॥गा०३४॥ जिनवरेन्द्र के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है तथा सर्वलोकदर्शी है। हे मुनि! उस आत्मा ही को तू केवलज्ञान जान अथवा केवलज्ञान को आत्मा जान॥गा०३५॥ जो योगी जिनवर के मतानुसार रत्नत्रय की निश्चय से आराधना करता है वह आत्मा का ध्यान करता है और परद्रव्यों का त्याग करता है॥गा०३६॥ जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो पुण्य-पाप का परिहार है वह चारित्र कहा गया है॥गा०३७॥ तत्त्वरुचि सायक्त्व है, तत्त्वों का ग्रहण सम्यग्ज्ञान है और पाप क्रियाओं का परिहार चारित्र है- ऐसा जिनवरेन्द्र ने कहा है॥गा०३८॥ यह सारभूत उपदेश स्पष्ट ही जरा और मरण को हरने वाला है। जो इसे मानता है, वह सम्यक्त्व है जो कि श्रमणों के लिए और श्रावकों के लिए भी कहा गया है॥गा०४०॥ जो योगी जिनवर के मत से जीव और अजीव के विभाग को जानता है, वह सर्वदर्शियों के द्वारा सत्यार्थ रूप से सम्यग्ज्ञान कहा गया है॥गा०४१॥ जिस जीव-अजीव के भेद को जानकर योगी पुण्य और पाप दोनों का परिहार करता है, उसे कर्म रहित सर्वज्ञ देव ने निर्विकल्प-चारित्र कहा है॥गा०४२॥ रत्नत्रय से युक्त होकर शुद्ध आत्मा को ध्याता हुआ जो संयमी मुनि अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है वह परम पद को पाता है॥४३॥ तीन याने मन-वचन-काय के द्वारा; तीन अर्थात् वर्षा, शीत, उष्ण- इन काल योगों को धारण करके; तीन अर्थात् माया मिथ्या, निदान शल्यों से नित्य रहित होकर; तीन अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सुशोभित होकर; रागद्वेष रूप दो दोषों से विप्रमुक्त हुआ योगी परमात्मा को ध्याता है॥४४॥ जो जीव मद, माया और क्रोध से रहित है; लोभ से विवर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है वह उत्तम सुख को पाता है॥४५॥ जो जीव विषय-कषायों से युक्त है, रुद्रपरिणामी है, जिन मुद्रा से पराङ्मुख है और जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है, वह सिद्धि सुख को नहीं पाता॥४६॥ जिनवरों के द्वारा कही हुई जिन मुद्रा निष्कम से सिद्धि सुख रूप है, वह स्वप्न में भी जिनको नहीं रुचती है वे गहन संसार वन में रहते हैं॥गा०४७॥ परमात्मा का ध्यान करता हुआ योगी पापदायक लोभ से छूट जाता है और नवीन कर्मों को ग्रहण नहीं करता- ऐसा जिनवरेन्द्रों ने कहा है॥४८॥ चारित्र आत्मा का धर्म है, धर्म आत्मा का समभाव है और वह समभाव जीव का राग-द्वेष से रहित अनन्य परिणाम है॥५०॥ जैसे स्वभाव से विशुद्ध स्फटिक मणि पर द्रव्यों से युक्त होकर अन्य रूप हो जाती है वैसे ही स्वभाव से रागादि से रहित जीव अन्य के संयोग से स्पष्ट ही अन्य-अन्य प्रकार का हो जाता है॥५१॥ जो देव और गुरु का भक्त है, सहधर्मियों तथा संयमी जीवों में अनुरक्त है और सम्यक्त्व को अत्यन्त आदर से धारण करता है- ऐसा योगी ही ध्यान में लीन होता है॥५२॥ अज्ञानी जिस कर्म को उग्र तपश्चरण के द्वारा बहुत भवों में खिपाता है उसे ज्ञानी तीन गुप्तियों के द्वारा अन्तर्मुहूर्त्त में नाश कर देता है॥५३॥ जो साधु इष्ट वस्तु के संयोग से परद्रव्य में रागभाव करता है वह इस कारण से अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है॥५४॥ जैसे परद्रव्य में राग कर्मास्रव का कारण पूर्व में कहा वैसे ही मोक्ष का कारण राग भाव भी आस्रव का हेतु है और उसी राग के कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्मस्वभाव से विपरीत होता है॥५५॥ कर्म में ही जिस की बुद्धि गत हो रही है वह स्वभाव ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान के खंडरूप दोष को करने वाला है तथा इस कारण से वह अज्ञानी है तथा जिनशासन का दूषक कहा गया है॥५६॥ जहां ज्ञान तो चारित्र रहित है और तपश्चरण सम्यग्दर्शन से रहित है तथा अन्य भी आवश्यक आदि क्रियाओं में शुद्धभाव नहीं है- ऐसे लिंग के ग्रहण में क्या सुख है!॥५७॥ जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन में ही चेतन को मानता है वह ज्ञानी कहा जाता है॥५८॥ जो ज्ञान तप रहित है और जो तप ज्ञानरहित है सो दोनों ही अकार्यकारी हैं इसलिए ज्ञान और तप से संयुक्त पुरुष ही निर्वाण को पाता है॥गा०५९॥ जो साधु बाह्य लिंग से तो युक्त है व अभ्यन्तर लिंग से रहित जिसका परिकर्म है वह साधु आत्मा के स्वरूप के आचरण रूप चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्ष के मार्ग के विनाश को करने वाला है।

॥मोक्ष पाहुड गाथा ६१॥

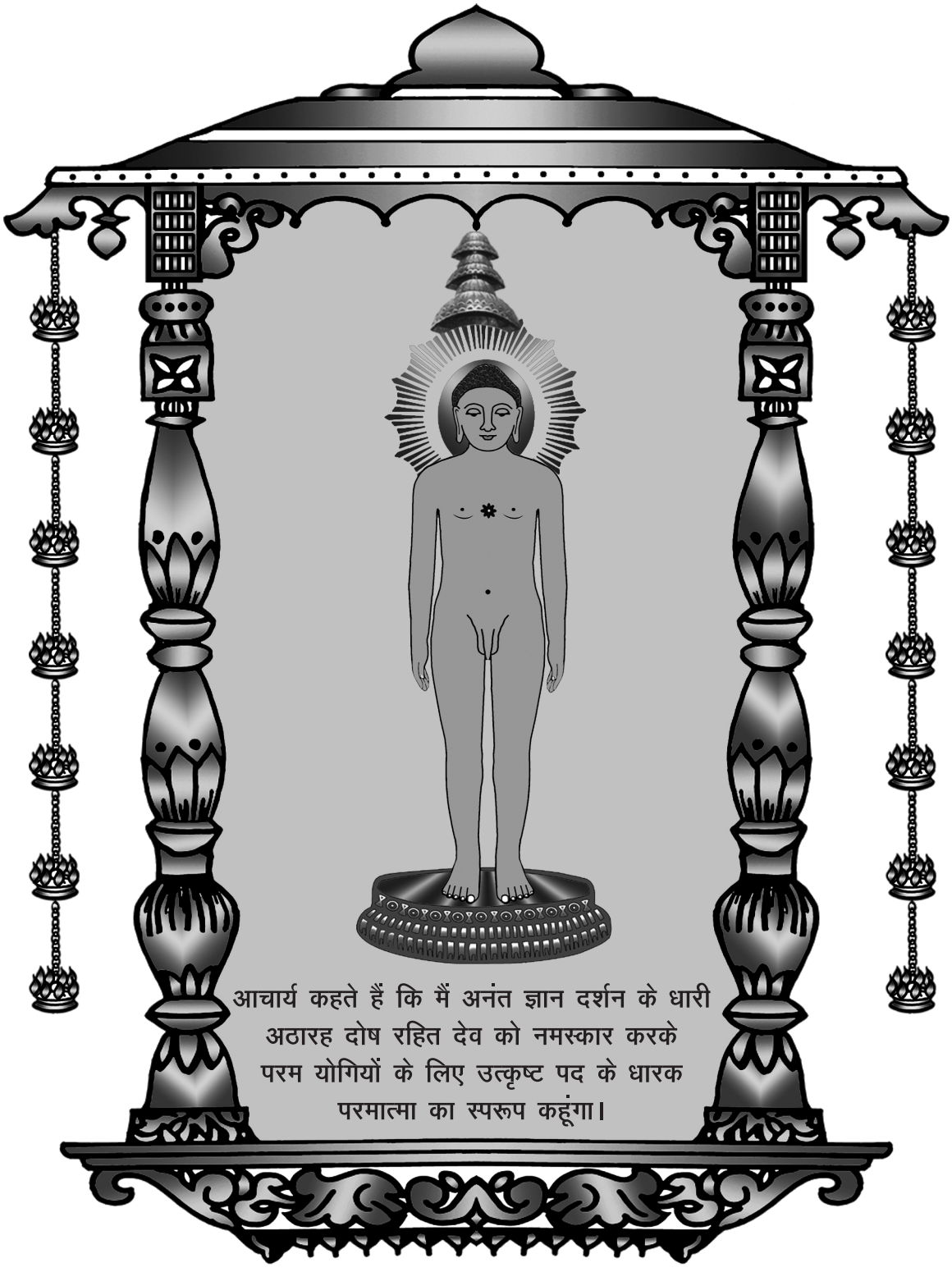
ॐ

आत्मा है सो चारित्रवान है तथा दर्शन-ज्ञान से संयुक्त है ऐसे आत्मा को गुरु के प्रसाद से जानकर नित्य ध्याना चाहिए।।गाथा ६४।। आत्मा को जानकर भी कितने ही ज्ञानस्वभाव की भावना से अत्यन्त भ्रष्ट हो विषयोंमें मोहित होते हुए चतुर्गति रूप संसार में घूमते हैं।।६७।। पुनः जो विषयों से विरक्त होते हुए आत्मा को जान कर उसकी भावना से सहित रहते हैं वे तप व गुणों से युक्त हो चतुर्गति रूप संसार को छोड़ देते हैं इसमें संदेह नहीं है।।६८।। जिस पुरुष के परद्रव्य में परमाणु मात्र भी मोह से प्रीति होती है वह मूढ़ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है।।६९।। जो आत्मा का ध्यान करते हैं,दर्शन की शुद्धि और दृढ चारित्र से युक्त हैं एवं विषयों से विरक्त चित्त वाले हैं उनके निश्चित ही निर्वाण होता है।।७०।। जिस कारण से परद्रव्य में किया हुआ राग संसार ही का कारण होता है उस कारण से योगी नित्य ही आत्मा की भावना करते हैं।।७१।। निन्दा-प्रशंसा, सुख-दुःख और शत्रु-मित्र में समभाव से चारित्र होता है।।७२।। जिनकी आचार क्रिया आवरण सहित है, जो व्रत और समिति से रहित हैं तथा शुद्ध भाव से अत्यन्त भ्रष्ट हैं ऐसे कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह पंचम काल ध्यान योग का नहीं है।।७३।। जो सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित है, संसार के सुख में अत्यन्त रत है और मोक्ष से रहित है ऐसा अभव्य जीव ही कहता है कि यह ध्यान का काल नहीं है।।७४।। जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के विषय में मूढ़ है, अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यान का काल नहीं है।।७५।। भरत क्षेत्र में दुषम नामक पंचम काल में साधु के धर्म ध्यान होता है और वह आत्मस्वभाव में स्थित साधु के ही होता है ऐसा जो नहीं मानता वह भी अज्ञानी है ।।७६।।आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए जीव आत्मा का ध्यानकर इन्द्रपने व लौकांतिकदेवपने को पाते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।।७७।। जो पाप से मोहितबुद्धि मनुष्य जिनवरेन्द्र का लिंग धारण कर पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत हैं।।७८।। निश्चयनय से जो आत्मा, आत्मा के लिए, आत्मा में भली प्रकार रत होता है वह योगी सम्यक् चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।।८३।। पुरुषाकार, योगी और केवलज्ञान और केवलदर्शन से समग्र आत्मा का जो ध्यानी मुनि ध्यान करता है वह पापों को हरने वाला तथा निर्द्वन्द्व होता है।।८४।। पूर्वोक्त प्रकार तो जिनदेव ने श्रमणों के लिए उपदेश कहा, अब श्रावकों के लिए संसार का विनाशक और मोक्ष का उत्कृष्ट कारण उपदेश कहते हैं सो सुनो ।।८५।। हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अर्हत्प्रवचन में जो श्रद्धा है वह सम्यक्त्व है ।।९०।। यथाजात रूप तो जिसका रूप है, जो उत्तम संयम सहित है, सब ही परिग्रह तथा लौकिकजनों की संगति से रहित है और जिसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं है ऐसे निर्ग्रन्थ लिंग को जो मानता है उसके सम्यग्दर्शन होता है।।९१।। कुत्सित देव,कुत्सित धर्म,कुत्सित लिंग की लज्जा, भय व गारव से जो वन्दना करता है वह प्रकट मिथ्यादृष्टि है ।।९२।। स्वपरापेक्ष तो लिंग तथा रागी और असंयमी देव की मैं वन्दना करता हूँ ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि उनका श्रद्धान नहीं करता।।९३।। जो साधुमूलगुणों को छेदकर बाह्य क्रिया कर्म करता है वह सिद्धि के सुख को नहीं पाता क्योंकि वह सदा जिनलिंग का विराधक है।।९८।। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए 'मोक्षपाहुड'ग्रंथ को जो अत्यन्त भक्ति से पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख को पाता है।।१०६।।

गाथा १


जिसने परद्रव्यों को छोड़कर
कर्मों का नाश करके
ज्ञानमयी आत्मा को प्राप्त किया है
उस देव के लिए
नमस्कार हो, नमस्कार हो।

गाथा २



आचार्य कहते हैं कि मैं अनंत ज्ञान दर्शन के धारी
अठारह दोष रहित देव को नमस्कार करके
परम योगियों के लिए उत्कृष्ट पद के धारक
परमात्मा का स्परूप कहूंगा।

गाथा २६



जो जीव अत्यंत विस्तृत संसार महासागर से
निकलने की इच्छा करता है

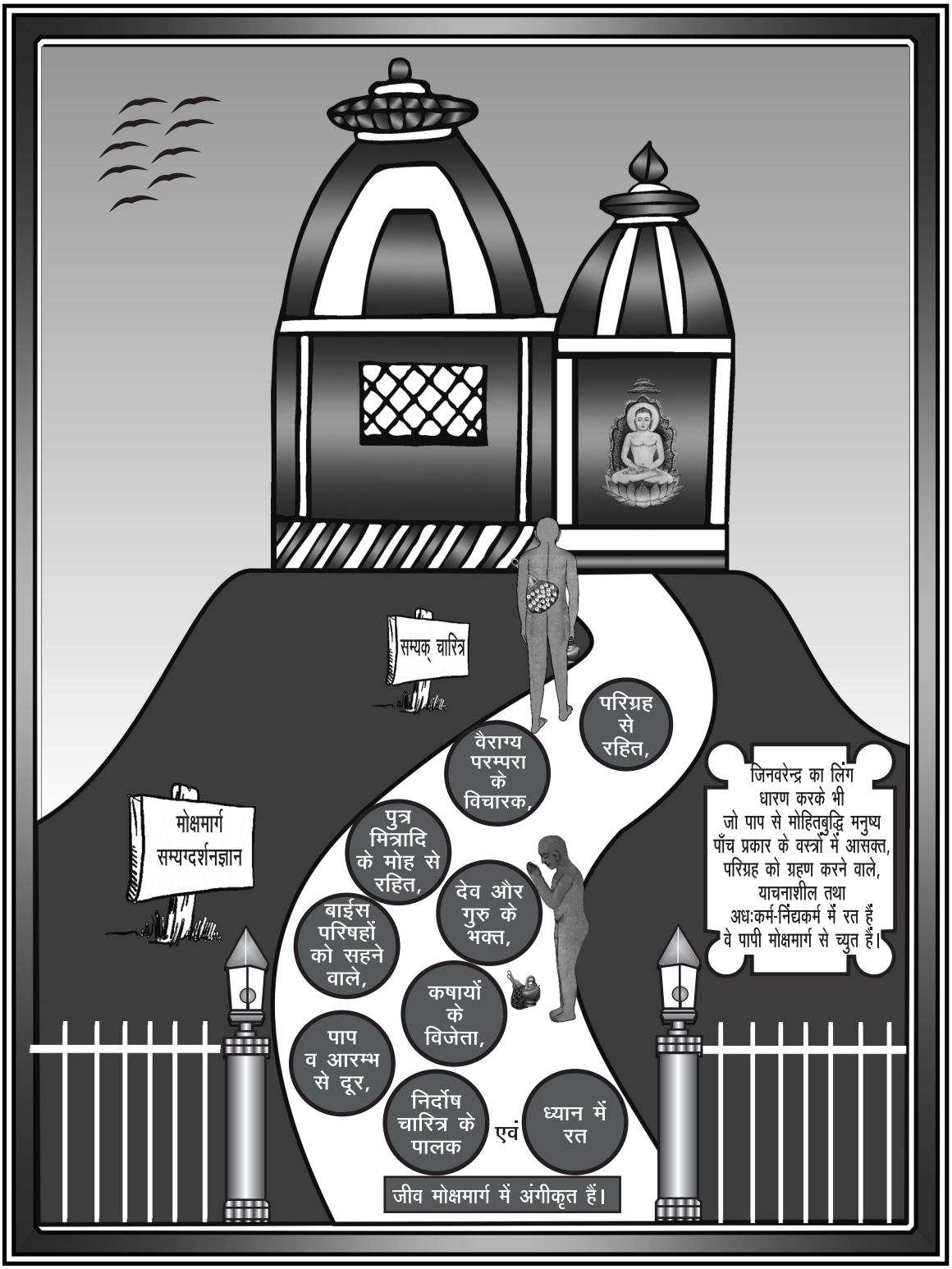


वह कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले
शुद्धात्मा का ध्यान करता है।

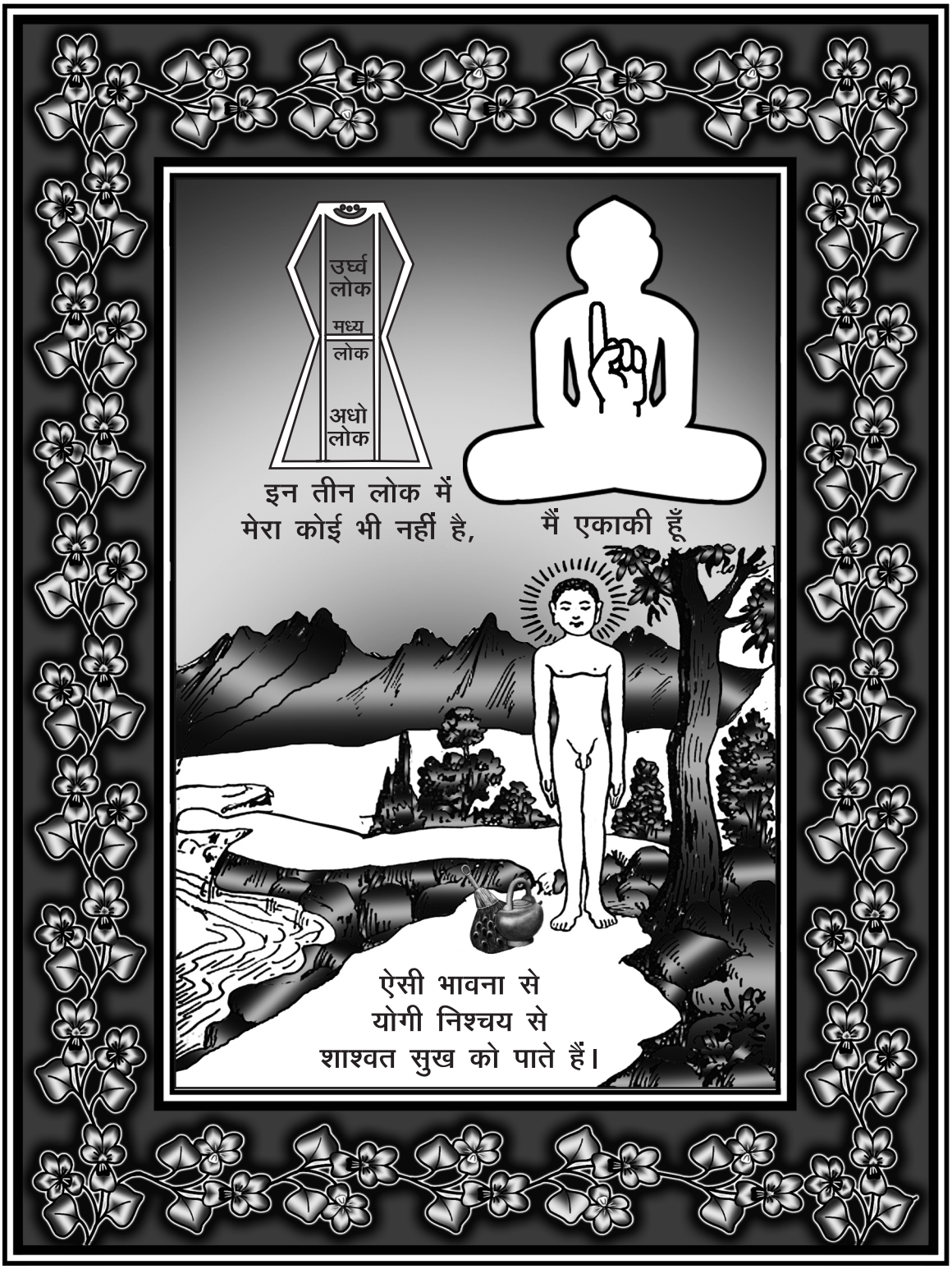
गाथा ४४


तीन अर्थात्
मन
वचन
व
काय
के द्वारा
तीन अर्थात्
व
र्षा
शी
त
व
उ
ष्णा
तीन काल योगों
को धारण करके
तीन अर्थात्
मिथ्या
माया
और
निदान
शल्यों से रहित
होकर
तीन अर्थात्
द
र्श
न
ज्ञा
न
व
चा
रि
त्र
से मंडित
होकर
एवं
दो अर्थात्
रा
ग
व
द्वे
ष
रूप दोषों से
रहित होकर
योगी
परमात्मा का ध्यान करता है।

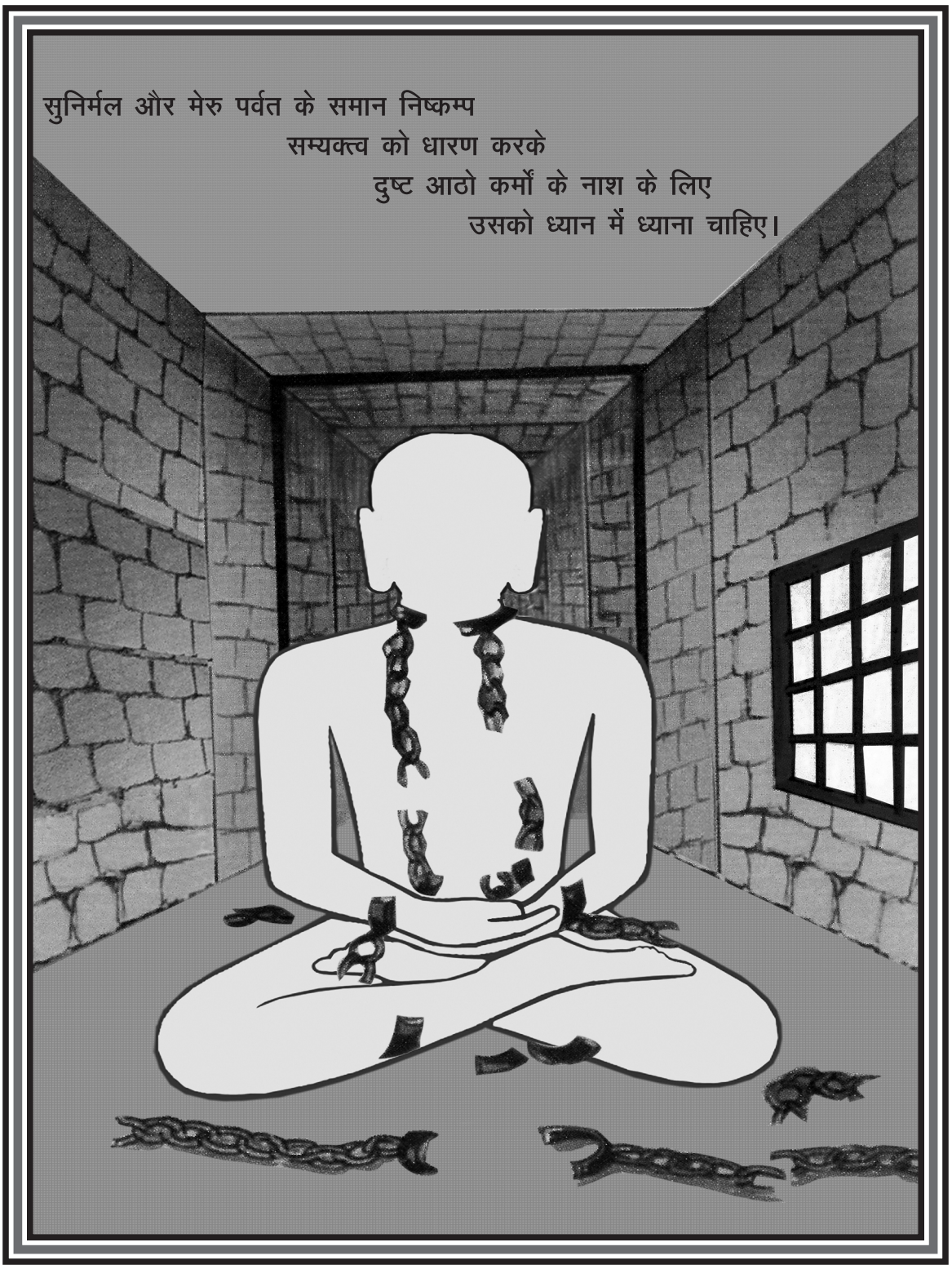
गाथा ७९,८०,८२


सम्यक् चारित्र
मोक्षमार्ग
सम्यग्दर्शनज्ञान
परिग्रह से रहित,
वैराग्य परम्परा के विचारक,
पुत्र मित्रादि के मोह से रहित,
देव और गुरु के भक्त,
बाईस परिषहों को सहने वाले,
कषायों के विजेता,
पाप व आरम्भ से दूर,
निर्दोष चारित्र के पालक
एवं
ध्यान में रत
जीव मोक्षमार्ग में अंगीकृत हैं।
जिनवरेन्द्र का लिंग धारण करके भी
जो पाप से मोहितबुद्धि मनुष्य
पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त,
परिग्रह को ग्रहण करने वाले,
याचनाशील तथा
अधःकर्म-निंद्यकर्म में रत हैं,
वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

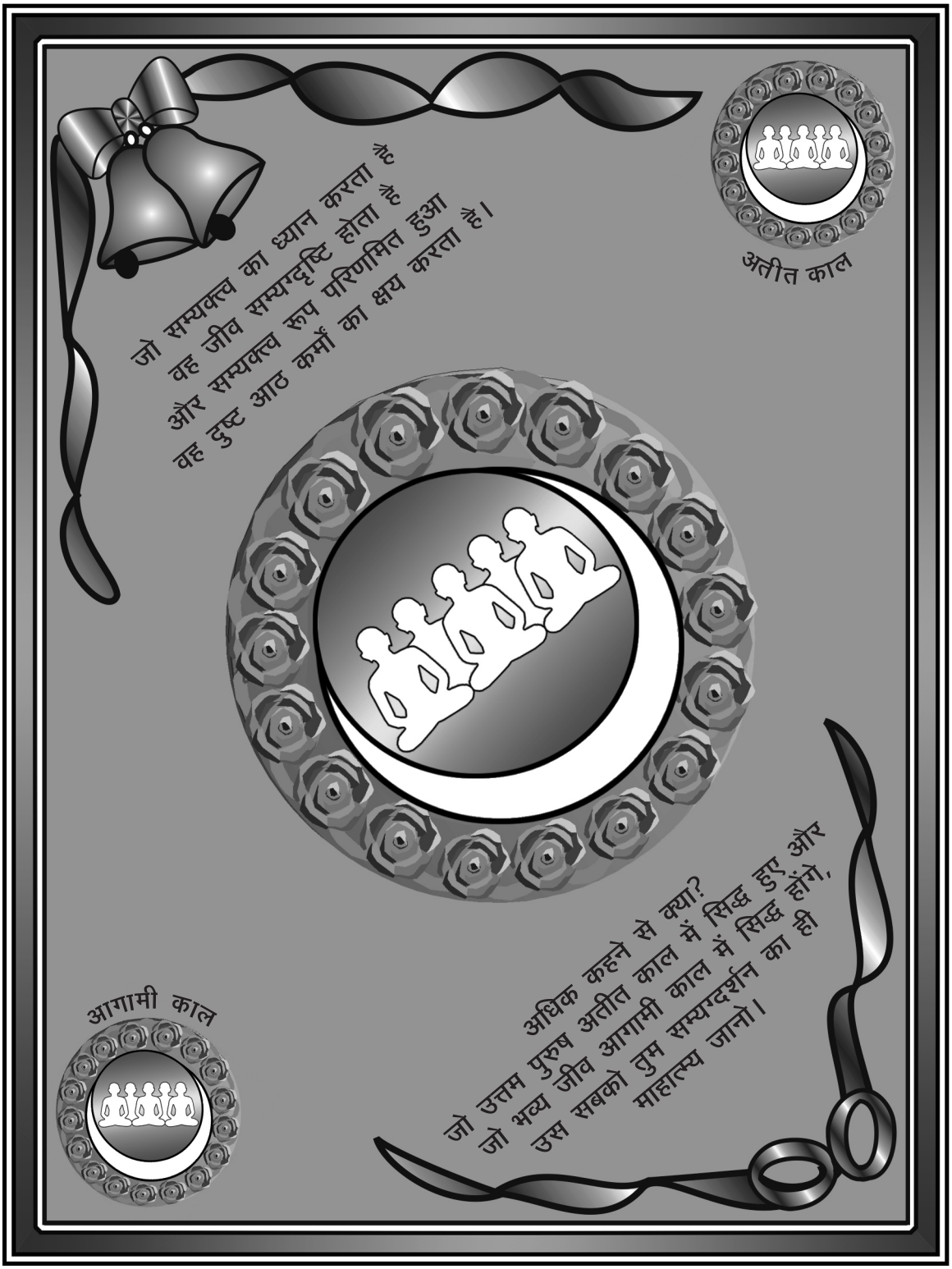
गाथा ८१


उर्ध्व लोक
मध्य लोक
अधो लोक
इन तीन लोक में
मेरा कोई भी नहीं है,
मैं एकाकी हूँ
ऐसी भावना से
योगी निश्चय से
शाश्वत सुख को पाते हैं।

गाथा ८६


सुनिर्मल और मेरु पर्वत के समान निष्कम्प
सम्यक्त्व को धारण करके
दुष्ट आठो कर्मों के नाश के लिए
उसको ध्यान में ध्याना चाहिए।

गाथा ८७-८८


जो सम्यक्त्व का ध्यान करता है
वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है
और सम्यक्त्व रूप परिणमित हुआ
वह दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है।
अतीत काल
अधिक कहने से क्या?
जो उत्तम पुरुष अतीत काल में सिद्ध हुए और
जो भव्य जीव आगामी काल में सिद्ध होंगे,
उस सबको तुम सम्यग्दर्शन का ही
माहात्म्य जानो।
आगामी काल

गाथा ६५,६६

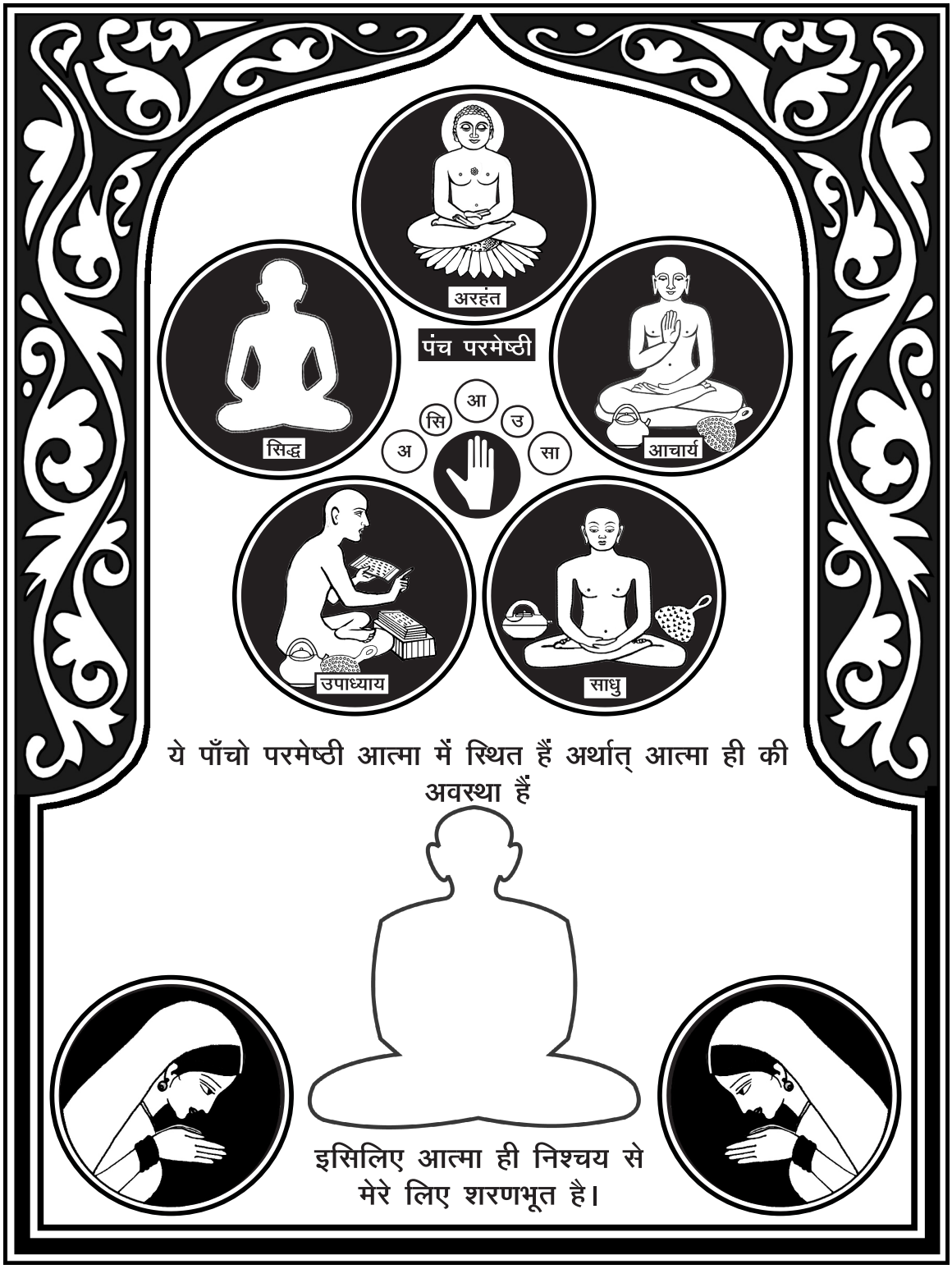

जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म-जरा-मरण से प्रचुर और हजारों दुखों से व्याप्त इस संसार में सुख से रहित हुआ भ्रमण करता है।
जन्म
जरा
मरण
बहुत प्रलाप रूप कथन से क्या लाभ !
सम्यक्त्व गुण रूप है और मिथ्यात्व दोष रूप है- ऐसा मन से अच्छी तरह भावना करके जो तेरे मन को रुचे वह कर।

गाथा १०१-१०२



साधु ही उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है।

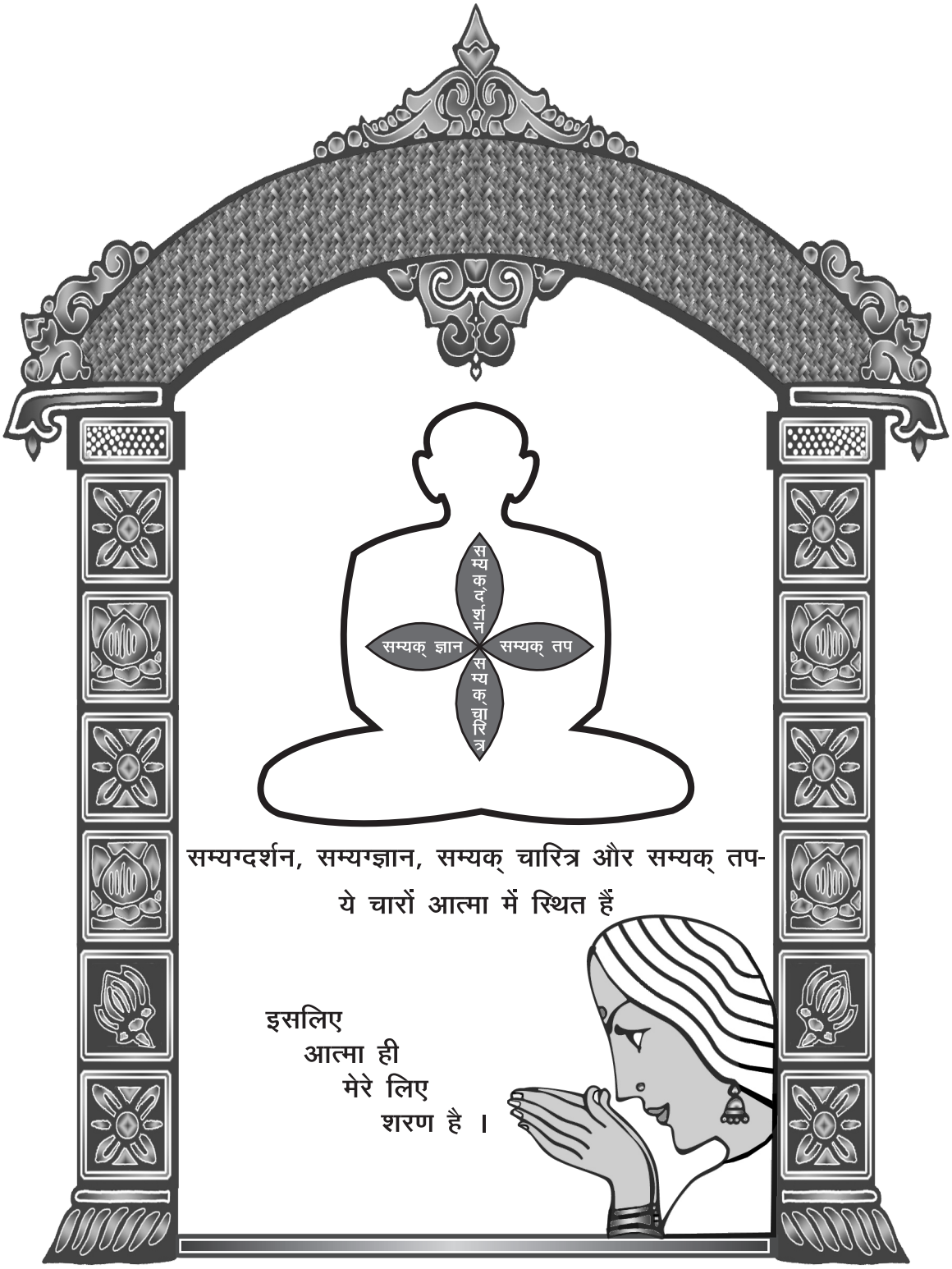
गाथा १०४



ये पाँचो परमेष्ठी आत्मा में स्थित हैं अर्थात् आत्मा ही की अवस्था हैं

इसिलिए आत्मा ही निश्चय से मेरे लिए शरणभूत है।

गाथा-१०५



सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप-
ये चारों आत्मा में स्थित हैं

इसलिए
आत्मा ही
मेरे लिए
शरण है ।

अंतिम सूक्ति

इस

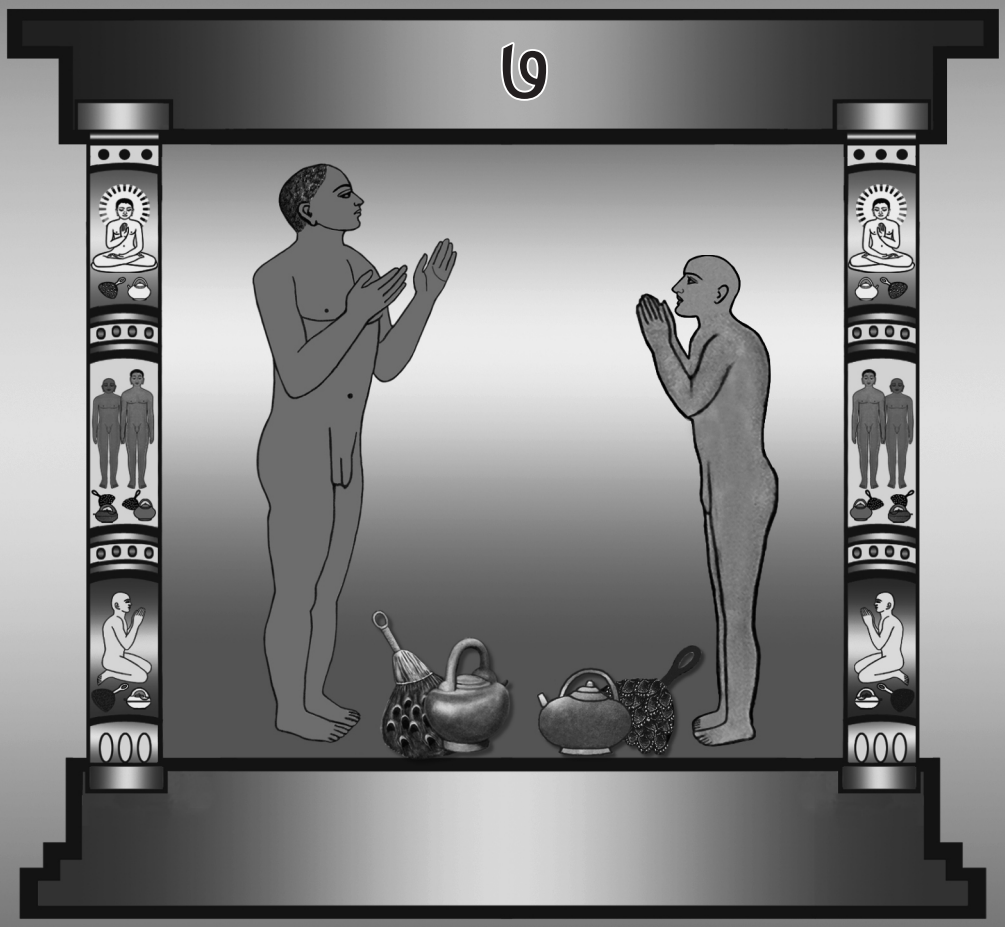


को पढ़कर
जो ज्ञान की भावना में तत्पर होकर,
सुरत अर्थात् भली प्रकार लीन होता है
वह मोक्ष पाता है।

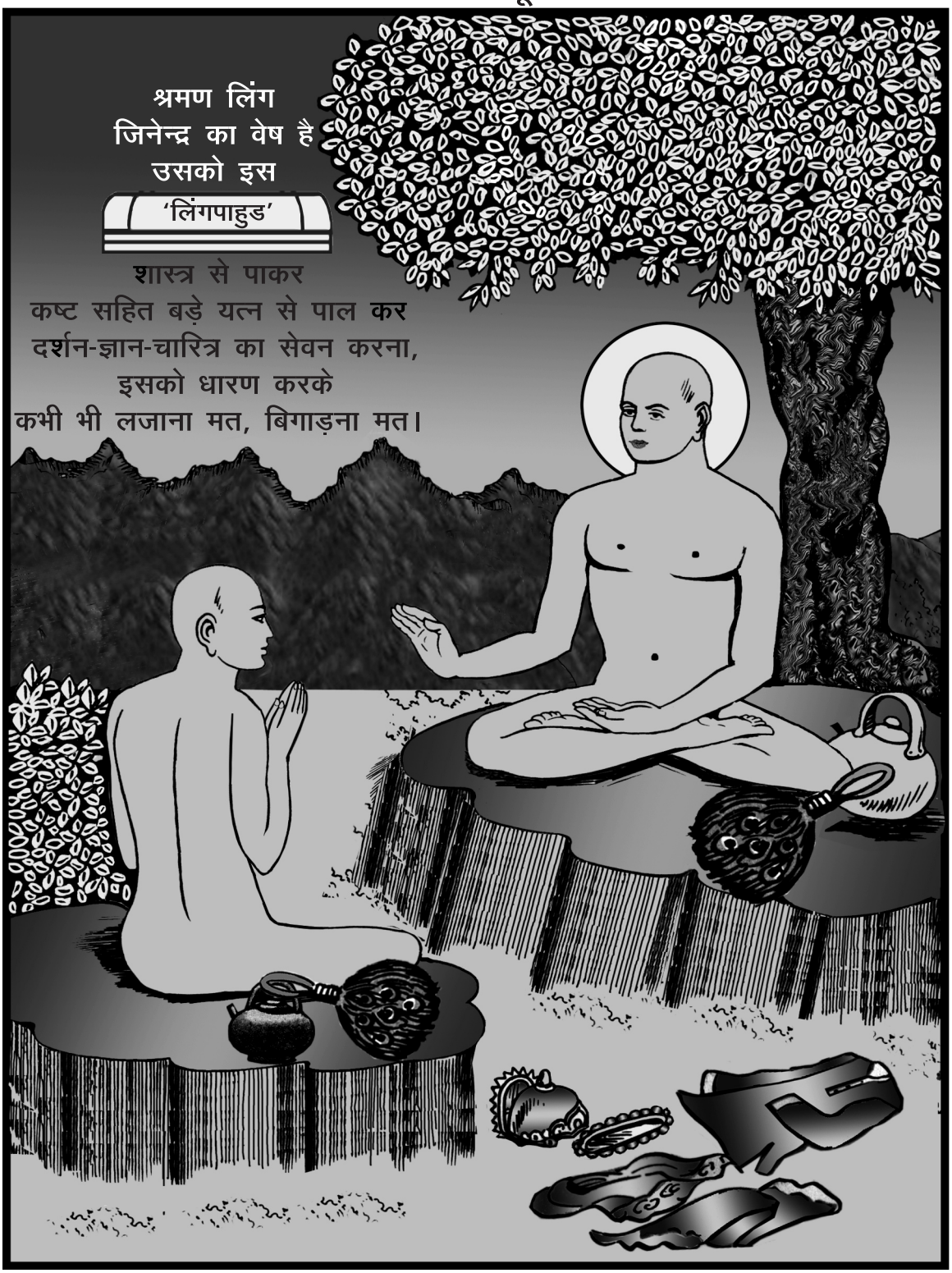
मोक्षपाहुड समाप्त

लिंग पाहुड़

७



प्रारम्भिक सूक्ति


श्रमण लिंग
जिनेन्द्र का वेष है
उसको इस
'लिंगपाहुड'
शास्त्र से पाकर
कष्ट सहित बड़े यत्न से पाल कर
दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना,
इसको धारण करके
कभी भी लजाना मत, बिगाड़ना मत।

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	मंगलाचरणपूर्वक श्रमण लिंगपाहुड़ के निरूपण की प्रतिज्ञा	७–६
२.	मात्र बाह्य लिंग कार्यकारी नहीं अतः भावधर्म को जानने की प्रेरणा	७–६
३.	लिंग धारण करके लिंगीपने के भाव को हास्य मात्र गिनने वाले पापमोहितमति हैं	७–७
४.	न त्यगायनादि में अनुरागी मुनिवेषी तिर्यंचयोनि हैं, श्रमण नहीं	७–८
५.	परिग्रह से लगाव रखने वाला पापमोहितमति मुनि तिर्यंचयोनि है, श्रमण नहीं	७–९
६.	मानगर्वित, नित्य कलहकारी, वादविवादी व जुआरी लिंगी नरकगामी है	७–९
७.	अब्रह्मसेवी पापमोहितमति मुनिवेषी संसार वन में भ्रमता है	७–१०
८.	रत्नत्रय से विमुख आर्तध्यानी मुनिवेषी अनंत संसारी होता है	७–११
९.	विवाह, कृषिकर्म, वाणिज्य एवं जीवघात का विधायक मुनिवेषी नरक जाता है	७–१२
१०.	चोर एवं असत्यवादियों के युद्ध विवाद कराने वाले लिंगी नरक जाते हैं	७–१२
११.	लिंगयोग्य क्रियाएँ करते हुए पीड़ा पाने वाले मुनिवेषी नरकवास पाते हैं	७–१३
१२.	व्यभिचारी व भोजन के रस में आसक्त लिंगी पशु हैं, श्रमण नहीं	७–१४

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१३.	आहार के निमित्त दौड़ने वाले और कलह एवं ईर्ष्या करने वाले मुनिवेषी जिनमार्ग से बहिष्कृत हैं	७—११
१४.	अदत्तादान एवं परनिन्दा करने वाले मुनिवेषी चोर के समान श्रमण हैं	७—१६
१५.	ईर्या समिति को भूलकर अटपट दौड़ने व गिरने वाले मुनिवेषी पशु हैं, श्रमण नहीं	७—१७
१६.	बंध को न गिनते हुए पृथ्वी व धान्य का खंडन करने वाले मुनिवेषी तिर्यंचयोनि हैं, श्रमण नहीं	७—१७
१७.	महिलावर्ग में राग व पर को दूषण देने वाले दर्शन—ज्ञान हीन लिंगी पशु हैं, श्रमण नहीं	७—१८
१८.	प्रव्रज्याहीन गृही व शिष्यों पर स्नेहयुक्त आचार-विनय हीन लिंगी तिर्यंच हैं, श्रमण नहीं	७—१६
१९.	संयतों के मध्य वर्तते भी और बहुशास्त्रज्ञ भी कुप्रवृत्तियुक्त लिंगी भावविनष्ट हैं, श्रमण नहीं	७—२०
२०.	महिलावर्ग में विश्वस्त व व्यवहारयुक्त लिंगी पार्श्वस्थ से भी निष्कृट हैं, श्रमण नहीं	७—२०
२१.	कुशील स्त्रियों के घर आहारादि करने वाले उनके प्रशंसक लिंगी अज्ञानी हैं, श्रमण नहीं	७—२१
२२.	गणधरादि द्वारा उपदिष्ट 'लिंगपाहुड़' को जानकर मुनिधर्म को यत्न सहित पालने वाले को मोक्ष का लाभ होता है	७—२२

2. विषय वस्तु	७—२४	**5. गाथा चित्रावली**	७-२१—३४
3. गाथा चयन	७—२६	**6. अंतिम सूक्ति चित्र**	
4. सूक्ति प्रकाश	७—२७	**लिंग पा० समाप्त**	७—३५



दोहा

जिन मुद्रा धारक मुनी, निज स्वरूप कूं ध्याय।
कर्म नाशि शिव सुख लयो, वंदौं तिनिके पाय।।१।।

अर्थ

जिन जिनमुद्रा के धारक मुनियों ने निज स्वरूप का ध्यान करके कर्मों का नाश कर मुक्ति सुख को पा लिया उनके चरणों की मैं वंदना करता हूँ।।१।।

इस प्रकार मंगल के लिये जिन मुनियों ने शिव सुख पाया उनको नमस्कार करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथाबद्ध 'लिंगपाहुड़' नामक ग्रन्थ है उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :-

उत्थानिका

यहां प्रथम ही आचार्य मंगल के लिए इष्ट को नमस्कार करके **'ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा'** करते हैं :–

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण।। १।।

कर नमन श्री अरहंत को, अरु वैसे ही श्री सिद्ध को।
मैं कहूँगा संक्षेप से, मुनिलिंग पाहुड़ शास्त्र को।।१।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि 'मैं अरिहन्तों को और वैसे ही सिद्धों को नमस्कार करके, श्रमणलिंग का है निरूपण जिसमें ऐसा जो पाहुड़ शास्त्र है, उसको कहूँगा।'

भावार्थ

इस काल में मुनि का लिंग जैसा जिनदेव ने कहा है उसमें विपरीतता हुई, उसका निषेध करने के लिए यह लिंग के निरूपण का शास्त्र आचार्य ने रचा है। इसके प्रारम्भ में घातिया कर्मों का नाश कर अनंत चतुष्टय को प्राप्त करके अरिहंत हुए उन्होंने यथार्थ श्रमण के लिंग का मार्ग प्रवर्ताया और उस लिंग को साधकर सिद्ध हुए-ऐसे अरिहंत और सिद्ध उनको नमस्कार करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है।।१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'लिंग बाह्य वेष है वह अन्तरंग धर्म सहित कार्यकारी है' :–

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमित्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। २।।

होवे धरम से लिंग, केवल लिंग से नहिं धर्म हो।
तू भाव धर्म को जान, तेरे लिंग से क्या कार्य हो।।२।।

अर्थ

धर्म से सहित तो लिंग होता है तथा लिंग मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं है इसलिए हे भव्य जीव ! तू भाव रूप जो धर्म है उसको जान और केवल लिंग ही से तेरे क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थ

यहां ऐसा जानो कि 'लिंग' ऐसा चिन्ह का नाम है सो बाह्य वेष को धारण करना वह मुनि का चिन्ह है सो ऐसा चिन्ह यदि अन्तरंग में वीतराग स्वरूप धर्म हो तो उस सहित तो यह सत्यार्थ होता है और उस वीतराग स्वरूप आत्मा के धर्म के बिना लिंग जो बाह्य वेष उस मात्र से धर्म की 'संपत्ति' जो सम्यक् प्राप्ति नहीं है इसलिए **उपदेश किया है कि 'अन्तरंग भावधर्म जो राग-द्वेष-मोह रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव वह धर्म है उसको हे भव्य ! तू जान और इस बाह्य लिंग-वेष मात्र से क्या कार्य है अर्थात् कुछ भी नहीं।'** यहां ऐसा जानना कि 'जिनमत में लिंग तीन कहे गए हैं—**१.एक** तो मुनि का यथाजात दिगम्बर लिंग, **२.दूसरा** उत्कृष्ट श्रावक का और **३.तीसरा** आर्यिका का—इन तीनों ही लिंगों को धारण करके जो कुक्रिया करता है उसका निषेध है तथा अन्य मत के कई वेष हैं उनको भी धारण करके जो कुक्रिया करता है वह भी निंदा ही पाता है इसलिए वेष धारण करके कुक्रिया नहीं करना-ऐसा ज्ञान कराया है'।।२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिन का लिंग जो निर्ग्रंथ दिगम्बर रूप उसको ग्रहण करके और कुक्रिया करके जो हास्य कराता है वह पापबुद्धि है' :—

जो पावमोहिदमदी लिंगं घित्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसदि लिंगिभावं लिंगिम्मि य णारदो लिंगी।। ३।।

जो पाप मोहितमती गहकर, जिनवरेन्द्र के लिंग को।
उपहसता लिंगी भाव को, लिंगियों में नारदलिंगी वह।।३।।

अर्थ

जो 'जिनवरेन्द्र' अर्थात् तीर्थंकर देव के लिंग-नग्न दिगम्बर रूप को ग्रहण करके लिंगीपने के भाव को उपहसता है–हास्य मात्र गिनता है सो कैसा है–जैसे लिंगी अर्थात् वेषी उसमें नारद लिंगी है वैसा है। अथवा इस गाथा के चौथे पाद का पाठान्तर ऐसा है–'लिंगं णासेदि लिंगीणं', इसका अर्थ है कि यह जो लिंगी है वह अन्य कोई जो लिंग के धारी हैं उनके लिंग को भी नष्ट करता है और ऐसा बोध कराता है कि 'लिंगी सब ऐसे ही हैं।' कैसा है लिंगी–पाप से मोहित है बुद्धि जिसकी ऐसा है।

भावार्थ

लिंगधारी हो और पापबुद्धि से कुछ कुक्रिया करे तो उसने लिंगीपने को हास्य मात्र गिना, कुछ कार्यकारी गिना नहीं। लिंगीपना तो भावशुद्धि से सुशोभित था सो भाव बिगड़े तो बाह्य में कुक्रिया करने लगा तब इसने उस लिंग को लजाया और अन्य लिंगियों के लिंग को भी कलंक लगाया, लोग कहने लगे कि 'लिंगी ऐसे ही होते हैं' अथवा जैसे नारद का वेष है उसमें वह स्वेच्छा से स्वच्छंद जैसा प्रवर्तता है वैसा यह भी वेषी ठहरा इसलिए आचार्य ने ऐसा आशय धारण करके कहा है कि 'जिनेन्द्र के वेष को लजाना योग्य नहीं है'।।३।।

उत्थानिका

आगे लिंग धारण करके कोई कुक्रिया करे उसको प्रकट कर कहते हैं :–

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ४।।

जो लिंग धरकर न त्य, गायन, वाद्यवादन को करे।
वह पापमोहितमती, है नहिं श्रमण, तिर्यंच योनि है।।४।।

अर्थ

जो लिंग रूप करके न त्य करता है, गाता है और बाजा बजाता है वह कैसा है–पाप से मोहित है बुद्धि जिसकी ऐसा है सो तिर्यंचयोनि है-पशु है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

लिंग धारण करके भाव बिगाड़ कर जो नाचना, गाने गाना और बाजे बजाना इत्यादि क्रियाएँ करता है सो पापबुद्धि है, पशु है, अज्ञानी है-मनुष्य नहीं है, मनुष्य होता तो श्रमणपने को रखता। जैसे नारद वेष धारण करके नाचता है, गाता है और बजाता है वैसा यह भी वेषी हुआ तब उत्तम वेष को लजाया इसलिए लिंग धारण करके ऐसा होना युक्त नहीं है।।४।।



आगे फिर कहते हैं :–

समूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।५।।

जो संग्रहे वा यत्न से, रक्खे व ध्यावे आर्त को।
वह पापमोहितमती, है नहिं श्रमण, तिर्यंच योनि है।।५।।

अर्थ

जो निर्ग्रंथ लिंग धारण करके परिग्रह को संग्रह रूप करता है अथवा उसकी वांछा, चिंतवन और ममत्व करता है तथा उसकी रक्षा करता है, बहुत यत्न करता है, उसके लिए आर्तध्यान निरन्तर ध्याता है वह कैसा है-पाप से मोहित है बुद्धि जिसकी ऐसा तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नहीं है। श्रमण तो मनुष्य होता है, यह मनुष्य होता तो श्रमणपने को क्यों बिगाड़ता-ऐसा जानना।।५।।



आगे फिर कहते हैं :–

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।।६।।

बहु मानगर्वित लिंगी जो नित जुआ, वाद, कलह करे।
जाता नरक वह पाप करता, हुआ लिंगी रूप में।।६।।

अर्थ

जो लिंगी बहुत मान कषाय से गर्ववान हुआ निरन्तर कलह करता है, वाद करता है और द्यूत क्रीड़ा करता है वह पापी नरक को प्राप्त होता है। कैसा है वह–लिंगी का रूप धारण करके ऐसा करता हुआ वर्तता है।

भावार्थ

जो ग हस्थ रूप में ऐसी क्रिया करता है उसको तो यह उलाहना नहीं है क्योंकि कदाचित् ग हस्थ तो उपदेशादि का निमित्त पाकर कुक्रिया करने से रुक जाये तो नरक न जाये परन्तु लिंग धारण करके जो उस रूप में कुक्रिया करता है तो उसको उपदेश भी नहीं लगता जिससे वह नरक का ही पात्र होता है।।६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

पाओपहदोभावो सेवदि अबंभ लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे।।७।।

जो पाप उपहतभाव लिंगी, सेवता अब्रह्म को।
परिभ्रमता है संसार वन में, पापमोहित बुद्धि वह।।७।।

अर्थ

पाप से 'उपहत' अर्थात् घाता गया है आत्मभाव जिसका ऐसा होता हुआ जो लिंगी का रूप धारण करके अब्रह्म का सेवन करता है सो पाप से मोहित है बुद्धि जिसकी ऐसा लिंगी संसार रूपी कांतार जो वन उसमें भ्रमण करता है।

भावार्थ

पहले तो लिंग धारण किया और पीछे ऐसे पाप परिणाम हुए कि व्यभिचार का सेवन करने लगा, उसकी पापबुद्धि का क्या कहना ! ऐसे का संसार में भ्रमण क्यों न हो ! जैसे जिसके अम त भी जहर रूप परिणमे उसके रोग जाने की क्या आशा वैसे ही यह हुआ। ऐसे का संसार कटना कठिन है।।७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'इस कारण से ऐसा है' :–

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होई।।८।।

जो लिंग धारे पर ना धारे, ज्ञान-दर्शन-चरित को।
अरु ध्यान ध्यावे आर्त, संसारी अपरिमित होता वह।।८।।

अर्थ

'यदि' अर्थात् जिसने लिंग रूप धारण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को तो उपधान रूप नहीं किया-धारण नहीं किया और आर्तध्यान को ध्याता है तो ऐसा लिंगी अनंत संसारी होता है।

भावार्थ

लिंग धारण करके तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना था वह तो नहीं किया और जो परिग्रह व कुटुम्ब आदि विषयों का प्रसंग छोड़ दिया था उसकी फिर चिंता करके आर्तध्यान ध्याने लगा तब अनंत संसारी क्यों न हो ! इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन रूप भाव तो पहले हुए नहीं और कुछ कारण पाकर लिंग धारण किया उसकी क्या अवधि ! इसलिए पहले भाव शुद्ध करके लिंग धारण करना युक्त है।।८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि भावशुद्धि के बिना ग हस्थ का आचार छोड़ता है तो उसकी यह प्रव त्ति होती है' :–

जो जोडेदि विवाहं किखिकम्मं वणिज्ज जीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।। ९।।

जोड़े विवाह, करे क षि, व्यापार, जीव का घात जो।
जाता नरक वह पाप करता हुआ लिंगी रूप में।।९।।

अर्थ

जो **१.**ग हस्थों के परस्पर विवाह जोड़ता है-सगापन (सगाई सम्बन्ध) कराता है, **२.**'क षिकर्म' अर्थात् खेती जोतना रूप जो किसान का कार्य, **३.**'वाणिज्य' अर्थात् व्यापार-विणज करने रूप जो वैश्य का कार्य और **४.**जीवघात अर्थात् वैद्यकर्म के लिए जीवघात करना-यह धीवरादि का कार्य–इन कार्यों को करता है वह पापी लिंगी रूप धारण करके ऐसा करता हुआ नरक को प्राप्त होता है।

भावार्थ

ग हस्थाचार छोड़कर शुद्ध भाव के बिना यह लिंगी हुआ था इस कारण भाव की वासना मिटी नहीं तब लिंगी का रूप धारण करके भी करने लगा। स्वयं विवाह नहीं करता तो भी ग हस्थों के सगापना कराके विवाह कराता है तथा खेती, व्यापार और जीवहिंसा स्वयं करता है और ग हस्थों को कराता है तब पापी हुआ नरक जाता है। ऐसे वेष धारने से तो ग हस्थ ही भला था, कम से कम पदवी का पाप तो नहीं लगता इसलिए इस प्रकार वेष धारण करना उचित नहीं है-यह उपदेश है।।६।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तीव्वकम्मेहिं ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं।। १०।।

जो चोर झूठों में करावे, युद्ध और विवाद को।
करे यंत्रक्रीड़ा तीव्रकर्म सो, लिंगी जाता नरक में।।१०।।

अर्थ

जो लिंगी ऐसे प्रवर्तता है वह नरकवास को प्राप्त होता है। जो चोरों के और 'लापर' अर्थात् झूठ बोलने वालों के युद्ध और विवाद कराता है तथा 'तीव्रकर्म' अर्थात् जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे जो तीव्र **कषायों के कार्य उनके द्वारा तथा जो 'यंत्र' अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा और हिंडोला आदि उनसे क्रीड़ा करता हुआ** वर्तता है वह ऐसे वर्तन करता हुआ नरक जाता है। यहाँ 'लाउराणं' का पाठांतर 'राउलाणं' ऐसा भी है इसका अर्थ है कि वह 'रावल' अर्थात् जो राजकार्य करने वाले उनके युद्ध, विवाद कराता है-ऐसा जानना।

भावार्थ

लिंग धारण करके ऐसे कार्य करता है वह नरक पाता ही है-इसमें संशय नहीं है।।१०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके लिंग के योग्य कार्य करता हुआ दुःखी रहता है, उन कार्यों का आदर नहीं करता वह भी नरक में जाता है :–

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि बद्धमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ।। ११।।

दग्-ज्ञान-चरण व नित्यकर्म अरु तप, नियम, संयम विषैं।
जो वर्तने पर दुःखी हो, वह लिंगी जाता नरक में।।११।।

अर्थ

जो लिंग धारण करके और इन क्रियाओं को करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है वह लिंगी नरकवास को पाता है। **वे क्रियायें कौन सी हैं?** **१.**प्रथम तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र इनमें, इनका निश्चय–व्यवहार रूप धारण करना, **२.**'तप'–अनशनादि बारह प्रकार इनको शक्ति के अनुसार करना, **३.**'संयम'–इन्द्रिय-मन को वश में करना एवं जीवों की रक्षा करना, **४.**'नियम' अर्थात् नित्य कुछ त्याग करना तथा **५.**'नित्यकर्म' अर्थात् आवश्यक आदि क्रियाओं को नियत समय पर नित्य करना–ये लिंग के योग्य क्रियाएँ हैं, इन क्रियाओं को करता हुआ जो दुःखी होता है वह नरक पाता है।

भावार्थ

लिंग धारण करके ये कार्य करने थे उनका तो निरादर करता है, प्रमाद का सेवन करता है और लिंग के योग्य कार्य करता हुआ दुःखी होता है तब जानना कि इसके भावशुद्धि से लिंग ग्रहण नहीं हुआ और भाव बिगड़े तो उसका फल तो नरक ही होता है-ऐसा जानना।।११।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है' :–

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२।।

भोजन में रसग द्धि करे, व वर्ते कन्दर्पादि में।
मायावी अरु व्यभिचारी वह, तिर्यंच योनि है, श्रमण नहिं।।१२।।

अर्थ

जो लिंग धारण करके भोजन में रस की 'ग द्धि' अर्थात् अति आसक्ति उसको करता हुआ वर्तता है वह कन्दर्प आदि में वर्तता है, काम के सेवन की वांछा तथा

प्रमाद-निद्रा आदि जिसके प्रचुर बढ़ते हैं तब 'लिंगव्यवायी' अर्थात् व्यभिचारी होता है, 'मायी' अर्थात् उस काम सेवन के लिए अनेक छल करना विचारता है। जो ऐसा होता है वह तिर्यंचयोनि है-पशु तुल्य है, मनुष्य नहीं इसी कारण श्रमण नहीं है।

भावार्थ

ग हस्थपना छोड़कर आहार में लोलुपता करने लगा तो ग हस्थी में अनेक रसीले भोजन मिलते थे उन्हें क्यों छोड़ा ! इससे जाना जाता है कि आत्मभावना के रस को पहिचाना नहीं इसलिए विषय सुख की ही चाह रही तब भोजन के रस के साथ के अन्य भी विषयों की चाह होती है तब व्यभिचार आदि में प्रव त्ति करके लिंग को लजाता है, ऐसे लिंग से तो ग हस्थाचार ही श्रेष्ठ है-ऐसा जानना।।१२।।

उत्थानिका

आगे फिर इसी का विशेष कहते हैं :–

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। १३।।

आहार अर्थि दौड़ता कर, कलह खाता पिंड को।
ईर्ष्या करे जो अन्य से, वह श्रमण जिनमार्गी नहिं।।१३।।

अर्थ

जो लिंगधारी 'पिंड' जो आहार उसके निमित्त दौड़ता है तथा आहार के लिए कलह करके आहार को भोगता है, खाता है तथा उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्ष्या करता है वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।

भावार्थ

इस काल में जिनलिंग से भ्रष्ट होकर पहले अर्धफालक हुए, पीछे उनमें श्वेताम्बर आदि संघ हुए जिन्होंने शिथिलाचार का पोषण करके लिंग की प्रव त्ति बिगाड़ी

उनका यह निषेध है। उनमें अब भी कई ऐसे देखे जाते हैं जो आहार के लिए शीघ्र दौड़ते हैं, ईर्यापथ की सुध नहीं है तथा ग हस्थ के घर से आहार लाकर दो-चार इकट्ठे बैठकर खाते हैं और उसमें बटवारे में यदि सरस-नीरस आता है तो परस्पर कलह करते हैं तथा उसके लिए परस्पर में ईर्ष्या करते हैं, जो ऐसे प्रवर्तते हैं वे कैसे श्रमण ! वे जिनमार्गी तो नहीं हैं, कलिकाल के वेषी हैं, उनको जो साधु मानते हैं वे भी अज्ञानी हैं।।१३।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेव होइ सो समणो।। १४।।

गहता अदत्त का दान, परनिन्दा करे जो परोक्ष में।
जिनलिंग को धरते हुए भी, चोर सम वह श्रमण है।।१४।।

अर्थ

जो बिना दिया तो दान लेता है और परोक्ष में पर के दूषणों से पर की निंदा करता है वह जिनलिंग को धारण करता हुआ भी चोर के समान श्रमण है।

भावार्थ

जो जिनलिंग को धारण करके बिना दिया हुआ आहार आदि को ग्रहण करता है, दूसरे की देने की इच्छा नहीं है परन्तु उसे कुछ भयादि उत्पन्न करके लेना तथा निरादर से लेना सो भी बिना दिया तुल्य जानना और परोक्ष पर के दोष कहता है वह श्रमण वेष में चोर है। बिना दिया लेना ओर छिपकर कार्य करना-ये तो चोर के कार्य हैं। यह वेष धारण करके ऐसा करने लगा तब चोर ही ठहरा इसलिए ऐसा वेषी होना योग्य नहीं है।।१४।।

आगे कहते हैं कि जो 'लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तता है वह श्रमण नहीं है' :–

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।
इरियावह धावंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १५।।

उछले, गिरे अरु दौड़े, भूमि खोदे लिंगी रूप में।
नहिं शुद्धि ईर्यापथ की, वह तिर्यंच योनि है, श्रमण नहिं।।१५।।

अर्थ

लिंग धारण करके तो ईर्यापथ सोधकर चलना था उसमें सोधकर नहीं चलता, दौड़कर चलता हुआ उछलता है, गिर पड़ता है, फिर उठकर दौड़ता है और प थ्वी को खोदता है, चलते हुए ऐसा पैर पटकता है जिससे प थ्वी खुद जाए अर्थात् ऐसा चलता है वह तिर्यंचयोनि है, पशु अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है, श्रमण नहीं है।।१५।।

आगे कहते हैं कि 'वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा से बंध होता है उसको नहीं गिनता हुआ जो स्थावर जीवों की हिंसा स्वच्छन्द होकर करता है वह श्रमण नहीं है' :–

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह व वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १६।।

जो धान्य खंडे, खोदे वसुधा, बंध को गिनता नहीं।
बहु बार छेदे तरूगण, तिर्यंचयोनि वह, श्रमण नहिं।।१६।।

अर्थ

जो लिंग धारण करके और वनस्पति आदि की हिंसा से बंध होता है उसको

दूषण नहीं देता हुआ, बंध को नहीं गिनता हुआ 'शस्य' अर्थात् धान्य उसका खंडन करता है तथा वैसे ही 'वसुधा' अर्थात् प थ्वी उसका खंडन करता है, उसे खोदता है तथा बहुत बार 'तरुगण' अर्थात् व क्षों का समूह उसको छेदता है ऐसा लिंगी तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

वनस्पति आदि स्थावर जीव जिनसूत्र में कहे हैं और उनकी हिंसा से कर्म का बंध कहा है उसको निर्दोष गिनता हुआ जो कहता है कि 'इसमें क्या दोष है, कैसा बंध है' और ऐसा मानता हुआ वैद्यकर्म के लिए औषधादि का तथा धान्य का, प थ्वी का और व क्षों का खंडन करता है, उन्हें खोदता है एवं छेदता है, वह अज्ञानी पशु है, लिंग धारण करके श्रमण कहलाता है परन्तु श्रमण नहीं है।।१६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करता है और दूसरों को दूषण देता है वह श्रमण नहीं है' :–

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १७।।

नित राग महिलावर्ग से अरु, देता दूषण अन्य को।
है दर्शज्ञानविहीन वह, तिर्यंचयोनि है, श्रमण नहिं।।१७।।

अर्थ

जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह के प्रति तो निरन्तर राग–प्रीति करता है और दूसरे जो कोई अन्य निर्दोष हैं उनको दोष लगाता है–दूषण देता है। कैसा है वह-दर्शन और ज्ञान से हीन है। ऐसा लिंगी तिर्यंचयोनि है, पशु समान है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

जो लिंग धारण करता है उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है और परद्रव्यों से राग-द्वेष नहीं करना-ऐसा चारित्र होता है। वहाँ जो स्त्रियों के समूह से तो राग-प्रीति करता है और अन्य को दूषण लगाकर उससे द्वेष करता है, व्यभिचारी का सा स्वभाव है उसके काहे का दर्शन-ज्ञान और काहे का चारित्र ! लिंग धारण करके लिंग में जो करने योग्य था वह नहीं किया तब अज्ञानी पशु समान ही है, श्रमण कहलाता है परन्तु आप भी मिथ्याद ष्टि है और दूसरे को मिथ्याद ष्टि करने वाला है, ऐसे का प्रसंग युक्त नहीं है।।१७।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १८।।

दीक्षाविहीन ग हस्थ अरु, शिष्यों पे रखता स्नेह बहु।
आचारविनयविहीन वह, तिर्यंचयोनि है, श्रमण नहिं।।१८।।

अर्थ

जिस लिंगी के 'प्रव्रज्या' जो दीक्षा उससे रहित जो ग हस्थ उन पर और शिष्यों में बहुत स्नेह वर्तता है और जो आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और गुरुओं की विनय से रहित होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशु अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

ग हस्थों से तो बारबार लालपाल (लाड़-प्यार) रखे और शिष्यों से स्नेह बहुत रखे और मुनि की प्रव त्ति-आवश्यक आदि कुछ करे नहीं, गुरुओं से प्रतिकूल रहे-उनकी विनयादि करे नहीं, ऐसा लिंगी पशु समान है, उसको साधु नहीं कहते।।१८।।

आगे कहते हैं कि 'जो लिंग धारण करके ऐसे पूर्वोक्त प्रकार प्रवर्तता है वह श्रमण नहीं है-ऐसा संक्षेप से कहते हैं' :–

एवं सहिओ मुणिवर ! संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो।। १९।।

इम वर्तता जो संयतों के, मध्य नित्य रहे भले।
जाने बहुत श्रुत किन्तु, भावविनष्ट है वह, श्रमण नहिं।।१९।।

अर्थ

हे मुनिवर ! 'एवं' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्रव त्ति सहित जो वर्तता है ऐसा लिंगधारी यदि संयमी मुनियों के मध्य भी निरन्तर रहता है और बहुत शास्त्रों को भी जानता है तो भी भाव से नष्ट है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

ऐसा पूर्वोक्त प्रकार का लिंगी जो सदा मुनियों में रहता है और बहुत शास्त्रों को जानता है तो भी वह क्योंकि भाव जो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणाम उससे रहित है इसलिए मुनि नहीं है, भ्रष्ट है और अन्य मुनियों के भाव बिगाड़ने वाला है।।१९।।

आगे फिर कहते हैं कि 'जो स्त्रियों का संसर्ग बहुत रखता है वह भी श्रमण नहीं है' :–

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देह वीसत्थो।
पासत्थ वि हु णियत्थो भावविणट्ठो ण सो समणो।। २०।।

दे ज्ञान-दर्शन-चरित, कर विश्वस्त महिलावर्ग को।
पार्श्वस्थ से भि निकृष्ट, भावविनष्ट है वह, श्रमण नहिं।।२०।।

अर्थ

जो लिंग धारण करके और स्त्रियों के समूह में उनका विश्वास करके तथा उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को देता है, उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना ज्ञान देता है, उनको दीक्षा देता है, प्रव त्ति सिखाता है-इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कराके उनमें प्रवर्तता है सो ऐसा लिंगी पार्श्वस्थ भी है और पार्श्वस्थ से भी निक ष्ट है, प्रकट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ

लिंग धारण करके स्त्रियों को विश्वास उत्पन्न कराके उनसे निरन्तर पढ़ना-पढ़ाना और लालपाल रखता है उसको जानना कि इसका भाव खोटा है। पार्श्वस्थ भ्रष्ट मुनि को कहते हैं, उससे भी यह निक ष्ट है, ऐसे को साधु नहीं कहते।।२०।।

उत्थानिका

आगे फिर कहते हैं :–

पुंछलिघरि जसु भुंजदि णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो समणो।। २१।।

व्यभिचारिणी घर अशन, नित कर स्तुती तन पोषे जो।
पाता है बालस्वभाव, भावविनष्ट है वह, श्रमण नहिं।।२१।।

अर्थ

जो लिंग धारण कर और 'पुंश्चली' जो व्यभिचारिणी स्त्री उसके घर भोजन लेता है, आहार करता है और नित्य उसकी स्तुति करता है, उसको सराहता है कि 'यह बड़ी धर्मात्मा है, इसको साधुओं की बड़ी भक्ति है'–ऐसे नित्य उसकी सराहना करता है, इस प्रकार शरीर को पालता है (उसका लालन-पालन करता है प्यार करता है) सो ऐसा लिंगी बालस्वभाव को प्राप्त होता है, भाव से विनष्ट है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थ

जो लिंग धारण करके व्यभिचारिणी का आहार खा शरीर पालता है, उसकी

नित्य सराहना करता है तब ज्ञात होता है कि यह भी व्यभिचारी है, अज्ञानी है, जिसको लज्जा भी नहीं आती इस प्रकार भाव से विनष्ट है, मुनिपने के भाव नहीं तब मुनि काहे का !।।२१।।

उत्थानिका

आगे इस 'लिंगपाहुड' को पूर्ण करते हैं और कहते हैं कि 'जो धर्म को यथार्थ पालता है वह उत्तम सुख पाता है' :–

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहिं देसियं धम्मं।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं।। २२।

इस रीति देशित सर्वबुद्ध से, 'लिंगपाहुड़' जान जो।
मुनिधर्म पाले कष्ट से, पाता है उत्तम थान वह।।२२।।

अर्थ

इस प्रकार इस 'लिंगपाहुड़' शास्त्र का सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने उपदेश दिया है उसको जानकर और जो मुनिधर्म को कष्ट सहित बड़े यत्न से पालता है, रखता है सो उत्तम स्थान जो मोक्ष उसको पाता है।

भावार्थ

यह मुनि का लिंग है सो बड़े पुण्य के उदय से पाया जाता है उसको पाकर और फिर खोटे कारण मिलाकर यदि उसको बिगाड़ता है तो जाना जाता है कि यह बड़ा निर्भागी है, चिंतामणि रत्न पाकर कौड़ी समान गंवाता है इसलिए आचार्य ने उपदेश किया है कि ऐसा पद पाकर उसको बड़े यत्न से रखना, कुसंगति से बिगाड़ने पर जैसे पहले संसार भ्रमण था वैसे फिर अनन्त संसार में भ्रमण होगा और यत्न से पालेगा तो शीघ्र ही मोक्ष पायेगा इसलिए जिसको मोक्ष चाहिये वह मुनिधर्म को पाकर यत्न सहित पालो, परिषह का-उपसर्ग का कष्ट आवे तो भी चिगो मत-यह श्री सर्वज्ञ देव का उपदेश है।।२२।।

ऐसे यह 'लिंगपाहुड' ग्रन्थ पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसा है–'इस पंचम काल में जिनलिंग धारणकर फिर दुर्भिक्ष काल के निमित्त से भ्रष्ट हुए, वेष बिगाड़ा, अर्धफालक कहलाये, उनमें फिर श्वेताम्बर हुए, उनमें भी यापनीय हुए इत्यादि होकर शिथिलाचार पोषने के शास्त्र रचकर स्वच्छंद हुए, उनमें कितने ही निपट निंद्य प्रव त्ति करने लगे, उनके निषेध के बहाने से सबको उपदेश देने को यह ग्रंथ है, उसको समझकर श्रद्धान करना। ऐसे निंद्य आचरण वालों को साधु मोक्षमार्गी न मानना, उनकी वंदना-पूजन न करना–यह उपदेश है।

छप्पय

लिंग मुनी को धारि, पाप जो भाव बिगारै।
सो निंदा कूं पाय, आप को अहित विथारै।
ताकूं पूजै थुवै, वंदना करै जु केई।
ते भी तैसै होय, साथि दुर्गति कूं लेई।।
यातैं जे सांचे मुनि भये, भाव शुद्ध मैं थिर रहे।
तिनि उपदेशे मारग लगे, ते सांचे ज्ञानी कहे।।१।।

अर्थ

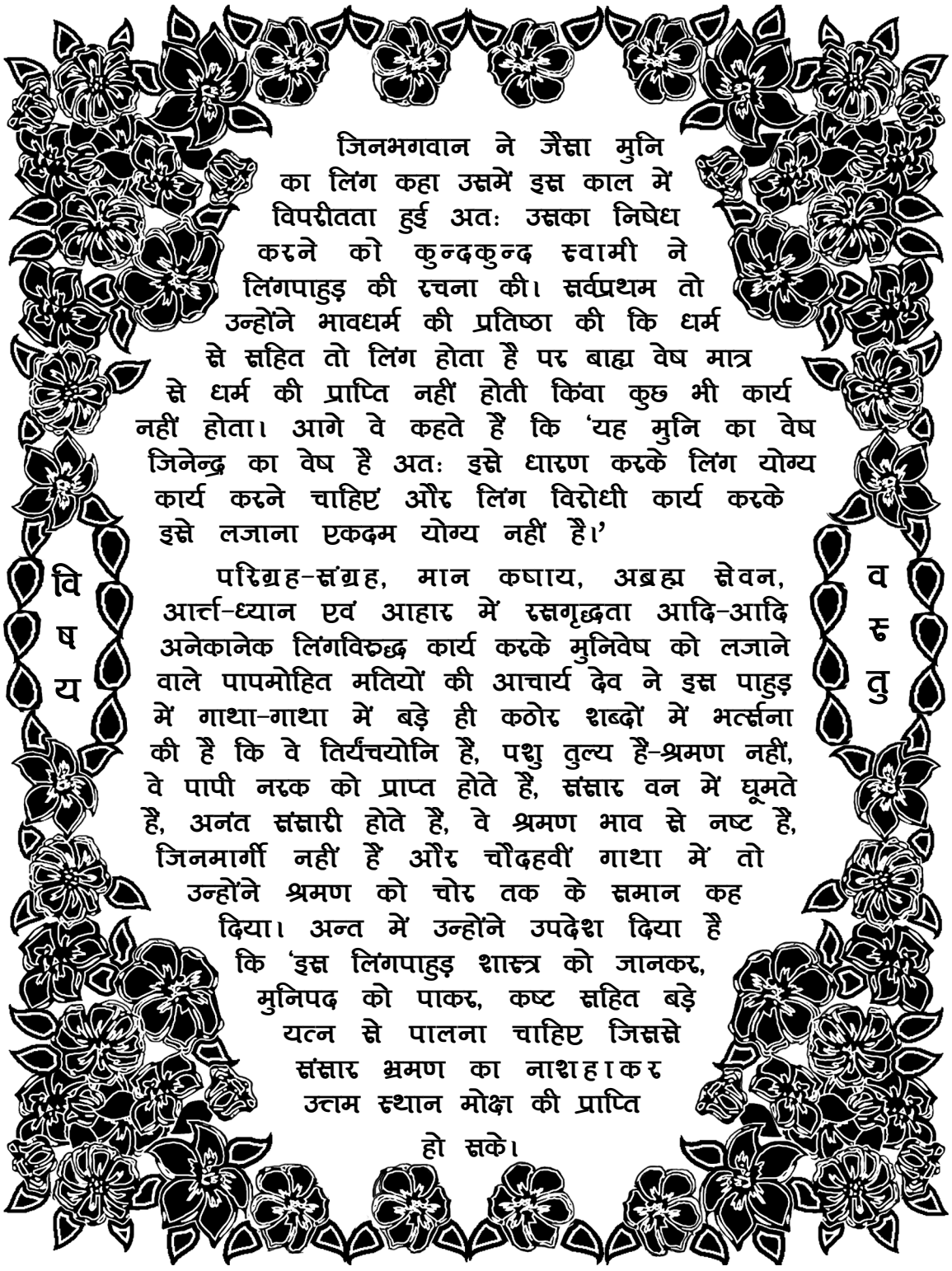
मुनिलिंग को धारण करके जो अपने भाव बिगाड़कर पापमय करते हैं वे निंदा को पाते हैं और अपना अहित करते हैं और जो कोई उनकी पूजा, स्तुति एवं वंदना करते हैं वे भी वैसे ही अर्थात् उन जैसे ही क्योंकि होते हैं अतः उनके साथ दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं इस कारण जो सच्चे मुनि होते हैं वे शुद्ध भाव में स्थिर रहते हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर जो चलते हैं वे सच्चे ज्ञानी कहलाते हैं।।१।।

दोहा

अंतर बाहरि शुद्ध जे जिन मुद्रा कूं धारि।
भये सिद्ध आनंदमय, वंदौं योग संवारि।।२।।

अर्थ

जिनमुद्रा को धारण करके अन्तरंग और बहिरंग से शुद्ध होकर जो आनन्दमय सिद्ध हो गये उनकी मैं मन-वचन-काय योग संवारकर वंदना करता हूँ।।२।।



जिनभगवान ने जैसा मुनि का लिंग कहा उसमें इस काल में विपरीतता हुई अतः उसका निषेध करने को कुन्दकुन्द स्वामी ने लिंगपाहुड़ की रचना की। सर्वप्रथम तो उन्होंने भावधर्म की प्रतिष्ठा की कि धर्म से सहित तो लिंग होता है पर बाह्य वेष मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती किंवा कुछ भी कार्य नहीं होता। आगे वे कहते हैं कि 'यह मुनि का वेष जिनेन्द्र का वेष है अतः इसे धारण करके लिंग योग्य कार्य करने चाहिए और लिंग विरोधी कार्य करके इसे लजाना एकदम योग्य नहीं है।'

विषय वस्तु

परिग्रह-संग्रह, मान कषाय, अब्रह्म सेवन, आर्त्त-ध्यान एवं आहार में रसगृद्धता आदि-आदि अनेकानेक लिंगविरुद्ध कार्य करके मुनिवेष को लजाने वाले पापमोहित मतियों की आचार्य देव ने इस पाहुड़ में गाथा-गाथा में बड़े ही कठोर शब्दों में भर्त्सना की है कि वे तिर्यंचयोनि हैं, पशु तुल्य हैं-श्रमण नहीं, वे पापी नरक को प्राप्त होते हैं, संसार वन में घूमते हैं, अनंत संसारी होते हैं, वे श्रमण भाव से नष्ट हैं, जिनमार्गी नहीं हैं और चौदहवीं गाथा में तो उन्होंने श्रमण को चोर तक के समान कह दिया। अन्त में उन्होंने उपदेश दिया है कि 'इस लिंगपाहुड़ शास्त्र को जानकर, मुनिपद को पाकर, कष्ट सहित बड़े यत्न से पालना चाहिए जिससे संसार भ्रमण का नाशकर उत्तम स्थान मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

गाथा चयन



गाथा २–'धम्मेण होइ लिंगं....' **अर्थ**–धर्म से तो लिंग होता है परन्तु बाह्य लिंग मात्र ही से धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसीलिए तू भाव को ही धर्म जान। केवल लिंग ही से तेरा क्या कार्य होता है, कुछ भी नहीं।।१।।

गा० ३–'जो पावमोहिदमदी....' **अर्थ**–पाप से मोहित बुद्धि वाला ऐसा जो पुरुष जिनवरेन्द्र के लिंग को ग्रहण करके लिंगीपने के भाव को हास्य मात्र गिनता है वह वेषधारियों में नारद लिंगी के समान है अथवा गाथा के चौथे चरण का पाठान्तर है 'लिंग णासेदि लिंगीणं'-इसका अर्थ है कि यह लिंगी अन्य लिंगधारियों के लिंग को भी नष्ट करता है अर्थात् ऐसा जनाता है कि लिंगी सब ऐसे ही हैं।।२।।

गा० ५–'संमूहदि रक्खेदि....' **अर्थ**–जो बहुत प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह का संग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है तथा उसके लिए निरन्तर आर्तध्यान ध्याता है वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है, श्रमण नहीं।।३।।

गा० ७–'पाओपहदोभावो....' **अर्थ**–पाप से जिसका आत्मभाव नष्ट हो गया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिंग धारण कर अब्रह्म का सेवन करता है वह पाप से मोहितबुद्धि संसार समुद्र में भ्रमण करता है।।४।।

गा० ८–'दंसणणाणचरित्ते उवहाणे....' **अर्थ**–जो लिंग धारण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को तो उपधान अर्थात् धारण नहीं करता और आर्तध्यान को ध्याता है वह अनन्त संसारी होता है।।५।।

गा० ११–'दंसणणाणचरित्ते....' **अर्थ**–जो लिंग धारण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारण और तप, संयम, नियम और नित्यकर्म आदि क्रियाओं को करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है वह नरकवास पाता है।।6।।

गा० १२–'कंदप्पाइय वट्टइ....' **अर्थ**–जो लिंग धारण कर भोजन की अति आसक्ति करता हुआ कामसेवनादि क्रियाओं में वर्तता है वह व्यभिचारी और मायावी तिर्यंचयोनि है, पशु तुल्य है, श्रमण नहीं।।।7।।

गा० १३–'धावदि पिंडणिमित्तं....' **अर्थ**–जो मुनि आहार के लिए दौड़ता है, कलह करके भोजन करता है और उसके निमित्त दूसरे से परस्पर ईर्ष्या करता है वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।।8।।

गा० १४–'गिण्हदि अदत्तदाणं....' **अर्थ**–जो बिना दिया तो दान लेता है और पीठ पीछे दूषण लगाकर दूसरे की निन्दा करता है वह श्रमण जिनलिंग को धारण करता हुआ भी चोर के समान है।।9।।

गा० १७–'रागो करेदि....' **अर्थ**–जो स्त्रियों के समूह के प्रति निरंतर राग करता है, पर निर्दोष प्राणियों को दूषण देता है और दर्शन व ज्ञान से रहित है-ऐसा लिंगी तिर्यंचयोनि है, श्रमण नहीं।।१०।।

गा० १8–'पव्वज्जहीणगहिणं....' **अर्थ**–जो लिंगी दीक्षा रहित ग हस्थों में और शिष्यों में बहुत स्नेह रखता है तथा मुनियों का आचार और गुरुओं की विनय से रहित होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशु है, श्रमण नहीं।।११।।

गा० १9–'एवं सहिओ मुणिवर....' **अर्थ**–ऐसी पूर्वोक्त खोटी प्रव त्तियों सहित जो लिंगधारी सदा संयमी मुनियों के बीच में निरन्तर रहता है और बहुत शास्त्रों को भी जानता है तो भी वह भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है।।१२।।





सूक्ति प्रकाश

१. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमित्तेण धम्मसंपत्ती।। गाथा २।।

अर्थ–धर्म से ही लिंग होता है, बाह्य लिंग मात्र ही से धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

२. जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।। २।।

अर्थ–हे जीव ! तू भाव को ही धर्म जान, भावरहित बाह्य लिंग से तेरे क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता।

३. अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होई।। ४।।

अर्थ–जो आर्तध्यान को ध्याता है वह लिंगी अनन्त संसारी होता है।

४. माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२।।

अर्थ–लिंगव्यवायी अर्थात् व्यभिचारी और मायी अर्थात् कामसेवन के लिए अनेक छल विचारने वाला तिर्यंच योनि है, श्रमण नहीं।

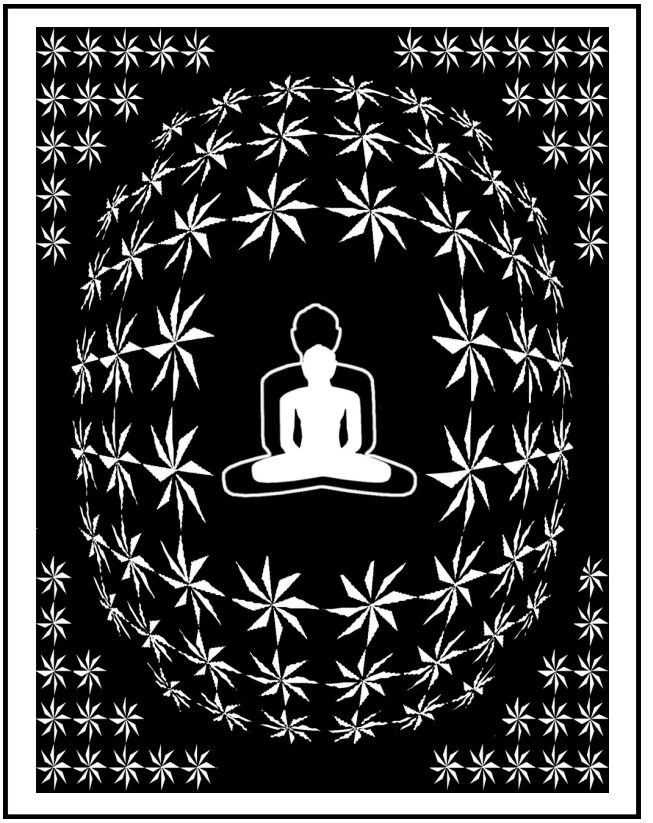
५. दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १७।।

अर्थ–दर्शन-ज्ञान से विहीन लिंगी तिर्यंच योनि है, पशु समान है, श्रमण नहीं।

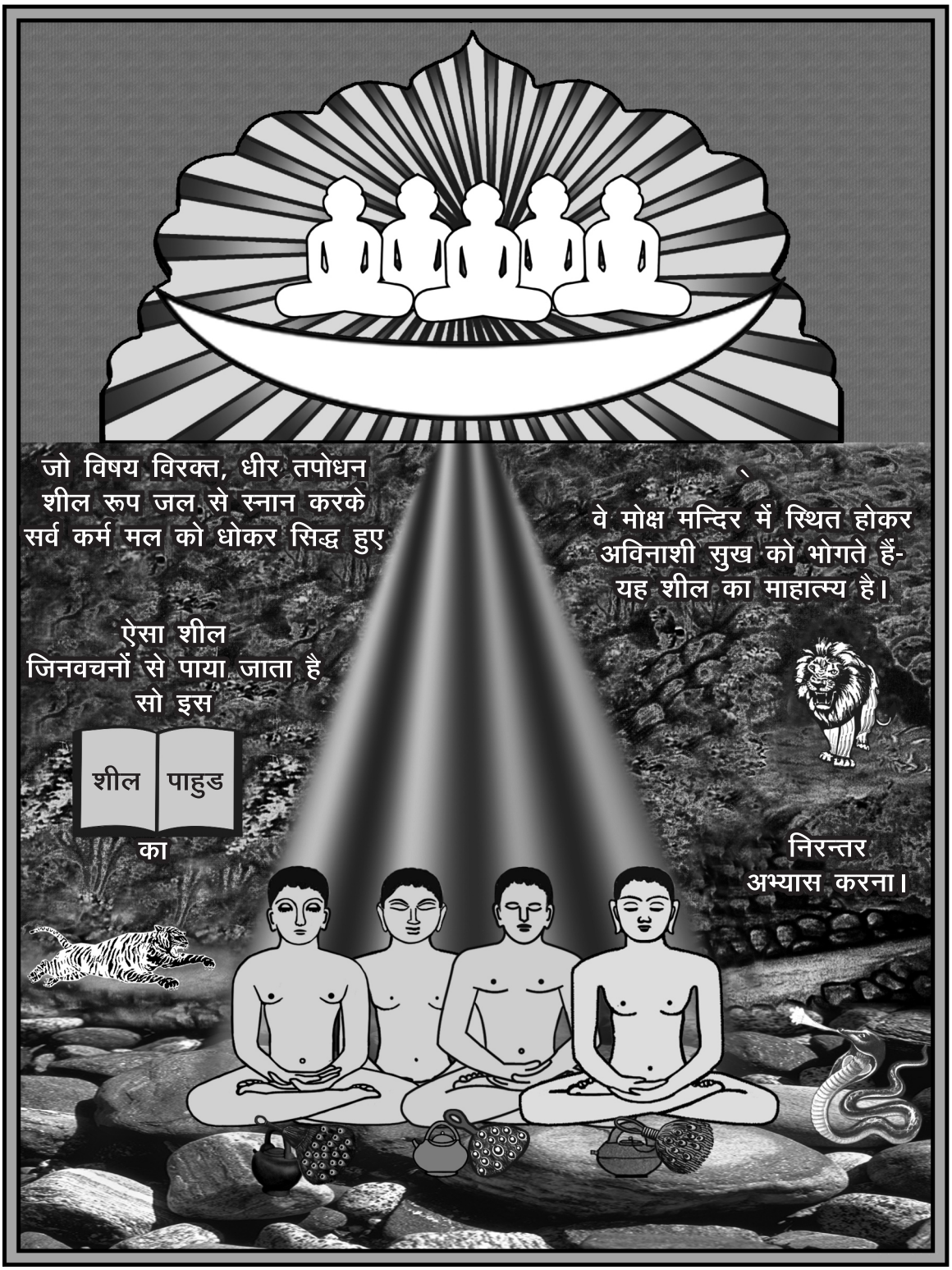
६. आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १४।।

अर्थ–मुनियों का आचार और गुरुओं की विनय से हीन लिंगी तिर्यंच योनि है, पशु है, श्रमण नहीं।

शील 8 पाहुड़



प्रारम्भिक सूक्ति


जो विषय विरक्त, धीर तपोधन
शील रूप जल से स्नान करके
सर्व कर्म मल को धोकर सिद्ध हुए
वे मोक्ष मन्दिर में स्थित होकर
अविनाशी सुख को भोगते हैं-
यह शील का माहात्म्य है।
ऐसा शील
जिनवचनों से पाया जाता है
सो इस
शील
पाहुड
का
निरन्तर
अभ्यास करना।

अनुक्रम

1. गाथा विवरण

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१.	आचार्यदेव की मंगलाचरणपूर्वक शील प्रतिपादन की प्रतिज्ञा	८–७
२.	शील व ज्ञान में अविरोध, शील के बिना विषयों के द्वारा ज्ञान का घात	८–८
३.	ज्ञान की, ज्ञानभावना की व विषय विरक्ति की उत्तरोत्तर दुर्लभता	८–९
४.	विषयों में रत को ज्ञान की प्राप्ति नहीं और ज्ञान के बिना विषयविरक्त के भी कर्मक्षपण नहीं	८–१०
५.	चारित्रहीन ज्ञान, दर्शनहीन लिंगग्रहण व संयमहीन तप निरर्थक है	८–११
६.	चारित्रशुद्ध ज्ञान, दर्शनविशुद्ध लिंगग्रहण और संयम सहित थोड़ा तप भी महा फलदायक है	८–१२
७.	ज्ञान को जानकर भी विषयों में आसक्त जन का चतुर्गति में हिण्डन	८–१२
८.	विषयविरक्त व ज्ञानभावना सहित तपस्वी का चतुर्गति बन्धछेदन	८–१३
९.	निर्मल ज्ञान जल के द्वारा जीव की विशुद्धता का द ष्टान्तपूर्वक समर्थन	८–१४
१०.	ज्ञानगर्वित होकर विषयरत होने में ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष है	८–१४
११.	सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप एवं चारित्र से निर्वाण	८–१५
१२.	विषयविरक्त, दर्शनशुद्ध और द ढ़ चारित्रधारी जीवों का नियम से निर्वाण होता है	८–१६
१३.	विषय विमोहित भी सन्मार्ग निरूपकों को मार्ग प्राप्ति, उन्मार्ग प्ररूपकों का ज्ञान भी निरर्थक	८–१७

क्रमांक	विषय	पष्ठ
१४.	बहुशास्त्रज्ञ भी शील, व्रत और ज्ञान रहित कुमत-कुशास्त्र के प्रशंसक अनाराधक हैं	८–१८
१५.	शील, गुण रहित रूप, कान्ति व लक्ष्मीयुक्त जनों का भी मनुष्य जन्म निरर्थक है	८–१९
१६.	व्याकरण, छंदशास्त्र व जिनागम आदि का ज्ञान होने पर भी उनमें शील ही सर्वोत्तम है	८–२०
१७.	'शीलगुणमंडित' देवों के भी प्रिय और 'दुःशील शास्त्रज्ञानी' मनुष्यों के भी अप्रिय हैं	८–२०
१8.	लौकिक सर्व सामग्री से न्यून भी शील सहित पुरुष का मनुष्य जीवन सफल है	८–११
१9.	जीवदया और इन्द्रियदमन आदि शील के परिवारभूत गुण है	८–२२
२०.	शील की भारी महिमा–यह ही विशुद्ध तप, दर्शन, ज्ञान आदि रूप है एवं यह ही मोक्ष की पैड़ी है	८–२३
२१.	सर्व विषों में विषय रूपी विष दारुण है	८–२३
२२.	विष की वेदना से एक बार मरण पर विषयविषपरिहत का संसार वन में अतिशय भ्रमण	८–२४
२३.	विषयासक्त जीवों को चारों गतियों के दुःखों का भोग।	८–२५
२४.	तप व शीलवान पुरुषों द्वारा विषयों का खल के समान परिहार	८–२५
२५.	सुन्दर सर्वांगों के प्राप्त होने पर भी सबमें शील नामक अंग ही उत्तम रूप है	८–२७
२६.	कुमतमूढ़ व विषयासक्त कुशील जीवों का अरहट घड़ी के समान संसार परिभ्रमण	८–२८
२७.	जीव विषय राग से कर्म ग्रंथि को बाँधता व शील द्वारा खोलता है	८–२९

क्रमांक	विषय	पष्ठ
२८.	तप, विनय आदि रत्नों से युक्त आत्मा की शील जल से ही शोभायमानता–समुद्र के समान	८–३०
२९.	शीलवंत पुरुषों द्वारा ही मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति	८–३१
३०.	शील के बिना कोरे ज्ञान से मोक्ष होता तो दस पूर्व का पाठी रुद्र नरक क्यों गया	८–३२
३१.	शील के बिना ज्ञान ही से भावशुद्धि की असंभवता–पूर्वोक्त रुद्र का द ष्टान्त	८–३२
३२.	विषयविरक्त जीव द्वारा नरक की भारी वेदना को भी गंवाकर अर्हन्त पद की प्राप्ति	८–३३
३३.	शील से ही अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय मोक्षपद का लाभ	८–३४
३४.	शील पवन से प्रेरित पंचाचार रूप अग्नि से पूर्वसंचित कर्मेन्धनों का दहन होता है	८–३५
३५.	जितेन्द्रिय, धीर एवं विषयविरत पुरुषों द्वारा कर्मदहन व मोक्ष लाभ	८–३५
३६.	शीलवंत गुणी महात्माओं के गुणों का विस्तार लोक में फैलता है	८–३६
३७.	सम्यग्दर्शन से ही जिनशासन में रत्नत्रय की अर्थात् आत्मस्वभाव रूप शील की प्राप्ति होती है	८–३७
३८.	विषयविरक्त धीर तपोधन शील रूपी जल से स्नान करके सिद्धालय का सुख पाते हैं	८–३८
३९.	क्षीणकर्मा सुख-दुःख विवर्जित आत्माओं के शील से ही कर्मरज नष्ट होकर आराधना प्रकट होती हैं	८–३९
४०.	अरिहंत भक्ति रूप सम्यक्त्व और विषयविरक्ति रूप शील सहित ज्ञान से ही सर्व सिद्धि	८–४०

2. विषय वस्तु ८–४५
3. गाथा चयन ८–४६
4. सूक्ति प्रकाश ८–४७-४८
5. गाथा चित्रावली ८–४९-५७
6. अंतिम सूक्ति चित्र
शील पा० समाप्त ८–५८



दोहा

भव की प्रक□ति निवारिकै, प्रगट किये निज भाव।
ह्वै अरहंत जु सिद्ध फुनि, वंदौं तिनि धरि चाव।।1।।

अर्थ

संसार की प्रक ति का निवारण करके जिन्होंने अपने स्वभाव को प्रकट किया और अरहंत होकर जो पुनः सिद्ध हो गये उनकी मैं चाव धरकर वंदना करता हूँ।।१।।

इस प्रकार इष्ट को नमस्कार रूप मंगल करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यक त प्राक त गाथाबद्ध 'शीलपाहुड़' नामक ग्रंथ की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :–



उत्थानिका

प्रथम ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रंथ की आदि में इष्ट को नमस्कार रूप मंगल करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं :–

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह।। १।।

विस्तीर्ण नयन हैं वीर, अम्बुज रक्त कोमल चरणयुत।
करके मैं त्रिविध प्रणाम उनको, शील गुण को कहूँगा।।१।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि मैं 'वीर' अर्थात् अंतिम तीर्थंकर जो श्री वर्द्धमान स्वामी, परम भट्टारक, उनको मन-वचन-काय से नमस्कार करके और 'शील' जो निजभाव रूप प्रक ति उसके गुणों को अथवा शील और सम्यग्दर्शनादि गुणों को कहूँगा। कैसे हैं श्री वीर वर्द्धमान स्वामी–विशालनयन हैं, जिनके बाह्य में तो पदार्थों को देखने को नेत्र विशाल हैं, विस्तीर्ण हैं, सुन्दर हैं और अन्तरंग में केवलदर्शन, केवलज्ञान रूप नेत्र समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं। और वे कैसे हैं–'रक्तोत्पलकोमलसमपाद' अर्थात् रक्त कमल के समान कोमल जिनके चरण हैं, वैसे अन्य के नहीं हैं इसलिए सबके द्वारा सराहने योग्य हैं, पूजने योग्य हैं। इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी होता है कि 'रक्त' अर्थात् राग रूप आत्मा के भाव को 'उत्पल' दूर करने में 'कोमल' और 'सम' अर्थात् कठोरतादि दोष और राग–द्वेष रहित हैं 'पाद' अर्थात् वाणी के पद जिनके अर्थात् कोमल हित-मित-मधुर और रागद्वेष रहित उनके वचन प्रवर्तते हैं जिनसे सबका कल्याण होता है।

भावार्थ

इस प्रकार वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार रूप मंगल करके आचार्य ने शीलपाहुड़ ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है।।१।।

उत्थानिका

आगे शील का रूप तथा उससे गुण होता है सो कहते हैं:–

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।। २।।

है शील एवं ज्ञान में ना, विरोध बुध निर्दिष्ट यह।
पर विषय नाशें शीलविरहित, ज्ञान को है विशेष यह।।२।।

अर्थ

शील में और ज्ञान में ज्ञानियों ने विरोध–नहीं कहा है। ऐसा नहीं है कि जहाँ शील हो वहाँ ज्ञान न हो और जहाँ ज्ञान हो वहाँ शील न हो तथा यहाँ जो 'णवरि' अर्थात् विशेष है सो कहते हैं–शील बिना 'विषय' अर्थात् इन्द्रियों के जो विषय हैं वे ज्ञान का विनाश करते हैं, उसे नष्ट करते हैं अर्थात् मिथ्यात्व, रागद्वेषमय-अज्ञान रूप करते है।

भावार्थ

यहाँ ऐसा जानना कि 'शील' नाम स्वभाव का-प्रक ति का प्रसिद्ध है सो आत्मा का सामान्य से ज्ञान स्वभाव है जिस ज्ञान स्वभाव में अनादि कर्म के संयोग से मिथ्यात्व एवं राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं सो यह ज्ञान की प्रक ति 'कुशील' नाम पाती है, इस प्रक ति से संसार उत्पन्न होता है इसलिए इसको 'संसार प्रक ति' कहते हैं, अज्ञान रूप कहते हैं, इस प्रक ति से संसार पर्याय में अपनापना मानता है तथा परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है तथा यह प्रक ति पलटती है तब मिथ्यात्व का अभाव कहा जाता है तब संसार पर्याय में अपनापना नहीं मानता तथा पर द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती और इस भाव की पूर्णता नहीं होती तब तक चारित्रमोह के उदय से कुछ राग-द्वेष रूप कषाय परिणाम उत्पन्न होते हैं जिनको कर्म का उदय जानता है, उन भावों को त्यागने योग्य जानता है, त्यागना चाहता है-ऐसी प्रक ति हो तब सम्यग्दर्शन रूप भाव कहलाता है, इस सम्यग्दर्शन भाव से ज्ञान भी सम्यक् नाम पाता है,

और यथापदवी चारित्र की प्रव त्ति होती है, जितने अंशों मे राग-द्वेष घटता है उतने अंशों में चारित्र कहलाता है तथा ऐसी प्रक ति को सुशील कहते हैं-यह कुशील-सुशील का सामान्य अर्थ है।

वहाँ सामान्य से विचारें तब तो ज्ञान ही कुशील है और ज्ञान ही सुशील है इसलिये ऐसा कहा है कि ज्ञानके और शील के विरोध नहीं है तथा जब संसार प्रक ति पलट कर मोक्ष के सन्मुख प्रक ति होती है तब सुशील कहलाता है इसलिये ज्ञान में और शील में विशेष कहा। यदि ज्ञान में सुशील नहीं आता तो ज्ञान को इन्द्रियों के विषय नष्ट करते हैं, उसे अज्ञान रूप करते हैं तब वह कुशील नाम पाता है।

यहाँ कोई पूछता है कि गाथा में ज्ञान-अज्ञान का तथा कुशील-सुशील का नाम तो नहीं कहा, ज्ञान और शील ऐसा ही कहा है। **उसका समाधान ऐसा है** कि पूर्व गाथा में ऐसी प्रतिज्ञा की कि मैं शील के गुणों को कहूँगा उससे ऐसा जाना जाता है कि आचार्य के आशय में सुशील ही के कहने का प्रयोजन है, सुशील ही को शील नाम से कहते हैं, शील बिना कुशील कहलाता है।

तथा यहाँ 'गुण' शब्द उपकारवाचक तथा विशेष का वाचक लेना, शील से उपकार होता है तथा शील का विशेष गुण है सो कहेंगे। इस प्रकार ज्ञान में यदि शील नहीं आता तो कुशील होता है, इन्दिय-विषयों में आसक्त होता है तब ज्ञान अज्ञान नाम पाता है—ऐसा जानना। व्यवहार में शील नाम स्त्री का संसर्ग वर्जन करने का भी है सो भी विषय सेवन का ही निषेध है तथा पर द्रव्यमात्र का संसर्ग छोड़ना और आत्मा में लीन होना सो परम ब्रह्मचर्य है—ऐसे ये शील ही के नामान्तर जानना।।२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान होने पर भी ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना कठिन है' :—

दुक्खेणेयदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई य जीवो विसएसु विवज्जए दुक्खं।। ३।।

हो ज्ञान दुःख से, भावना हो दुःख से पा ज्ञान को।
हो भावनायुत भी यदि, विषयों को त्यागे दुःख से।। ३।।

अर्थ

प्रथम तो ज्ञान है सो ही दुःख से प्राप्त होता है तथा कदाचित् ज्ञान भी पावे तो उसको जानकर उसकी भावना करना और बार-बार अनुभव करना दुःख से होता है तथा कदाचित् ज्ञान की भावना सहित भी जीव हो तो विषयों को दुःख से त्यागता है।

भावार्थ

ज्ञान को पाना, फिर उसकी भावना करना तथा फिर विषयों का त्याग करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है और विषयों को त्यागे बिना प्रकृति पलटी हुई नहीं जानी जाती अतः पूर्व में ऐसा कहा है कि विषय ज्ञान को बिगाड़ते हैं सो विषयों को त्यागना सो ही सुशील है।।३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह जीव जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना विषयों से विरक्त हो तो भी कर्मों का क्षय नहीं करता' :-

ताव ण जाणदि णाणं विसयवलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराईयं कम्मं।। ४।।

तब तक न जाने ज्ञान को, जब तक विषय वशीभूत हो।
केवल विषय की विरति से, नहिं क्षपण पूरव कर्म का।।४।।

अर्थ

जब तक यह जीव 'विषयवलो' अर्थात् विषयों के वशीभूत हुआ वर्तता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता तथा ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों से विरक्ति मात्र से ही पूर्व में बाँधे जो कर्म उनका क्षय नहीं करता।

भावार्थ

जीव का उपयोग क्रमवर्ती है और स्वच्छ स्वभाव है क्योंकि वह जिस ज्ञेय को जानता है उस काल उससे तन्मय होकर वर्तता है इसलिए जब तक विषयों में आसक्त हुआ वर्तता है तब तक ज्ञान का अनुभव नहीं होता, इष्ट-अनिष्ट भाव ही रहता है तथा ज्ञान का अनुभव हुए बिना कदाचित् विषयों को त्यागे तो वर्तमान विषयों को तो छोड़े परन्तु पूर्व में जो कर्म बाँधे थे उनका तो ज्ञान के अनुभव बिना क्षय होता नहीं, पूर्व में बँधे कर्मों का क्षय करने की तो ज्ञान ही की सामर्थ्य है इसलिए ज्ञान सहित होकर विषय त्यागना श्रेष्ठ है, विषयों को त्यागकर ज्ञान की भावना करना—यह ही सुशील है।।४।।

उत्थानिका

आगे ज्ञान का, लिंग ग्रहण का और तप का अनुक्रम कहते हैं :—

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दसंणविहूणं।
संजमहीणो य तओ जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।५।।

हो ज्ञान चारितहीन, लिंग का ग्रहण दर्शनहीन यदि।
संयम रहित तप आचरे तो, निरर्थक ये सर्व हैं।।५।।

अर्थ

ज्ञान तो चारित्र से रहित हो तो निरर्थक है, लिंग का ग्रहण दर्शन से रहित हो तो निरर्थक है तथा तप संयम से रहित हो तो निरर्थक है इस प्रकार ये आचरण किया जाए तो सब निरर्थक है।

भावार्थ

हेय-उपादेय का ज्ञान तो हो परन्तु त्याग-ग्रहण न करे तो ज्ञान निष्फल होता है, यथार्थ श्रद्धा के बिना वेष ले तो निष्फल होता है तथा इन्द्रिय-मन को वश करना और जीवों की दया करना सो संयम है, इसके बिना कुछ तप करे तो वह हिंसादि रूप विपरीत हो निष्फल होता है–ऐसे इनका आचरण निष्फल होता है।।५।।

उत्थानिका

आगे इसी कारण से ऐसा कहते हैं कि 'यदि इस प्रकार से थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है' :–

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तओ थोओ वि महाफलो होई।। ६।।

हो ज्ञान चारितशुद्ध, दर्शविशुद्ध लिंग का ग्रहण हो।
संयम सहित तप अल्प हो, तो भी महाफल युक्त हो।।६।।

अर्थ

ज्ञान तो चारित्र से शुद्ध, लिंग का ग्रहण दर्शन से विशुद्ध तथा संयम सहित तप–इस प्रकार से यदि थोड़ा भी आचरण करे तो महाफल रूप होता है।

भावार्थ

ज्ञान थोड़ा भी हो पर आचरण शुद्ध करे तो बड़ा फल होता है, यथार्थ श्रद्धापूर्वक वेष ग्रहण करे तो बड़ा फल होता है **जैसे सम्यग्दर्शन सहित श्रावक ही हो तो श्रेष्ठ और उसके बिना मुनि का वेष भी श्रेष्ठ नहीं तथा** इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम सहित उपवासादि तप थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है और विषयाभिलाष व दया रहित बड़ा कष्ट सहित तप करे तो भी फल नहीं होता–ऐसा जानना।।६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो कोई ज्ञान को जानकर भी विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं' :–

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चदुरगतिं विसएसु विमोहिया मूढा।।७।।

नर कई ज्ञान को जान भी, विषयादि में आसक्त हों।
गति चार में ही भ्रमण करते, विषय विमोहित मूढ़ वे।।७।।

अर्थ

कई मूढ-मोही पुरुष ज्ञान को जानकर भी विषय-कषाय रूप भावों से आसक्त होते हुए चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं क्योंकि विषयों से विमोहित हुए वे फिर भी जिस गति को प्राप्त होते हैं उसमें भी विषय-कषायों ही का संस्कार रहता है।

भावार्थ

ज्ञान को पाकर विषय-कषाय छोड़ना भला है अन्यथा ज्ञान भी अज्ञान तुल्य ही है।।७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान पाकर ऐसा करे तब संसार कटता है' :–

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चदुरगतिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।८।।

ज्ञाता हों ज्ञान के विषय विरत हों, भावना से सहित हों।
तपगुण से युत हो छेदते वे, चार गति संदेह ना।।८।।

अर्थ

पुनः जो ज्ञान को जानकर और विषयों से विरक्त होते हुए उस ज्ञान की बार–बार अनुभव रूप भावना सहित होते हैं वे तप और 'गुण' अर्थात् मूलगुण व उत्तरगुण युक्त होते हुए चतुर्गति रूप संसार को छेदते हैं, काटते हैं–इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ

जो ज्ञान पाकर विषय-कषाय छोड़ ज्ञान की भावना करता है और मूलगुण व उत्तरगुण ग्रहण करके तप करता है वह संसार का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त होता है-यह शील सहित ज्ञान रूप मार्ग है।।८।।

उत्थानिका

आगे इस प्रकार शील सहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है इसका दृष्टान्त-दार्ष्टान्त कहते हैं :–

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण।। 9।।

धमता हुआ कंचन विशुद्ध ज्यों, लवण खड़िया लेप से।
त्यों विमल ज्ञान सलिल से, प्रक्षालित हो जीव विशुद्ध हो।।9।।

अर्थ

जैसे कंचन-सुवर्ण है सो 'खडिय' अर्थात् सुहागे और नमक के लेप से विशुद्ध निर्मल कांति युक्त होता है वैसे जीव है सो भी विषय-कषायों के मल से रहित निर्मल ज्ञान रूप जल से प्रक्षालित हुआ कर्मों से रहित विशुद्ध होता है।

भावार्थ

ज्ञान है सो आत्मा का प्रधान गुण है परन्तु वह मिथ्यात्व और विषय–कषायों से मलिन है, इसलिए मिथ्यात्व व विषय-कषायों रूप मल को दूर कर उज्ज्वल करके उसकी भावना करे, उसे एकाग्र करके उसका ध्यान करे तो कर्मों का नाश कर अनंत चतुष्टय प्राप्त करके मुक्त होकर शुद्ध आत्मा होता है, यहाँ सुवर्ण का दृष्टान्त है सो जानना।।९।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'ज्ञान पाकर विषयासक्त होता है सो ज्ञान का दोष नहीं है, कुपुरुष का दोष है' :–

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊण विसएसु रज्जंति।। १०।।

जो ज्ञान से गर्वित हुए, विषयों में रंजितमति हों।
यह मंदबुद्धि कुपुरुषों का दोष, दोष ना ज्ञान का।।१०।।

अर्थ

यदि पुरुष ज्ञानगर्वित होकर, ज्ञान के मद से विषयों में रंजित होते हैं तो यह ज्ञान का दोष नहीं है, वे मंदबुद्धि कुपुरुष हैं उनका दोष है।

भावार्थ

कोई जानेगा कि ज्ञान से बहुत पदार्थों को जानते हैं तब विषयों की वांछा बहुत होती है सो यह ज्ञान का दोष है तो आचार्य कहते हैं कि 'ऐसा मत जानो। ज्ञान पाकर यदि विषयों में रंजायमान होता है तो यह ज्ञान का दोष नहीं है, वह पुरुष मंदबुद्धि और कुपुरुष है उसका दोष है। पुरुष का होनहार खोटा होता है तब बुद्धि बिगड़ जाती है फिर ज्ञान को पाकर वह उसके मद में छक जाता है और विषय-कषायों में आसक्त हो जाता है—यह दोष पुरुष का है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान का तो कार्य वस्तु को जैसी वह हो वैसी बता देना ही है, पीछे प्रवर्तना पुरुष का कार्य है—ऐसा जानना'।।१०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'पुरुष का इस प्रकार निर्वाण होता है' :—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं।। ११।।

समकित सहित दर्शन व ज्ञान अरु, तप तथा चारित्र से।
वे शुद्ध चारित जीवों को, निर्वाण प्राप्ति होय है।।११।।

अर्थ

ज्ञान, दर्शन और तप का सम्यक् भाव सहित आचरण हो तब चारित्र से शुद्ध जीवों को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्थ

सम्यक्त्व से सहित ज्ञान, दर्शन और तप का आचरण करे तो चारित्र शुद्ध होता है और राग-द्वेष भाव मिट जाते हैं तब निर्वाण पाता है—यह मार्ग है।।११।।

उत्थानिका

आगे इसी को शील को प्रधान करके नियम से कहते हैं :—

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। १२।।

दरशन से शुद्ध हों, द ढ़ चरित हों, शील की रक्षा करें।
विषयों से हो चित विरत उनका, नियम से निर्वाण हो।।१२।।

अर्थ

जिन पुरुषों का चित्त विषयों से विरक्त है, जो शील को धारण किए हुए है, दर्शन से शुद्ध हैं और द ढ है चारित्र जिनका—ऐसे पुरुषों के 'ध्रुव' अर्थात् निश्चय से नियम से निर्वाण होता है।

भावार्थ

जो विषयों से विरक्त होना है सो ही शील की रक्षा है, इस प्रकार जो शील की रक्षा करते हैं उन्हीं के सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और चारित्र अतिचार रहित शुद्ध व द ढ़ होता है ऐसे पुरुषों के नियम से निर्वाण होता है और जो विषयों में आसक्त हैं उनके शील बिगड़ता है तब दर्शन शुद्ध नहीं होता और चारित्र शिथिल होता है तब निर्वाण भी नहीं होता—इस प्रकार निर्वाण मार्ग में शील ही प्रधान है।।१२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि कदाचित् कोई विषयों से विरक्त नहीं हुआ परन्तु मार्ग विषयों से विरक्त होने रूप ही कहता है तो उसको तो मार्ग की प्राप्ति होती भी है परन्तु जो विषय सेवन को ही मार्ग कहता है उसका तो ज्ञान भी निरर्थक है' :–

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरसीणं।
उम्मग्गं दरसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं।। १३।।

सन्मार्गदर्शी मार्ग पाता, हो विषय मोहित भले।
होता निरर्थक ज्ञान है, उन्मार्गदर्शी जीव का।।१३।।

अर्थ

जो पुरुष इष्ट मार्ग को दिखाने वाले ज्ञानी हैं और विषयों से विमोहित हैं तो भी उनको मार्ग की प्राप्ति कही गई है परन्तु जो उन्मार्ग को दिखाने वाले हैं उनका तो ज्ञान पाना भी निरर्थक है।

भावार्थ

पूर्व में कहा था कि 'ज्ञान में और शील में विरोध नहीं है परन्तु यह विशेष है कि यदि ज्ञान तो हो पर विषयासक्त हो तो ज्ञान बिगड़ जाता है तब शील नहीं होता।' अब यहाँ ऐसा कहा है कि 'यदि ज्ञान पाकर कदाचित् चारित्रमोह के उदय से विषय न छूटें और इसलिए उनमें विमोहित रहे परन्तु मार्ग की प्ररूपणा विषयों के त्याग रूप ही करे तो उसे तो मार्ग की प्राप्ति होती भी है परन्तु जो मार्ग का ही कुमार्ग रूप प्ररूपण करे, विषय सेवन को सुमार्ग बतावे तो उसका तो ज्ञान पाना निरर्थक ही है। ज्ञान पा करके भी जो मिथ्या मार्ग प्ररूपे उसके कैसा ज्ञान अर्थात् उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।'

यहाँ ऐसा आशय सूचित होता है कि 'जो सम्यक्त्व सहित अविरत सम्यग्द ष्टि है सो तो भला है क्योंकि सम्यग्द ष्टि कुमार्ग की प्ररूपणा नहीं करता, स्वयं के चारित्रमोह का उदय प्रबल हो तब तक विषय नहीं छूटते इसलिए वह अविरत है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे और विषय भी छोड़े परन्तु

सम्यग्द ष्टि न हो और कुमार्ग का प्ररूपण करे तो वह भला नहीं, उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है-ऐसा जानना'।।१३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'उन्मार्ग का प्ररूपण करने वाले कुमत–कुशास्त्रों की जो प्रशंसा करते हैं वे बहुत शास्त्र जानते हैं तो भी शील, व्रत और ज्ञान से रहित हैं, उनके आराधना नहीं होती' :–

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराहया होंति।। १४।।

जाने जो बहुविध शास्त्र पर, दुर्मत कुशास्त्र के प्रशंसक।
व्रत, शील, ज्ञान से रहित वे, होते न आराधक प्रकट।।१४।।

अर्थ

जो बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं और कुमत एवं कुशास्त्रों की प्रशंसा करने वाले हैं वे शील, व्रत और ज्ञान से रहित हैं, वे इनके आराधक नहीं हैं।

भावार्थ

बहुत शास्त्रों को जानकर जिसको ज्ञान तो बहुत है परन्तु कुमत व कुशास्त्रों की प्रशंसा करता है तो ज्ञात होता है कि इसके कुमत और कुशास्त्र से राग है, प्रीति है तब ही तो उनकी प्रशंसा करता है सो ये तो मिथ्यात्व के चिन्ह हैं और जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ उसका ज्ञान भी मिथ्या है और विषय–कषायों से जो रहित हो उसको शील कहते हैं सो भी उसके नहीं है और उसके व्रत भी नहीं है, कदाचित् कुछ व्रताचरण करता है तो भी वह मिथ्याचारित्र स्वरूप है, इसलिए वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र का आराधने वाला नहीं है, मिथ्याद ष्टि है।।१४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'सुन्दर रूप आदि सामग्री पावे परन्तु शील रहित हो तो उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है' :–

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वण लावण्ण कांतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म।। १५।।

हैं रूप, श्री गर्वित अरु लावण्य, यौवन, कान्तियुत।
पर शीलगुण वर्जित उन्हों का, जन्म मानव निरर्थक।।१५।।

अर्थ

जो पुरुष यौवन अवस्था सहित हैं, बहुतों को प्रिय लगे ऐसे लावण्य सहित हैं और शरीर की कांति-प्रभा से मंडित हैं परन्तु सुन्दर रूप और लक्ष्मी सम्पदा से गर्वित हैं, मदोन्मत हैं और शील व गुणों से रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।।

भावार्थ

मनुष्य जन्म पा करके यदि शील रहित रहें, विषयों में आसक्त रहें, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो गुण उनसे रहित रहें और यौवन अवस्था में शरीर की लावण्यता, कांति, सुन्दर रूप व धन-सम्पदा आदि पाकर उनके गर्व से मदोन्मत्त रहें तो उन्होंने मनुष्य जन्म निष्फल खोया। मनुष्य जन्म तो सम्यग्दर्शनादि को अंगीकार करने और शील संयम के पालने योग्य था सो अंगीकार नहीं किया तब निष्फल गया ही कहलाएगा।

तथा ऐसा भी बताया है कि 'पहली गाथा में कुमत, कुशास्त्र की प्रशंसा करने वाले के ज्ञान को मिथ्या कहते हुए निरर्थक कहा था वैसे ही यहाँ रूपादि का मद करे तो यह भी मिथ्यात्व का चिन्ह है, जो भी मद करे उसे मिथ्याद ष्टि ही जानना तथा लक्ष्मी, रूप, यौवन और कांति से मंडित हो परन्तु शील रहित व्यभिचारी हो तो उसकी लोक में भी निंदा ही होती है'।।१५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम है' :–

वायरण छंद वइसेसिय ववहार णायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं।। १६।।

व्याकरण, छंद, व्यवहार, वैशेषिक व न्याय के शास्त्र अरु।
हो जिनागम का ज्ञान तो भी, शील उत्तम सर्व में।।१६।।

अर्थ

व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार और न्याय शास्त्र तथा 'श्रुत' अर्थात् जिनागम–इनमें उन व्याकरणादि को और श्रुत को जानकर भी इनका ज्ञान यदि शीलयुक्त हो तो ही उत्तम है।

भावार्थ

व्याकरणादि शास्त्र जाने और जिनागम को भी जाने तो भी उनमें शीलयुक्तता ही उत्तम है। शास्त्रों को जानकर भी यदि विषय-कषायों में आसक्त रहे तो उन शास्त्रों का जानना उत्तम नहीं है।।१६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो शील गुण से मंडित हैं वे देवों के भी वल्लभ हैं' :–

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउराणं दुस्सीला अप्पिला लोए।। १७।।

जो शीलगुण मंडित भविकजन, देव वल्लभ होंय वे।
श्रुतपारगत हों पर कुशीली, लोक में हैं तुच्छ वे।।१७।।

अर्थ

जो भव्य प्राणी शील और सम्यग्दर्शनादि गुण अथवा शील सो ही गुण उससे

मंडित है उनके देव भी वल्लभ होते हैं अर्थात् हित करने वाले–सहायी होते है परन्तु जो 'श्रुतपारग' अर्थात् शास्त्रों के पार पहुंचे हैं और ग्यारह अंग तक पढ़े हुए हैं ऐसे बहुत हैं, उनमें कई शील गुण से रहित दुःशील हैं अर्थात् विषय-कषायों में आसक्त हैं वे लोक में 'अल्पक'[1] हैं–न्यून हैं (तुच्छ-अनादरणीय हैं) वे मनुष्य लोगों के भी प्रिय नहीं होते तब देव उनके कहाँ से सहायी होंगे !

भावार्थ

शास्त्र बहुत जाने और विषयासक्त हो तो उसका सहायी कोई नहीं होता, चोर व अन्यायी की लोक में कोई सहायता नहीं करता और शील गुण से मंडित हो परन्तु ज्ञान चाहे थोड़ा भी तो उसके उपकारी सहायी देव भी होते हैं तब मनुष्य तो सहायी होंगे ही होंगे अर्थात् शील गुणवान सबका प्यारा होता है।।१७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जिनके शील सुशील है उनका मनुष्य भव में जीना भला है':–

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवावि पदिदसुवयावि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। १४।।

सब प्राणियों में हीन, रूपविरूप, यौवनपतित हों।
मानुष्य उनका सुजीवित, जिनका कि शील सुशील हो।।१४।।

अर्थ

जो सब प्राणियों में हीन हैं, कुलादि से न्यून हैं, रूप से विरूप हैं–सुन्दर नहीं हैं तथा 'पतित सुवय' अर्थात् अवस्था से सुन्दर नहीं हैं– व द्ध हो गए हैं परन्तु जिनमें शील सुशील है–स्वभाव जिनका उत्तम है और विषय-कषायादि की तीव्र आसक्ति नहीं है उनका मनुष्यपना सुजीवित है अर्थात् जीना भला है।

टि0–1. यहाँ 'अल्पक' का अर्थ 'संख्या में अल्प' नहीं है वरन् 'तुच्छ-अनादरणीय' है।

भावार्थ

लोक में सब सामग्री से जो न्यून हैं परन्तु स्वभाव जिनका उत्तम है, विषय-कषायों में आसक्त नहीं हैं तो वे उत्तम ही हैं, उनका मनुष्य भव सफल है और जीवन प्रशंसा के योग्य है।।१८।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जितने उत्तम भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं' :–

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसो।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ।। १9 ।।

प्राणीदया, दम, सत्य, तप, सन्तोष तथा अचौर्य अरु।
ब्रह्मचर्य, समकित, ज्ञान ये, सब शील के परिवार हैं।।19।।

अर्थ

जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप–ये सब शील के परिवार हैं।

भावार्थ

'शील' ऐसा स्वभाव का तथा प्रक ति का नाम प्रसिद्ध है सो मिथ्यात्व सहित कषाय रूप ज्ञान की परिणति है वह तो दुःशील है जिसे संसार प्रक ति कहते हैं तथा यह प्रक ति पलटकर सम्यक् प्रक ति होती है सो सुशील है जिसे मोक्ष सन्मुख प्रक ति कहते हैं। ऐसे सुशील के जीवदयादि जो गाथा में कहे, सो सब ही परिवार हैं क्योंकि संसार प्रकृति पलटती है तब संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य होता है और मोक्ष से अनुराग होता है तब सम्यग्दर्शनादि परिणाम होते हैं, तब जितनी प्रक ति होती है सो मोक्ष के सन्मुख होती है–यह ही सुशील है सो जिसके संसार का अंत आता है उसके यह प्रक ति होती है और जब तक यह प्रक ति नहीं होती तब तक संसार भ्रमण ही है–ऐसा जानना।।१६।।

उत्थानिका

आगे शील है सो ही तप आदि है–इस प्रकार से शील की महिमा कहते हैं:–

सीलं तओ विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं।। २०।।

दर्शन की शुद्धी, ज्ञानशुद्धी, तपविशुद्धी शील ही।
है शील विषयों का अरि, सोपान है ये मोक्ष का।।२०।।

अर्थ

शील है सो ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील है सो ही दर्शन की शुद्धता है, शील है सो ही ज्ञान की शुद्धता है, शील है सो ही विषयों का शत्रु है तथा शील है सो ही मोक्ष की पैड़ी है।

भावार्थ

जीव-अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान करके उसमें से मिथ्यात्व और कषायों का अभाव करना सो सुशील है सो यह आत्मा का ज्ञान स्वभाव ही है। सो जब संसार प्रक ति मिटकर मोक्ष सन्मुख प्रक ति होती है तब इस शील ही के ये तप आदि सब पर्याय नाम हैं। निर्मल तप, शुद्ध दर्शन-ज्ञान, विषय-कषायों का मिटना और मोक्ष की पैड़ी–ये सब शील के नाम के अर्थ हैं। इस प्रकार शील के माहात्म्य का वर्णन किया है तथा केवल महिमा ही नहीं है इन सब भावों का अविनाभावीपना बताया है।।२०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'विषय रूपी विष महा प्रबल है' :–

जह विसय लुद्धविसदो तह थावर जंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ।। २१।।

विष घोर जंगम स्थावरों का, नष्ट करता सबको त्यों।
ज्यों विषय उन लोभी को पर, दारुण विषय-विष सर्व में।।२१।।

अर्थ

जैसे विषयों का सेवन है सो जो विषयों में लुब्ध जीव है उन्हें विष का देने वाला है वैसे ही जो घोर तीव्र स्थावर एवं जंगम जीवों का सबका विष है सो प्राणियों का विनाश करता है तथापि इन सबके विषों में विषयों का विष उत्कट है, तीव्र है।

भावार्थ

जैसे हस्ती, मीन, भ्रमर, पतंग और म ग आदि जीव विषयों में लुब्ध हुए, विषयों के वश होते हुए मारे जाते हैं वैसे ही स्थावर का विष तो मोहरा, सोमल आदि का और जंगम का विष सर्प आदि का–इनके भी विष से प्राणी मारे जाते हैं परन्तु सब विषों में विषयों का विष अति तीव्र है।।२१।।

उत्थानिका

आगे इस ही के समर्थन को विषयों के विष का तीव्रपना कहते हैं कि 'विष' की वेदना से तो एक बार मरता है परन्तु विषयों से संसार में भ्रमता है :–

वरि एक्कम्मि य जम्मे चरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। २२।।

विष वेदनाहत जीव तो, इक बार पावे मरण को।
पर विषयविषपरिहत अरे ! संसार वन में घूमते।।२२।।

अर्थ

विष की वेदना से मारा हुआ जो जीव वह तो एक जन्म में संचार करता है परन्तु विषय रूप विष से मारे गए जीव हैं वे अतिशय से संसार रूप वन में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ

अन्य सर्पादि के विष से विषयों का विष प्रबल है, इनकी आसक्ति से ऐसा कर्मबंध होता है जिससे बहुत जन्म मरण होते हैं।।२२।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख ही पाता है' :–

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासत्ता जीवा।। २३।।

जो जीव विषयासक्त वे, पाते नरक की वेदना।
तिर्यंच, मानव दुःख अरु, देवों में भी दुर्भाग्य को।।२३।।

अर्थ

जो विषयों में आसक्त जीव हैं वे नरकों में अत्यन्त वेदना को पाते हैं और तिर्यंचों में तथा मनुष्यों में दुःखों को पाते हैं और यदि देवों में उत्पन्न हों तो वहाँ भी दुर्भगपना पाते हैं अर्थात् नीचे देव होते हैं–इस प्रकार चारों ही गतियों में वे दुःख ही पाते हैं।

भावार्थ

विषयासक्त जीवों को कहीं भी सुख नहीं है, परलोक में तो वे नरक आदि के दुःख पाते ही हैं पर इहलोक में भी इनके सेवन में आपदा व कष्ट आते हैं तथा सेवन करते हुए आकुलतामय दुःख ही है, यह जीव भ्रम से सुख मानता है, सत्यार्थ ज्ञानी तो विरक्त ही होते हैं।।२३।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'विषयों को छोड़ने में कुछ भी हानि नहीं है' :–

तुसधम्मंतवलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं ।। २४।।

तुष उड़ाने से द्रव्य कुछ भी, जाता नहिं है नर का ज्यों।
त्यों शील तपयुत कुशल नर, विषयों का खलवत् क्षेपते।।२४।।

अर्थ

जैसे तुषों के चलाने से, उड़ाने से मनुष्यों का कुछ द्रव्य नहीं जाता है वैसे ही जो तप और शीलवान प्रवीण पुरुष हैं वे विषयों को खल की तरह फैंक देते हैं, दूर कर देते हैं।[1]

भावार्थ

तप, शील सहित जो ज्ञानी हैं उनके इन्द्रियों के विषय खल की तरह हैं। जैसे ईख का रस निकाल लेने के बाद खल पूरी तरह नीरस हो जाता है तब वह फैंक देने योग्य ही होता है वैसे ही विषयों का जानना रस था सो तो ज्ञानियों ने जान लिया तब विषय तो खल के समान रहे उनके त्यागने में क्या हानि है अर्थात् कुछ भी नहीं है।

धन्य हैं वे ज्ञानी जो विषयों को ज्ञेयमात्र जानकर आसक्त नहीं होते हैं और जो आसक्त होते हैं वे तो अज्ञानी ही हैं क्योंकि जो विषय हैं वे तो जड़ पदार्थ हैं, सुख तो उनको जानने से ज्ञान में ही था, अज्ञानी ने आसक्त होकर विषयों

टि0- 1. 'कु0 कु0 भा0' में इस गाथा का अर्थ किया है कि '**जिस प्रकार** तुष को उड़ा देने वाला सूपा आदि जो 'तुषध्मत्' कहलाता है, उसके बल से मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुष को उड़ा देता है-फैंक देता है **उसी प्रकार** तप और उत्तम □ील के धारक पुरुष ज्ञानोपयोग के द्वारा विषयभूत पदार्थों के सार को ग्रहण कर विषयों को खल के समान दूर छोड़ देते हैं।' वहीं आगे लिखा है-'अथवा एक भाव यह भी प्रकट होता है कि कु□ाल मनुष्य विषय को दुष्ट विष के समान छोड़ देते है।'
'म0 टी0' में लिखा है कि 'इन विष तुल्य विषयों का त्याग करने में तपस्वी व □ीलवान पुरुषों को कोई नुकसान नहीं होता, उल्टा लाभ ही होता है क्योंकि उनके त्याग के बदले उन्हें □ुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति की □ाक्ति की प्राप्ति होती है।'

में सुख जाना। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो हड्डी की नोंक मुख के तालवे में चुभती है, तब तालवा फटकर उसमें से रुधिर स्रवता है तब अज्ञानी श्वान जानता है कि यह रस हड्डी में से निकला है तब उस हड्डी को वह बार-बार चबाकर सुख मानता है वैसे ही अज्ञानी विषयों में सुख जानकर उन्हें बार-बार भोगता है परन्तु ज्ञानियों ने तो अपने ज्ञान ही में सुख जाना है, उन्हें विषयों को छोड़ने में खेद नहीं है–ऐसा जानना।।२४।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि यह प्राणी शरीर के सब अवयव सुन्दर पावे तो भी सब अंगों में शील है सो ही उत्तम है' :–

वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं।। २५।।

कई गोल कई गोलार्द्ध तन के, अंग सरल विशाल कई।
सब हों यथावस्थित मगर, है शील उत्तम सर्व में।।२५।।

अर्थ

प्राणी की देह में कई अंग तो 'व त्त' अर्थात् गोल, सुघट सराहने योग्य होते हैं; कई अंग 'खंड' अर्थात् अर्द्ध गोल सद श सराहने योग्य होते हैं; कई अंग 'भद्र' अर्थात् सरल-सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग 'विशाल' अर्थात् विस्तीर्ण-चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं–इस प्रकार सब ही अंग यथास्थान सुन्दरता पाते हुए भी सब अंगों में यह शील नाम का अंग है सो उत्तम है, यह न हो तो सब ही अंग शोभा नहीं पाते–यह प्रसिद्ध है।

भावार्थ

लोक में प्राणी सर्वांग सुन्दर हो परन्तु दुःशील हो तो सर्व लोक के द्वारा निन्दा करने योग्य होता है–इस प्रकार लोक में भी शील ही की शोभा है तो मोक्षमार्ग

में तो शील प्रधान कहा ही है। जितने सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के अंग हैं वे शील के परिवार हैं—ऐसा पहिले कह ही आये हैं।।२५।।

उत्थानिका

आगे कहते है कि 'जो कुमत से मूढ़ हो गये हैं वे विषयों में आसक्त हैं, कुशीली हैं सो संसार में भ्रमण करते हैं':—

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहिं विसयलोलेहिं।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं च भूदेहिं।। २६।।

दुर्मतविमूढ़ व विषयलोलुप, घूमते संसार में।
अरु संग उनके अन्य जन भी, घूमें अरहट घड़ी सम।।२६।।

अर्थ

जो 'कुसमय' अर्थात् कुमतों से मूढ़ हैं—मोही अज्ञानी हैं तथा विषयों में लोल हैं—लोलुपी हैं, आसक्त हैं वे संसार में भ्रमते हैं। कैसे होते हुए भ्रमते हैं—जैसे अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे हुये भ्रमण करते हैं तथा उनके साथ अन्य पुरुषों का भी संसार में दुःख सहित भ्रमण होता है।

भावार्थ

कुमती विषयासक्त मिथ्याद ष्टि स्वयं तो विषयों को भला मानकर उनका सेवन करते हैं, कई कुमती ऐसे भी हैं जो इस प्रकार कहते हैं कि 'सुन्दर विषय सेवन करने से ब्रह्म प्रसन्न होता है और यह परमेश्वर की बड़ी भक्ति है—ऐसा कहकर वे उनका अत्यन्त आसक्त होकर सेवन करते हैं तथा ऐसा ही उपदेश दूसरों को देकर विषयों में लगाते हैं। वे आप तो अरहट की घड़ी के समान संसार में भ्रमते ही हैं और वहाँ अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं परन्तु अन्य पुरुषों को भी वहाँ लगाकर भ्रमण कराते हैं। क्योंकि यह विषयों का सेवन दुःख के लिए है और दुःख ही का कारण है—ऐसा जानकर कुमतियों का प्रसंग न करना तथा विषयासक्तपना छोड़ना, इससे सुशीलपना होता है।।२६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो कर्मों की गाँठ विषय सेवन करके स्वयं ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि से आप ही काटते हैं':–

आदेहिं[1] कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण।। २७।।

बंधी कर्म गांठ जो आतमा में, विषयराग अरु रंग से।
तप, शील, संयम जनित गुण से, क तार्थजन उसे छेदते।।२७।।

अर्थ

विषयों के राग–रंग से स्वयं ही जो कर्मों की गाँठ बाँधी है उसको क तार्थ जो उत्तम पुरुष तप, संयम एवं शील से हुआ जो गुण उसके द्वारा छेदते हैं, खोलते हैं।

भावार्थ

जो कोई आप गाँठ खोलकर बाँधता है तो उसको खोलने का विधान भी स्वयं आप ही जानता है। जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादि की संधि में ऐसा टांका झालते हैं कि वह संधि यदि अद ष्ट हो जाये तो उस संधि को टांका झालने वाला ही पहिचान कर खोलता है वैसे आत्मा ने अपने ही रागादि भावों से कर्मों की गाँठ बाँधी है उसको स्वयं ही भेदज्ञान से रागादि में और आपमें जो भेद है उस संधि को पहिचानकर तप, संयम एवं शील भाव रूप शस्त्र से उस कर्मबंध को काटता है-ऐसा जानकर जो क तार्थ पुरुष हैं, अपने प्रयोजन को करने वाले हैं वे उस शील गुण को अंगीकार करके आत्मा को कर्म से भिन्न करते हैं-यह पुरुषार्थी पुरुषों का कार्य है।।२७।।

टि0– 1. 'वी0 प्रति' में इस 'आदेहिं' पाठ के स्थान पर आया हुआ **'अट्ठविह'** (अर्थ-आठ प्रकार की) पाठ अत्यंत उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि कर्म की गांठ का यह प्रकरण है।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'शील से ही आत्मा शोभता है, इसको द ष्टान्त से दिखाते हैं :–

उदधीव रदणभरिदो तवविणयं सीलदाणरयणाणं ।
सोहे तोय[1] ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तं।। २८।।

तप, विनय, शील अरु दान रत्नों में, रत्नपूरित उदधि सम।
शोभता जीव सशील पाता, अनुत्तर निर्वाण को।।२8।।

अर्थ

जैसे समुद्र रत्नों से भरा है तो भी जल सहित शोभा पाता है वैसे यह आत्मा तप, विनय, शील एवं दान–इन रत्नों में शील सहित शोभा पाता है क्योंकि जो शील सहित हुआ उसने 'अनुत्तर' अर्थात् जिसके परे और पद नहीं ऐसे निर्वाण पद को पाया।

भावार्थ

जैसे समुद्र में रत्न बहुत हैं तो भी वह जल ही से समुद्र नाम पाता है वैसे आत्मा अन्य गुणों से सहित हो तो भी शील ही से निर्वाण पद पाता है– ऐसा जानना।।२८।।

टि0-1. यहाँ गाथा की इस द्वितीय पंक्ति में 'सोहे तोय' (सं0-ाभते तोयेन) पाठ दिया गया है जो एकदम उपयुक्त है और मान्य ' पं0 जयचंद जी' द्वारा किया गया अर्थ इसके एकदम अनुरूप है क्योंकि गाथा का अर्थ करते हुए उन्होंने द ष्टान्त दिया है-'जैसे समुद्र रत्ननि करि भर्‌या है तौऊ जलसहित सोभै है' और 'सोहे तोय' पाठ का अर्थ है 'तोय अर्थात् जल सहित, सोहे अर्थात् सु ाभित होना '। 'सभी प्रतियों में व मु0 प्रति में' भी 'सोहे तोय' के स्थान पर 'सोहेतो य' (सं0-ाभते च) पाठ उपलब्ध था जिसके साथ 'पं0 जी' कृत अर्थ की संगति ही नहीं बैठ रही थी क्योंकि गाथा में 'जल' अर्थवाचक कोई ाब्द ही नहीं था। विचार करने पर समझ आया कि 'सोहे तोय' पाठ के दूसरे ाब्द 'तोय' का 'तो' पहले ाब्द के साथ जुड़कर 'सोहेतो य' पाठ बना और फिर इसकी ही परम्परा चल गई और 'सं0 छाया' भी इसके ही अनुरूप कर दी गई और सभी ने इस पाठ को ग्रहण कर लिया जो कि उपयुक्त नहीं।

उत्थानिका

आगे जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष पाते हैं–यह प्रसिद्ध कर दिखाते हैं :–

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जो सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं।। २9।।

जो श्वान, गर्दभ, गाय, पशु, महिला के दीखे मोक्ष ना।
पुरुषार्थ चौथा शोधे जो, उस ही के दिखता मोक्ष है।।२9।।

अर्थ

आचार्य कहते हैं कि श्वान, गधे में तथा गौ आदि पशु और स्त्री में किसी को मोक्ष होना दीखता है क्या? वह तो दीखता नहीं है। मोक्ष तो चौथा पुरुषार्थ है इसलिए चतुर्थ जो चौथा पुरुषार्थ उसको जो सोधते हैं, खोजते हैं उन्हीं के मोक्ष होना देखा जाता है।

भावार्थ

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–ये चार पुरुष के ही प्रयोजन कहे हैं–यह प्रसिद्ध है, इसी से इनका नाम पुरुषार्थ–ऐसा प्रसिद्ध है। वहाँ इनमें चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है उसको पुरुष ही सोधते हैं और पुरुष ही उसको खोजकर उसकी सिद्धि करते हैं, अन्य श्वान, गधे, बैल, पशु और स्त्री–इनके मोक्ष का शोधना प्रसिद्ध नहीं है, यदि होता तो मोक्ष का 'पुरुषार्थ' ऐसा नाम क्यों होता !

यहाँ आशय ऐसा है कि 'मोक्ष शील से होता है। जो श्वान, गधे आदि हैं वे तो अज्ञानी हैं, कुशीली हैं, उनका स्वभाव–प्रक ति ही ऐसी है कि पलटकर मोक्ष होने योग्य तथा उसके सोधने योग्य नहीं है इसलिए पुरुष को मोक्ष का साधन शील को जानकर अंगीकार करना चाहिए। जो सम्यग्दर्शनादि हैं वे इस शील ही के परिवार पूर्व में कहे ही हैं–ऐसा जानना'।।२६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है इसका उदाहरण कहते हैं' :–

जइ विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरुद्दपुत्तो[1] दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं !।। ३०।।

यदि विषयलोलुप ज्ञानियों ने, मोक्ष साधा होय तो।
दशपूर्वधारी रुद्रपुत्र सो, नरक में फिर क्यों गया !।।३०।।

अर्थ

विषयों मे 'लोल' अर्थात् लोलुप, आसक्त और ज्ञान सहित–इस प्रकार से ज्ञानियों ने यदि मोक्ष साधा हो तो दस पूर्व का जानने वाला रुद्रपुत्र नरक क्यों गया !

भावार्थ

कोरे ज्ञान ही से मोक्ष किसी ने साधा ऐसा यदि कहें तो दस पूर्व का पाठी रुद्र नरक क्यों गया इसलिए शील बिना कोरे ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है। रुद्र कुशील सेवन करने वाला हुआ, मुनिपद से भ्रष्ट होकर उसने कुशील सेवन किया इसलिए नरक गया–यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।।३०।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'शील बिना ज्ञान ही से भाव की शुद्धता नहीं होती' :–

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुण णिम्मलो जादो।। ३१।।

टि0-1. यह इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम ग्यारहवां रुद्र था जिसकी सात वर्ष कुमार काल, चौंतीस वर्ष संयमकाल व अट्ठाईस वर्ष तप:भंगकाल-इस प्रकार उनहत्तर वर्ष की आयु थी और मरकर तीसरे नरक गया था।

यदि शील बिन बस ज्ञान से ही, विशुद्धि बुधजन ने कही।
दशपूर्वधर का भाव कहो फिर, क्यों नहिं निर्मल हुआ !।।३१।।

अर्थ

यदि शील बिना ज्ञान ही से 'विशोध' अर्थात् विशुद्ध भाव पंडितों ने कहा हो तो दश पूर्व को जानने वाला जो रुद्र उसका भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ ! इसलिए जाना जाता है कि भाव भी निर्मल शील ही से होते हैं।

भावार्थ

कोरा ज्ञान तो ज्ञेय का ज्ञान ही कराता है उसमें यदि मिथ्यात्व व कषाय हों तब वह विपर्यय हो जाता है इसलिए मिथ्यात्व एवं कषाय का मिटना ही शील है। इस प्रकार शील के बिना मात्र ज्ञान ही से मोक्ष सधता नहीं। शील के बिना यदि मुनि हो जाये तो भी भ्रष्ट हो जाता है इसलिए शील को ही प्रधान जानना ।।३१।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यदि नरक में भी हो परन्तु विषयों से विरक्त हो तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद पाता है' :–

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण।। ३२।।

नहिं प्रचुर नरक की वेदना, करे दुःखी विषयविरक्त को।
फिर पाता वह अर्हन्तपद, जिन वर्द्धमान ने यह कहा।।३२।।

अर्थ

जो विषयों से विरक्त है वह जीव नरक में बहुत वेदना है उसको भी गँवाता है अर्थात् वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता है और वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होता है–ऐसा जिन वर्द्धमान भगवान ने कहा है।

भावार्थ

जिन सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि 'तीसरी नरक प थ्वी से निकलकर तीर्थंकर हो सकता है सो यह भी शील ही का माहात्म्य है। सो सम्यक्त्व सहित हो विषयों से विरक्त होकर यदि भली भावना भावे तब नरक की वेदना भी अल्प हो और वहाँ से निकल अरहंत पद पाकर मोक्ष पावे–ऐसा विषयों से विरक्त भाव सो ही शील का माहात्म्य जानो। सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि सम्यग्द ष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है सो जो यह वैराग्य शक्ति है वह ही शील का एकदेश है–ऐसा जानना'।।३२।।

उत्थानिका

आगे इस कथन का संकोच करते हैं :–

एवं बहुप्पयारं जिणेहिं पच्चक्खणाणदरसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहिं।। ३३।।

प्रत्यक्ष दर्शनज्ञानधर लोकज्ञ, जिन इस भाँति ही।
अत्यक्ष शिवपद शील से ही, कहा बहुत प्रकार से।।३३।।

अर्थ

'एवं' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार तथा अन्य भी बहुत प्रकार जिनदेव ने कहा है कि शील से मोक्ष पद होता है। कैसा है मोक्षपद-अक्षातीत है अर्थात् इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख जिसमें पाया जाता है तथा ऐसा कहने वाले जिनदेव कैसे हैं–प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शन जिनके पाया जाता है तथा लोक का जिनके ज्ञान है।

भावार्थ

सर्वज्ञ देव ने ऐसा कहा है कि 'शील से अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख रूप मोक्षपद पाया जाता है सो भव्य जीव इस शील को अंगीकार करो'-ऐसा उपदेश का आशय सूचित होता है। बहुत कहाँ तक कहें, इतना ही बहुत प्रकार से कहा जानो।।३३।।



आगे कहते हैं कि 'इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुत प्रकार से वर्णन किया है सो कैसे? उसका कहना इस प्रकार है' :–

सम्मत्त णाण दंसण तव वीरिय पंचयारमप्पाणं।
जलणो पि पवणसहिदो डहंति पोराणयं कम्मं।। ३४।।

आत्माश्रयी सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, तप, बल आचरण।
वायूसहित अग्नि के सम, दहते पुरातन कर्म को।।३४।।

अर्थ

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन तप एवं वीर्य–ये जो पाँच आचार हैं वे आत्मा का आश्रय पाकर पुरातन कर्मों को वैसे ही दग्ध करते हैं जैसे अग्नि है सो पवन सहित होकर पुराने सूखे ईंधन को दग्ध कर देती है।

भावार्थ

यहाँ सम्यक्त्व आदि पाँच आचार तो अग्निस्थानीय हैं और आत्मा का जो शुद्ध स्वभाव जिसे शील कहते हैं पवनस्थानीय है सो पंच आचार रूप अग्नि शील रूप पवन की सहायता पाकर पुराने कर्मबंध को जला करके आत्मा को शुद्ध कर देती है–इस प्रकार शील ही प्रधान है। पाँच आचार में तो चारित्र कहा है और यहाँ सम्यक्त्व कहा सो सम्यक्त्व कहने में चारित्र ही जानना, विरोध न जानना।।३४।।



आगे कहते हैं कि 'इस प्रकार अष्ट कर्मों को जिन्होंने दग्ध किया वे सिद्ध हो गये' :–

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता।। ३५।।

तप विनय शील से युत जितेन्द्रिय विषय विरत व धीर जो।
वे जला आठों कर्म पाकर सिद्धिगति को सिद्ध हों।।३५।।

अर्थ

जो पुरुष जीता है इन्द्रियों को जिन्होंने इसी से विषयों से विरक्त हुए हैं; धीर हैं–परीषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं; तप, विनय एवं शील से सहित हैं और दग्ध किया है आठ कर्मों को जिन्होंने ऐसे होकर 'सिद्धगति' जो मोक्ष उसको प्राप्त हुए हैं वे 'सिद्ध' इस नाम से कहे जाते हैं।

भावार्थ

यहाँ भी जितेन्द्रिय और विषयविरक्त–ये विशेषण शील ही की प्रधानता बताते हैं।।३५।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि सराहने योग्य होते हैं' :–

लावण्णसीलकुसला जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थरं भविए।। ३६।।

लावण्यशीलकुशल जनम तरु, होता है जिस श्रमण का।
उस शीलयुक्त महातमा के, लोक में गुण विस्तरे।।३६।।

अर्थ

जिस मुनि का जन्म रूपी जो व क्ष है वह (१) 'लावण्य' अर्थात् दूसरों को प्रिय लगें ऐसे सर्व अंगों में सुन्दर अर्थात् मन-वचन-काय की चेष्टा और (२) 'शील' अर्थात् अन्तरंग में मिथ्यात्व एवं विषयों से रहित परोपकारी स्वभाव–इन दोनों में प्रवीण-निपुण हो वह मुनि शीलवान है, महात्मा है और उसके गुणों का विस्तार लोक में भ्रमता है, फैलता है।

भावार्थ

जो ऐसे मुनि के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं और सर्व लोक के द्वारा प्रशंसा योग्य होते हैं सो यहाँ भी शील ही की महिमा जानना और व क्ष का यहाँ रूपक है। जैसे जिस व क्ष के शाखा, पत्र, पुष्प एवं फल सुन्दर हों और जो छायादि के द्वारा राग–द्वेष रहित लोक का सबका समान उपकार करता हो उस व क्ष की महिमा सब लोग करते हैं वैसे ही मुनि भी यदि ऐसा हो तो वह सबके द्वारा महिमा करने योग्य होता है।।३६।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्ति रूपी बोधि को पाता है' :–

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियाइत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं।। ३७।।

जो ज्ञान, ध्यान व योग, द र्शुद्धि सो वीर्याधीन है।
सम्यक्त्व दर्शन से ही, जिनशासन में बोधि प्राप्त हो।।३७।।

अर्थ

ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता-ये तो वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन से जिनशासन में बोधि को पाता है अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

भावार्थ

'ज्ञान' अर्थात् पदार्थों को विशेष रूप से जानना 'ध्यान' अर्थात् स्वरूप में एकाग्रचित होना, 'योग' अर्थात् समाधि लगाना और सम्यग्दर्शन को निरतिचार शुद्ध करना–ये तो अपना वीर्य जो शक्ति उसके आधीन हैं, जितने बन जायें उतने हों और सम्यग्दर्शन से बोधि जो रत्नत्रय उसकी प्राप्ति होती है, इसके होने पर विशेष ज्ञान-ध्यानादि भी यथाशक्ति होते ही हैं और शक्ति भी इससे बढ़ती है।

ऐसा कहने में भी शील ही का माहात्म्य जानना। रत्नत्रय है सो ही आत्मा का स्वभाव है, उसको शील भी कहते हैं।।३७।।

उत्थानिका

आगे कहते हैं कि 'यह प्राप्ति जिनवचन से होती है' :–

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति।। ३८।।

जिनवचनसार ग हीत, विषयविरत तपोधन धीर जे।
वे शील जल से स्नान कर, सिद्धालय सुख को प्राप्त हों।।३८।।

अर्थ

१. जिनवचनों से ग्रहण किया है सार जिन्होंने, २. विषयों से जो विरक्त हुए हैं, ३. तप ही है धन जिनका एवं ४. जो धीर हैं-ऐसे मुनि शील रूपी जल से स्नान करके शुद्ध हो 'सिद्धालय' जो सिद्धों के बसने का मन्दिर उसके सुखों को पाते हैं।

भावार्थ

जो जिनवचन के द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानकर उसका सार जो अपना शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति उसको ग्रहण करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप को अंगीकार करते हैं, मुनि होते हैं सो धीर वीर होकर परिषह–उपसर्ग आने पर भी चलायमान नहीं होते तब शील जो स्वरूप की प्राप्ति की पूर्णता रूप जो चौरासी लाख उत्तर गुण की पूर्णता वह ही हुआ निर्मल जल उससे स्नान करके सब कर्म मल को धोकर सिद्ध हुए, मोक्ष मंदिर में ठहरकर वहाँ अविनाशी, अतीन्द्रिय एवं अव्याबाध सुख को भोगते हैं–यह शील का माहात्म्य है।

ऐसा शील जिनवचन से पाया जाता है इसलिये जिनागम का निरन्तर अभ्यास करना–यह उपदेश है।।३८।।

उत्थानिका

आगे अंतसमय में सल्लेखना करना कहा है वहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप–इन चार आराधनाओं का उपदेश है सो वे शील ही से प्रकट होती हैं इसको प्रकट करके कहते हैं :–

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुहविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडिदकम्मरया हवंति आराहणा पयडा।। ३9।।

जो सर्वगुण से क्षीणकर्म, विशुद्धमन, सुख-दुःख रहित।
उड़े कर्मरज उनकी अरू, आराधना होवे प्रकट।।३9।।

अर्थ

सर्व गुण जो मूल-उत्तर गुण उनसे जिसमें कर्म क्षीण हो गए हैं तथा सुख दुःख से जो रहित हैं तथा जिसमें मन विशुद्ध है और जिसने कर्म रज को उड़ा दिया है– ऐसी आराधना प्रकट होती हैं।

भावार्थ

पहले तो सम्यग्दर्शन सहित मूलगुण एवं उत्तरगुणों से कर्मों की निर्जरा होने से कर्म की स्थिति-अनुभाग क्षीण होता है, पीछे विषयों के द्वारा जो कुछ सुख दुःख होता था उससे रहित होते हैं, पीछे ध्यान में स्थित होकर श्रेणी चढ़ते हैं तो उपयोग विशुद्ध हो, कषायों का उदय अव्यक्त हो जाता है, सुख-दुःख की वेदना मिटती है तत्पश्चात् मन विशुद्ध होकर क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा जो कुछ ज्ञेय से ज्ञेयांतर होने का विकल्प होता है वह मिटकर 'एकत्व वितर्क अवीचार' नामक का शुक्ल ध्यान बारहवें गुणस्थान के अंत में होता है–यह मन का विकल्प मिटकर विशुद्ध होना है। पीछे घातिकर्म का नाश होकर जो अनंत चतुष्टय प्रकट होता है–यह कर्मरज का उड़ना है इस प्रकार आराधना की सम्पूर्णता प्रकट होती है। जो चरमशरीरी हैं उनके तो इस प्रकार आराधना प्रकट होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा अन्य के आराधना का एकदेश होता है, अंत में उसका आराधन करके स्वर्ग को पाकर वहाँ सागरों पर्यंत सुख भोग वहाँ से चयकर मनुष्य हो आराधना को

सम्पूर्ण करके मोक्ष प्राप्त होता है–ऐसा जानना। यह जिनवचन का और शील का माहात्म्य है।।३६।।

उत्थानिका

आगे ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए ऐसा कहते हैं कि 'ज्ञान से सर्व सिद्धि है, यह सर्वजन प्रसिद्ध है सो ज्ञान तो ऐसा हो उसको कहते हैं':–

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं!।। ४०।।

अरहंत के शुभ भक्ति समकित, दर्श से सुविशुद्धि युत।
युत शील विषय विराग इनबिन, ज्ञान नहिं कहलाय है।।४०।।

अर्थ

अरहंत में जो भली भक्ति है सो तो सम्यक्त्व है सो कैसा है सम्यक्त्व-दर्शन से विशुद्ध है अर्थात् तत्त्वार्थों का निश्चय-व्यवहार स्वरूप श्रद्धान और बाह्य में जिनमुद्रा नग्न दिगम्बर रूप का धारण तथा उसका श्रद्धान–ऐसे दर्शन से विशुद्ध अर्थात् अतिचार रहित निर्मल है ऐसा तो अरहंत भक्ति रूप सम्यक्त्व है तथा शील है सो विषयों से विरक्त होना है तथा ज्ञान भी यह ही है, इससे भिन्न ज्ञान कैसा कहा है–सम्यक्त्व व शील के बिना तो ज्ञान मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान है।

भावार्थ

यह सब मतों में प्रसिद्ध है कि 'ज्ञान से सर्व सिद्धि है और ज्ञान होता है सो शास्त्रों से होता है, वहाँ आचार्य कहते हैं कि' हम तो उसको ज्ञान कहते हैं जो सम्यक्त्व एवं शील सहित हो–ऐसा जिनागम में कहा है। इससे भिन्न ज्ञान कैसा है ? इससे भिन्न ज्ञान को तो हम ज्ञान कहते नहीं, इनके बिना तो वह अज्ञान ही है और सम्यक्त्व और शील होते हैं सो जिनागम से होते हैं। वहाँ जिससे सम्यक्त्व और शील हुए उसकी यदि भक्ति न हो तो सम्यक्त्व कैसे कहा जाये, जिसके वचन के द्वारा वह पाया जाये उसकी यदि भक्ति हो तो जाना जाता है कि इसके श्रद्धा

हुई तथा जब सम्यक्त्व होता है तब विषयों से विरक्त होता ही होता है, यदि विरक्त न हो तो संसार-मोक्ष का स्वरूप क्या जाना—इस प्रकार सम्यक्त्व व शील होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। ऐसे इस सम्यक्त्व और शील के सम्बंध से ज्ञान की तथा शास्त्र की बड़ाई है। इस प्रकार यह जिनागम है सो संसार से निव त्ति कराके मोक्ष प्राप्त कराने वाला है सो जयवन्त हो। तथा यह सम्यक्त्व सहित ज्ञान की महिमा है सो ही अंतमंगल जानना'।।४०।।

इसका संक्षेप तो कहते आये कि 'शील नाम स्वभाव का है सो आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानदर्शनमयी चेतना रूप है, वह अनादि कर्म के संयोग से विभाव रूप परिणमता है, उसके विशेष मिथ्यात्व एवं कषाय आदि अनेक हैं, उनको राग-द्वेष-मोह भी कहते हैं, उनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किये हैं, विस्तार से संख्यात, असंख्यात और अनंत होते हैं, इनको कुशील कहते हैं, उनका अभाव रूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तर गुण हैं जिनको शील कहते हैं—यह तो सामान्य परद्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है तथा प्रसिद्ध व्यवहार अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहे हैं जिनके अभाव से शील के अठारह हजार भेद हैं, इनको जिनागम से जानकर पालना। लोक में भी शील की महिमा प्रसिद्ध है, उसको जो पालते हैं वे स्वर्ग-मोक्ष के सुख पाते हैं, उनको हमारा नमस्कार है, वे हमारे भी शील की प्राप्ति करो—यह प्रार्थना है'।

छप्पय

आन वस्तु कै संग राचि, निज भाव भंग करि।
वरतै ताहि कुशील भाव, भाषै कुरंग धुरि।।
ताहि तजैं मुनिराय पाय, निज रूप शुद्ध जल।
धोय कर्म रज होय सिद्ध, पावै सुख अति बल।।
यह निश्चय शील सुब्रह्ममय, व्यवहारै तिय तज नमैं।
जे पालै सब विधि तिनि नमूँ,पाऊँ जिम भव न जनमैं ।।१।।

अर्थ

अन्य वस्तु के साथ रमण करके जो निज (शील) भाव का भंग करते हैं उनके कुशील भाव वर्तता है ऐसा हिरण चिन्ह धारी शांतिनाथ भगवान ने कहा है। इस भाव को मुनिराज निजस्वरूप शुद्ध जल को प्राप्त करके छोड़ देते है और कर्म रूपी रज को धोकर सिद्ध होकर अत्यधिक सुख और बल को प्राप्त कर लेते हैं। यह निश्चय शील तो आत्ममय और व्यवहार शील स्त्री का त्याग रूप है इन्हें मैं नमस्कार करता हूँ और जो इन दोनों को सब प्रकार से पालन करते हैं उनको नमस्कार करता हूँ जिससे कि इस संसार में फिर जन्म न पाऊँ।।१।।

दोहा

नमूं पंच पद ब्रह्ममय, मंगल रूप अनूप।
उत्तम शरण सदा लहूं, फिरि न परूं भवकूप।। २।।

दोहा अर्थ

मंगल रूप और अनुपम आत्ममय पंच पद को नमस्कार करता हूँ कि उनकी उत्तम शरण मैं सदा प्राप्त करूं। तथा फिर संसार रूपी कुएं में ना गिरूं।।२।।

वचनिकाकार की प्रशस्ति ऐसे श्री कुन्दकुन्द आचार्यक त प्राक त गाथाबद्ध जो पाहुड़ ग्रथ हैं उनमें ये आठ पाहुड़ हैं जिनकी ये देशभाषामय वचनिका लिखी है। वहाँ छह पाहुड़ की जो टीका टिप्पण है, उनमें टीका तो श्रुतसागर क त है और टिप्पण पहले किसी और ने किया है। उनमें कई गाथा का पाठ तथा अर्थ तो अन्य-अन्य प्रकार है, वहाँ मेरे विचार में आया वैसे उनका आश्रय भी लिया है और जैसा अर्थ मुझे प्रतिभासित हुआ वैसा लिखा है तथा लिंगपाहुड़ और शीलपाहुड़ इन दोनों पाहुड़ का टीका-टिप्पण मिला नहीं इसलिए गाथा का अर्थ जैसा प्रतिभास में आया वैसा लिखा है और श्रुतसागर क त टीका षट्पाहुड़ की है उसमे ग्रंथातर की साक्षी आदि कथन बहुत है सो उस टीका की वचनिका यह नहीं है, गाथाओं की अर्थ मात्र वचनिका करके भावार्थ मैंने मेरे प्रतिभास में जैसा आया वैसा गाथा के अनुसार लेकर लिखा है और प्राक त व्याकरण आदि का ज्ञान मुझमें विशेष है नहीं इसलिए कहीं व्याकरण से तथा आगम से शब्द और अर्थ अपभ्रंश हुआ हो वहाँ बुद्धिमान पण्डित मूल ग्रन्थ विचार कर शुद्ध करके बांचना, पढ़ना और मुझको अल्पबुद्धि जानकर हास्य मत करना, क्षमा ही करना, सत्पुरुषों का

स्वभाव उत्तम होता है, वे दोष देखकर क्षमा ही करते हैं।

यहाँ कोई कहता है कि 'तुम्हारी बुद्धि अल्प है तो ऐसे महान ग्रंथ की वचनिका क्यों की ?'

उसको ऐसे कहना कि 'इस काल में मुझसे भी मंदबुद्धि बहुत हैं उनके समझने के लिए की है। **इसमें सम्यग्दर्शन को दृढ़ करने का प्रधानता से वर्णन है इसलिए अल्पबुद्धि भी बांचें, पढ़ें और अर्थ का धारण करें तो उनके जिनमत का श्रद्धान दृढ़ हो-यह प्रयोजन जान जैसा अर्थ प्रतिभास में आया वैसा लिखा है और जो बड़े बुद्धिमान हैं वे मूल ग्रन्थ को पढ़कर ही श्रद्धान दृढ़ करेंगे और इसमें कुछ अर्थ का अपभ्रंश होगा तो उसको शुद्ध करेंगे, मेरे कोई ख्याति-लाभ का तो प्रयोजन है नहीं, धर्मानुराग से यह वचनिका लिखी है इसलिए बुद्धिमानों के द्वारा क्षमा ही करने योग्य हूँ।'**

अर इस ग्रंथ की गाथाकी संख्या ऐसे है-प्रथम **दर्शनपाहुड** की गाथा–**३६**। दूसरे **सूत्रपाहुड** की गाथा–**२७**। तीसरे **चारित्रपाहुड** की गाथे–**४५**। चौथा **बोधपाहुड** की गाथा–**६२**। पांचवे **भावपाहुड** की गाथा–**१६५**। छठे **मोक्षपाहुड** की गाथा–**१०६**। सातवें **लिंगपाहुड** की गाथा–**२२**। आठवें **शीलपाहुड** की गाथा–**४०-ऐसे सब मिलि गाथा ५०३ हुई**।

छप्पय

जिन दर्शन[१] **निर्ग्रंथ रूप, तत्वारथ धारन।**
सूतर[२] **जिन के वचन, सार** चारित[३] **व्रत पारन।।**
बोध[४] **जैन मत जांनि, आन का सरन निवारन।**
भाव[५] **आत्मा शुद्ध मांनि, भावन शिव कारन।।**
फुनि मोक्ष[६] **कर्म का नाश है,** लिंग[७] **सुधारन तजि कुनय।**
धरि शील[८] **स्वभाव संवारना, अठ पाहुड का फल सुजय।।१।।**



दोहा

भई वचनिका यह जहां, सुनूं तास संक्षेप।
भव्य जीव संगति भली, मेटै कुकरम लेप।। १।।
जयपुर पुर सूवस वसै, तहां राज जगतेश।
ताके न्याय प्रताप तैं, सुखी ढुंढाहड़ देश।। २।।
जैन धर्म जयवंत जग, किछु जयपुर मैं लेश।
ता मधि जिनमंदिर घणें, तिनिकौ भलो निवेश।। ३।।
तिनि मैं तेरापंथ को, मंदिर सुंदर एव।
धर्म ध्यान तामैं सदा, जैनी करै सुसेव।। ४।।
पंडित तिनि मैं वहुत हैं, मैं भी इक जयचंद।
प्रेर्यां सबकै मन कियो, करन वचनिका मंद।। ५।।
कुन्दकुन्द मुनिराज कृत, प्राकृत गाथा सार।
पाहुड अष्ट उदार लखि, करी वचनिका तार।। ६।।
इहां जिते पंडित हुते, तिनि नैं सोधी एह।
अक्षर अर्थ सुबाँचि पढ़ि, नहि राख्यो संदेह।। ७।।
तौऊ कहूं प्रमाद तैं, बुद्धि मंद परभाव।
हीनाधिक किछु अर्थ ह्वै, सोधो बुध सत भाव।। ८।।
मंगल रूप जिनेंद्र कूं, नमसकार मम होहु।
विघन टलै शुभ बंध ह्वै, यह कारन है मोहु।। ९।।
संवत्सर दश आठ शत, सतसठि विक्रमराय।
मास भाद्रपद शुकल तिथि, तेरसि पूरन थाय।। १०।।

इति श्री कुंदकुंद आचार्य कृत अष्टपाहुड ग्रंथों की देशभाषामय वचनिका समाप्ता।।

।। श्रीः।। श्रीः।। श्रीः।। श्रीः।।

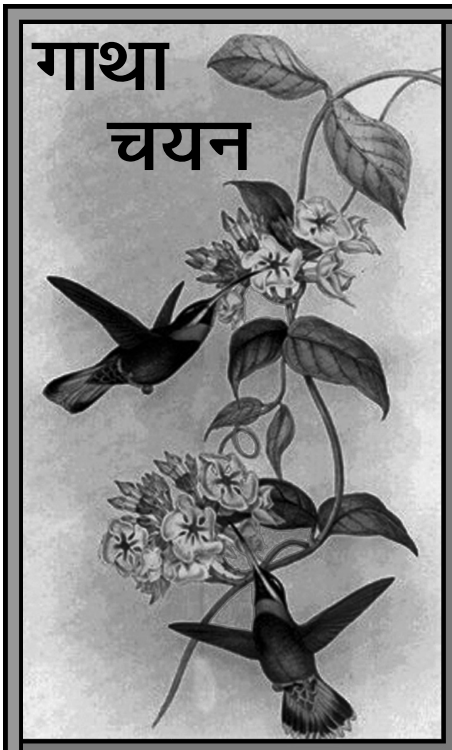
विषय वस्तु

यह पाहुड़ चालीस गाथाओं में निबद्ध है। प्रारम्भ में ही आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि शील में और ज्ञान में विरोध नहीं है। शील बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं, उसे मिथ्यात्व, रागद्वेष और अज्ञान रूप कर देते हैं। प्रथम तो ज्ञान बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होता है और फिर ज्ञान होने पर भी ज्ञान का बारम्बार अनुभव करना और विषयों से विरक्त होना उत्तरोत्तर बहुत ही कठिनाई से होता है। विषय ज्ञान के वैरी हैं अतः विषयों का त्यागना ही सुशील है। इस जीव की जब तक विषयों में प्रव त्ति होती है तब तक यह ज्ञान को जानता नहीं और ज्ञान को जाने बिना विषयों से विरक्त भी हो तो भी कर्मों का क्षय नहीं कर पाता। इस प्रकार मार्ग का बोध कराते हुए उन्होंने कहा है कि ज्ञान को जानकर, विषयों से विरक्त होकर ज्ञान की बारबार अनुभव रूप भावना करे तो तप और गुणों से युक्त होता हुआ वह संसार को छेदता है-ऐसे शीलसहित ज्ञान रूप मार्ग है। इस मार्ग से जीव वैसे ही शुद्ध होता है जैसे सोने, सुहागे और नमक के लेप से निर्मल कांतियुक्त विशुद्ध होता है। ज्ञान को पाकर जीव विषयासक्त हो तो यह ज्ञान का दोष नहीं, उस कुपुरुष का ही दोष है। शील ही तप है, शील ही ज्ञान व दर्शन की शुद्धि है, शील ही विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की पैड़ी है। शील से ही आत्मा सुशोभित होता है।

आगे आचार्य देव ने कहा है कि मोहरा, सोमल आदि स्थावर का विष और सर्प आदि जंगम का विष-इन सारे ही विषों में विषयों का विष अति तीव्र ही है क्योंकि इन विषों की वेदना से हते हुए जीव तो एक जन्म में मरते हैं पर विषय रूपी विष से हते गए जीव संसार रूपी वन में अतिशय ही भ्रमते हैं। विषयासक्त जीव नरक आदि चारों गतियों में दुःख ही दुःख पाते हैं। शीलवान पुरुष विषयों को खल के समान छोड़ देते हैं, किंचित् भी खेद नहीं करते। विषयों के रागरंग से आप ही जीव ने कर्म की गाँठ बाँधी है, उसको क तार्थ पुरुष स्वयं ही तप, संयम एवं शील आदि गुणों के द्वारा खोलते हैं। शील बिना कोरे ज्ञान से न तो मोक्ष मिलता है और न ही भाव की निर्मलता होती है। जिन्होनें जिनवचनों से सार ग्रहण किया है-ऐसे विषयों से विरक्त एवं धीर तपोधन शील रूपी जल से नहाकर, शुद्ध होकर सिद्धालय के सुखों को पाते हैं।

शील स्वभाव को कहते हैं सो आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानदर्शनमयी चेतनास्वरूप है, वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप-मिथ्यात्व, कषाय रूप परिणमन कर रहा है, सो इस कुशीलता के मिटने पर सम्यक्त्व व वीतरागता रूप परिणमन युक्त शील की प्राप्ति होवे तो मोक्ष की प्राप्ति हो-यह शीलपाहुड़ का सार संक्षेप है।

गाथा चयन



गाथा ४–'ताव ण जाणदि....' **अर्थ**–जब तक यह जीव विषयों के वशीभूत हुआ वर्तता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों से विरक्ति मात्र ही से पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।।१।।

गा० ७,8–'णाणं णाऊण णरा....', 'जे पुण विसय....'**अर्थ**–कोई पुरुष ज्ञान को जानकर भी विषयादि रूप भाव में आसक्त रहते हैं वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चार गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं तथा जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना सहित होते हैं वे विषयों से विरक्त होते हुए तप और मूलगुण व उत्तरगुण युक्त होकर चतुर्गति रूप संसार को छेदते हैं इसमें संदेह नहीं है।।२।।

गा० १9–'जीवदया दम....' **अर्थ**–जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप–ये सब शील के परिवार हैं।।३।।

गा० २१–'जह विसय....' **अर्थ**–जैसे विषयों का सेवन विषयलुब्ध जीवों को विष का देने वाला है वैसे ही घोर स्थावर और जंगम सबका विष प्राणियों का विनाश करता है तथापि इन सब विषों में विषयों का विष अत्यंत दारुण होता है।।४।।

गा० २२–'वरि एक्कम्मि य....' **अर्थ**–विष की वेदना से हता हुआ जीव तो एक जन्म में ही संचार करता है परन्तु विषय रूप विष से हते हुए जीव अतिशय से संसार वन में भ्रमण करते हैं।।५।।

गा० २३–'णरएसु वेयणाओ....' **अर्थ**–विषयासक्त जीव नरकों में अत्यंत वेदना को, तिर्यंचों और मनुष्यों में दुःखों को और देवों में दौर्भाग्य को पाते हैं।।६।।

गा० ३०–'जइ विसयलोलएहिं....' **अर्थ**–यदि विषयों में लोलुपी और ज्ञानी पुरुषों ने मोक्ष साधा हो तो दस पूर्व को जानने वाला वह रुद्रपुत्र नरक क्यों गया!।।7।।

गा० ३२–'जाए विसयविरत्तो....' **अर्थ**–विषयों से विरक्त जीव नरक की प्रचुर वेदना को भी दूर हटा देता है और वहाँ से निकलकर अर्हन्त पद को पाता है-ऐसा जिन वर्द्धमान ने कहा है।।8।।

सूक्ति प्रकाश

१. णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।। गाथा २।। अर्थ–शील बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

२. ताव ण जाणदि णाणं विसयवलो जाव वट्टए जीवो।। ४।। अर्थ–जब तक जीव विषयों के वशीभूत हुआ वर्तता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता है।

३. अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं।। १२।। अर्थ–विषयों से विरक्तचित्त जीवों का निश्चित ही निर्वाण होता है।

४. सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म।। १५।। अर्थ–जो शीलगुण से रहित हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।

५. तेसु सुयं उत्तमं सीलं।। १६।। अर्थ–व्याकरणादि शास्त्र और जिनागम को जानकर भी उनमें शील हो वही उत्तम है अर्थात् शास्त्रों को जाने और विषय-कषायों में आसक्त रहे तो उन शास्त्रें का जानना उत्तम नहीं है।

६. सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। १8।। अर्थ–जिनमें शील सुशील है अर्थात् कषायादि की तीव्र आसक्तता नहीं है उनका मनुष्यपना सुजीवित है अर्थात् उत्तम है।

७. सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। २०।। अर्थ–शील विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।

8. **विसयविसं दारुणं होई ।। २१।। अर्थ**–विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है।

९. **विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। २२।। अर्थ**–विषय रूपी विष से हते गये जीव संसार रूपी वन में भ्रमण करते हैं।

१०. देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासत्ता जीवा।। २३।। अर्थ–विषयासक्त जीव देवों में भी उत्पन्न हों तो वहाँ भी दुर्भाग्यपने को पाते हैं।

११. तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं।। २४।। अर्थ–तप और शीलवान कुशल पुरुष विषयों को खल के समान तुच्छ समझकर दूर फैंक देते हैं।

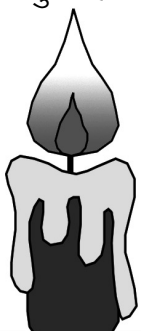
१२. अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं।। २५।। अर्थ–मनुष्य के शरीर में सब अंगों के यथास्थान प्राप्त होने पर भी सबमें उत्तम अंग शील ही है अर्थात् शील न हो तो सब ही अंग शोभा नहीं पाते।

१३. जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा।। ३२।। अर्थ–विषयों से विरक्त जीव नरक की प्रचुर वेदना को भी गंवाता है अर्थात् वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता।

१४. तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता।। ३५।। अर्थ–तप, विनय और शील से सहित जो जीव हैं वे सिद्धिगति को प्राप्त होकर सिद्ध कहलाते हैं।

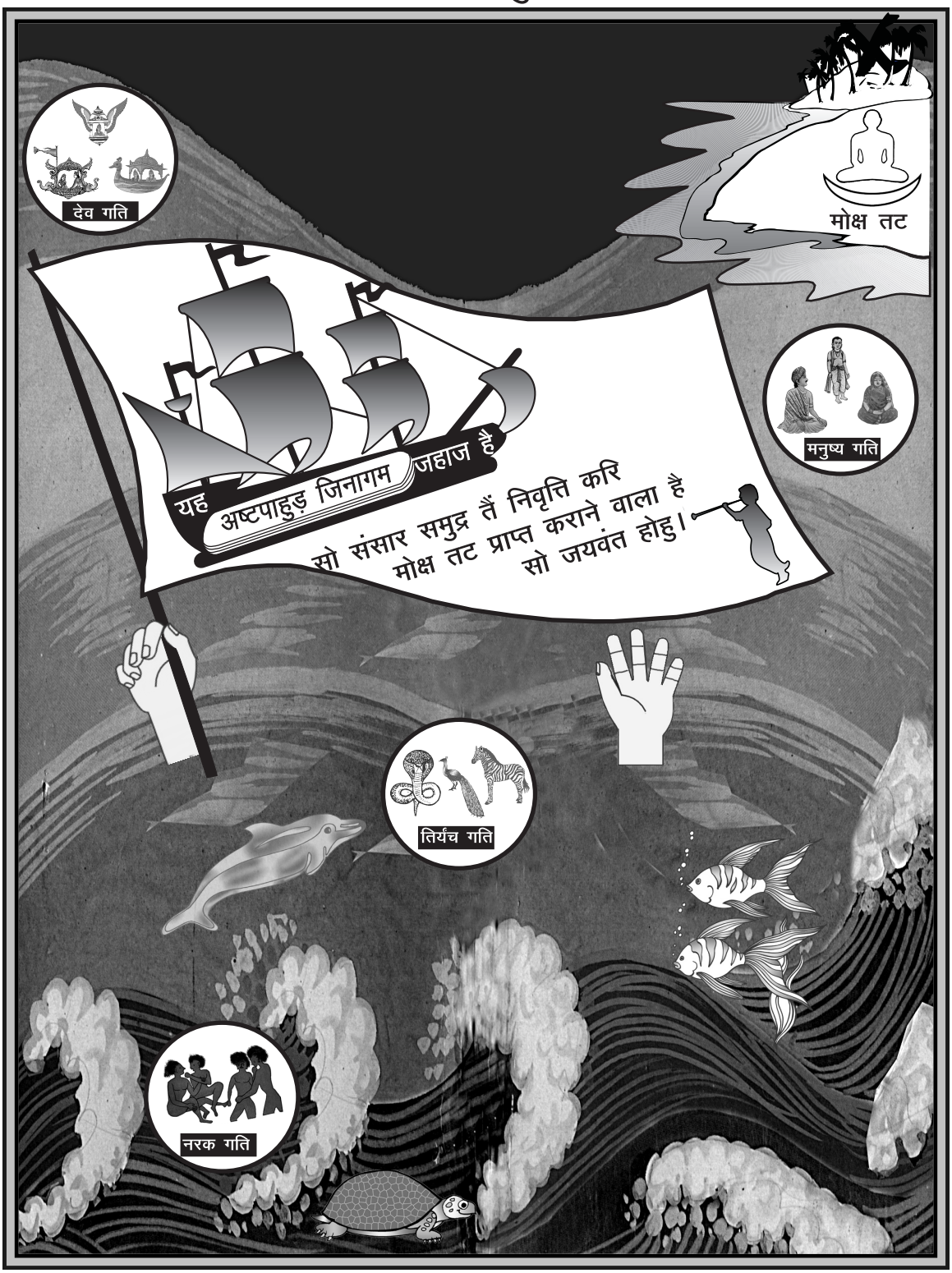
१५. सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं।। ३७।। अर्थ–सम्यग्दर्शन से जिनशासन में जीव को बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

१६. सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति।। ३8।। अर्थ–जो शील रूपी जल से स्नान कर चुके हैं वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं।



१७. सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ! ।। ४०।। अर्थ–विषयों से विरक्त होना शील है और ज्ञान भी यह ही है और इससे भिन्न ज्ञान कैसा कहा गया है ! शील बिना तो ज्ञान मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान है।

संसार समुद्र


देव गति
मोक्ष तट
यह अष्टपाहुड़ जिनागम जहाज है
सो संसार समुद्र तैं निवृत्ति करि
मोक्ष तट प्राप्त कराने वाला है
सो जयवंत होहु।
मनुष्य गति
तिर्यंच गति
नरक गति


ग्रंथ
समाप्त